आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन

घट-घट दीप जले

युवाचार्य महाप्रज्ञ

श्री मन्नालालजी सुराना एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती भंवरदेवी सुराना सुराना-हाउस, डी-२२, सुभाष मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर (राजस्थान) के सौजन्य से प्रकाशित

संपादक

मुनि दुलहराज

मूल्य बीस रुपये / प्रथम संस्करण १९८० / प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) / मुद्रक रूपाभ प्रिंटर्स, ४/११५ विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

आशीर्वचन

दीप प्रकाश देता है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग मे प्रकाश के इतने साधन विकसित हो गए हैं कि दीपक का अस्तित्व ही मिट रहा है। पर मैं समझता हू कि दीप चाहे आकार मे छोटा हो, प्रकाश कम देता हो, फिर भी वह प्रकाश का प्रतीक है, इसलिए महत्त्वपूर्ण है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दीपक के महत्त्व को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि जव सूर्य अस्त होने लगा तव उसने सारे ससार को आह्वान कर पूछा

के लोइवे मोर कार्य कहे सध्या रवि,
सुनिया जगत रहे निरुत्तर छवि,
माटीर प्रदीप छील से कोहिला स्वामी
जे टूकू साध्या कोरिव ता आमी ॥

मैं जा रहा हू। पीछे से मेरा काम कौन करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर मे एक मौन सन्नाटा छा गया। कोई कुछ नही वोला। उस समय नन्हा-सा माटी का दीप खडा हुआ और वोला, 'मेरे मे जितनी क्षमता है, आपका काम मैं करूगा।

छोटे से दीपक ने साहस किया और वह स्वय जल-जलकर अधकार का नाश करने लगा। घर-घर मे मिट्टी के दीप जल उठे। सूर्य की अनुपस्थिति मे भी ससार का काम चलता रहा।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने सोचा कि घर-घर मे जलने वाले ये दीप घट-घट मे जल जाए तो वाहरी अन्धकार के साथ भीतर का अधेरा भी समाप्त हो सकता है। इसी दृष्टि से उन्होंने एक उपक्रम किया और 'घट-घट दीप जले' नाम से वह जनता तक पहुच रहा है। उसको पढने वाले और उस पर मनन करने वाले पाएगे कि हम विवेकानन्द को पढ रहे हैं और युग-वोध के साथ अपने जीवन की नयी दिशा पा रहे है।

वात वहुत पुरानी है। दिल्ली मे साहू शान्तिप्रसादजी जैन की कोठी मे राष्ट्र-कवि दिनकर आदि कुछ साहित्यकार मेरे सामने वैठे थे। साहित्य पर चर्चा चली।

बातचीत के मध्य कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' खड़े हुए। महाप्रज्ञ की ओर संकेत करते हुए वे बोले, 'आचार्यजी! आपके समाज ने हमको आधुनिक साहित्य दिया, इसकी हमें प्रसन्नता है पर इससे भी अधिक प्रसन्नता यह है कि आपने हमको एक विवेकानन्द दिया।

विवेकानन्द ने अपने समय में साहित्य की जो धारा बहाई, उससे आज भी लोकजीवन अनुप्राणित हो रहा है। इसी प्रकार युवाचार्य महाप्रज्ञ की साहित्य-धारा भी सतत प्रवहमान रहती हुई जन-जीवन को अनुप्राणित करती रहेगी। 'घट-घट दीप जले' उसी धारा की एक बूंद है। यह कृति अन्वर्थनामा होकर जन-जन के घट-घट में अध्यात्म का आलोक बिखेरती रहेगी, ऐसा विश्वास है।

लाडनूं
२ अक्टूबर १९८०

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

हम जिस जगत् मे जीते है, वह द्वन्द्वात्मक जगत् है। एक कुछ भी नही है। जो है वह जोडा है। एक का अस्तित्व दूसरे मे नही जुडता, फिर भी प्रत्येक अस्तित्व अपने प्रतिपक्ष से जुडा हुआ है। प्रकाश अधकार से जुडा हुआ है और अधकार प्रकाश से। मनुष्य अनादिकाल से अधकार में प्रकाश को खोजता रहा है। प्रकाश की खोज, खिडकियो और दरवाजो को वद रखना—ये दोनो एक साथ चल रहे हैं। खिडकी और दरवाज़ा खुलने पर प्रकाश होता है, इस सचाई को मनुष्य जानता है। फिर भी खिडकी और दरवाज़ा खोलना उमे नही आता। वह प्रकाश को खोजता है खिडकी को वद कर, दरवाज़े को वद कर। यदि खिडकी खुले, दरवाज़ा खुले तो दीप जलाने की ज़रूरत नही होती। भीतर अखड ज्योति जल रही है। वह ज्योति है मनुष्य की चेतना। मनुष्य का सारा प्रयत्न भीतर की चेतना को जलाने की दिशा मे चल रहा है। यह उसका स्वाभाविक परिणमन है।

हमारा जीवन द्वन्द्वात्मक है। हम केवल स्वाभाविक परिणमन मे ही नही जी रहे हैं, निमित्तो का जीवन भी जी रहे है। निमित्त हमे प्रभावित करते है, इमलिए वे भी हमारे विमर्श से परे नही हो सकते। राजनीति एक निमित्त है। अर्थ-व्यवस्था एक निमित्त है और समाज एक निमित्त है। अकेला व्यक्ति इन सवसे प्रभावित होता है। ये वाहरी निमित्त ही व्यक्ति को प्रभावित नही करते, आन्तरिक निमित्त भी उसे प्रभावित करते हैं। कर्म आन्तरिक निमित्त है। स्मृति, कल्पना और विचार आन्तरिक निमित्त है। ये सव व्यक्ति के चारो ओर एक पर्यावरण निर्मित करते हैं। हर व्यक्ति चाहता है, उसका पर्यावरण विशुद्ध हो। उसकी रश्मिया ज्योति से सदीपित हो। वहुत जटिल प्रश्न है ज्योति का सदीपन। ये निमित्त समस्याए पैदा करते है और व्यक्ति उनके अधकार मे दिशाहीन वन जाता है। समस्या के समाधान की खोज एकागी होती है। समस्या वाहर की होती है, समाधान की खोज भीतर मे होती है। समस्या भीतर की होती है और समाधान वाहर खोजा जाता है। यह समाधान की विपरीत दिशा है, इसीलिए समम्या का समाधान मिलता नही। समाधान का सही मार्ग है—वाहर की समस्या

का समाधान वाहर मे खोजा जाए और भीतर की समस्या का समाधान भीतर मे खोजा जाए। यह समाधान का ऋजु मार्ग है। पर मनुष्य को ऋजुता पसन्द नही है। वह हर समय टेढा चलना चाहता है। इस वक्रगति से समस्या और जटिल वन जाती है।

मनुष्य द्वन्द्वात्मक जगत् मे जीता है, इसलिए समाधान की दृष्टि भी द्वन्द्वात्मक होगी। वह अस्तित्व और अनुभव को भी नही छोड सकता, वुद्धि या विचार को भी तिलाजलि नही दे सकता, वन्धन और मुक्ति मे से किसी एक का स्वीकार भी नही कर सकता।

आदमी मुक्ति की खोज मे चलता है। वधन पसद नही है, इसलिए मुक्ति की खोज अनिवार्य हो जाती है। पर मुक्ति सुलभ कहा है? जिसके द्वारा उसकी खोज होती है, वह स्वय वधन है। बुद्धि एक वधन है। विचार एक वधन है। मनुष्य यदि वुद्धि से काम न ले तो वह पशु वन जाता है। वह विचार से काम न ले तो गति-हीन वन जाता है। न वह बुद्धि को छोड सकता है और न विचार को। विचार के तल पर खडे होकर हम देखते हैं, तव हमे दिखता है कि वुद्धि और विचार ही सब कुछ है। अस्तित्व के धरातल से निहारने पर लगता है कि उसके लिए बुद्धि और विचार का कोई उपयोग नही है। अवुद्धि से वुद्धि की ओर तथा वुद्धि से वुद्धि-अतीत दिशा की ओर जाना प्रतिभा का पलायन नही है। अविचार से विचार की ओर तथा विचार से निर्विचार की ओर जाना चिन्तन की दरिद्रता नही है। यह है अस्तित्व की दिशा मे होने वाला एक अभियान। इस अभियान के द्वारा ही मनुष्य ने शिखर का स्पर्श किया है। अवुद्धि और अविचार मे परिस्थिति, वातावरण और सदर्भ होता है, किन्तु उसे पकडने की क्षमता नही होती। बुद्धि और विचार के तल पर वह क्षमता उपलब्ध हो जाती है। वुद्धि और विचार से अतीत की भूमिका मे परिस्थिति, वातावरण, सदर्भ और उनकी ग्रहणशीलता—ये सव नीचे रह जाते है। इसलिए वह मुक्ति की भूमिका है। परिस्थिति वातावरण और सदर्भ—ये मनुष्य के लिए वधन हैं। विचार उनसे वधा हुआ है, इसलिए वह भी एक अनुवध है।

मनुष्य सामाजिक जीवन जीता है। वातावरण उसे प्रभावित करता है। परिस्थितिया उसे सचालित करती है। नाना सदर्भो मे वे विविध धारणाए निर्मित करते हैं। कोई भी सामाजिक प्राणी विचार के अनुवध को तोड नही सकता। जव फूल उत्पन्न होते है, तव माली के लिए माला वनाना स्वाभाविक ही है। मनुष्य विभिन्न अवस्थाओ से गुजरता है—कभी वच्चा होता है, कभी युवक होता है और कभी वृद्ध होता है। इन अवस्थाओ मे जो उपलब्ध होता है और जो उपलब्ध नही होता, वह विचार को जन्म देता है। अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना उसे आयाम देती है। स्मृतिकोश मे जो सचित होता है, उसे पाकर विचार फैलता है।

यह वहुत सक्रामक होता है। हम लोग चर्चा करते है—यह विचार मौलिक है और यह मौलिक नही है। पर जिसे हम मौलिक मानते है, क्या वह सचमुच मौलिक ही है? हम नही कह सकते कि वह मौलिक ही है। विचार के परमाणु-पुज समूचे आकाश मे फैले हुए हैं। वे जब किसी व्यक्ति के मस्तिष्क मे प्रविष्ट होते है, उसे आन्दोलित करते हैं और विचार को जन्म देते हैं। वह विचार हमारे जगत् मे आता है, हमे नया प्रतीत होता है। वैसा अन्यत्र उपलब्ध नही होता, तव हम उसे मौलिक मान लेते है। पर वह किसका ऋण है। इसकी गहराई मे हम नही उतर पाते। उतरने का हमारे पास कोई सरल माध्यम भी नही है। विचार के मूल की जाच करना वडी जटिल प्रक्रिया है। एक विचार की कितनी आवृत्तिया होती है, हम नही जान सकते। किन्तु ज्ञात काल मे उस अज्ञात का प्रतिबिम्व अवश्य ही नया और मौलिक प्रतीत होगा। पुनरावृत्ति की वात सामने नही आएगी। जो सक्रमणशील है, जो स्मृति और कल्पना से बधा हुआ है, विभिन्न सदर्भ जिसकी पृष्ठभूमि मे कार्यरत हैं और जिसे अज्ञात परमाणु भी जन्म देते है, उस विचार को हम सर्वथा मौलिक कहे तो वह दर्शन का यथार्थ नही होगा।

मैं मौलिक या अमौलिक—कौन-सा विचार प्रस्तुत कर पाया हू, इसकी मीमासा मुझे नही करनी है और न दूसरे से इसकी याचना भी मुझे करनी है। जो विचार वर्तमान मे आलोक दे सकते हैं, उलझनो को सुलझा सकते हैं, उनकी उपयोगिता है। उस उपयोगिता को स्वीकृति देकर विभिन्न अवसरो पर मैंने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, कभी वोलकर और कभी लिखकर। उन दोनो का इसमे सकलन है। यह सकलन मुनि दुलहराजजी ने किया है।

आचार्यश्री की प्रेरणा और विभिन्न कार्यक्रमो का सयोग और सकलन का श्रम—यह सव इस कृति के मूल हेतु है।

लाडनू
१ अक्टूवर १६८०

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

घट-घट दीप जले

राजनीति का आकाश : नैतिकता की खिड़की

हमारे जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं—सत्ता, सपदा और नैतिकता। ये तीनो वडी शक्तिया है। सत्ता के पास दड की शक्ति है। सपदा के पास विनिमय की शक्ति है। नैतिकता मे आत्म-विश्वास और आस्था की शक्ति है। ये तीनो शक्तिया हमारे जीवन को सचालित करती हैं। इनका सतुलन रहता है तो जीवन की यात्रा सुगम हो जाती है और यदि इनका सतुलन विगडता है तो जीवन का रथ भी चरमरा जाता है, टूट जाता है।

मुझे कहा गया कि मैं नैतिकता की खिडकी से राजनीति के आकाश को देखू। पर मुझे लगता है कि राजनीति की दिशा मे नैतिकता की कोई खिडकी है ही नही। और यदि कोई है और वह खुलती है तो दूरी इतनी है कि वहा से राजनीति को देखना भी कठिन प्रतीत होता है।

अरस्तू ने कहा—जीवन को व्यवस्थित ढग से चलाने के लिए राजनीति जरूरी है। भारत के दार्शनिको ने राजनीति पर कम चिन्तन किया है, किन्तु पश्चिमी दार्शनिको ने विश्व-व्यवस्था के साथ-साथ राजनीति पर भी वहुत चिन्तन किया। सुकरात, अरस्तू और प्लेटो से यह परपरा चली आ रही है और आज तक इसका विकास होता रहा है।

जीवन को सचालित करने के लिए राजनीति वहुत आवश्यक है। जीवन की सुन्दरता, जीवन की व्यवस्थिति के लिए राजनीति का होना अनिवार्य है। मैं यह नही कहता कि राजनीति अपने आप मे अनैतिक है, किन्तु यह सच है कि राजनीति की सीमा मे नैनिकता और अनैतिकता की कोई चर्चा ही नही है। यह तो हम एक सदर्भ के साथ जोड देते हैं। मनुष्य तीनो पक्षो मे जीता है। उसका एक पक्ष है नैतिकता। जव हम नैतिकता की दृष्टि से देखते हैं और मूल्याकन करते हैं तो प्रश्न होता है कि राजनीति में नैतिकता है या नही? दूसरे शव्दो मे कहे तो अर्थ-व्यवस्था या अर्थनीति मे नैतिकता है या नही?

हम मूल प्रकृति को समझें। राजनीति की मूल प्रकृति मे नैतिकता और अनैतिकता के लिए कोई अवकाश नही है और न इसका कोई उद्देश्य है। समूची

राजनीति जीवन के बाहरी पक्ष को शासित करती है। सारी घटनाएं, सारी व्यवस्था और सारे कार्य-कलाप राजनीति से शासित होते हैं। राजनीति मनुष्य के अन्त करण को शासित नही करती। नैतिकता का मूल आधार है—मनुष्य का अन्त करण। राजनीति के आधारभूत तत्त्व दो हैं—राज्य और सरकार। राज्य अमूर्त्त होता है। वह नैतिक या अनैतिक नही होता। मूलत वह अमूर्त्त संस्थान है। सरकार उस राज्य को सचालित करती है। वह मूर्त्त संस्थान है, संगठन है। जो राजनीतिक दल सत्ता पर आता है, वह अपनी सरकार का गठन करता है और वह सरकार राज्य का सचालन करती है। जहा सरकार का सम्बन्ध जुडता है वहा नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न जुडता है। सरकार में आने वाले व्यक्ति मूर्त्त होते हैं। उनके जीवन में तीनो पक्ष होते है। यदि तीनो पक्ष सतुलित होते हैं तब मनुष्य का जीवन सुखद और सहज बन जाता है। उनके असतुलित होने पर सब कुछ गडबडा जाता है। इस सदर्भ में नैतिकता की चर्चा की जा सकती है। केवल राजनीति के सदर्भ में उसकी चर्चा नही की जा सकती।

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा, 'अब नन्द को मार डालना चाहिए।' यह सुनकर चन्द्रगुप्त विस्मित-सा रह गया, 'यह कैसे ? मैं अपने मित्र को कैसे मारू ? जिस मित्र ने मेरा इतना साथ दिया, सुख-दुख में साथ रहा, उसको मारने के लिए अमात्य क्यो कह रहा है ? यह कैसे सभव हो सकता है ?' चाणक्य ने कहा, 'आप इस सचाई को नही जानते। आप राजनैतिक यथार्थता को नही समझते। राजनीति का सूत्र है—'यो न हन्ति स हन्यते।' तुल्यबल वाले व्यक्ति को मार डालना चाहिए। यदि नही मारता है तो वह स्वय मारा जाता है। जो शक्ति उभर आती है, उसे कुचल डालना चाहिए। यह राजनीति की मूल प्रकृति है। यह राजनीति की सीमा का अतिक्रमण नही है। जब एक व्यक्ति राजनीति की भूमिका पर खडा होकर सोचता है तो उसे यही तत्त्व हाथ लगता है कि तुल्यबल वाले विरोधी व्यक्ति को मौत के घाट उतार देना चाहिए। यदि ऐसा नही होता है तो वह स्वय नष्ट हो जाता है।'

पचतत्र में कहा गया है—'शत्रु चाहे छोटा ही क्यो न हो उसे मार डालना चाहिए। जो उसकी उपेक्षा करता है, वह स्वय की कब्र स्वय खोदता है। बीमारी को प्रारम्भ में ही नष्ट कर देना चाहिए। उसे यदि नष्ट नही किया जाता है तो वह उग्ररूप धारण कर जीवन को समाप्त कर देती है। आग की चिनगारी छोटी होती है। जब उसकी उपेक्षा कर दी जाती है तब वह विकराल आग का रूप धारण कर समूचे नगर को भस्मसात् कर देती है। चिनगारी आग का शोला बन जाती है।'

राजनीति का प्रकृतिगत सिद्धात यह है कि अपने तुल्यबल को और शत्रु को मार डालना चाहिए।

राजनीति विशारद पावलॉव ने राजनीति के कुछ सूत्र प्रस्तुत किए थे। उनका एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'राजनीति मे जहा-जहा कठिन समस्याए आती है, जिनका समाधान सहज-सरल नही होता, वहा हिंसा या बलप्रयोग का सहारा लिया जाता है।' हिंसा या बलप्रयोग की बात धार्मिक दृष्टि मे अमान्य हो सकती है, किन्तु राजनीति मे वह सम्मत तत्त्व है।

राजनीति मे बड़ी-बडी घोषणाए होती है। जो दल सत्ता के अभिमुख होता है, वह बडी-बडी घोषणाए करता है। उन दलो के घोषणा-पत्रो से लगता है कि अब स्वर्ग धरती पर उतर आएगा और सारी समस्याए समाहित हो जाएगी। ऐसी घोषणाए राजनीति के क्षेत्र मे जरूरी होती हैं। यदि इतनी बडी घोषणाए न हो, इतने बडे प्रलोभन और आश्वासन न हो तो काम चल ही नही सकता। वहा अति-कल्पना को भी स्थान है। राजनीति कल्पनाप्रधान होती है। वहा निर्विकल्प की बात नही आती। निर्विकल्पता की बात ध्यान की स्थिति मे कही जा सकती है, किन्तु राजनीति मे यदि कहा जाए कि निर्विकल्प रहो तो राजनीति की हत्या हो जाती है। सफल राजनीति वही होती है, जहा दिवा-स्वप्न दिखाए जाए। सफल राजनीतिज्ञ वही होता है, जो बडी-बडी कल्पनाए प्रस्तुत करे।

सब मनुष्य समान हैं, समानता का अधिकार सबको है, सारी विषमताए समाप्त होनी चाहिए और समानता का एकछत्र साम्राज्य होना चाहिए—यदि समानता के ये दिवा-स्वप्न नही दिखाए जाते तो राजनीति मे कोई सफल नही हो सकता। दिवा-स्वप्न चाहे साकार हो या नही, इसकी चिन्ता राजनीति मे नही होती। यह चिन्ता नहीं होती कि इतने प्रलोभन और आश्वासन दिए हैं, वे यदि सफल नहीं होंगे तो सत्य का अतिक्रमण हो जाएगा। सत्य के अतिक्रमण की चिंता राजनीति की सीमा मे नही आती। यह चिन्ता धर्म की सीमा मे आती है।

राजनीति और नैतिकता की मूल प्रकृति ही भिन्न है। वे दो है, एक नही। एक धार्मिक या नैतिक पुरुष यदि कोई बात कह देता है तो उसे यह चिन्ता रहती है कि यदि मैं इस बात को नही निभा पाया तो कितना बडा अनर्थ हो जाएगा।

राम और रावण का युद्ध हो रहा है। लक्ष्मण को शक्ति का प्रहार लगा और वे अचेत होकर गिर पडे। उस स्थिति मे मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहते हैं—लक्ष्मण अचेत अवस्था मे पडा है, इसकी मुझे चिन्ता नही है। सीता लका मे है, इसकी भी मुझे कोई चिन्ता नही है। मुझे केवल एक ही बात की चिन्ता है कि मैंने विभीषण को कहा था, 'आओ लकेश'। मैंने उसे 'लकेश' कह दिया और यदि मैं उसे लका का राज्य नही दे पाया तो मेरे कहे हुए वचन का क्या होगा? यदि मैं लका पर अपना अधिकार जमाता हू तो यह नीति के विरुद्ध है। फिर मेरे वचन निभाने की बात कहा सफल होगी?

मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे व्यक्ति के, धार्मिक और नैतिक निष्ठा वाले व्यक्ति के लिए वचन निभाने की बात चिन्ता का कारण बन सकती हैं, किन्तु राजनीतिज्ञ के लिए यह बात चिन्ता की है ही नही। सफल राजनीतिज्ञ वही होता है जो प्रात काल मे एक बात कहता है, मध्याह्न मे दूसरी बात कहता है और रात मे तीसरी बात कहता है। वह तीनो बातो की सत्यता समझा देता है कि प्रात जो मैंने कहा था वह भी सही था, मध्याह्न मे जो कहा था वह भी सही था और रात मे जो कहा था वह भी सही था। आज अब जो मैं कह रहा हू, वह भी सच है, क्योकि परिस्थितिया बदलती रहती हैं। जैसे परिस्थितिया बदलती हैं, वैसे ही उसके आयाम भी बदल जाते हैं, उसके आकार-प्रकार बदल जाते हैं। इसलिए वर्तमान मे जो कुछ मैं कह रहा हू, उसे सत्य मानें और सबको भुला दें।

जो पहली बात को झुठला सके, वह सच्चा राजनीतिज्ञ हो सकता है। जो कही हुई पहली बात का समर्थन करता रहता है, वह राजनीतिज्ञ नही हो सकता, धार्मिक या नैतिक व्यक्ति हो सकता है।

कौरवो और पाडवो के बीच घमासान युद्ध हो रहा था। युद्ध मे कहा गया—'अश्वत्थामा हत —अश्वत्थामा मारा गया'—यह वाक्य तो ठीक था, किन्तु जब इसके साथ 'नरो वा कुञ्जरो वा' इतना जुडा, तब यह राजनीति का वाक्य बन गया। 'अश्वत्थामा मारा गया, पर पता नही वह मनुष्य था या हाथी।' द्रोण के पुत्र का नाम भी अश्वत्थामा था और एक हाथी का नाम भी अश्वत्थामा था। जब यह कहा गया—'अश्वत्थामा हत , नरो वा कुञ्जरो वा'—तब नैतिकता की बात राजनीति मे बदल गयी। राजनीति का यह स्वर हो सकता है—'अश्वत्थामा हत , नरो वा कुञ्जरो वा', किन्तु नैतिकता की यह प्रकृति नही हो सकती। वहा 'नर' है तो नर कहा जाएगा और 'कुञ्जर' है तो कुञ्जर कहा जाएगा।

ऐसी स्थिति मे जहा हिंसा और बलप्रयोग सम्मत है, जहा असत्य और छल-कपट सम्मत है, जहा कूटनीति सम्मत है, जहा विपक्ष को धोखा देना सम्मत है, जहा प्रलोभन और आश्वासन सम्मत है, उस विराट् राजनीति के आकाश को मैं नैतिकता की खिडकी से देखू, तो कैसे देखू ? क्या देखू ? एक तटस्थ द्रष्टा की भाति तो उसे देख सकता हू,' किन्तु उसका मूल्याकन करना मेरे लिए कठिन हो जाता है। देखना एक बात है और मूल्याकन करना दूसरी बात है।

एक प्रश्न आता है कि जब राजनीति मे इतनी बातें हैं, इतनी दुर्बलताए हैं तो वह कैसे चलती है ? क्यो चलती है ? इसका एक कारण यह हो सकता है कि समाज का बहुत बडा भाग राजनीति से उदासीन रहता है। जब राजतन्त्र का युग था तब एक धारणा थी—'कोउ नृप होउ हमे का हानी'—राजा कोई बने, हमे क्या ? राजा ईश्वरीय सत्ता है। वह ईश्वर है। वह कोई भी हो, हमे क्या करना है ? एक सस्कृत कवि ने बहुत सुन्दर कहा है—

रे रे रासभ ! वस्त्रभारवहनात् कुग्रासमश्नासि किं,
राजाश्वावसथं प्रयाहि चणकाभ्यूषान् सुखं भक्षय।
सर्वान् पुच्छवतो हयानिति वदन्त्यत्राधिकारे स्थिता.,
राजा तैरुपदिष्टमेव मनुते सत्यं तटस्थाः परे ।।

एक धोवी का गधा चला जा रहा था। पीठ पर कपडो का गट्ठर था। एक आदमी ने पूछा, 'अरे ! गधे ! इतना भार क्यो ढोते हो ? तुम्हे खाना भी अच्छा नही मिलता, थोडी-वहुत मूखी घास मिल जाती है। ऐसी वेवकूफी क्यो करते हो ? मेरा कहा मानो और राजा की घुडशाल मे चले जाओ। वहा जाकर मजे से चने खाना। वहा कोई काम नही करना पडेगा।' गधा वोला, 'तुम्हारा कथन लुभावना है, किन्तु राजा की घुडशाल मे मेरा प्रवेश कैसे होगा ? यदि चला भी जाऊगा तो मुझे मार-पीटकर लोग निकाल देंगे।' आदमी वोला, 'इसकी चिन्ता मत करो। तुमको वहा से कोई नही भगाएगा। क्योकि वहा के सभी अधिकारी यह मानकर चलते है कि जिसके पूछ होती है वह घोडा होता है। तुम चले जाओ और सुखपूर्वक जीवन विताओ।' गधा वोला, 'अधिकारी तो मान लेंगे, किन्तु राजा इसको कैसे मानेगा ? एक गधे को घोडा कैसे मानेगा ?' आदमी ने कहा, 'चिन्ता मत करो। राजा स्वतन्त्र-रूप से कुछ नही सोचता। वह वही मानता है जो अधिकारी कहते हैं। अधिकारी यदि गधे को घोडा कह देंगे तो राजा गधे को घोडा मान लेगा और यदि वे घोडे को गधा कह देंगे तो वह घोडे को गधा मान लेगा। तुम वेफिक्र रहो।' गधा वोला, 'अरे ! इतना तो ठीक है, किन्तु दूसरे नागरिक इसे कैसे स्वीकार करेंगे ?' आदमी वोला, 'इस राष्ट्र के सारे लोग तटस्थ है, उदासीन हैं। वे यह मानते हैं कि हमे क्या, कोई कुछ भी माने।'

आज की राजनीति ने इस तटस्थता को जन्म दिया है। इससे अनेक विकृतिया पैदा हुई है। समाज का वहुत वडा भाग राजनीति मे भाग नही लेता, तटस्थ रहता है, कोई चिन्ता नही करता। यदि सव चिन्ता करने लग जाए तो जो स्थिति चल रही है, वह चल नही सकती। उसमे अनिवार्यत परिवर्तन आ जाता है। किन्तु सव उदासीन है और यही कहते हैं, 'हमे क्या ! जो कुछ हो, होने दो। हम क्यो चिन्ता करें ?' आदमी इसका परिणाम भी भुगत लेता है, पर उदासीनता नही तोडता।

आज राजतत्र का युग नही है। राज्य कोई दैवी सत्ता नही है। न कोई ईश्वर का अवतार राजा वनकर आता है और न उसकी सतान ईश्वरीय या दैवी रूप मे अवतरित होकर अपने उत्तराधिकार को सभालती है। आज जनतत्र का युग है। जो सत्ता एक राजा मे निहित थी, वह सत्ता जनता को प्राप्त है। राजनीति जन-जीवन के अधिकारो और कर्त्तव्यो की व्याख्या करती है। उसने अनेक अधिकार दिए हैं। उनमे मुख्य हैं—

१ जीवित रहने का अधिकार।
२ सपत्ति का अधिकार।
३ स्वतत्रता का अधिकार।
४ शासन-तत्र मे भाग लेने का अधिकार।

कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार शासन-तत्र मे भाग ले सकता है। यह प्रतिवध नही है कि अमुक भाग ले सकता है और अमुक नही। हर नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है। उस स्थिति मे यह उदासीनता टूटनी चाहिए। आज का नागरिक इस राजनीति से उदासीन नही रह सकता। आज के लोग यह मान वैठे हैं कि राजनीति गदी है, उसमे भाग लेने वाले लोग भ्रष्ट है। यह मानना गलत है। मैं ऐसा नही मानता। यदि वह गदी है और उसमे जाने वाले लोग भ्रष्ट हैं तो उसकी जिम्मेदारी आप पर भी आती है। सारी गदगी का परिणाम सवको भुगतना पडता है। राजनीति आज सव कुछ है। जीवन की सारी वागडोर राजनीतिज्ञो के हाथ मे है। अर्थ की सत्ता राजनीतिज्ञो के हाथ मे है तो धर्म-सस्थानो की सत्ता भी उन्ही के पास है। जीवन के प्रत्येक पक्ष पर उनका नियत्रण है। धर्म पर राजनीति का कोई नियत्रण नही होता, किन्तु धर्म-सस्थानो पर उसका निश्चित नियत्रण होता है। अर्थ-सस्थान और धर्म-सस्थान—दोनो राजनीति से सचालित हैं। ऐसी स्थिति मे राजनीति से उदासीन होकर वैठ जाना, उसकी उपेक्षा करना, समझदारी की वात नही है।

हम नैतिकता की खिडकी से राजनीति को देखने का एक उपक्रम कर रहे हैं। दोनो मे दूरी है और राजनीति की सीमा मे नैतिकता की वात प्राप्त नही है, किंतु जव नैतिकता की खिडकी को खोलकर हमने देखना शुरू किया है तो हमे राजनीति को ठीक से समझना ही होगा।

राज्य और सरकार—ये दो राजनीति के मूलभूत आधार है। क्या कोई व्यक्ति राज्य की उपेक्षा कर सकता है? क्या कोई नागरिक सरकार की उपेक्षा कर सकता है? उनकी उपेक्षा कोई नही कर सकता। जीवन का एक भी पक्ष ऐसा नही, एक भी परिस्थिति ऐसी नही या एक भी घटना ऐसी नही जो राजनीति के द्वारा नियत्रित न हो। इस स्थिति मे यह परम आवश्यक हो जाता है कि हम राजनीति को समझें, उससे दूर न भागें, उसे गर्हित न मानें। यह भी न मानें कि वह गर्हित वस्तु है। हम यह मानें कि वह एक सर्वशक्ति सपन्न तत्त्व है, जिसका उपयोग हमे सतर्कता से करना है। यदि समाज का मूर्धन्य वर्ग, चिन्तक और विद्वान् वर्ग उस क्षेत्र मे प्रवेश करता है तो उसमे परिष्कार की सभावना रह सकती है। यदि वह वर्ग मौन और उदासीन रहता है तो परिष्कार की यह सभावना भी क्षीण हो जाती है। पावलॉव का एक सूत्र है—'राजनीति की यह प्रकृति है कि वह मुख्य को गौण कर देती है और गौण को मुख्य वना डालती है।' आज यही सवने वडी

ममस्या है। आज की गजनीति जीवन की प्राथमिक वस्तुओ को गौण कर, गौण वस्तुओ को प्राथमिकता देकर चल रही है। अन्न जीवन की प्राथमिक वस्तु है। राजनीति कभी-कभी इसे गौण कर अन्यान्य वस्तुओ को प्राथमिकता दे देती है। सदाचार जीवन का मुख्य तत्त्व है। राजनीति मे उसे गौण स्थान प्राप्त है। मेकाइवर ने लिखा है—'राजनीति नैतिकता नही ला सकती।' यह सही है। नैतिकता लाना राजनीति का अधिकार-क्षेत्र नही है। राजनीति के पास दड-शक्ति है। वह अनुचित काम करने वालो को दड दे सकती है, उस पर शासन कर सकती है किन्तु उसे नैतिक नही बना सकती। क्योकि नैतिकता की सारी प्रेरणा अन्त करण मे उद्भूत होती है। एक व्यक्ति अन्त करण से कैसा है, क्या करता है—यह राजनीति की चिन्ता का विषय नही बनता। राजनीति की सीमा वहा नही पहुच पाती। कोई व्यक्ति मन मे बुरा चिन्तन करता है, अनिष्ट सोचता है, राजनीति का वहा कोई हस्तक्षेप नही हो सकता, न्यायालय का भी कोई हस्तक्षेप नही हो सकता। परोक्ष मे किए जाने वाले बुरे कामो मे राज्य का हस्तक्षेप नही होता। राज्य व्यक्ति को तब दडनीय मानता है जब वह प्रत्यक्ष मे कानून के द्वारा निषिद्ध आचरण करता है। परोक्ष जगत् मे राजनीति का प्रवेश नही हो सकता। वहा केवल धर्म का शासन चलता है। वहा केवल अध्यात्म का शासन चलता है। एक आध्यात्मिक व्यक्ति का यह सूत्र हो सकता है—'दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा—दिन मे या रात मे, अकेले मे या समूह मे, नीद मे या जागरण मे—मैं वह आचरण नही करुगा जो आत्म-परिधि से बाहर का हो।' यह अध्यात्म का सूत्र हो सकता है, यह राज्य या राजनीति का सूत्र कभी नही हो सकता। एक व्यक्ति कानून की पकड मे तभी आता है जब वह अनाचीर्ण कार्य करते हुए देख लिया जाता है, उस कार्य को प्रमाणित कर दिया जाता है। अन्यथा वह कभी पकड मे नही आता। नैतिकता की बात भिन्न है। एक नैतिक व्यक्ति मन मे उठने वाले बुरे विकल्प का प्रायश्चित्त करना पसन्द करता है, वह उसका प्रायश्चित्त भी करता है। राजनीति मे ऐसा नही होता। एक राजनीतिज्ञ अपनी भूलो का प्रायश्चित्त करना पसन्द नही करता। समाज मे नैतिकता की प्रतिष्ठा करना, व्यक्ति को नैतिक बनाना यह राजनीति के क्षेत्र मे प्राप्त नही है।

चिडियो के राजा उकाब के पास कोयल गई और बोली, 'आप मुझे बुलबुल बना दें।' उकाब ने कहा, 'अच्छा, आज से सब तुम्हे बुलबुल मानेंगे।' उसे बुलबुल मान लिया गया। एक डाल पर बैठकर वह गाने लगी। दूसरे पक्षियो ने उसकी ओर ध्यान ही नही दिया। वह पुन उकाब के पास गयी और बोली, 'आपने मुझे बुलबुल बना दिया, किन्तु ये दूसरे पक्षी मुझे बुलबुल के रूप मे स्वीकार ही नही करते।' उकाब बोला, 'मैं राजा हू, भगवान् नही हू। मैं तुम्हें बुलबुल का पद दे

सकता हू किन्तु तुम्हे वुलवुल वना नही सकता।'

राजनीति किसी को वुलवुल वना नही सकती। वह हर किसी को वुलवुल का पद दे सकती है, किन्तु वुलवुल वनाना उसके हाथ की वात नहीं है। वह किसी को नैतिक वना नही सकती। किन्तु यह एक सचाई है कि यदि सरकार मे जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति नैतिक होता है तो व्यवस्था सुन्दर होती है। यदि वे नैतिक नही होते हैं तो जीवन का सारा तत्र ही गडवडा जाता है। राजनीति के आकाश को नैतिकता की खिडकी से देखने के तीन वडे लाभ हैं—

१ नैतिक जीवन का परिष्कार होता है।

२ राजनीति और अर्थनीति के द्वारा जो विकृतिया आती हैं, समाज मे जो घृणा और विषमता फैलती है, उनका निराकरण होता है।

३ मनुष्य का जीवन सतुलित, शान्त और स्वस्थ वनता है।

नैतिकता की खिड़की से राजनीति के आकाश को देखने से यह लाभ होगा कि सत्ता और प्रशासन मे आने वाले लोगो के जीवन मे निखार आएगा।

आज की सवसे वडी अपेक्षा यह है कि राजनीतिक जीवन मे परिष्कार आए। दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व जितने राजनीति और अर्थनीति के शास्त्र लिखे गए उनमे मुख्य ग्रन्थ तीन हैं—कौटिल्य अर्थशास्त्र, नीतिवाक्यामृत, शुक्रनीति। उनमे कहा गया है कि राजा को 'षडरि वर्ग' का विजेता होना चाहिए। जो इन छह शत्रुओ को नही जीत लेता तव तक वह सही अर्थ मे राजा नहीं होता। राजा के छह शत्रु है—काम, क्रोध, मद, लोभ, इन्द्रिय पराधीनता और असयम। जो राजा इन छहो शत्रुओ को नही जीत लेता वह प्रजा का भला नही कर सकता। आप यह न मानें कि राजनीति मे उच्छृखलता को स्थान मिला है। राजनीति उच्छृखलता को नही मानती। वह हमेशा नैतिकता से अनुशासित रही है। प्राचीन काल मे राजनीति और अर्थनीति पर धर्म का नियत्रण था। वडे-वडे सम्राट् ऋषि-मुनियो के पास जाते और उनका मार्ग-दर्शन पाकर राज्य का सचालन करते। वे वडी-वडी समस्याओ को समाहित करते। आज यह अकुश नही रहा। जीवन-तत्र पर राजनीति हावी हो गयी और यह अकुश टूट गया। इसीलिए अति विषम स्थितिया पैदा हो गयीं। यह भी सभव है कि धर्म के आचार्य या नैतिकता को समर्थन देने वाले व्यक्ति इतने तेजस्वी नही रहे कि जिनका अकुश राजनीति मान सके। कही-न-कही कमी है। इतना स्पष्ट है कि आज राजनीति मे परिष्कार की अपेक्षा है। किन्तु आज का राजनेता इस वात को टालता जा रहा है।

शासन सत्ता मे आने वाले सारे लोग तपस्वी और सयमी होते हैं, यह मानना भी अति मानना होगा। सारे अधिकारी और कर्मचारी दूध के धुले होते हैं, यह स्वीकार नही किया जा सकता। महामात्य कौटिल्य ने लिखा है—राज्य कर्मचारी हो और रिश्वत न ले, यह असभव वात है। पानी मे तैरने वाली मछली आकाश

मे भले ही उड जाए और आकाश मे उडने वाला पक्षी भले ही पानी मे तैरने लग जाए, यह सभव हो सकता है, पर राज्य-कर्मचारी रिश्वत न ले, यह कभी सभव नही हो सकता। यह आज की वात नही है, ढाई हजार वर्ष पुरानी वात है। मनुष्य की प्रकृति सदा एक-सी रहती है। क्षेत्र और काल की दूरी से उसे नही मापा जा सकता। यदि मनुष्य की यह प्रकृति नही होती तो राज्य-सत्ता का विकास नही होता। राज्य-सत्ता का विकास क्यो हुआ? राजनीति का विकास क्यो हुआ? मनुष्य ने अपने सारे अधिकार राजनीति के चरणो मे न्योछावर क्यो किए? इसका एकमात्र उत्तर है कि मनुष्य की प्रकृति मे स्वार्थ होता है। मनुष्य स्वार्थी होता है। उसमे विचारभेद और अह होता है। यदि स्वार्थ, विचारभेद और अह नही होता तो राज्य-सत्ता का विकास नही होता। किन्तु स्वार्थ होने के कारण छीना-झपटी होती है। जव छीना-झपटी होती है तव उसके नियत्रण की वात सोची जाती है। राज्य-सत्ता के पनपने का यह एक वीज वो दिया गया।

विचारभेद राज्य-सत्ता के पनपने का दूसरा वीज है। विचारभेद होना एक अनिवार्यता है। जव वह समन्वय या सहिष्णुता के द्वारा नही सुलझाया जाता तव राज्य-सत्ता को आना पडता है। विचारभेद के कारण जव सघर्ष उभरते है, लडाइया होती है तव राज्य-सत्ता उसको रोकने के लिए उत्पन्न होती है।

अह से राज्य-सत्ता का विकास होता है, यह तीसरा कारण है। प्रत्येक आदमी मे अहकार होता है। वह स्वय को वडा और दूसरो को छोटा मानता है। जो स्वय नासमझ है, जिसे हम सव नासमझ मानते हैं, वह सारी दुनिया को नासमझ मानता है। कितना आश्चर्य! आदमी का इतना वडा अह कि वह स्वय के अतिरिक्त सवको अज्ञानी मानता है। छोटे वच्चो से पूछें—'तू ज्यादा समझदार है या तेरा वडा भाई?' वह कहेगा, 'मैं ज्यादा समझदार हू।'

राज्य-सत्ता के उदय के तीन कारण वहुत ही स्पष्ट है। इसके उदय के साथ-साथ अनेक विकृतिया इसमे आयी है। यदि नैतिकता के द्वारा राजनीति को परिष्कृत करने का उपक्रम नही चलता है तो उसके कडवे परिणामो को भी हमे भुगतना पडता है। प्रत्येक आदमी चाहता है कि उमकी स्वतत्रता न छीनी जाए, उसे न्याय मिले। किन्तु क्या शक्तिहीन व्यक्ति अपनी स्वतत्रता को वचा सकता है? क्या उसे कभी न्याय मिल सकता है? शक्तिहीन व्यक्ति अपनी स्वतत्रता की रक्षा नही कर सकता। उसे कभी न्याय नही मिल सकता। मैं मानता हू कि ये दोनो शव्द—शक्ति और न्याय एकार्थक हैं, पर्यायवाची है। न्याय का अर्थ है शक्ति और शक्ति का अर्थ है न्याय। शक्तिहीन आदमी न्याय की आशा करता है तो वह कभी सफल नही हो सकता। न्याय शक्ति-सापेक्ष होता है।

शक्तियो मे सवसे वडी शक्ति होती है—आत्म-विश्वास की। आत्म-विश्वास का अर्थ है—अपने पर आस्था। यह आस्था नैतिक निष्ठा मे प्राप्त होती है। व्यक्ति

मे आन्तरिक निष्ठा, आन्तरिक अनुशासन जागने पर आत्म-विश्वास की लौ जल उठती है। वह अमिट होती है, कभी नहीं बुझती।

दो शब्द हैं—शासन और अनुशासन। आज अनुशासन लाने की बात चारो ओर से आ रही है। पर वह कही दृग्गोचर नही होता। इसको हम समझें। अनु-शासन मे दो शब्द हैं—अनु और शासन। अनु अव्यय है। उसका अर्थ है—बाद मे। अनुशासन का अर्थ है—शासन के बाद आने वाला। मनुष्य मे शासन तो है नही और हम आशा करें कि उसमे अनुशासन आए, यह कभी सभव नही है। जब अन्त करण की पवित्र प्रेरणाओ के द्वारा शासन का विकास होता है तब अनुशासन की सभावना बढती है। शासन के अभाव मे अनुशासन आ ही नहीं सकता।

राजनीति के आकाश को नैतिकता की खिडकी से देखने का सुपरिणाम यह होगा कि व्यक्ति-व्यक्ति मे आत्मानुशासन जागेगा और राजनीति के आकाश मे होने वाले उत्पात मिट जाएगे। आत्मानुशासन फलित होगा, तब किसी भी प्रकार की उच्छृखलता नही होगी।

गगाशहर, १५ अगस्त, १९७८

चरित्र का प्रश्न : वैयक्तिक या सामाजिक ?

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहाघेणु, अप्पा मे नदण वण ॥

—आत्मा वैतरणी नदी है, आत्मा कूटशाल्मली वृक्ष है, आत्मा कामदुघा धेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है।

आत्मा वैतरणी नदी भी है और वह नन्दन वन भी है। आत्मा के ये दो पक्ष हैं। एक ओर वह वैतरणी नदी है जिसके जल की धारा इतनी तीक्ष्ण है कि उसके स्पर्श मे शरीर के सारे अवयव कट जाते हैं। दूसरी ओर वह नन्दन वन है जो व्यक्ति को आनन्द से भर देता है। मनुष्य का चिन्तन एक ओर वैतरणी नदी है तो दूसरी ओर वह नन्दन वन है। कोई एक चिन्तन ऐसा प्रस्तुत होता है कि वह व्यक्ति और समाज को रसातल तक पहुचा देता है। कोई एक चिन्तन ऐसा प्रस्तुत होता है कि वह व्यक्ति और समाज को हिमालय की चोटी पर पहुचा देता है। चिन्तन ही व्यक्ति को नीचे लाता है और चिन्तन ही व्यक्ति को ऊपर ले जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि चिन्तन ही वैतरणी नदी है और चिन्तन ही नन्दन वन है।

आज के युग मे एक चिन्तन उभरा। वह मनुष्य के जीवन को दो खडो मे विभक्त करता है—व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन। सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करने वाले व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन कैसा है—इसकी चिन्ता आवश्यक नहीं समझी जाती। एक तर्क है कि व्यक्तिगत जीवन का अपना मामला है। उसमे दूसरे का हस्तक्षेप क्यो होना चाहिए ? कोई व्यक्ति कैसा ही जीवन जीता है, यह उसी का प्रश्न है। दूसरे को इससे क्या ? एक आदमी बोला, 'मिया जी ! आम आए हैं।' मिया ने कहा, 'मुझे क्या ?' वह बोला, 'आपके ही आए है।' मिया ने कहा, 'फिर तुझे क्या ?' आज का आदमी इसी भाषा मे सोचता है कि मेरा चरित्र चाहे जैसा हो उससे दूसरे को क्या मतलब ? किसी व्यक्ति के चरित्र की समालोचना करने पर वह उत्तर की भाषा मे कहता है, 'तुम मेरे व्यक्तिगत जीवन मे हस्तक्षेप क्यो कर रहे हो ? इस चिन्तन ने नैतिकता और आचार को बहुत

धक्का पहुचाया है, सामाजिक जीवन मे अनेक बुराइयो को पनपने का अवसर दिया है, समाज मे अनेक विकृतिया बढती है। एक हत्यारे के प्रति आपके मन मे अनादर का भाव पैदा हो सकता है। एक चोर के प्रति आपके मन मे घृणा पैदा हो सकती है। एक डाकू के प्रति आपका मन आक्रोश से भर सकता है। एक व्यभिचारी के प्रति आपके मन मे तिरस्कार के भाव उभर सकते है। परतु हत्यारे, चोर, डाकू और व्यभिचारी को किसने पैदा किया? क्या आज की गलत मान्यताए, गलत चिन्तन, उनको पैदा करने मे उत्तरदायी नही है? क्या आज का सामाजिक वातावरण उनके निर्माण के लिए उत्तरदायी नही है? सचमुच इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

एक व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र मे काम करता है, ऊचे पद पर आता है, उसका चरित्र सबके लिए अनुकरणीय बन जाता है। यह चिन्तन कि उसके व्यक्तिगत जीवन से हमे क्या प्रयोजन, अपने आप मे भ्रान्त है। मैं मानता हू कि अत्याचार को बढावा देने का इससे बडा कोई सूत्र नहीं हो सकता।

भारतीय चिन्तन की ये प्रारम्भिक रेखाए थी कि दायित्व पर या सार्वजनिक क्षेत्र मे कोई व्यक्ति प्रस्तुत होता है तो सबसे पहले यह देखना चाहिए कि उसका चरित्र कैसा है? उसका आधार कैसा है? उसकी बौद्धिक और कर्मजा-शक्ति कैसी है? यदि वह इन गुणो से सपन्न है तो उससे समाज का बहुत भला हो सकता है। यदि वह चरित्रवान् नही है, बौद्धिक और कर्मजा-शक्ति से शून्य है तो वह समाज मे विकृतियो को जन्म देने वाला होता है। उसके कारण समाज को अनेक यातनाए भुगतनी पडती हैं।

महामात्य कौटिल्य मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त का भाग्य-विधाता था। वह मगध साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। उसने जैसा जीवन जीया, वैसे जीवन की कल्पना करना भी आज कठिन है। वह एक छोटी-सी झोपडी मे रहता था। वहा कुछ अत्यन्त आवश्यक वस्तुए थी। न रक्षा का प्रबध और न कोई मनोरजन का साधन। न चोरी की चिन्ता और न किसी प्रकार का भय। ऐसी कुटिया मे रहता था महामात्य कौटिल्य, जो अपने युग का सबसे बडा बुद्धिमान् और शक्ति-सपन्न व्यक्ति था।

महात्मा गाधी ने सादगी पर बल दिया। वे स्वय सादगी से रहे और आसपास के वातावरण को भी सादगीमय बनाए रखा। आचार की छोटी-छोटी बातो पर गहरी सूक्ष्मता से ध्यान दिया। एक बार दो पैसो की गडबड को लेकर महादेव भाई को इतना उलाहना दिया कि सुनने वाले आश्चर्य मे पड गए। एक श्रोता ने कहा, 'महात्मा जी! दो पैसे के लिए आप इतना उलाहना दे रहे है, यह क्या अच्छा है?' महात्मा जी ने कहा, 'प्रश्न दो पैसो का नही है, प्रश्न सार्वजनिक पैसो का है। प्रश्न हमारे चरित्र का है। यदि उसमे दो पैसे की भी गडबड होती है

तो उससे विश्वास को धक्का लगता है।'

कौटिल्य ने एक सूत्र दिया कि राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। आज राजा का अर्थ वदल गया। आज की भापा मे कहा जा सकता है कि प्रत्येक शासक या प्रशासक को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जो शासक आत्म-नियन्त्रण का पाठ नही पढता, वह समाज के लिए अभिशाप वन जाता है। चरित्र की वीमारी सत्रामक वीमारी है। यह छूत का रोग एक व्यक्ति तक ही सीमित नही रहता, वहुत प्रसरणशील है। एक व्यक्ति की वुराई हजारो-हजारो व्यक्तियो तक पहुच जाती है। उन सवको वीमार कर डालती है। शीर्षस्थ व्यक्ति की वीमारी का प्रसरण शीघ्र होता है, तीव्र गति से होता है। वह अपनी लपेट मे हजारो-हजारो व्यक्तियो को ले लेता है। पृथ्वीराज चौहान की विलासिता भारत की परतत्रता का एक मुख्य कारण वनी। फ्रान्स के सम्राट् लुई ने जिस प्रकार का विलासी जीवन जीया, वह समूचे फ्रान्स के लिए अभिशाप वन गया। जिन शासको ने चरित्रहीन जीवन जीया, उनके आसपास रहने वाले अधिकारी भी चरित्रहीन वन गए। अधिकारी ही नही सारी प्रजा चरित्रहीन हो गयी। समूचा समाज विलासिता मे डूव गया, उसकी तेजस्विता जाती रही। चरित्रवल के विना तेजस्विता नही आती। जिस समाज के अग्रणी लोग चरित्रहीन होते है, वह समाज निश्चित ही तेजहीन और शक्तिशून्य हो जाता है।

अच्छा तो यह होता कि शासक या अधिकारी के वन्धु और मित्र भी चरित्रवान् होते। पर इसका दायित्व कोई शासक या अधिकारी कैसे ले सकता है? चरित्रहीन पारिवारिक जनो और मित्रो के कारण शासकवर्ग को काफी हानि उठानी पडती है। इसे वर्तमान की घटनाओ से आका जा सकता है। सत्ता, धन और अधिकार के वल पर अत्याचार करने की क्षमता वढ जाती है। छोटा आदमी वडा अत्याचार नही कर सकता। वडा आदमी ही वडा अत्याचार कर सकता है। पारलौकिक भापा मे कमजोर आदमी वडे नरक—सातवें नरक मे नही जा सकता। वडे नरक मे जाने के लिए वडा आदमी चाहिए, वडी ताकत चाहिए। कमजोर आदमी वहुत वडा अच्छा काम नही कर सकता तो वहुत वडा वुरा काम भी नही कर सकता। अच्छा या वुरा वडा काम शक्तिशाली आदमी ही कर सकता हैं। जिसके पास धन की शक्ति है, सत्ता की शक्ति है, अधिकार की शक्ति है और वह आत्म-सयम से शून्य है तो उस एक व्यक्ति के कारण हजारो-हजारो व्यक्तियो को यातनाए भुगतनी पडती हैं। समूचे समाज मे गलत मान्यताए चल पडती हैं।

आज के मनोविज्ञान ने एक ऐसी मान्यता दी, जिससे वुराई को फैलने मे पूरा सहयोग मिला। उसका एक सूत्र है—इच्छाओ का दमन मत करो, उन्हे भोगो। भारतीय मनोविज्ञान का स्वर था—इच्छाओ का सयम करो। आधुनिक

मनोविज्ञान के स्वर ने भारतीय मनोविज्ञान के स्वर को क्षीण कर डाला। इच्छा-संयमन की बात कठिन होती है और इच्छा-भोग की बात सरल। आदमी सरल को जल्दी पकडता है। आज का आदमी मनोविज्ञान का सहारा लेकर इच्छाओ को मुक्त भाव से भोगने लगा है। फलत वह विलासी बनता जा रहा है, चरित्र-हीन बनता जा रहा है। सीमाए टूट रही है। विशेषत बडे लोगो के लिए कोई सीमा ही नही रही। उन्होने इस सचाई को भुला दिया कि जीवन मे सीमाए आवश्यक हैं। सीमा-बोध की विस्मृति का परिणाम यह हो रहा है कि हत्या, अपराध और पागलपन बढ रहा है। वर्तमान सरकारें उन अपराधो को रोकने के लिए बजट का बहुत बडा हिस्सा व्यय कर रही हैं। फिर भी अपराध अपनी गति से बढते ही जा रहे है। कुछ देशो मे इतना आतक बढा है कि आदमी घर से बाहर जाता है और साझ को सुरक्षित लौट आता है तो उसे अपना सौभाग्य मानता है। कोई तय नही कि वह जिन्दा लौट आए। इतना सर्वत्र आतक, भय और आशका। सचमुच इस मनोवैज्ञानिक धारा ने मनुष्य को निरकुश बनने मे सहयोग दिया है।

चरित्रहीनता के तीन रूप है—

१ क्रूरता—यह हत्या, मारकाट के रूप मे प्रकट होती है।

२ परिग्रह—यह आर्थिक अपराध, व्यावसायिक भ्रष्टता, चोरी, डकैती के रूप मे प्रकट होता है।

३ व्यभिचार—यह कामुकता के रूप मे प्रकट होता है।

हिंसा, अर्थ-लोलुपता और कामुकता—ये तीनो समूचे समाज को प्रभावित करती हैं। वर्तमान मे हत्याए बढी हैं। उनके पीछे सत्ता और धन की शक्ति तो काम करती ही है, इच्छाओ को भोग लेने, जो इच्छा पैदा हुई उसे कर डालने की मनोवृत्ति भी काम करती है। एक विद्यार्थी ने सिनेमा देखा। हत्यारे को समाचार-पत्रो की सुर्खियो मे समूचे विश्व मे प्रसिद्ध होते देखा। वह दृश्य उसके मन को भा गया। वह विश्वविद्यालय के भवन की गुबज पर बैठा और उसने चार-पाच छात्रो की हत्या कर डाली। न्यायाधीश के सामने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए उसने कहा, 'मेरे मन मे समूचे राष्ट्र मे प्रसिद्ध होने की इच्छा जागी, उसे पूरा करने के लिए मैंने ये हत्याए की।' कैसा पागलपन? यह पागलपन क्यो आया? इच्छाओ को भोग लेने की मनोवृत्ति के कारण ही ऐसा हुआ। किसी भी कीमत पर इच्छा को पूरा कर लेना चाहिए—यह मनोभाव पागलपन पैदा करता है।

परिग्रह की लोलुपता के कारण भी चरित्रहीनता पराकाष्ठा तक पहुच गयी है। अर्थ के अर्जन मे जिन साधनो का प्रयोग किया जाता है वैसे साधनो की चर्चा प्राचीन साहित्य मे विरल ही मिलेगी। येन केन प्रकारेण धन अर्जित करने की

भावना सारे समाज मे व्याप्त है। इसमे वडे आदमी आगे हैं, वे अगुआ हैं जो विपुल सपत्ति के स्वामी हैं। वडी गडवडिया वे ही कर सकते है जिनके पास विपुल साधन है। दस-वीस लाख की रिश्वत वडे साधन वाला ही दे सकता है। वडा घोटाला वडा आदमी ही कर सकता है। सामाजिक मानदण्ड ही ऐसे वन गए हैं कि वडा वह माना जाता है, जिसके पास अपार सपत्ति है। वडा वह माना जाता है, जिसके पास वडा अधिकार है। वडा वह माना जाता है, जिसकी पहुच वडे पद पर रहने वाले व्यक्तियो तक है। ऐसे वडे आदमी ही वडी आर्थिक गडवडिया कर सकते हैं। छोटा आदमी छोटी गडवडी कर सकता है, पर वडा आर्थिक घोटाला करने के लिए उसके पास साधन ही कहा ? निस्सन्देह समूचा समाज आर्थिक चरित्रहीनता के परिणामो को भोग रहा है।

व्यभिचार के परिणामो से आज समूचा समाज आक्रान्त है। ब्रह्मचर्य का अर्थ-ही खो गया है। हजारो-हजारो वर्षो के चिन्तन और हजारो वर्ष पुरानी परम्परा मे ब्रह्मचर्य की गुणगाथा गायी गयी थी। वह आज विस्मृत हो गयी है। जो तथ्य मनुष्य के व्यक्तिगत स्वास्थ्य से लेकर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करता था, उसे सर्वथा भुला दिया गया है। अति अब्रह्मचर्य के कारण धृति, सहिष्णुता, प्रतिभा और स्वानुभव की अत्यधिक हानि हुई है। अनेक प्रकार की विकृतिया और कुठाए पनपी हैं।

सुकरात से पूछा गया, 'जीवन मे सभोग कितनी वार करना चाहिए ?' सुकरात ने उत्तर दिया, 'एक वार।' यदि यह सभव न हो तो ? उत्तर मिला, 'वर्ष में एक वार।' फिर प्रश्न हुआ यदि यह सभव न हो तो ? उत्तर मिला, 'महीने मे एक वार।' यदि यह भी सभव न हो तो ? सुकरात ने कहा, 'फिर कफन सिर पर रख लो और चाहे जैसा करो।'

वडे से वडे साम्राज्य के पतन मे कामुकता का हाथ रहा है। सुरा और सुदरी ने क्या-क्या नही किया ? अनेक युद्धो के पीछे कामुकता की कहानी जुडी हुई है। जो शासक कामुक होते हैं, उनके अधिकारी भी इस वीमारी से वच नही पाते। कूटनीति मे सुदरियो का उपयोग किया जाता रहा है। प्रशिक्षित युवतिया दूसरे राष्ट्र के वडे अधिकारियो को फसाने मे अपना जाल विछाती रही हैं और उससे राष्ट्र का पतन होता रहा है। कामुकता गुप्तचरी का सवसे वडा अस्त्र है।

स्पार्टा द्वीप के तीन सौ सैनिको ने दस हजार सैनिको को पराजित कर दिया। कहा तीन सौ की अल्पसख्या और कहा दस हजार की विपुल सख्या ! स्पार्टा के एक सिपाही से पूछा गया, क्या तुम्हारे राष्ट्र मे व्यभिचार होता है ?' उसने कहा, 'नही होता।' फिर पूछा, 'यदि कोई व्यभिचार कर ले तो उसे क्या दड भोगना पडता है ?' सिपाही ने कहा 'उसका वह वडा वैल छीन लिया जाता है

जिसका सिर एक पहाडी पर होता है और पूछ दूसरी पहाडी पर।' उसने कहा—'इतना बडा बैल सभव नही है।' सिपाही बोला, 'यदि यह सभव नही है तो स्पार्टा मे व्यभिचार भी सभव नही है।'

पहले स्पार्टा व्यभिचार मे डूबा हुआ था। उसके नागरिक कमजोर और तेजहीन थे। वहा एक ऋषि पैदा हुआ। उसने ब्रह्मचर्य का पाठ पढाया। नागरिको को आत्म-सयम सिखाया। उनके चरित्र को उठाने का उपक्रम किया। व्यभिचार के लिए कठोर दड की व्यवस्था थी। वहा व्यभिचार खत्म हो गया। फिर जो सतान पैदा हुई वह शक्तिशाली हुई। वहा का एक सैनिक सौ सैनिकों के लिए पर्याप्त हो गया।

आज तक दुनिया मे जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए है वे सब उन व्यक्तियो ने किए हैं जो विलासी और कामुक नही थे। मुझे आश्चर्य होता है जब मैं यह सुनता हू कि अमुक बडे अधिकारी के आसपास कामुकता का वातावरण है। वह उसे यह कहकर टाल देता है कि यह उसका व्यक्तिगत मामला है।' यह उसकी पर्सनल लाइफ है। इसमे किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नही है। इस चिन्तन ने भारतीय आत्मा पर गहरा प्रहार किया है। उसकी हत्या ही कर डाली है।

प्राचीन राजनीति का सूत्र है—'राजा कालस्य कारणम्' राजा काल का कारण होता है। काल उसके पीछे-पीछे चलता है। एक छोटी कहानी है। एक राजा जगल मे भटक गया। प्यास मे आकुल-व्याकुल होकर वह इधर-उधर घूमने लगा। उसे एक झोपडी दिखायी दी। वह वहा पहुचा। वहा एक बूढा आदमी बैठा था। पास ही ईख का खेत था। राजा ने पानी मागा। बूढे ने दो-चार ईख तोडे, कोल्हू मे उन्हे पेरा। ईख के रस से एक कटोरा भर गया। राजा ने वह पीया और उसका मन पुलकित हो गया। उसने बूढे से पूछा, 'क्या ईख पर 'कर' भी लगता है?' बूढे ने कहा, 'नही। हमारा राजा दयालु है। वह भला हमसे क्या 'कर' लेगा?' राजा ने मन ही मन सोचा, 'ऐसी मीठी चीज पर अवश्य ही 'कर' लगना चाहिए। मन मे सकल्प-विकल्प उठने लगे। आखिर 'कर' लगाने का निश्चय कर लिया। राजा ने चलते-चलते बूढे से कहा, 'एक प्याला रस और पिलाओ।' बूढे ने फिर दो-चार ईख तोडे। उन्हे कोल्हू मे पेरा। पर रस से कटोरा नही भरा। राजा अचभे मे पड गया। उसने पूछा, 'यह क्या? पहले ईख के रस से कटोरा भर गया था, अब नही भरा, यह क्यो?' बूढा दूरदर्शी था। उसने कहा, 'लगता है मेरे राजा की नीयत बिगड गयी। अन्यथा ऐसा नही होता।' राजा मन ही मन पछताने लगा।

राजा की नीयत का इतना असर होता है। क्या अधिकारियो और मन्त्रियो के चरित्र का प्रभाव समाज पर नहीं पडता? क्या अग्रणी व्यक्तियो के आचरण का असर समाज पर नही होता। होता है, अवश्य ही होता है। हम इसे व्यक्तिगत

मामला कहकर नही टाल सकते। जहा इस प्रश्न को टाल देते है वहा नाना प्रकार की विकृतिया पैदा हो जाती है, अन्याय करने की खुली छूट मिल जाती है।

'इच्छाओ को भोगो'—इस सिद्धान्त के परिणामो को देखकर इस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है। एक व्यक्ति ने कहा, 'मैं किसी को प्रमाण नही मानता। केवल अपनी ही इच्छा को प्रमाण मानता हू। भीतर से जो इच्छा उठती है, अन्तर् मे जो प्रेरणा जागती है, वही कर देता हू।' मैंने कहा, 'यह बहुत बडी बात है। तुम तो वीतराग बन गए। पूर्ण पवित्र बन गए। तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वही तुम करते हो। यह बात वीतराग व्यक्ति के लिए लागू होती है। निर्मल व्यक्ति के लिए लागू होती है। जिसके सारे कषाय-कल्मष धुल जाते हैं, जिसका चिन्तन सर्वथा विशुद्ध बन जाता है, जिसके चिन्तन मे न राग है और न द्वेष है, वैसा व्यक्ति जो कहता है वही करता है और जो करता है वही कहता है। उसका द्वैध समाप्त हो जाता है। वैसा व्यक्ति अपने अन्त करण को प्रमाण माने, यह उचित है। किन्तु जिसमे हजारो विकृतिया हैं, हजारो-हजारो कषाय-कल्मष हैं, हजारो प्रकार के बुरे विचारो और चिन्तन से मन भरा पडा है, वह व्यक्ति यह कहे कि मेरे मे जो अन्तर् प्रेरणा जागती है, वही मैं करता हू—इससे बढकर और क्या वज्रमूर्खता हो सकती है। जो व्यक्ति इतने बडे अधकार को अपने आप मे पालता है, उसकी रही-सही प्रकाश-रश्मिया भी नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य बहुत बार अपने ही विकृत चिन्तन के जाल मे इस प्रकार फस जाता है कि उससे मुक्त हो पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। इन दोषपूर्ण चिन्तनो, मान्यताओ और धारणाओ ने समाज का बहुत बडा अहित किया है। गलत चिन्तन करने वाले व्यक्ति का ही अहित नही होता, उसके कारण सैकडो-सैकडो व्यक्तियो का अहित होता है। हम फिर इस विषय पर गभीरता से विचार करें कि चरित्र का प्रश्न वैयक्तिक नही, सामाजिक है।

एक मकान है। पास मे एक खाली प्लाट है। मकान मालिक उस प्लाट की ओर अपने मकान मे खिडकी नही निकाल सकता। नगरपालिका की स्वीकृति के बिना अपने ही मकान मे इच्छानुसार परिवर्तन नही कर सकता। कितना नियत्रण ! अपने मकान को बदलने मे भी व्यक्ति स्वतत्र नही है। एक ओर इतना नियत्रण और दूसरी ओर चरित्र के विषय मे इतनी छूट ! पदार्थ के प्रति इतना नियत्रण और चेतन को इतनी छूट ! क्या कहा जाए। होना तो यह चाहिए कि चेतन के प्रति नियत्रण हो और पदार्थ के प्रति अनियत्रण रहे। जहा नियत्रण की जरूरत नही है वहा नियत्रण थोपे जा रहे हैं और जहा नियत्रण की जरूरत है वहा व्यक्ति को खुली छूट दी जा रही है। पता नही इस विकृत चिन्तन का अन्त कहा होगा ?

आज अध्यात्म के क्षेत्र मे काम करने वाले अनेक विचारक प्रवाहपाती हो रहे

हैं। वे कहते है इच्छाओ का दमन मत करो। इच्छाओ को भोगो। इस विचार से फिर एक नया वाम-मार्ग प्रस्थापित हो रहा है। इस नये वाम-मार्ग की घोषणा है—इच्छाओ का दमन अनावश्यक है। उससे शक्तिया क्षीण होती हैं। जैसा हो वैसा हो जाए। जो हो उसे कर लिया जाए। सभोग से समाधि सध सकती है। वे मूर्च्छा की समाधि को जागृति समाधि के रूप मे प्रस्तुत कर एक वडी भ्रान्ति को जन्म दे रहे हैं। एक व्यक्ति को क्लोरोफार्म सुघाया जाता है। वह वेहोश हो जाता है। अन्य किसी भी प्रकार की नशीली वस्तु का सेवन कराया जाता है और व्यक्ति एक प्रकार की समाधि मे चला जाता है। चित्त की शून्यता घटित हो जाती है। क्या वेहोशी और समाधि को एक ही माना जा सकता है? इस वेहोशी की समाधि ने अनेक लोगो के मस्तिष्को को भ्रान्त वना डाला। उनके लिए आत्म-सयम का अर्थ ही लुप्त हो गया।

हम केवल प्रवाहपाती न वनें, केवल अनुगमन न करें, कोरे अनुयायी न वनें। हम अपने स्वतत्र चिन्तन का भी उपयोग करें। अनुयायी होना एक अच्छी वात हो सकती है और खतरनाक वात भी हो सकती है। केवल दूसरो के पीछे चलना, उनका अन्धानुसरण करना अच्छी वात नही है। इच्छाओ के अनियत्रित उपभोग ने समाज को पतन के कगार पर ला खडा किया है। हम इस सचाई का अनुभव करें।

मुट्ठी भर हड्डियो के ढाचे मे अपने अस्तित्व को वनाये हुए महात्मा गाधी ने भयकर शारीरिक यातनाए सही। यह कैसे संभव हुआ? उन्होंने भारी समस्याओ का सामना किया। कभी घुटने नही टेके। यह कैसे सभव हुआ? यदि उनके पास ब्रह्मचर्य का वल नही होता तो वे कभी टूट जाते। उनके बारे मे कहा जाता है कि उन जैसा कुरूप और सुरूप व्यक्ति इतिहास मे दुर्लभ मिलेगा। शारीरिक दृष्टि से वे सुरूप नहीं थे, किन्तु चरित्र की दृष्टि से इतने लुभावने थे कि वे हर व्यक्ति को आकृष्ट कर लेते थे। आत्म-सयम से ऊर्जा उत्पन्न होती है, आभा-मडल तेजस्वी होता है, सहनशीलता और धृति वढती है, प्रतिभा सूक्ष्म होती है। इन सबको हम भूल गए। सयम के साथ जो आनन्द की भावना जुडी हुई है, उसे भी हमने भुला दिया। केवल दमन, निग्रह और नियत्रण शब्द पर ही अटक गए। चिन्तन के इस अवरोध को मिटाए विना चरित्र के अवरोध को समाप्त नही किया जा सकता।

चरित्र का प्रश्न कभी वैयक्तिक नही है, वह सामाजिक है। चरित्रहीन व्यक्ति के द्वारा जहा परिवार दूषित होता है वहा गाव और समूचा समाज दूषित होता है, विकृतियां फैलती हैं। चरित्रहीन व्यक्ति यदि ऊचे पद पर होता है तो उसके आचरण से सारा राष्ट्र भी प्रभावित होता है और कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् भी प्रभावित हो जाता है। हम इस भेद-रेखा को मिटा दें कि व्यक्ति का एक

जीवन होता है व्यक्तिगत और दूसरा जीवन होता है सामाजिक। जीवन को इस प्रकार खडित नहीं किया जा सकता। जीवन एक और अखड है। व्यवहार आचरण से फलित होता है और व्यवहार दूसरो के प्रति होता है, इसलिए व्यवहार और आचरण के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नही खीची जा सकती। हम फिर एक बार गहरे मे उतरकर आचरण और व्यवहार की एकात्मकता का अनुभव करें।

गगाशहर, २८ अगस्त, '७८

कर्मवाद

कर्मवाद की पृष्ठभूमि

कुछ प्राणी सवेदन करते है, जानते नही। कुछ प्राणी जानते हैं, सवेदन नहीं करते। कुछ प्राणी जानते भी है और सवेदन भी करते हैं। अचेतन न जानता है और न सवेदन करता है। ये चार विकल्प हैं।

पहले विकल्प मे सवेदन है, ज्ञान नही। यह चेतना का निम्नस्तर है। यह वृत्ति का स्तर है। इसके आधार पर जीवन जीया जा सकता है, पर चैतन्य का विकास नही किया जा सकता।

दूसरा विकल्प शुद्ध ज्ञान का है। इसमे सवेदन नही है, कोरा ज्ञान है। सवेदन का माध्यम शरीर है। मुक्त आत्मा के शरीर नही होता। जिसके शरीर नहीं होता, वह प्रिय और अप्रिय—दोनो का स्पर्श नही करता।

तीसरे विकल्प मे ज्ञान और सवेदन—दोनो हैं। यह मानसिक और बौद्धिक विकास का स्तर है। इस स्तर मे चैतन्य के विकास की पर्याप्त सभावना होती है। जैसे-जैसे हमारा ज्ञान विकसित होता चला जाता है, वैसे-वैसे हम सवेदन के धरातल से उठकर ज्ञान की भूमिका को विकसित करते चले जाते हैं। जैसे-जैसे हमारी ज्ञान की भूमिका विकसित होती है, वैसे-वैसे हम आत्मा के अस्तित्व मे प्रवेश पाते हैं। हम अपने अस्तित्व मे तब तक प्रवेश नही पाते, जब तक सवेदन का धरातल नीचे नही रह जाता है। आचार्य अमितगति के शब्दो मे—'अज्ञानी सवेदन के धरातल पर जीता है और ज्ञानी ज्ञान के धरातल पर।' मनुष्य दो धरातल पर जीते हैं। ज्ञानी मनुष्य जानते हैं किन्तु सवेदन नही करते। जो घटना घटित होती है, उसे जानते-देखते है किन्तु उसका सवेदन नही करते, भार नही ढोते। अज्ञानी मनुष्य जानते नही, सवेदन करते हैं। वे स्थिति का भार ढोते हैं। वेदान्त का भावना सूत्र है कि साधक द्रष्टा होकर जीये। वह घटना के प्रति साक्षी रहे, उसे देखे, किंतु उससे प्रभावित न हो, उसमे लिप्त न हो।

ज्ञान होना और सवेदन न होना—यह द्रष्टा का जीवन है। मेरे हाथ मे कपडा

है। मैं इस कपडे को जानता हू, देखता हू। मैं इस कपडे को कपडा मानता हू। इससे अधिक कुछ नही मानता। यह ज्ञान का जीवन है, यह आत्म-दर्शन है। प्रश्न हो सकता है—'यह आत्म-दर्शन कैसे ? यह तो वस्त्र-दर्शन है। वस्त्र-दर्शन को हम आत्म-दर्शन कैसे मान सकते हैं ?' इसका उत्तर वहुत साफ है। मैं वस्त्र को जानता हू। मैं केवल जानता हू, उसके साथ कोई सवेदनात्मक सम्वन्ध स्थापित नही करता। इसका अर्थ है मैं ज्ञान को जानता हू और ज्ञान को जानने का अर्थ है, मैं अपने आपको जानता हू। ज्ञान और ज्ञानी सर्वथा अभिन्न नही हैं और सर्वथा भिन्न भी नही हैं। वहुत सारे लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं। आत्म-दर्शन का उपाय वहुत जटिल माना जाता है, मैं आपको वहुत सरल उपाय वता रहा हू। आप इस वस्त्र को देखे। यह आपका आत्म-दर्शन है। आप वस्त्र को देख रहे हैं, तव केवल वस्त्र को नही देख रहे हैं। जिससे वस्त्र को देख रहे हैं, उसे भी देख रहे है, अपने ज्ञान को भी देख रहे हैं। जहा केवल ज्ञान का प्रयोग होता है वहा अपने अस्तित्व का अनुभव होता है। अपने अस्तित्व का अर्थ है—केवल ज्ञान का अनुभव। ज्ञान मे किसी दूसरी भावना का मिश्रण हुआ कि वह सवेदन वन गया। ज्ञान का धरातल छूट गया। केवल ज्ञान का अनुभव करना, अपने अस्तित्व का अनुभव करना है। अपना अस्तित्व उससे पृथक् नही है। मैं ज्ञान का अनुभव कर रहा हू, इसका अर्थ है कि जहा से ज्ञान की रश्मिया आ रही हैं उस आत्म-सत्ता का अनुभव कर रहा हू। क्योकि आत्मा और ज्ञान भिन्न नही हैं। केवल ज्ञान का प्रयोग करने का अर्थ है—अपने आपको जानना और अपने आपको जानने का अर्थ है—केवल ज्ञान का प्रयोग करना। इस अर्थ मे केवल ज्ञान का प्रयोग और आत्म-दर्शन एक ही वात है।

ज्ञान की निर्मल धारा मे जव राग और द्वेप का कीचड मिलता है, अह और मोह की कलुषता मिलती है, तव वह केवल ज्ञान या शुद्ध ज्ञान की धारा सवेदन की धारा वन जाती है। इस धारा मे न शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है और न आत्म-दर्शन होता है।

ज्ञान और सवेदन—यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है।

अविभक्त वगाल मे चौवीस परगना जिला था। उस जिले में एक गाव है—कोल्हू। वहा एक व्यक्ति रहता था। उसका नाम था भूपेश सेन। वह वगाली गृहस्थ था। वहुत वडा भक्त था। इतना वडा भक्त कि जव वह भक्ति मे वैठता तव तन्मय हो जाता। वाहरी दुनिया मे उसका सम्वन्ध टूट जाता। एक दिन वह भक्ति मे वैठा और तन्मय हो गया। वाहर का भान समाप्त हो गया। अन्तर् मे पूरा जागृत किन्तु वाहर से सुप्त। एक व्यक्ति आया और चिल्लाया, 'भूपेश ! क्या कर रहे हो ? उठो और सभलो।' वह वहुत जोर से चिल्लाया, किन्तु भूपेश को कोई पता नही चला। उसने भूपेश का हाथ पकड झकझोरा, तव भूपेश ने आखें खोली और

कहा, 'कहिए, क्या बात है?' आगन्तुक बोला, 'मुझे पूछते हो क्या बात है? यहां आकर मूढ़े बैठे हो। तुम्हें पता नहीं, तुम्हारे इकलौते बेटे को सांप काट गया और वह तत्काल ही मर गया।' भूपेश ने कहा, 'जो होना था सो हुआ।' आगन्तुक बोला, 'अरे! तुम कैसे पिता? मैंने तो दुःख का संवाद सुनाया और तुम वैसे ही बैठे हो? लगता है कि पुत्र से तुम्हें प्यार नहीं है। तुम्हें शोक क्यों नहीं हुआ? तुम्हें चिन्ता क्यों नहीं हुई? तुम्हें दुःख क्यों नहीं हुआ? तुम्हारी आंखों से दो आंसू क्यों नहीं छलक पड़े?' भूपेश ने कहा, 'जिस दिन बेटा आया था तो मुझे पूछकर नहीं आया था और आज वह लौट गया तो मुझे पूछकर नहीं लौटा। उस दिन मैंने कुछ नहीं किया था। आज भी मुझे कुछ नहीं करना है। यह जन्म और मरण की अनिवार्य शृंखला है, जिसमें मेरा हाथ नहीं है। मनुष्य आता है, चला जाता है। तुम्हें इतनी क्या चिन्ता है?' आगन्तुक चुप हो गया। उसके पास बोलने के लिए कुछ नहीं बचा। कुछ क्षण रुक कर वह बोला, 'अब उसकी चिता जलानी है, साथ चलो।' भूपेश उसके साथ गया। पुत्र की अर्थी श्मशान में पहुंची। चिता में पुत्र को सुला, आग लगाकर कहा, 'बेटे, तुम जिस घर से आए थे, उसी घर में जा रहे हो। आज से हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है।'

यह घटना का केवल ज्ञान है। इसके साथ संवेदना का कोई तार जुड़ा हुआ नहीं है। जो घटित हुआ, उसे उसी रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य जब इस स्थिति में पहुंच जाता है, तब ज्ञान की भूमिका प्रशस्त हो जाती है। भगवान् महावीर की वाणी में इसी का नाम संवर है। जहां केवल ज्ञान रहता है, केवल आत्मा की अनुभूति रहती है, वहां विजातीय तत्त्व का आकर्षण बन्द हो जाता है।

कर्म का वर्तुल

का) नाम निर्जरा है। निर्जरा का चरमविन्दु मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—केवल आत्मा। आत्मा और पुद्गल का जो योग है, वह वन्धन है, ससार है। केवल आत्मा के अस्तित्व का होना, पुद्गल का योग न होना ही मोक्ष है। इसकी अनुभूति धर्म के हर क्षण मे की जा मकती है।

आश्रव और सवर, वध और निर्जरा—इन चार तत्त्वो को समझने पर ही कर्म की वास्तविकता को समझा जा सकता है। केवल चैतन्य का अनुभव होना संवर है। चैतन्य के साथ राग-द्वेप का मिश्रण होना आश्रव है। इसके द्वारा कर्म परमाणु आकर्पित होते हैं। वे चैतन्य को आवृत करते है—ज्ञान और दर्शन की क्षमता पर आवरण डालते हैं। वे आत्मा के सहज आनन्द को विकृत कर, उसके दृप्टिकोण और चरित्र मे विकार उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की शक्ति को स्खलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर-निर्माण और पौद्गलिक उपलव्धि के हेतु वनते हैं। इस प्रकार आश्रव वध का निर्माण करता है और वध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म के द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। जव तक आत्मा केवल ज्ञान के अनुभव की अवस्था को प्राप्त नही होता तव तक वह वर्तुल चलता ही रहता है।

जीव मे भी अनन्त शक्ति है और पुद्गल मे भी अनन्त शक्ति है। जीव मे दो प्रकार की शक्तिया होती हैं—

१ लव्धिवीर्य—योग्यतारूप शक्ति।

२ करणवीर्य—क्रियात्मक शक्ति।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा, 'भते ! जीव काक्षा मोहनीय कर्म का वध करता है ?'

भगवान्—'करता है।'

'भते ! कैसे ?'

'प्रमाद से।'

'भते ! प्रमाद किससे होता है ?'

'योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से।'

'भते ! योग किससे होता है ?'

'वीर्य (प्राण) से।'

'भते ! वीर्य किससे होता है ?'

'शरीर मे।'

'भते ! शरीर किससे होता है ?'

'कर्म-शरीर से।'

'भते ! कर्म-शरीर किससे होता है ?'

'जीव से।'

आप उल्टे चलिए। जीव मे शरीर, शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक

पूछा, 'क्यो ?' रविया ने कहा, 'अच्छा नही लगा।'

'यह कैसे हो सकता है कि पवित्र पुस्तक की बात अच्छी न लगे ? क्या यह सही नही है ?'—फकीर ने पूछा। सन्त रविया ने कहा, 'एक दिन मुझे भी सही लगता था, किन्तु आज लगता है कि सही नही है।'

'वह कैसे ?' फकीर ने पूछा।

सन्त रविया ने कहा, 'जब तक मेरा प्रेम जागृत नही था, मेरी प्रेम की आख खुली नही थी, मुझे भी लगता था कि शैतान से नफरत करो, प्यार नही—यह वाक्य बहुत सही है। किन्तु अब मैं क्या करू ? मेरी प्रेम की आख खुल गई है। अब घृणा करने के लिए मेरे पास कुछ भी नही बचा है। मैं घृणा कर ही नही सकता। प्रेम की आख यह भेद करना नही जानती कि इसके साथ प्रेम करो और इसके साथ घृणा।'

हम जब कषाय-चेतना मे होते हैं तब किसी को प्रिय मानते हैं और किसी को अप्रिय। किसी को अनुकूल मानते हैं और किसी को प्रतिकूल। हमारी कषाय-चेतना शान्त होती है, तब ये सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं। फिर कोरा ज्ञान ही हमारे सामने शेष रहता है। उसमे न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय। न कोई इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट। न कोई अनुकूल होता है और न कोई प्रतिकूल। इस स्थिति मे कर्म का बध नही होता।

कषाय-चेतना पर पहला प्रहार तब होता है, जब भेद-ज्ञान का विवेक जागृत होता है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है—यह विवेक जब अपने वलय का निर्माण करता है तब कर्म-शरीर से लेकर कषाय तक के सारे वलय टूटने लग जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत ही सत्य कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥

—इस ससार मे वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं, जिनमे भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्ही व्यक्तियो को हुई है, जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव मे आ गई।

ऐसा होते ही कर्म का मूल हिल उठता है। जिसने अचेतन और चेतन का भेद समझ लिया उसने कर्म और कषाय को आत्मा से भिन्न समझ लिया। समझ कर्म के मूल स्रोत पर प्रहार करती है। जिस कषाय मे कर्म आ रहे हैं, उसके मूल पर कुठाराघात करती है।

कर्म-बधन को तोड़ने का मूल-हेतु भेद का विज्ञान है, तो कर्म-बध का मूल हेतु भेद का अविज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा को उलटकर कहा जा सकता है —

भेदाविज्ञानतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतः सिद्धा, सिद्धा ये किल केचन॥

—इस ससार मे वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं जिनमे भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्ही व्यक्तियो को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव मे आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयो का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म-बन्धन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हे भेद-ज्ञान नही होता, मूल चेतना और चेतना के वलयो की एकता की अनुभूति होती है, उनका बंधन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्‌गल है और वह अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नही हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त आत्मा के साथ-साथ पुद्‌गल एकरस नही होता, क्योंकि उसमे केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण कर्म-शरीर की विद्यमानता मे 'सवर'—कर्म-पुद्‌गलो के सम्बन्ध को रोकने वाला और उसके (कर्म-शरीर के) अभाव मे आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रव है। वह कर्म पुद्‌गलो को आकर्षित करता है। यहा जातीय-सूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खीचता है। कषाय-चेतना की परिणतिया पुद्‌गल-मिश्रित हैं। पुद्‌गल पुद्‌गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ मे आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणो मे रहने का अभ्यास करें जहा कोरा ज्ञान हो, सवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव मे कर्म का प्रगाढ बंध होता है और साधना के द्वारा उसकी ग्रन्थि का भेदन-होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नही समझा जा सकता और कर्म के रहस्य को समझे बिना साधना के रहस्य को नही समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्‌गल की जिन धाराओ को ग्रहण करते है, उन्हे अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। उस समय हमारी चेतना की परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आन्तरिक और बाह्य परिणतियो मे सामंजस्य हुए बिना दोनो मे सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता। जैन दर्शन ने कर्म-वाद की मीमासा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नही हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नये उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना-पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है। हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परिणति होती है। जैसी परिणति होती है, वैसे ही पुद्‌गलो को

हम ग्रहण करते है। उन पुद्गलो का अपने आप मे परिपाक होता है। परिपाक के वाद उनकी जो परिणति होती है, वही हमारी आन्तरिक परिणति हो जाती है। यह एक शृखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया ज्ञान की निन्दा की, ज्ञानी की निन्दा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल मे वह कर्म-पुद्गलो को ग्रहण करता है। वे कर्म-पुद्गल आत्मा की सारी शक्तियो को प्रभावित करते हैं। किन्तु ज्ञान-विरोधी परिणति मे गृहीत पुद्गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत करेंगे। उनका परिपाक ज्ञानावरण के रूप मे होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मो की मीमासा करते चलें। जिसकी चेतना की परिणति यदि ठगने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जानेवाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा मे उसके चरित्र को विकृत वनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जानेवाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा मे उसके सुख मे वाधा डालते है। यह परिणति का सिद्धान्त है। हम किस रूप मे परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्गल धारा को स्वीकार करते हैं, इसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-सघर्ष मे आने वाली वाधाओ को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसे ज्ञाना-वरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी की क्षमताओ का अवरोध पैदा होता है—ये भिन्न-भिन्न समस्याए हैं। साधना के द्वारा इनका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर चोट करनी हो तो एक प्रकार की साधना करनी होगी और यदि मान पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। जिस समस्या से जूझना है, उसी के मूल पर प्रहार करने वाली साधना चुननी होगी। यह वहुत सूक्ष्म पद्धति है। रहस्य हमारी समझ मे आ जाए तो जीवन की समस्याओ को सुलझाने मे हम वहुत सफल हो सकते हैं।

समाजवाद मे कर्मवाद का मूल्यांकन

मैं कल्पना करने मे कठिनाई का अनुभव करता हू कि एक आदमी भारत मे जन्मा हो और कर्मवाद को न जानता हो, नियति, प्रारब्ध और भाग्य के विषय मे कुछ-न-कुछ न जानता हो। भारत के सभी आस्तिक दर्शनो ने किसी-न-किसी रूप मे कर्म के अस्तित्व को स्वीकारा है। भारत की मिट्टी मे कर्म के सिद्धात की जड़ें गहरे तक जमी हुई हैं। खेतो, खलिहानो मे भी यदा-कदा कर्म का स्वर सुनाई देता है। घटना की सफलता और असफलता—दोनो से कर्म की दुहाई सुनने को मिलती है। सफल होने वाला व्यक्ति अपनी सफलता का श्रेय पूर्वजन्म मे किए हुए पुण्य को देता है और कहता है, 'पूर्व जन्म मे अच्छे कर्म किए थे इसलिए मुझे यह सफलता मिली है।' असफल होने वाला भी अपनी असफलता का दायित्व कर्म पर डाल देता है, 'ऐसा ही कोई कर्म किया हुआ था, मैं क्या करू।' कर्म का इतना गहरा सस्कार है कि उसके लिए मुझे विशेष चर्चा की आवश्यकता का अनुभव नही होता।

आज के युग मे जीने वाला, थोडा बहुत भी जनसपर्क मे आने वाला, पढने-लिखने वाला और राजनैतिक वातावरण से परिचित रहने वाला कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो समाजवाद के नाम से अनजान हो? भारत मे इन वर्षों मे, कई बार समाजवाद की स्थापना के सकल्प को दोहराया गया है। समाजवाद एक राजनैतिक प्रणाली है, एक आर्थिक प्रणाली है। कर्मवाद एक आध्यात्मिक प्रणाली है। दोनो का क्षेत्र भिन्न है। दोनो की सीमाए और मर्यादाए भिन्न हैं।

समाजवाद कोरी आर्थिक प्रणाली ही नही है, कोरा राजनैतिक वाद ही नही है। उसके तीन मुख्य पहलू हैं—दार्शनिक, राजनैतिक और आर्थिक। यदि वह केवल आर्थिक आन्दोलन होता तो आज तक नही चल पाता। यदि वह कोरा राजनैतिक आन्दोलन होता तो भी वह आज तक नही चल पाता। वह चल रहा है और इसलिए चल रहा है कि उसके पीछे एक दर्शन है, एक सुनियोजित विचारधारा है। वही आदोलन लम्बे समय तक टिक सकता है जिसकी पृष्ठभूमि मे दर्शन होता है। समाजवाद के दार्शनिक पक्ष को ऐतिहासिक द्वद्वात्मक

भौतिकवाद कहा जाता है। इसका पहला या मूलभूत सिद्धात यह है—इस जगत् का आधार अचेतन है, अचित्त है। इस जगत् का आधार कोई सचेतन नही है। इससे एक परिस्थिति उभरती है। वह है—केवल वर्तमान, न अतीत और न भविष्य। आदमी जन्म लेता है। उसके पीछे कोई अतीत नही होता, उसका कोई भविष्य नही होता, कोरा वर्तमान होता है। आप सोच सकते हैं कि भारतीय दर्शन मे जो भाषा चार्वाक की थी, वही भाषा समाजवादी दर्शन की है। चार्वाक ने भी केवल वर्तमान को स्वीकारा था और समाजवादी दर्शन भी केवल वर्तमान को स्वीकारता है। दोनो की उद्देश्यगत वास्तविकता बहुत भिन्न है। चार्वाक दर्शन पुनर्जन्म और कर्मवाद को अस्वीकार कर वर्तमान जीवन को सुख से जीने के उद्देश्य से अस्तित्व मे आया था और समाजवाद विषमतापूर्ण समाज व्यवस्था को बदलने के उद्देश्य से अस्तित्व मे आया था। उद्देश्य की दृष्टि से दोनो मे कोई तुलना नही की जा सकती। केवल इतनी तुलना की जा सकती है कि चार्वाक भी अनात्मवादी दर्शन है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी अनात्मवादी दर्शन है।

जिस दर्शन को केवल वर्तमानसम्मत होता है, अतीत और भविष्यसम्मत नही होते, उसे लम्बी-चौडी चर्चा मे जाने की जरूरत नही होती, कोई लबी चिंता करने की जरूरत नही होती। उसे अदृश्य जगत् मे जाने की अपेक्षा नही होती और बहुत सूक्ष्म अवगाहन करने की भी कोई जरूरत नही होती। जो दृष्ट है, उपलब्ध है, उसी की जरूरत होती है। इससे समाजवाद का दूसरा सिद्धात फलित होता है। वह है परिस्थितिवाद। जब केवल वर्तमान है तो केवल वर्तमान मे परिस्थितिवाद पनपता है। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है कि व्यक्ति परिस्थिति की देन है। व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थिति से होता है। जैसी परिस्थिति होती है वैसा ही व्यक्ति का निर्माण हो जाता है। व्यक्तित्व के निर्माण का पूरा दायित्व परिस्थिति पर होता है। केवल वर्तमान और केवल परिस्थिति के आधार पर समाजवाद का तीसरा सिद्धात बनता है—समाज-व्यवस्था का परिवर्तन। परिवर्तन की प्रक्रिया का मूल आधार आर्थिक पक्ष है। आर्थिक समस्या मूलभूत समस्या है। इसे सुलझाए बिना सामाजिक समस्याए सुलझ नही सकती। कार्ल मार्क्स ने इस भाषा मे सोचा था—समाज जो बनता-बिगडता है वह अर्थ के आधार पर बनता-बिगडता है। अर्थ-व्यवस्था ही समाज की रीढ है और उसके आधार पर ही समाज अच्छा या बुरा बनता है। केवल मार्क्स ही ऐसा सोचने वाला व्यक्ति हुआ, यह नही कहा जा सकता। भारतीय चिन्तको मे भी इस प्रकार का चिन्तन प्रस्फुटित हुआ था। पूरे समाज के सदर्भ मे भारतीय चिन्तन तीन वर्ग (धर्म, अर्थ और काम) अथवा चतुर् वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) मे विभाजित था। यह प्रश्न चलता था कि त्रिवर्ग या चतुर् वर्ग मे मुख्य कौन ? भिन्न-भिन्न मत थे। कोई धर्म को मुख्य मानता, कोई काम

को मुख्य मानता और कोई मोक्ष को मुख्य मानता। भारतीय राजनीति के नक्षत्र महामात्य कौटिल्य ने इन सब मतो का उल्लेख कर अत मे अपने अभिमत का उल्लेख किया है। वह उल्लेख मार्क्स के चिन्तन मे भिन्न नही है। कौटिल्य के अनुसार सब वर्गों मे अर्थ ही प्रधान है। धर्म और काम—इन दोनो के मूल मे अर्थ है। अर्थ है तो धर्म (न्यायाधिकरण) होता है और अर्थ है तो काम होता है। अर्थ के बिना कुछ भी नही होता—न धर्म और न काम। अर्थ को प्रधानता देने वाले चिन्तक भारत मे बहुत प्राचीन-काल मे हुए हैं। और यह एक सचाई है कि समाज के बनने-बिगडने मे अर्थ का बहुत बडा हाथ होता है। समाजवाद का दूसरा पक्ष है—आर्थिक। मार्क्स ने इस बात पर ध्यान दिया कि जब तक अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन नही किया जाता तब तक समाज का विकास नही हो सकता, सामाजिक परिवर्तन नही हो सकता। आर्थिक व्यवस्था समाजवाद का ध्येय बन गया। यह उनका दूसरा पक्ष है। अब प्रश्न यह रहा कि ध्येय को प्राप्त कैसे किया जाए। केवल दार्शनिक समाजवाद, दार्शनिक समतावाद या दार्शनिक साम्य से ध्येयसिद्धि नही हो सकती। यह उन्हे स्पष्ट प्रतीत हुआ। इतिहास के अध्ययन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि दार्शनिक साम्यवाद का बखान करते-करते हजारो वर्ष बीत गए, पर समाज नही बदला। वे समाज को बदलना चाहते थे। ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होने तीसरा पक्ष चुना जो समाजवाद का राजनीतिक पक्ष है, ध्येय की पूर्ति का एकमात्र साधन है। समाजवादी धारणा के अनुसार जब तक राज्य की सत्ता हाथ मे नही आती तब तक समाज को नही बदला जा सकता। समाजवादी उद्देश्यो की पूर्ति की अनिवार्य शर्त है राज्य-सत्ता को हथियाना। राज्य-सत्ता शोषित वर्ग के हाथ मे होनी चाहिए। धनिको और गरीबो तथा मिल-मालिको तथा मजदूरो के बीच जो वर्ग-सघर्ष चल रहा है वह तब तक नही मिटेगा जब तक शोषित वर्ग के हाथ मे राज्य-सत्ता नही आएगी। इनके हित परस्पर विरोधी हैं। उनमे कोई समझौता नही हो सकता। समाजवाद के आचार्यों ने यह प्रतिपादन किया—पूजीवादी लोगो के हित और शोषित लोगो के हित इतने विरोधी हैं कि उनमें समझौते की कोई सभावना नही है। इस विरोध को मिटाने का एक ही उपाय है, और वह है शोषित वर्ग के हाथ मे सत्ता आना।

समाजवाद के तीनो पक्ष—दार्शनिक, आर्थिक और राजनीतिक—हमारे सामने हैं। इन तीनो पक्षो के सदर्भ मे हमे कर्मवाद को समझना है, उसकी मीमासा करना है। कर्मवाद का दार्शनिक पक्ष समाजवाद के दार्शनिक पक्ष से बिल्कुल उल्टा है। कर्म का अस्तित्व उन दार्शनिको ने स्वीकार किया जो जगत् का आधार चेतन-अचेतन—इन तत्त्वद्वयी को या केवल चेतन को स्वीकार करते हैं। केवल अचेतन को जगत् का आधार मानने वाला कर्म के सिद्धात को स्वीकार नहीं करता। आत्मवादी दर्शनो की मुख्य दो धाराए हैं—द्वैतवाद, अद्वैतवाद।

द्वैतवादी धारा के अनुसार चेतन और अचेतन—इन दोनो का अस्तित्व है। अद्वैतवादी धारा केवल चेतन तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करती है। जिन दर्शनो ने कर्म को स्वीकार किया, उनमे एक भी दर्शन ऐसा नही है जो कर्म को स्वीकृति देता हो और चेनन तत्त्व को स्वीकार किए बिना कर्म का कोई मूल्य नही होता, कोई अर्थ नही होता। कर्मवाद की धारणा के साथ भूत जुडा हुआ है। यदि हमारा कोई अतीत नही है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की जरूरत नही है। यदि हमारा कोई भविष्य नही है तो कर्मवाद को स्वीकार करने की कोई जरूरत नही है। कर्मवाद के साथ भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनो काल जुडे हुए हैं।

कर्मवाद का दूसरा सिद्धात है—परिस्थितिवाद का अस्वीकार। केवल वर्तमान को स्वीकार करने वालो को परिस्थितिवाद मान्य हो सकता है, किन्तु कर्म को स्वीकार करने वालो को वह मान्य नही हो सकता। परिस्थिति को निमित्त माना जा सकता है, एक हेतु या कारण माना जा सकता है। पर सारा भार परिस्थिति पर नही लादा जा मकता, नही थोपा जा सकता। वह इतना भार उठाने मे सक्षम भी नही है। जहा कर्मवाद की स्वीकृति है वहा चेतन की स्वीकृति है, पूर्व जन्म और भावी जन्म की स्वीकृति है। जहा इनकी स्वीकृतिया हैं वहा परिस्थितिवाद की एकाधिकार स्वीकृति नही हो सकती।

तीसरा प्रश्न है—आर्थिक-पक्ष का। वहां कर्मवाद की सामान्य धारणा, प्रचलित धारणा यह है—कोई आदमी धनी होता है तो लोग कहते हैं—बहुत भाग्यशाली है, बडा पुण्य किया है इसलिए इतना धन मिल गया। कोई गरीब होता है तो लोग कहते हैं—भाग्यहीन आदमी है, अच्छा कर्म नही किया, इसलिए दुःख भोग रहा है, सताप भोग रहा है। कर्मवाद को इस रूप मे समझा गया है कि धनी होना पुण्य कर्म का योग है और निर्धन होना पाप कर्म का योग है। कोई आदमी बडे-से-बडा धनी होता है तो उसे मान्यता मिल जाती है। बहुत धन के सग्रह को बुरा नही माना जाता, कर्मवाद के सदर्भ मे उसका समर्थन किया जाता है। किसी आदमी को रोटी नही मिलती तो कर्मवाद के सदर्भ मे इसका समाधान इम प्रकार दिया जाता है—इसने पिछले जन्म मे बहुत बुरे कर्म किए हैं। यदि रोटी न मिले तो कौन क्या करे। स्वय का किया हुआ कर्म है, यह भोगेगा, हमे इससे क्या? कर्मवाद के सदर्भ मे धनी और निर्धन—दोनो अवस्थाओ के बारे मे निर्णय दिया जाता है, उन्हें भाग्य के साथ जोड दिया जाता है। यह आर्थिक-पक्ष ऐसा है जहा ममाजवाद और कर्मवाद की भारी टक्कर होती है। यद्यपि दार्शनिक पक्ष भी दोनो के भिन्न हैं। वहा कोई मेल नही है। वहा इतना मेल नही है तो इतना सघर्ष भी नही है। सघर्ष का मुख्य बिन्दु है आर्थिक-व्यवस्था। समाजवाद की यह स्थापना है, केवल स्थापना ही नही प्रयोग कर चुका है कि मपत्ति समाज की है। उस पर व्यक्ति का स्वामित्व स्वीकार नही किया

जा सकता, समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। उत्पादन, विनिमय और वितरण पर समाज का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। समाजवाद की मर्यादा मे सपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य नही है। कर्मवाद की व्याख्या करने वाले सपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को भी न्यायपूर्ण और उचित ठहराते हैं। यह बहुत उलझन भरा प्रश्न है। इसीलिए यह प्रश्न बार-बार सामने आता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर कर्मवाद का क्या होगा? कर्मवाद कैसे टिक पाएगा? ऐसा लगता है कि दुनिया मे गरीब और धनवान् दोनो टिके रहे तब तो कर्मवाद टिकेगा और ये दोनो न रहें तो कर्मवाद का सारा महल ढह जाएगा। पता नही यह सिद्धात क्यो बन गया। पर सचमुच बन गया। जब-जब विज्ञान के द्वारा नयी उपलब्धियो की घोषणा होती है, तब-तब पहला प्रश्न यह होता है कि अब धर्म कैसे टिकेगा? आत्मा और पुनर्जन्म का सिद्धात कैसे टिकेगा? कर्मवाद कैसे टिकेगा? मुझे लगता है कि बहुत ही छिछले चिन्तन के कारण इस प्रकार के तात्कालिक विचार बन जाते हैं। काल्पनिक और कृत्रिम समस्याए हमारे सामने उपस्थित हो जाती हैं। क्या गरीब और अमीर का भेद मिट जाने मात्र से कर्मवाद समाप्त हो जाएगा? यदि कर्मवाद का आधार इतना कमजोर है तो मैं भगवान् से प्रार्थना करू कि उसे समाप्त होने दे। यद्यपि मैं जैन मुनि हू। भगवान् को मानता हू पर भाग्य-विधाता नही मानता। फिर भी भावना के आवेग मे प्रार्थना करता हू कि ऐसे कर्मवाद को समाप्त हो जाने दें। हमे कोई प्रयोजन नही है। जिसकी भित्ति इतनी कमजोर हो, जिसकी नीव इतनी कमजोर हो, उसे टिकाकर भी हम क्या कर पाएगे? उसे कब तक टिका पाएगे? ये व्यवस्थाए तो बदलती रहेंगी। कभी समाजवाद का अगला चरण भी आ सकता है। दुनिया के बहुत बडे हिस्से मे समाजवाद या साम्यवाद का प्रयोग हो चुका है। वहा आर्थिक-व्यवस्था को सर्वथा बदल दिया गया है। तो हम मान लें कि उन देशो मे कर्मवाद समाप्त हो गया है। रूस मे कर्मवाद समाप्त, चीन मे कर्मवाद समाप्त और जितने भी साम्यवादी या समाजवादी राष्ट्र हैं, उन सबमे भी कर्मवाद समाप्त। कुछ दिनो पूर्व धर्मयुग के सम्पादक धर्मवीर भारती की चीन यात्रा के सस्मरण पढे। चीन जैसे विशाल देश मे किसी भी व्यक्ति के पास अपनी व्यक्तिगत कार नही है। वहा कोई बडा उद्योगपति या भू-स्वामी नही मिलेगा। व्यक्तिगत स्वामित्व इतना सीमित कर दिया गया कि सपत्ति के आधार पर कोई बडा या छोटा आदमी नही होगा। कोई भिखारी नही मिलेगा। एक कृपा कर रोटी देने वाला और दूसरा दीनतापूर्वक रोटी लेने वाला नही मिलेगा। जिसे रोटी न मिलती हो ऐसा गरीब नही मिलेगा। जिसने लाखो और करोडो की सपदा कमा ली हो ऐसा भाग्यशाली भी नही मिलेगा। तो क्या कर्मवाद समाप्त हो गया? यही वह बिन्दु है जिस पर विमर्श जरूरी है। कर्म के विषय मे बहुत भ्रातिया पैदा हो गयी हैं। उन्हे तोडना

आवश्यक है। कभी-कभी भ्रान्तियो का वात्याचक्र इतना वडा वन जाता है कि आदमी मूल तक पहुच ही नही पाता, परिधि मे ही उलझ जाता है।

कर्म व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था मे होने वाले परिवर्तन का घटक है। प्राणीमात्र मे निरन्तर आन्तरिक परिवर्तन होता है, वह सारा का सारा कर्मकृत होता है। एक व्यक्ति क्रोधी है। कोई क्रोध क्यो करता है। इसलिए करता है कि उसके भीतर कर्म है। अभिमान, माया, लोभ, राग और द्वेष—ये सारे के सारे उसके आन्तरिक कर्म के परिणाम हैं, आतरिक व्यक्तित्व के परिणाम हैं। कर्म की दो मुख्य प्रकृतिया हैं—स्वभाव है—(१) जीव विपाकी और (२) पुद्गल विपाकी। पहली प्रकृति का जीव मे परिपाक होता है। दूसरी प्रकृति का पुद्गल के रूप मे परिपाक होता है। शरीर मिलता है, वचन मिलता है, मन मिलता है। ये सव पुद्गल विपाकी प्रकृति के परिणाम हैं। कर्म के विना इनकी व्याख्या नही की जा सकती।

मनोविज्ञान ने आन्तरिक व्यक्तित्व की वहुत सारी व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। मैं मानता हू कि कर्मवाद की जो व्याख्याए अस्पष्ट थी, वे आज मनोविज्ञान के सदर्भ मे समझी जा सकती हैं। मनोविज्ञान ने सचमुच वहुत वडा उपकार किया है। मेरी यह धारणा वन गयी है कि कर्मवाद को समझे विना मनोविज्ञान को पूरा नही समझा जा सकता और मनोविज्ञान को समझे विना कर्मवाद की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। कर्मवाद को समझने के लिए मनोविज्ञान को समझना वहुत जरूरी है और मनोविज्ञान को समझने के लिए कर्मवाद को समझना वहुत जरूरी है। दोनो मे गहरा सम्वन्ध है। मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व की और व्यक्ति के अन्तर्मन की तथा अवचेतन मन और अर्द्धचेतन मन की जो व्याख्याए की है, वे कर्म के द्वारा ही घटित होती हैं। कर्म हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। अर्थ-व्यवस्था को वदल देने, गरीवी को समाप्त कर देने और गरीव और अमीर के भेद को कम कर देने से क्या ऐसा हो गया कि रूस और चीन मे कोई आदमी गुस्सा नही करता, कोई अभिमान नही करता, राग और द्वेष नही करता, प्रियता और अप्रियता की अनुभूति नही करता? व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था होने पर भी क्या कोई वेईमानी नहीं करता? भ्रष्टाचार नही करता? अप्रामाणिकता और भ्रष्टाचार वहा कम अवश्य हुए हैं, पर समाप्त नही हुए हैं। वड़े-वड़े अधिकारी भी आर्थिक घोटाले करते हैं। यह सोवियत कांग्रेस और चीन की राष्ट्रीय रिपोर्टो के अध्ययन से ज्ञात होता है। जहा मरने के वाद वाप की सपत्ति वेटे को नहीं मिलती, वहा कोई आर्थिक घोटाला किसलिए करे—इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का स्वभाव नही वदलता, मनोवृत्ति नहीं वदलती। और इसीलिए नही वदलती कि परिस्थिति वदल जाने पर भी जिनके अन्त:स्रावी ग्रन्थियो के स्राव और उसको प्रेरित करने वाले कर्म के स्राव

नही वदलते, वहा स्वभाव नही वदलता, आचरण और व्यवहार नही वदलता। मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व जो है, वह सारा का सारा कर्म से प्रभावित होता है, कर्म के द्वारा सचालित होता है। कर्म के आन्तरिक सचालन को जब हम पदार्थ के साथ जोड देते हैं, वहा हमारी भ्राति वढ जाती है। सामाजिक व्यवस्था का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हू। वह ऐसी व्यवस्था का निदर्शन है, जैसी व्यवस्था समाजवादी और साम्यवादी भी नही कर पाएगे। मार्क्स ने स्टेटलेस स्टेट (राज्यसत्ता रहित राज्य) की कल्पना की। समाजवाद का अन्तिम ध्येय है राज्यसत्ता रहित राज्य। अभी यह वहुत दूर है। आज साम्यवादी देशो मे पूरा एकाधिनायकवाद है। शासन-तत्र इतना कठोर है कि आदमी को उसे सहने मे भी कुछ कठिनाई होती है। पता नही आदमी कव इतना आत्मानुशासित होगा और कव एक आदमी दूसरे आदमी पर इतना भरोसा करेगा और वह दिन कव आएगा कि जिस दिन शासनतत्र की व्यर्थता सिद्ध होगी, उसकी कोई अपेक्षा प्रतीत नही होगी। जैन आगमो मे ऐसी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, भले फिर वह देवताओ के लिए हो। और वैसी व्यवस्था मे जीने वाला अपने आप उच्चकोटि का देव वन जाता है, वह साधारण मनुष्य नही रहता। आज की व्यवस्था और परिस्थिति मे जीने वाला मनुष्य तो नही ही रहता। कल्पातीत देवो की व्यवस्था मे कोई इन्द्र नही होता, कोई प्रेष्य नही होता, कोई स्वामी नही होता, कोई सेवक नही होता। सव समान होते हैं और सवके सव आत्मानुशासित होते है। अनुशासन और तत्र जैसी कोई व्यवस्था नही होती। सवके सव ऋद्धि, वल और द्युति मे समान होते हैं। हमारे कुछ दार्शनिको या योगियो ने सुपर ह्यूमन (अतिमानव) और सुपर कोन्शियसनेस (अतिचेतना) के अवतरण की कल्पना की है। उसका सुव्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत पद्धति मे मिलता है। समाजवादी व्यवस्था मे सपत्ति का उत्तराधिकार नही होता पर सवके पास समान ऋद्धि नही है। किसी के पास कम धन होता है और किसी के पास अधिक धन होता है, किन्तु कल्पातीत व्यवस्था मे सपदा भी सवके समान होती है। न कोई वडा आदमी है और न कोई छोटा आदमी है। शारीरिक वल भी समान और चिन्तन भी समान। ऐसा समाजवाद न जाने कव आएगा। सैकडो-सैकडो वर्षो की साधना के वाद मनुष्य उस कल्पातीत व्यवस्था तक पहुच पाएगा या नही, यह नही कहा जा सकता। उस कल्पातीत व्यवस्था का आधार वहा जन्म लेने वाले देवो का आन्तरिक परिवर्तन है। उनके क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा प्रियता और अप्रियता का सवेदन कम होता है, इसलिए उनमे असभव प्रतीत होने वाली समानता सहज ही घटित हो जाती है। समाजवादी व्यवस्था का आधार वाहरी परिवर्तन है। वाहर से घटित होने वाली समानता उतनी व्यापक और स्थायी नही होती जितनी व्यापक और स्थायी आन्तरिक परिवर्तन से घटित होने वाली समानता होती है। आतरिक

परिवर्तन से भी व्यवस्था का परिवर्तन होता है और व्यवस्था के परिवर्तन से भी आन्तरिक अवस्था मे कुछ परिवर्तन सभव हो सकता है। निमित्त न मिलने पर कुछ उपादान भी निष्क्रिय हो सकते हैं, फिर भी इस सचाई को अस्वीकार नही किया जा सकता कि आन्तरिक परिवर्तन के बिना व्यवस्था का परिवर्तन नियत्रण के साथ ही चल सकता है। उसमे राज्यरहित राज्य की परिकल्पना सभव नही हो सकती। जब तक मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व नही बदलेगा, उत्तेजना, आवेश और वासना कम नही होगी तब तक वह स्थिति उपलब्ध नही होगी।

उक्त विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुचा जा सकता है कि समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने पर भी कर्मवाद के सिद्धान्त मे कोई बाधा नही आती। यदि समानता के कारण कोई बाधा आती तो कर्मवाद का सबसे अधिक विशद वर्णन करने वाले जैन आगमो मे कल्पातीत समानता का कोई उल्लेख नही मिलता। और वह मिलता है, इससे हम समझ सकते हैं कि आर्थिक समानता और कर्मवाद का सिद्धान्त एक-दूसरे की उत्थापना करने वाले नही है। कर्मवाद का सम्बन्ध व्यवस्था से नही, हमारी आन्तरिक प्रक्रियाओ से है। जहा कर्मवाद को व्यवस्थाओ के साथ, समाज की बदलती हुई परिस्थितियो के साथ जोड देते हैं, वहा उसकी व्यर्थता प्रतीत होने लग जाती है और उसके विषय में अनेक भ्रान्तिया पनप जाती है। यदि कर्मवाद को हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व के साथ जोडें तो भ्रान्तिया कभी नही पनप पाएगी। हमारे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, और अतिसूक्ष्म शरीर मे होने वाले परिवर्तनो, रासायनिक परिवर्तनो और बदलते हुए विद्युत् प्रवाहो की सर्वांगीण व्याख्या कर्मवाद के सदर्भ को छोडकर नही की जा सकती। हम कर्म और कर्म की सहायक सामग्री (नो-कर्म) को एक मान लेते है तब कठिनाई पैदा होती है, भ्रान्तिया पनपती है। व्यवस्था परिवर्तन को कर्म-विपाक के निमित्त के रूप मे समझा जा सकता है, किन्तु उसका सीधा सम्बन्ध कर्म के साथ स्थापित नही किया जा सकता। इस सचाई को समझ लेने पर अकाल-मृत्यु, बुढापा और बीमारिया—इन सबमे परिवर्तन लाया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था, चिकित्सा की सुविधा और जीवन-यापन की सुविधा होने पर उन सारी स्थितियो मे परिवर्तन हो सकता है। कर्मवाद का इस परिवर्तन मे कोई विरोध नही है।

सौभाग्यवश भारतीय दर्शनो मे और विशेषत जैन दर्शन मे कर्मवाद का बहुत गहरा चिन्तन बहुत विस्तार के साथ हुआ है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि कर्मवाद को समझे बिना ध्यान भी ठीक से नही किया जा सकता, आध्यात्मिक विकास नही किया जा सकता। जो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करना चाहता है, मन को एकाग्र करना चाहता है, मानसिक स्थिरता को उपलब्ध होना चाहता है, उसके लिए कर्म का प्रकाश बहुत जरूरी है। कर्म की प्रक्रिया को समझे बिना,

तात्पर्य की भापा मे आन्तरिक व्यक्तित्व को समझे बिना मन चचल होता है और हम मान बैठते हैं कि मन चचल है। यह मानना बहुत बडा झूठ है। यदि कोई मुझे कहे कि मन बहुत चचल है तो मैं इसे बहुत बडा झूठ मानता हू। मन बिल्कुल चंचल नही हैं। मेरे हाथ मे यह कपडा है। मैं हाथ हिलाता हू और यह हिल रहा है। क्या यह चचल है ? आप इसे चचल ही मानेंगे। पर यह चचल कहा है ? कपडा बेचारा क्या चचल और क्या अचचल। हाथ हिलता है तो यह चचल है और हाथ नही हिलता है तो यह अचचल है। हवा का क्या ठडा और क्या गरम ? थोडी-सी वर्षा होती है तो हवा बहुत ठडी हो जाती है। थोडी बर्फ पडती है तो हवा बहुत ठडी हो जाती है और तेज धूप तपती है,तो हवा बहुत गरम हो जाती है। यह बालू ठडी है या गरम ? यदि कोई सर्दी मे बालू पर चलता है तो ऐसा लगता है कि वह बर्फ मे चल रहा है और कडी धूप मे बालू पर चलता है तो ऐसा लगता है कि वह आग पर चल रहा है। हमारे मन की भी यही स्थिति है। जब कर्म-शरीर की प्रेरणाए जागती है, वृत्तिया उभरती हैं तो मन बडा चचल हो जाता है। भीतर की वृत्तिया शान्त होती है तो मन शान्त और स्थिर हो जाता है। जीवन की प्रत्येक समस्या पर चिन्तन करने के लिए कर्मवाद को पढना आवश्यक है। बदलती हुई सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियो से हम घबराए नही। बार-बार कर्मवाद के समाप्त होने की बात न सोचें, किन्तु उन परिस्थितियो के सदर्भ मे कर्मवाद का सही-सही मूल्याकन करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि जो सत्य त्रैकालिक दृष्टि तथा साक्षात् अनुभव के द्वारा उपलब्ध किया गया है, जो स्वय अप्रकम्प है वह इन छोटे-छोटे झझावातो के द्वारा कभी समाप्त नही हो सकता।

गगाशहर, ७ अगस्त, '७८।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और कर्मवाद

मनुष्य का सारा प्रयत्न उद्देश्य के साथ होता है। उसका मुख्य उद्देश्य है सुख की प्राप्ति और दु ख-विमुक्ति। कर्मवाद मानता है कि आदमी पुण्य करता है तो सुख पाता है और पाप करता है तो दु ख पाता है। दुनिया मे कोई धनी है तो लोग कह देते है कि वडा भाग्यशाली है, वडा पुण्य किया है इसीलिए धनी है। कोई गरीब होता है तो लोग कह देते हैं—वेचारे ने वुरे कर्म किये थे। वुरे कर्मो का फल भोग रहा है। लोग सुख-दु ख को कर्म के साथ जोड देते हैं और कर्म को जोड देते हैं धन और पदार्थ के साथ। इस मान्यता का फल यह हुआ कि भ्रान्ति वढ गयी। लोग कहने लगे, 'धन चाहिए तो धर्म करो, पुण्य करो।' कोई धर्म नहीं करता है तो लोग कहते हैं, 'अरे, तुम कोई धर्म नही करते, परलोक मे जाकर क्या खाओगे ?' ऐसा लगता है कि लोगो ने धर्म-पुण्य और पदार्थ को विलकुल मिला दिया। आचार्यों ने कहा, 'साधना के विना मनुष्य का जन्म वैसे ही फालतू जाता है जैसे वकरी का सीग।' धर्म की साधना करो। धर्म की साधना की तो अर्थ और काम अपने आप प्राप्त होंगे।

धर्म की साधना इसलिए जरूरी है कि काम की भावना समाप्त हो, परिग्रह की भावना समाप्त हो। किन्तु न जाने क्यो, कर्मवाद का एक ऐसा विकृत रूप सामने आया कि सब कुछ उसमें मान लिया गया। यह एक प्रवाह ही चल पडा। धर्म के गुरु भी ऐसा ही कहने लग गए। उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्तसुधारस काव्य मे लिखा है—

> प्राज्य राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
> रम्यं रूप सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्।
> नीरोगत्व गुणपरिचयः सज्जनत्व सुवुद्धि:,
> किन्तु ब्रूम फलपरिणति धर्मकल्पद्रुमस्य ॥

—धर्म कल्पवृक्ष है। दुनिया मे ऐसी कौन-सी वस्तु है जो धर्म से न मिले। राज्य धर्म मे मिलता है। अच्छी पत्नी धर्म मे मिलती है। वेटे और पोते धर्म मे मिलते हैं।

कविता की शक्ति और अच्छा गन्ना भी धर्म से मिलता है। सारे गुण धर्म से मिलते हैं। यह एक ऐसा वृक्ष है जिसके सब प्रकार के फल लगते हैं। पत्नी और धन धर्म से मिलते हैं तो फिर दुनिया मे ऐसा क्या है जो धर्म से न मिले? यह एक प्रश्न है कि क्या सब कुछ धर्म से ही मिलता है? यह प्रश्न समाधान चाहता है। क्या सब कुछ अच्छे कर्मों से मिलता है? यदि मिलता है तो मोक्ष से वह स्थान कहा रह जाता है जहा धन, राज्य, परिवार आदि को छोडने की बात प्राप्त होती है। जब यह मान लिया गया कि सब कुछ पुण्य से मिलता है, धर्म से मिलता है तो इसका फलित यह हुआ कि मनुष्य की प्रवृत्ति पुण्य के अर्जन मे लग गई। पुण्य का अर्जन प्रधान बन गया और पुरुषार्थ गौण हो गया। जबकि पुरुषार्थ द्वारा जो प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष है और पुण्य के द्वारा जो प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है। दूसरी बात यह हुई कि अर्थ-व्यवस्था के प्रति मनुष्य का ध्यान ही नही गया। व्यवस्था को बदलने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उसका ध्यान केवल इस ओर केन्द्रित रहा कि पुण्य करो, पुण्य कमाओ। उसने यह कभी नही सोचा—अपनी दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए अर्थ-व्यवस्था को ठीक करना आवश्यक है। सारा ध्यान पुण्य मे अटक गया। फलत बहुत बडी गरीबी छा गई। भारत की गरीबी मे बहुत बडा हाथ है कर्मवाद, भाग्यवाद और पुण्यवाद की मान्यता का। यदि भारत मे कर्मवाद की दुहाई नहीं दी जाती, भाग्यवाद और पुण्यवाद की ये धारणाए प्रचलित नही होतीं तो हिन्दुस्तान आज जितना गरीब है, उतना गरीब नही होता। आदमी मे पुरुषार्थ की लौ ऐसी बुझी कि उसे फिर से प्रज्ज्वलित करना कठिन हो गया। आदमी पग-पग पर सोचता है—'भाग्य मे ऐसा ही लिखा है, क्या करू?' आदमी इतना जल्दी सतोष मान लेता है कि उसे वैसा नही मानना चाहिए। सतोष अच्छा भी है तो बुरा भी है। सतोष जहा करना चाहिए वहा नही किया जाता और जहां नहीं करना चाहिए वहा किया जाता है। यह कठिनाइयो का मूल है। भाग्यवादी धारणाओ ने भारत का बहुत बडा अनर्थ किया है।

हमारी एक दार्शनिक भ्रान्ति है। वह आज भी चल रही है। वह भ्रान्ति यह है—धर्म या पुण्य या अच्छे कर्म से सुख मिलता है, यह एक बात है और उनसे सुख के साधन मिलते हैं, यह दूसरी बात है। हमारी भ्रान्ति यह हुई कि हमने सुख को और सुख के साधन को एक मान लिया। मैं मानता हू कि सुख की अनुभूति कर्म से होती है और दुःख की अनुभूति भी कर्म से होती है। किन्तु सुख के साधन अच्छे कर्म से मिलते हैं और दु ख के साधन बुरे कर्म से मिलते हैं, इसे स्वीकार करने मे कर्मवाद बाधक प्रतीत होता है। वह एक व्यवधान होता है। मैं पहले कर्मवाद की धारणा के आधार पर अपनी बात स्पष्ट करूगा।

कर्मवाद का एक सिद्धान्त है—किया हुआ कर्म फल देता है। बिना परिपाक या विपाक हुए कोई भी कर्म फल नहीं देता। विपाक की भी कुछ शर्तें हैं—क्षेत्र-

विपाक, काल-विपाक, पुद्गल-विपाक और जीव-विपाक। कुछ कर्म ऐसे है, जिनका विपाक क्षेत्र से सवधित है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक काल से सवधित होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक पुद्गल से होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक-जीव से सम्वन्धित है। सुख-दु ख होना, साता-असाता होना जीव-विपाकी कर्म कहलाता है। सुख का अनुभव भी जीव को होता है। उसका परिपाक जीव मे होता है, पदार्थ मे नही। परन्तु हमने मान लिया कि पदार्थ का होना सुख है और पदार्थ का न होना दु ख है। यह वहुत वडी भ्रान्ति पैदा हो गई। अनेक मनीषी आचार्यो ने वताया—पदार्थ के द्वारा जो होता है वह ऐकान्तिक सुख या दु ख नही होता। जेठ की दुपहरी है। गहरी प्यास लगी है। पानी का एक गिलास मिलता है तो सुख का अनुभव होता है। व्यक्ति को सुख का अनुभव हुआ पानी से। पानी सुख का अनुभव नही है। पानी सुख के अनुभव का एक साधन है। पानी एक पदार्थ है, जिसमे यह क्षमता है कि वह सुख का साधन वन सकता है, सुख का निमित्त या हेतु वन सकता है। किन्तु पानी पीना सुख का अनुभव नही है, चेतना सुख का अनुभव करती है। चेतना को सुख होता है और पदार्थ उसका निमित्त वनता है। एक गिलास पानी पिया, फिर दूसरा गिलास पानी पिया फिर तीसरा और चौथा गिलास पानी पिया। क्रमश सुखानुभूति कम होती चली जाएगी और एक समय ऐसा भी आता है कि पानी पीने से सुख की अनुभूति विल्कुल नही होती। जैसे-जैसे उपयोगिता कम होती है, सुखानुभूति भी कम होती चली जाती है। सगीत-श्रवण मे व्यक्ति को सुख मिलता है। कानो को तृप्ति मिलती है। किन्तु एक व्यक्ति नीद में सोया हुआ है, वह सगीत को पसन्द नही करेगा। एक आदमी खाने का शौकीन है। पर जव वह रोगग्रस्त है तो अच्छा भोजन भी उसे अच्छा नही लगता। उसे सव कुछ वुरा लगता है। पदार्थ मे सुख देने की क्षमता नही है, पदार्थ सुख का निमित्त वन सकता है। किन्तु यह जरूरी नही है कि पदार्थ सुख का निमित्त वनता ही है। वह वनता भी है और नही भी वनता। हमने पदार्थ को सव कुछ मान लिया, यह वहुत वडी भ्रान्ति हो गई। एक वहुत वडे धनपति ने कहा, 'मेरा ड्राइवर जहा कही मोटर खडी कर नीद ले लेता है। वह सुख की नीद सोता है और मुझे नीद लेने के लिए गोलिया खानी पडती है। फिर भी गहरी नीद नही आती। मुझे ड्राइवर की नीद से ईर्ष्या होती है, उसके निश्चिन्त जीवन से ईर्ष्या होती है।' यह जानते हुए भी उन धनपतियो मे एक प्रकार की मूर्च्छा, एक प्रकार की तृष्णा काम करती है, जिसे वे छोड नही सकते। जो दु ख का साधन है, वे उसे सुख का साधन मानकर चलते हैं। जव वे दु ख के साधन को सुख मान लेते हैं तव वेचारे गरीव आदमी सोचते है—धन कमाने से यह वडा आदमी हो गया, सुखी हो गया। यह कहना तो सच है कि वह धनपति वन गया, वडा वन गया, किन्तु उसे सुखी मान लेना यह भ्रान्ति हो जाती है। एक मार्मिक कहानी है

हरियाणा की। एक धोबी था। उसके अनेक पत्निया थी। उसने एक कुत्ता पाल रखा था। उसका नाम था 'शतावा'। वह थक गया। एक दिन पड़ोस के कुत्तो ने आकर कहा, 'तुम बहुत थक गए। क्या बात है? दूसरे घर क्यो नही चले जाते।' उसने कहा, 'तुम बात तो ठीक कहते हो, पर कैसे जाऊ? अपनी इतनी पत्नियो को छोड कैसे जाऊ?' उन कुत्तो ने कहा, 'कौन-सी पत्निया? कहा से टपक पड़ी तुम्हारी पत्निया?' उस कुत्ते ने कहा, 'धोबी की कई पत्निया है। जब वे लडती है तब वे एक-दूसरे को कहती है, 'आई राट शतावा की बैर।' अब बताओ वे सब मेरी पत्निया है। उन्हे छोड कैसे जाऊ।'

मनुष्य भी अपने चारो ओर मोह का एक ऐसा वलय बना लेता है कि वह उसे तोड नही पाता। कुत्ते को 'शतावा की बैर' से कोई लेना-देना नही, फिर भी मन मे एक मोह जाग गया कि वह अपनी पत्नियो को छोडकर नही जा सकता, भले ही वह भूखा मर जाए।

क्या आप यह नही मानते कि धन के पीछे दौडने वाले बहुत सारे लोगो मे एक मूर्च्छा जाग जाती है कि वे सुख के लिए धन नही कमाते किन्तु धन के लिए धन कमाते है, धन के लिए धन का अर्जन करते है? वे धन से मात्र अपना बड़प्पन प्रदर्शित करना चाहते है। इसके सिवाय कोई सुख नही होता। यदि धन वाले सुखी हो और इस सिद्धान्त को कोई प्रमाणित कर सके तो शायद हम कर्मवाद के प्रश्न पर पुनर्विचार करने को तैयार हो सकते है। किन्तु आज तक यह कोई प्रमाणित नही कर सका कि धनपति सुखी होता है। इतना तो मै मान सकता हू कि धनपति सुविधापूर्ण जीवन जी सकता है। धन से सुविधाए प्राप्त हो सकती है। धन से जो वस्तु चाहे, वह मिल सकती है। वस्तु का मिलना सुख का मिलना नही है। यदि हम वस्तु का मिलना सुख का मिलना मान लेते है तो भ्रान्ति छा जाती है। वस्तु का मिलना कुछ और है और सुख का मिलना कुछ और है। हम देखते है कि वस्तुओ का सग्रह करने वाले दुश्चिताओ मे जीते है।

हम सबसे पहले यह समझे कि वस्तु का होना एक बात है और सुख का होना दूसरी बात है। दोनो की भिन्न-भिन्न दिशाए है। वस्तु के न होने पर भी आदमी सुखी हो सकता है और बहुत सारी वस्तुओ की सुगमता होने पर भी आदमी सुखी नही हो सकता। यह बात समझ मे आने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ को कर्म या धर्म के साथ जोडना आवश्यक नही है। धर्म के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह है हमारी आन्तरिक अनुभूति। धर्म से हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व बनता है और अधर्म से वह बिगडता है। कर्म की व्यवस्था हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व के निर्माण मे या बिगाडने मे है, न कि पदार्थ को जुटाने मे। जब ठण्डी हवा चलती है तब सुख का अनुभव होता है। मै पूछना चाहता हू—ठण्डी हवा किस व्यक्ति के पुण्य कर्म से चली, किसके भाग्य से चली? वर्षा होती है, वह किसके कर्म से होती

है। एक आदमी कश्मीर मे जन्म लेता है और गर्मी का मौसम सुखपूर्वक विता देता है। एक आदमी राजस्थान मे जन्म लेता है और गर्मी के दिनो मे वहुत कष्ट का अनुभव करता है। तो क्या हम मान लें कि कश्मीर मे जन्म लेने वाले सारे भाग्यशाली हैं और राजस्थान मे जन्म लेने वाले सारे लोग भाग्यहीन है? कश्मीर मे जन्म लेने वाले सुन्दर होगे, गौर वर्ण के होंगे और रेगिस्तान मे जन्म लेने वाले सारे लोग काले वर्ण के होगे। तो क्या गोरे लोग भाग्यशाली हैं और काले लोग भाग्यहीन हैं? क्या हम इस वात को स्वीकार कर लेगे? प्रकृति से होने वाले सारे परिवर्तनो को, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर घटित होने वाली घटनाओं को यदि हम कर्म के साथ जोड देते है, उन्हे कर्म का फल मान लेते हैं तो वहा वडी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। हम उन्हे निमित्त मान सकते है, हेतु मान सकते है, किन्तु कर्म का परिणाम नही मान सकते। एक व्यक्ति को धन मिल गया तो क्या हम यह मानें कि इसने वहुत अच्छा कर्म किया था? प्रत्यक्ष मे तो हम यह देखते है कि वडा धनी वही होता है जो ज्यादा बुराइया करता है। ऐसे वहुत कम लोग मिलेंगे जो सदाचार, नैतिकता और पवित्रता के साथ धन का अर्जन करें और वडे धनपति वन जाए। यह सभव नही लगता। नदी मे वाढ आएगी तो गदा पानी आएगा। ऐसा हो नही सकता कि नदी की वाढ आए और सारा का सारा निर्मल पानी आए। अच्छे साधनो से आदमी जीविका चले उतना धन कमा सकता है, वहुत वडा धनी नही वन सकता। नैतिकता के नियमो का पूर्ण पालन करने वाला कभी वडा धनी नही वन मकता। धन कमाने के अनेक माधन है। साधनो से धन मिलता है। हम यह मानते चले जाए कि सारा धन पुण्य के द्वारा ही मिलता है, यह सही नही है। मुझे लगता है कि अर्थ-व्यवस्था की खामियो को कर्म के साथ जोड दिया गया और उस भ्रान्ति ने आदमी को दिग्मूढ वना दिया। आज भी वह दिग्मूढता कर्मवाद और भाग्यवाद के नाम पर हिन्दुस्तान को सता रही है। किसी का ध्यान उस ओर नही जाता।

कर्मवाद को पदार्थ के साथ न जोडें। इस वात को और गहराई से समझें कि यदि धन का सम्वन्ध कर्मवाद से होता और यदि कर्म के द्वारा ही यह सव कुछ प्राप्त होता, यदि यह कर्म का ही परिणाम होता तो अध्यात्म के आचार्य धन को छोडने या राज्य को त्यागने की वात क्यो कहते? वे सम्पदाओ को न भोगने की वात क्यो कहते?

भगवान् महावीर ने अपरिग्रह पर जितना वल दिया, उतना और किसी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा, 'परिग्रह एक सज्ञा है।' पदार्थ दुनिया मे होता है। दुनिया का धन दुनिया मे होता है। उसमे हमारा न कुछ वनता है और न कुछ विगडता है। कुछ भी नही होता। जव व्यक्ति के माथ पदार्थ का सम्वन्ध जुडता है तव परिग्रह की सज्ञा उत्पन्न हो जाती है। महावीर मे पूछा गया, 'भते!

परिग्रह की संज्ञा क्यों उत्पन्न होती है?' महावीर ने कहा, 'जब मोहनीय कर्म का उदय होता है तब परिग्रह की संज्ञा बनती है। परिग्रह के प्रति आकर्षण होना, परिग्रह के प्रति आसक्ति होना और परिग्रह के साथ ममकार का जुड़ जाना, मोहनीय कर्म का, पाप कर्म का उदय होता है। पुण्य का उदय नहीं होता। उन्होंने अर्थ-व्यवस्था का कोई सूत्र नहीं दिया। जो धर्म के क्षेत्र में काम करने वाले लोग हैं वे अर्थ के क्षेत्र में सीधा हस्तक्षेप नहीं करते। अर्थ के विषय में चिन्तन करना समाज के चिन्तकों का, समाज के कर्णधारों का, राजनीति के संचालकों का काम है। फिर भी अध्यात्म के लोगों ने जो मूलभूत तथ्य दिए, वे बहुत ही महत्त्व के हैं।

हमने विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की बात सुनी है। यह बात महात्मा गांधी के बाद बहुत उजागर हो गयी। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था भी समाजवाद का ही एक रूप है। किन्तु इसका रूप कुछ भिन्न है। एक केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का समाजवाद होता है और एक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का समाजवाद होता है। समाजवाद का एक उद्देश्य है कि समाज के सब लोगों के पास सम्पदा पहुंचे। कहीं एक जगह सम्पदा जमा न हो। उस सम्पदा पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो, किन्तु समाज का स्वामित्व हो। समाज के सभी लोग सम्पदा को बांटकर उपभोग करें। इन सिद्धांत के आधार पर समाज की नींव खड़ी की गयी। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का नाम भी समाजवाद है और केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का नाम भी समाजवाद है। किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। जहां अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित होती है वहां शक्ति का प्रयोग अनिवार्य होता है। शक्ति के प्रयोग के बिना कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पदा को छोड़ना नहीं चाहता। कुछ लोग छोड़ सकते हैं जिनके मन में धर्म की चेतना जागृत हो। जिनके मन में धर्म की चेतना, अपरिग्रह की चेतना जागृत नहीं है, वे व्यक्ति अपना प्रभुत्व छोड़ना कभी पसन्द नहीं करते। इसलिए केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के प्रशासन में यह अनिवार्य हो जाता है कि शक्ति के प्रयोग के द्वारा सम्पदा छीनी जाए और वह सम्पदा राज्य के कोश में आए, उसका उपयोग समूचे समाज के लिए किया जाए।

केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है और हिंसा का प्रयोग भी अनिवार्य है। क्योंकि जो कार्य बल-प्रयोग के द्वारा किया जाता है, वहां हिंसा को कभी टाला नहीं जा सकता, छीना-झपटी को भी कभी टाला नहीं जा सकता। उसमें स्पर्धा भी अनिवार्य होती है। नैतिकता की बात गौण हो जाती है। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में नैतिकता का मूल्य वह नहीं रहता जो विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में हो सकता है। जो लोग अहिंसा और धर्म की दृष्टि से सोचते हैं वे इस केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को पसन्द नहीं करते।

केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था से आदमी सुखी जीवन नहीं बिता सकता। क्योंकि आदमी को केवल रोटी ही नहीं चाहिए, कुछ और भी चाहिए। विचारों की

स्वतन्त्रता भी चाहिए, कर्म की स्वतन्त्रता भी चाहिए। किन्तु जहा केन्द्रित सत्ता और केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था होगी वहा वैचारिक स्वतन्त्रता नही हो सकती और कर्म की स्वतन्त्रता भी नही हो सकती। उस व्यवस्था मे आदमी समाज के यत्र का एक पुर्जा वन जाता है और यात्रिक जीवन जीता है। उस स्थिति मे रोटी की वात गौण हो जाती है, दूसरी वातें सताने लग जाती हैं।

मनुजी से पूछा गया, 'सुख क्या है ? दु ख क्या है ?' उन्होने कहा, 'सर्व परवश दु ख, सर्व आत्मवश सुख'—परवशता दु ख है और स्ववशता सुख है। परतत्रता दु ख है और स्वतन्त्रता सुख है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो रोटी के लिए स्वतन्त्रता को ठुकरा देते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो रोटी के लिए स्वतन्त्रता की वलि देना पसन्द नही करते। इतिहास इस वात का साक्षी है कि ऐसे लोग भी हुए हैं, जिन्होंने स्वतन्त्रता के लिए सैकडो कठिनाइया झेली। उन्होंने किसी भी मूल्य पर स्वतन्त्रता को छोडना नही चाहा।

सुखी जीवन जीना, यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे ही हो सकता है। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे सुख का जीवन नही जीया जा सकता, केवल उसके साधनो को प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति का क्षेत्र सुख देने का क्षेत्र नही है। वह पदार्थ उपलव्ध करा सकता है। राज्य शासन पदार्थ की प्राप्ति करा सकता है। सुख देना उसके हाथ की वात नही है। सुख के साधन और दु ख के साधन उपलव्ध कराने मे वह सक्षम है। किन्तु सुखी-दु खी वनाना उसकी क्षमता से परे है। एक राज्य सरकार किसी को अपनी जेल मे डाल सकती है। इसका मतलव यह हुआ कि जेल मे डाल देना दु ख देना है। पर ऐसी वात नही है। वहुत सारे लोग जेल मे जाकर भी सुख का अनुभव करते हैं। अनेक राजनीतिक वन्दी जेल मे जाकर भी दु ख का अनुभव नही करते। वे अपने सिद्धान्त के साथ जेल मे जाते हैं और अपने सिद्धात के साथ वहा रहते हैं। वडे-वडे नेता अपने जेल के जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं, 'जितना पढने-लिखने का मौका जेल मे मिला, उतना वाहर नही मिला।' वाहर अनेक कार्य होते है, पर जेल के एकान्त जीवन मे केवल स्वाध्याय और लेखन के अतिरिक्त कोई कार्य नही रहता। उन्होने जेल-जीवन को कभी दु खदायी नही माना। दु ख देना राज्य शासन के हाथ मे नही है। दु ख का साधन है जेल, वह देना राज्य-शासन के हाथ मे है। सुख देना भी राज्य-शासन के हाथ मे नही है। वह सुख के साधन जुटा सकता है। किन्तु सुख का साधन देने पर भी मानसिक वृत्तिया यदि सुख को भोगने मे सक्षम नही हैं तो आदमी सुखी नही वन सकता। हमारी यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि सुख की अनुभूति और सुख के साधन एक नही हैं, दो हैं। दु ख की अनुभूति और दु ख के साधन एक नही है, दो हैं। जव यह धारणा स्पष्ट हो जाती है तव अनेक समस्याए अपने आप समाहित

हो जाती है।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे पहली बात यह है कि सपदा व्यक्ति व्यक्ति के पास पहुचे। वह कही केन्द्रित न हो। समूचे समाज के पास सम्पदा पहुचे। किन्तु वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा, बल-प्रयोग के द्वारा या हिंसा के द्वारा नही, एक सहज स्वीकृत व्यवस्था के द्वारा पहुचे। उस व्यवस्था की पृष्ठभूमि मे अहिंसा का दर्शन होता है। अहिंसा के दर्शन का सिद्धान्त है कि सुख और सुख के साधन दो है। दुःख और दुःख के साधन दो है। राजनीति का सिद्धान्त इसे मान्य नही करता। राजनीति मे जो सुख का साधन है वही सुख है और जो दुःख का साधन है वही दुःख है। किन्तु जब हम दर्शन की भूमिका पर विचार करते हैं तब यह भेदरेखा खिच जाती है कि सुख का साधन अलग होता है और सुख अलग होता है। दुःख का साधन अलग होता है और दुःख अलग होता है।

भगवान् महावीर ने एक आचार-सहिता दी। उसमे लाखो व्यक्ति दीक्षित हुए। उस आचार-सहिता मे दो सूत्र थे। पहला सूत्र था—अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह। दूसरा सूत्र था—महा आरभ और महा परिग्रह। महा आरभ और महा परिग्रह को आज की भाषा मे केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और केन्द्रित सत्ता कह सकते हैं। अल्प आरभ और अल्प परिग्रह को आज की भाषा मे विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और विकेन्द्रित सत्ता कह सकते हैं। जहा परिग्रह अल्प है, वहा हिंसा भी अल्प है। जहा परिग्रह महान् है, वहा हिंसा भी महान् है। हिंसा के लिए परिग्रह नही होता, किन्तु परिग्रह के लिए हिंसा होती है। हिंसा परिग्रह का निमित्त है। जिस व्यक्ति के मन मे परिग्रह की कोई भावना नही है, वह व्यक्ति हिंसा नही कर सकता। जिसके मन मे परिग्रह की भावना है, वहा से हिंसा प्रारम्भ होती है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। इसे हमे समझना है। सबसे पहला परिग्रह है—हमारा शरीर। हिंसा होती है शरीर की सुरक्षा के लिए। एक सस्कृत कवि ने लिखा है, 'सर्वारम्भा तन्दुलप्रस्थमूला'—जितनी भी प्रवृत्तिया है, वे मात्र एक सेर चावल को प्राप्त करने के लिए हैं। सारी हिंसा पेट की आग को बुझाने के लिए है।

परिग्रह मे दूसरा स्थान आता है—परिवार का और पदार्थ का। परिवार के पालन-पोषण के लिए पदार्थों का सग्रहण किया जाता है।

एक मानसिक परिग्रह होता है, बड़प्पन के लिए, प्रतिष्ठा के लिए। फिर एक सिद्धान्त बन जाता है। एक बार एक उद्योगपति से पूछा, 'आपके इतने धन्धे हैं, इतने उद्योग हैं, फिर क्यो नये-नये खडे कर रहे हैं?' उन्होने कहा, 'महाराज! आज की अर्थ-व्यवस्था को आप नही जानते। आज की अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त है—नो हो (Know How)। एक कारखाने को सुचारु रूप से चलाने के लिए दूसरा कारखाना और दूसरे को चलाने के लिए तीसरा और तीसरे को चलाने के लिए चौथा आवश्यक होता है। इस शृखला का कही अन्त नही आता। यह अन्तहीन

शृखला होगी।'

जहा विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था होती है वहा व्यक्ति अपनी सीमा वना लेता है। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे भी सीमा होती है, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा होती है। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे भी व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा होती है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के चितन मे एक महत्त्वपूर्ण शव्द का प्रयोग हुआ है—इच्छा-परिणाम। आज राजनीति के क्षेत्र मे चाहे केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था हो या विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था हो वहा व्यक्तिगत स्वामित्व के सीमा की वात कही जाती है। महावीर की आचार-सहिता मे इच्छा-परिणाम शव्द है। दोनो मे अन्तर केवल इतना ही है कि केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे वह शक्ति के प्रयोग के द्वारा आता है। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे शक्ति का प्रयोग उतना नही होता किन्तु व्यक्ति की इच्छा से और समाज के कल्याण की दृष्टि से वह कार्य किया जाता है। इच्छा-परिणाम विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाए।

अल्प आरभ, अल्प परिग्रह और इच्छा-परिणाम—ये तीन शव्द ऐसे हैं जो विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता और व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, इच्छाओ की सीमा—ये तीन सिद्धात हमारे सामने प्रस्तुत करते है।

प्रश्न होता है कि पुण्य को रोकने की वात क्यो कही? अल्प आरभ और अल्प परिग्रह का सिद्धात क्यो प्रतिपादित किया गया?

समय-समय का मूल्य होता है। प्राचीन ग्रन्थो मे जहा वडे आदमी का वर्णन मिलता है तो उसका वडप्पन पत्नियो की सख्या से आका जाता था। अमुक व्यक्ति के हजार पत्निया है, अमुक के दस हजार और चक्रवर्ती के एक लाख वानवें हजार पत्निया हैं। इतनी पत्नियो के विना कोई चक्रवर्ती नही वन सकता। उस समय वहुपत्नित्व वडप्पन का सूचक था। जिसके जितनी ज्यादा पत्निया वह उतना ही वडा आदमी। जिसके कम पत्निया वह छोटा आदमी। आज यह धारणा उलट गयी है। आज वहुपत्नित्ववाद प्रचलित नही है। यत्र तत्र है तो वहा भी वह सीमित है। हजार पत्निया होना कोई पुण्य का उदय नही है और एक-दो पत्नियो का होना कोई पाप का उदय नही है। यह समाज-व्यवस्था से अधिक सम्वन्धित है। एक-एक समय मे एक-एक प्रथा प्रचलित होती है। उसी के आधार पर व्यक्ति का मानदड किया जाता है।

भारतीय लोग वहुत अधिक अकर्मण्य है। इसमे उनकी भाग्यवादी धारणा का वहुत वडा हाथ है। कुछ भौगोलिक कारण भी हो सकता है। गर्म देश के आदमियो मे आलस्य अधिक होता है। किन्तु यह भी सचाई है कि आज के आदमी ने पुरुपार्थ को छोड दिया। वह कर्मवादी और भाग्यवादी धारणाओ को लेकर सोया पडा है। वह यह सोच भी नही पाता कि वर्तमान के पुरुपार्थ के द्वारा आदमी समस्याओ मे उवर सकता है, अर्थ-व्यवस्था को वदलकर सम्पदा वढा

सकना है, गरीबी को मिटा सकता है और समाज मे समीकरण ला सकता है। यह लगता है कि भारत का आदमी यदि भाग्यवादी धारणा का पोषक नही होता तो आज तक यहा कई क्रान्तिया घटित हो जाती। आज वह अनेक कठिनाइया झेल रहा है, पर कर्मवादी धारणा को छोडने के लिए तैयार नही है।

हम कर्मवाद को वर्तमान की परिस्थितियो के सदर्भ मे समझें और उसका गहराई से अवलोकन करें। कर्मवाद की सबसे अनुकूल व्यवस्था है विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, जहा कर्मवाद के सिद्धान्त की भी सुरक्षा होती है और कर्मवाद के द्वारा जो एक मर्म सिखाया जाता है कि बहुत परिग्रह न करें—यह सिद्धान्त भी फलित होता है। इसके साथ-साथ सामाजिक विषमता का समाधान भी मिलता है।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था अहिंसा के अति निकट है। अध्यात्म का सामाजिक रूप है—लोकतन्त्र और लोकतत्र मे विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था। यह अध्यात्म या धर्म का व्यावहारिक प्रतिफलन है।

हम धर्म को, पुण्य को और पुण्य के कार्य को ठीक से समझें। पुण्य की क्या अनुभूति होती है और धर्म की क्या अनुभूति होती है? धर्म का हमारे जीवन मे क्या प्रतिफलन है? इन सारे प्रश्नो पर हम नये सिरे से सोचें तो धर्म की सारी गुत्थिया सुलझाई जा सकती हैं। पुण्य और कर्म की धारणा को भी एक स्वस्थ रूप मिल सकता है और वर्तमान की बडी समस्या—सामाजिक विषमता का भी समाधान मिल सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि हम मूल को पकडें।

गगाशहर, सितम्बर, '७८।

कर्मशास्त्र : मनोविज्ञान की भाषा मे

दर्शन के क्षेत्र मे शाश्वत और अशाश्वत —दोनो चर्चनीय रहे हैं। इन दोनो के तीन रूप उपलब्ध होते हैं—१. शाश्वतवाद, २ अशाश्वतवाद, ३. शाश्वत-अशाश्वत-वाद। जैन दर्शन ने तीसरा विकल्प मान्य किया। जगत् मे जिसका अस्तित्व है, वह केवल शाश्वत नही है, केवल अशाश्वत नही है। शाश्वत और अशाश्वत दोनो का सहज समन्वय है। तत्त्व की दृष्टि से जो सिद्धान्त है, उस पर मैं काल-सापेक्ष विमर्श करना चाहता हू।

कर्म भारतीय दर्शन मे एक प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। उस पर लगभग सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनो ने विमर्श प्रस्तुत किया है। पूरी तटस्थता के साथ कहा जा सकता है कि इस विषय का सर्वाधिक विकास जैन दर्शन मे हुआ है। इस विषय पर विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है। विपय बहुत गम्भीर और गणित की जटिलता से बहुत गुफित है। सामान्य व्यक्ति उसकी गहराई तक पहुचने मे काफी कठिनाई अनुभव करता है। कहा जाता है, आईस्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त को समझने वाले कुछ विरले ही वैज्ञानिक हैं। यह कहना भी सत्य की सीमा से परे नही होगा कि कर्मशास्त्र को समझने वाले भी समूचे दार्शनिक जगत् मे कुछ विरले ही लोग हैं।

कर्मशास्त्र मे शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बन्धन से लेकर मुक्ति तक—सभी विषयो पर गहन चिन्तन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्म-शास्त्र के बडे-बड़े ग्रन्थ उपलब्ध है, फिर भी हजारो वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावली को समझना स्वय एक समस्या है। और जब तक सूत्रात्मक परिभाषा मे गुथे हुए विशाल चिन्तन को पकडा नही जाता, परिभाषा से मुक्त कर वर्तमान के चिन्तन के साथ पढा नही जाता और वर्तमान की शब्दावली मे प्रस्तुत नही किया जाता, तब तक एक महान् सिद्धान्त भी अर्थशून्य जैसा हो जाता है।

आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। मनोविज्ञान को पढने पर मुझे लगा कि जिन समस्याओ पर कर्मशास्त्रियो ने अध्ययन और विचार किया था, उन्ही समस्याओ पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और

विचार कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञान के सन्दर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए, तो उसकी अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं। कर्मशास्त्र के सन्दर्भ में यदि मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं।

वैयक्तिक भिन्नता

हमारे जगत् में करोड़ों-करोड़ों मनुष्य हैं। वे सब एक ही मनुष्य जाति से संबद्ध हैं। उनमें जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता होती है। कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक दृष्टि से सर्वथा किसी दूसरे मनुष्य जैसा नहीं होता। कुछ मनुष्य लम्बे होते हैं, कुछ बौने होते हैं। कुछ मनुष्य गोरे होते हैं, कुछ काले होते हैं। कुछ मनुष्य सुडौल होते हैं, कुछ भद्दी आकृति वाले होते हैं। कुछ मनुष्यों में बौद्धिक मंदता होती है, कुछ में विशिष्ट बौद्धिक क्षमता होती है। स्मृति और अधिगम क्षमता (Learning Capacity) सबमें समान नहीं होती। स्वभाव भी सबका एक जैसा नहीं होता। कुछ शान्त होते हैं, कुछ बहुत क्रोधी होते हैं। कुछ प्रसन्न प्रकृति के होते हैं, कुछ उदास रहने वाले होते हैं। कुछ निःस्वार्थ वृत्ति के लोग होते हैं, कुछ स्वार्थपरायण होते हैं। वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है। इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। कर्मशास्त्र में वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मिलता ही है। मनोविज्ञान ने भी इसका विशद रूप में चित्रण किया है। उसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में उठता है। मूल प्रेरणाएं (प्राइमरी मोटिव्स) सबमें होती हैं, किन्तु उनकी मात्रा सबमें एक समान नहीं होती। किसी में कोई एक प्रधान होती है तो किसी में कोई दूसरी प्रधान होती है। अधिगम क्षमता भी सबमें होती है, किसी में अधिक होती है और किसी में कम। वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त मनोविज्ञान के प्रत्येक नियम के साथ जुड़ा हुआ है।

मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन आनुवंशिकता (हेरिडिटी) और परिवेश (एन्वार्नमेंट) के आधार पर किया जाता है। जीवन का प्रारम्भ माता के डिम्ब और पिता के शुक्राणु के संयोग में होता है। व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय क्रोमोजोम के द्वारा होता है। क्रोमोजोम अनेक जीनों (जीन्स) का एक समुच्चय होता है। एक क्रोमोजोम में लगभग हजार जीन माने जाते हैं। ये जीन ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के वाहक होते हैं। इन्हीं में व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास की क्षमताएं (पोटेन्सिएलिटीज) निहित होती हैं। व्यक्ति में ऐसी कोई विलक्षणता प्रकट नहीं होती, जिसकी क्षमता उसके जीन में निहित न हो। मनोविज्ञान ने शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं की व्याख्या आनुवंशिकता और परिवेश के आधार पर की है, पर इसमें विलक्षणता के सम्बन्ध में

उठने वाले प्रश्न समाहित नही होते। शारीरिक विलक्षणता पर आनुवशिकता का प्रभाव प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। मानसिक विलक्षणताओ के सम्बन्ध मे आज भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित हैं। क्या बुद्धि आनुवशिक गुण है? अथवा परिवेश का परिणाम है? क्या बौद्धिक स्तर को विकसित किया जा सकता है? इन प्रश्नो का उत्तर प्रायोगिकता के आधार पर नही किया जा सकता। आनुवशिकता और परिवेश से सम्बद्ध प्रयोगात्मक अध्ययन केवल निम्न कोटि के जीवो पर ही किया गया है या सम्भव हुआ है। बौद्धिक विलक्षणता का सम्वन्ध मनुष्य से है। इस विपय मे मनुष्य अभी भी पहेली वना हुआ है।

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीवन का प्रारम्भ माता-पिता के डिम्व और शुक्राणु के सयोग मे होता है, किन्तु जीव का प्रारम्भ उनसे नही होता। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नही है। इसलिए सारे प्रश्नो के उत्तर जीवन के सन्दर्भ मे ही खोजे जा सकते हैं। कर्मशास्त्रीय अध्ययन मे जीव और जीवन का भेद वहुत स्पष्ट है, इसलिए मानवीय विलक्षणता के कुछ प्रश्नो का उत्तर जीवन मे खोजा जाता है और कुछ प्रश्नो का उत्तर जीव मे खोजा जाता है। आनुवशिकता का सम्वन्ध जीवन से है, वैसे ही कर्म का सबध जीव से है। उसमे अनेक जन्मो के कर्म या प्रतिक्रियाए सचित होती हैं। इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणता का आधार केवल जीवन के आदि-विन्दु मे ही नही खोजा जाता, उससे परे भी खोजा जाता है, जीव के साथ प्रवहमान कर्म-सचय (कर्मशरीर) मे भी खोजा जाता है।

कर्म का मूल मोहनीय कर्म है। मोह के परमाणु जीव मे मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं। दृष्टिकोण मूर्च्छित होता है और चरित्र भी मूर्च्छित हो जाता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण, चरित्र और व्यवहार की व्याख्या इस मूर्च्छा की तरतमता के आधार पर ही की जा सकती है। मेक्डूगल के अनुसार व्यक्ति मे चौदह मूल प्रवृत्तिया और उतने ही मूल सवेग होते हैं—

	मूल प्रवृत्तिया	मूल संवेग
१	पलायनवृत्ति	भय
२	सघर्षवृत्ति	क्रोध
३	जिज्ञासावृत्ति	कुतूहल भाव
४	आहारान्वेपणवृत्ति	भूख
५	पित्रीयवृत्ति	वात्सल्य, सुकुमार भावना
६	यूथवृत्ति	एकाकीपन तथा सामूहिकता भाव
७	विकर्पणवृत्ति	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
८	कामवृत्ति	कामुकता

९. स्वाग्रहवृत्ति	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना
१० आत्मलघुतावृत्ति	हीनता भाव
११ उपार्जनवृत्ति	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
१२ रचनावृत्ति	सृजन भावना
१३. याचनावृत्ति	दु ख भाव
१४ हास्यवृत्ति	उल्लसित भाव

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतिया है, और उसके अठाईस ही विपाक हैं। मूल प्रवृत्तियो और मूल सवेगो के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

मोहनीय कर्म के विपाक	मूल संवेग
१ भय	भय
२ क्रोध	क्रोध
३ जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
४ स्त्री वेद	कामुकता
५ पुरुप वेद	
६ नपुसक वेद	
७ अभिमान	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना
८ लोभ	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
९ रति	उल्लसित भाव
१० अरति	दु ख भाव

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है सवेग के उद्दीपन से व्यक्ति के व्यवहार मे परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति का चरित्र और व्यवहार वदलता रहता है।

प्राणी जगत् की व्याख्या करना सवसे जटिल है। अविकसित प्राणियो की व्याख्या करने मे कुछ सरलता हो सकती है। मनुष्य की व्याख्या सवसे जटिल है। वह सवसे विकसित प्राणी है। उसका नाडी-सस्थान सवसे अधिक विकसित है। उसमे क्षमताओ के अवतरण की सवसे अधिक् सभावनाए है। इसलिए उसकी व्याख्या करना सर्वाधिक दुरुह कार्य है। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मानसशास्त्र (साइकोलॉजी), शरीरशास्त्र (एनेटॉमी) और शरीरक्रियाशास्त्र (फिजियोलॉजी) के तुलनात्मक अध्ययन से ही उसको कुछ सरल वनाया जा सकता है।

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन और परिवेश के कारण ही नही होते। उनमे नाडी-सस्थान, जैविक विद्युत्, जैविक रसायन और अन्त स्रावी ग्रन्थियो के स्राव का भी योग होता है। ये सव हमारे स्थूल शरीर के अवयव है। इनके पीछे

सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है और उनमे निरन्तर होने वाले कर्म के स्पदन परिणमन या परिवर्तन की प्रक्रिया को चालू रखते है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया मे कर्म के स्पदन, मन की चचलता, शरीर के सस्थान—ये सभी सहभागी होते हैं। इसलिए किसी एक शास्त्र के द्वारा हम परिवर्तन की प्रक्रिया का सर्वांगीण अध्ययन नही कर सकते। ध्यान की प्रक्रिया द्वारा मानसिक परिवर्तनो पर नियत्रण किया जा सकता है, इसलिए योगशास्त्र को भी उपेक्षित नही किया जा सकता। अपृथक्त्व अनुयोग की शिक्षा-प्रणाली मे प्रत्येक विषय पर सभी नयो से अध्ययन किया जाता था, इसलिए अध्येता को सर्वांगीण ज्ञान हो जाता था। आज की पृथक्त्व अनुयोग की शिक्षा प्रणाली मे एक विषय के लिए मुख्यत तद् विपयक शास्त्र का ही अध्ययन किया जाता है, इसलिए उस विपय को समझने मे वहुत कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए मैं कर्मशास्त्रीय अध्ययन को प्रस्तुत करना चाहता हू। एक कर्मशास्त्री पाच पर्याप्ति के सिद्धान्त को पढता है और वह इसका हार्द नही पकड पाता। पर्याप्तिया छह हैं। भापा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति को स्वतत्र मानने पर पर्याप्तियो की सख्या छह होती है। भापा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति को एक मानने पर वे पाच होती हैं। प्रश्न है भाषा और मन की पर्याप्ति को एक क्यो माना जाए ? स्थूल दृष्टिकोण से भाषा और मन दो प्रतीत होते हैं। भाषा के द्वारा विचार प्रकट किए जाते हैं और मन के द्वारा स्मृति, कल्पना और चिन्तन किया जाता है। सूक्ष्म मे प्रवेश करने पर वह प्रतीति वदल जाती है। भापा और मन की इतनी निकटता सामने आती है कि उसमे भेदरेखा खीचना सहज नही होता। गौतम स्वामी के एक प्रश्न के कई उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा—वचनगुप्ति के द्वारा मनुष्य निर्विचारता को उपलब्ध होता है। निर्विचार व्यक्ति अध्यात्म-योग—ध्यान से ध्यान को उपलब्ध हो जाता है। विचार का सम्वन्ध जितना मन से है, उतना ही भाषा से है। जल्प दो प्रकार का होता है—अन्तर्जल्प और वहिर्जल्प। वहिर्जल्प को हम भापा कहते है। अन्तर्जल्प और चिन्तन मे दूरी नही होती। चिन्तन भाषात्मक ही होता है। कोई भी चिन्तन अभापात्मक नही हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिन्तन—ये सव भापात्मक होते हैं। व्यवहारवाद के प्रवर्तक वॉटसन (Watson) के अनुसार चिन्तन अव्यक्त शाब्दिक व्यवहार है। उनके अनुसार चिन्तन-व्यवहार की प्रतिक्रियाए वाक्-अगो (Vocal organs) मे होती हैं। व्यक्ति शब्दो को अनुकूलन (Conditioning) से सीखता है। धीरे-धीरे शाब्दिक आदतें (Verbal habits) पक्की हो जाती हैं और वे शाब्दिक उद्दीपको (Verbal Stimuli) से उद्दीप्त होने लगती हैं। बच्चो की शाब्दिक प्रतिक्रियाए श्रव्य होती हैं। धीरे-धीरे सामाजिक परिवेश के प्रभाव से आवाज को दवाकर शब्दो को कहना सीख जाता है। व्यक्त तथा अव्यक्त शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव मे शाब्दिक प्रतिक्रियाए मौन हो जाती हैं। वॉटसन ने चिन्तन को अव्यक्त अथवा मौन वाणी (Implicit

or Silent speech) कहा है।

सत्य मे कोई द्वैत नहीं होता। किसी भी माध्यम से सत्य की खोज करने वाला जब गहरे मे उतरता है और सत्य का स्पर्श करता है, तब मान्यताएं पीछे रह जाती हैं और सत्य उभर कर सामने आ जाता है। बहुत लोगो का एक स्वर है कि विज्ञान ने धर्म को हानि पहुचाई है, जनता को धर्म से दूर किया है। बहुत सारे धर्म-गुरु भी इसी भाषा मे बोलते हैं। किन्तु यह स्वर वास्तविकता से दूर प्रतीत होता है। मेरी निश्चित धारणा है कि विज्ञान ने धर्म की बहुत सत्यस्पर्शी व्याख्या की है और वह कर रहा है। जो सूक्ष्म रहस्य धार्मिक व्याख्या-ग्रन्थो मे अ-व्याख्यात है, जिनकी व्याख्या के स्रोत आज उपलब्ध नही हैं, उनकी व्याख्या वैज्ञानिक शोधो के सन्दर्भ मे बहुत प्रामाणिकता के साथ की जा सकती है। कर्मशास्त्र की अनेक गुत्थियो को मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सन्दर्भ मे सुलझाया जा सकता है। आज केवल भारतीय दर्शनो के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति ही पर्याप्त नही है। दर्शन और विज्ञान की सबधित शाखाओ का तुलनात्मक अध्ययन बहुत अपेक्षित है। ऐसा होने पर दर्शन के अनेक नये आयाम उद्घाटित हो सकते हैं।

लुधियाना, २० सितम्बर, '७६

पूर्वजन्म : पुनर्जन्म

समूचा प्राणी-जगत् हमारे सामने है। वह दो अवस्थाओ मे गुजरता है। वह जन्म लेता है, यह पहली अवस्था है। एक दिन वह मर जाता है, यह दूसरी अवस्था है। जन्म हमारे प्रत्यक्ष है और मौत भी हमारे प्रत्यक्ष है। जन्म भी एक घटना है और मृत्यु भी एक घटना है। ये दोनो घटनाए परोक्ष नही हैं, प्रत्यक्ष हैं। शताब्दियो और सहस्राब्दियो से मनुष्य यह जानने का प्रयत्न करता रहा है कि जन्म से पूर्व क्या और मृत्यु के पश्चात् क्या ? यह पूर्व और पश्चिम (वाद) की जिज्ञासा दर्शन के प्रारम्भिक क्षणो मे रही है। जव से मनुष्य ने सोचना शुरू किया तव से ही यह प्रश्न रहा कि पहले क्या और वाद मे क्या ? इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न हुआ। इसका उत्तर उन लोगो ने दिया जो प्रत्यक्ष ज्ञानी थे, जिनका अपना अनुभव और साक्षात्कार था। उन्होने कहा, 'जन्म के पहले भी जीवन होता है और मृत्यु के वाद भी जीवन होता है। यह हमारा वर्तमान का जीवन, जो प्रत्यक्ष है, एक मध्यवर्ती विराम है, जो पहले भी है और वाद मे भी है। यदि पहले का न हो तो यह मध्य का नही हो सकता। 'जस्स णत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया'—जिसका पूर्व नही है और पश्चात् नही है, उसका मध्य कैसे होगा? यदि मध्य है तो उससे पहले भी कुछ था और वाद मे भी कुछ होगा। अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर उन्होने इसका समाधान दिया, किन्तु जव अनुभव की वात, साक्षात् ज्ञान की वात, प्रत्यक्ष ज्ञान की वात, परोक्ष ज्ञान के अधिकारियो तक पहुचती है, तव उसकी भी मीमासा शुरू हो जाती है। कहने वाला प्रत्यक्ष-ज्ञानी है, अनुभवयुक्त है और वह अनुभव के आधार पर कह रहा है, किन्तु सामने वाला व्यक्ति परोक्षज्ञानी है, वह प्रत्यक्षज्ञानी के अनुभव को नही पकड पाता, केवल उसके शब्द को पकड पाता है। शब्द की मीमासा किए विना वह उसे स्वीकार करने मे कठिनाई अनुभव करता है। वह प्रत्येक तथ्य को तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करता है।

इस प्रश्न का सवसे पहले उत्तर दिया प्रत्यक्ष ज्ञानियो ने। इस प्रश्न का उत्तर दिया वुद्धिवादी दार्शनिको ने। दार्शनिक लोगो ने दर्शन की क्रीडा-स्थली मे वुद्धि

के फुटवाल को खूव उछाला। अनेक तर्क उत्पन्न हुए और इस प्रश्न पर वहुत चर्चाएं होने लगी। वहा दो खेमे वन गए। अनुभव के क्षेत्र मे दूसरा खेमा नही होता। वहा एक ही होता है। जहा तर्क है वहा खेमे वनते है। वहा खेमा वनना अनिवार्य है। किसी भी सत्य का जव वौद्धिक स्तर पर प्रतिपादन होता है, वहा निश्चित ही खेमे वन जाते है। एक होता है समर्थन करने वाला खेमा और दूसरा होता है विरोध करने वाला खेमा।

दार्शनिको ने उस शाश्वत जिज्ञासा का समाधान देते हुए कहा, 'पूर्वजन्म होता है, पुनर्जन्म होता है। हमारा वर्तमान का जन्म एक मध्य विराम है।' विरोध करने वालो ने इसे अस्वीकार किया। उन्होने कहा, 'न पूर्वजन्म होता है और न पुनर्जन्म होता है। केवल वर्तमान का जन्म ही होता है। दो धाराए वन गई। एक को आस्तिक कहा गया और दूसरी को नास्तिक कहा गया। एक है आत्मा को मानने वाली धारा और दूसरी है आत्मा को नही मानने वाली धारा। जो लोग नास्तिक कहलाए वे भी आत्मा को अस्वीकार नही करते, चेतना को अस्वीकार नही करते। चेतना हमारे सामने प्रत्यक्ष है और जो प्रत्यक्ष है उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु जिन लोगो ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को अस्वीकार किया, उन्होने त्रैकालिक चेतना को अस्वीकृति दी। उन्होने कहा, 'चेतना है, इसमे कोई सन्देह नही है, किन्तु चेतना केवल वार्तमानिक होती है। वर्तमान मे कुछ ऐसे परमाणुओ का, ऐसे तत्त्वो का योग होता है कि उनके योग से एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, चेतना उत्पन्न होती है। जव यह शरीर विखरता है, शरीर की शक्तिया विखरती है और जव विशिष्ट प्रकार के परमाणुओ की इस सयोजना का विघटन होता है तव चेतना समाप्त हो जाती है। जव तक जीवन तव तक चेतना। जीवन समाप्त, चेतना भी समाप्त। जव तक चेतना, तव तक जीवन। चेतना समाप्त, जीवन भी समाप्त। उसके पश्चात् कुछ भी नही। न पहले चेतना और न वाद मे चेतना। न पहले जीवन न पश्चात् जीवन। जव चेतना पहले भी नही और पश्चात् भी नही, तव न पूर्वजन्म और न पुनर्जन्म। जो कुछ है वह वर्तमान है। न अतीत और न भविष्य।

इन दो धाराओ का सघर्ष सहस्राब्दियो से चल रहा है। मनुष्य की शाश्वत जिज्ञासा का एक उत्तर मिला अनुभव की वाणी के द्वारा और एक उत्तर मिला तर्क की वाणी के द्वारा। निष्कर्ष कुछ भी नही निकला। निर्णय नही हो सका। तर्क के आधार पर निर्णय हो ही नही सकता। वुद्धि का यह विषय ही नही है तो फिर वुद्धि इसका निर्णय कैसे करे? प्रश्न ज्यो-का-त्यो वना रहा। उसका अन्तिम समाधान हो ही नही सका। कोई भी व्यक्ति आज यह कहने की स्थिति मे नही है कि यह शाश्वत प्रश्न समाहित हो गया है। चर्चाए चलती रही। तर्क-वितर्क आते गए। कोई निष्कर्ष नही निकला।

तीसरे चरण मे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया वैज्ञानिको ने। उन्होंने प्रयोग की कसौटी पर इस प्रश्न को कसना प्रारम्भ किया। लगभग पचास वर्षों से इस दिशा मे विभिन्न प्रयोग हुए है और आज भी अनेक वैज्ञानिक इस ओर प्रयत्नशील है। इसकी खोज के लिए विज्ञान ने एक शाखा स्थापित की। उसे परामनोविज्ञान कहा गया। मनोवैज्ञानिको ने आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को जानने के लिए प्रयत्न किए। उसके आगे परा-मनोविज्ञान की शाखा स्थापित हुई। उसके वैज्ञानिको ने भी अनेक प्रयोग किए और अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत किए। परा-मनोविज्ञान की चार मान्यताए हैं—

१ विचारो का सप्रेपण होता है। एक व्यक्ति अपने विचारो को, बिना किसी माध्यम के, दूसरो तक पहुचा सकता है।

२ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। एक व्यक्ति बिना किसी माध्यम के किसी वस्तु को साक्षात् जान लेता है और स्पष्ट कर लेता है।

३ पूर्वाभास होता है। भविष्य मे घटित होने वाली घटना का पहले ही आभास हो जाता है।

४ अतीत का ज्ञान होता है। जैसे भविष्य का ज्ञान होता है, वैसे ही अतीत का ज्ञान हो सकता है।

पूर्वाभास की घटनाओ ने विज्ञान द्वारा समस्त कार्य-कारण सिद्धान्त को खडित कर दिया। इसमे बिना कारण के कार्य सामने आ जाता है। स्याद्वाद कार्य-कारण की एकान्तिकता को स्वीकार नही करता। अनेकान्त का सिद्धान्त यह है—कार्य-कारण का सिद्धान्त मान्य हो सकता है, यह सही है। कही-कही यह सिद्धान्त लागू होता है और ऐसे स्थल भी हैं जहा यह सिद्धान्त खडित हो जाता है। पूर्वाभास मे कार्य-कारण का सिद्धान्त लागू नही होता।

परा-मनोविज्ञान के द्वारा मान्य इन चार तथ्यो के आधार पर यह सोचने के लिए बाध्य होना पडा कि एक ऐसा भी तत्त्व है जो भौतिक नही है, पौद्गलिक नही है। इस ससार का मूल प्रश्न है कि क्या इस दुनिया मे केवल भौतिक तत्त्व ही हैं या भौतिक से भिन्न भी कुछ है? यदि एक बार भी यह स्वीकृति हो जाती है कि इस जगत् मे केवल भौतिक तत्त्व ही नही है, अभौतिक तत्त्व भी है तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को स्वीकृति देने मे कोई बाधा नही आती। यह समस्या सुलझ जाती है। प्रश्न है आत्मा का, प्रश्न है अभौतिक तत्त्व का, अपौद्गलिक तत्त्व का। विज्ञान ने तथा अनात्मवादियो ने यही माना कि हम जिस जगत् मे मे जी रहे हैं, वह भौतिक है, पौद्गलिक है। केवल पुद्गल ही पुद्गल। पुद्गल की दुनिया और पुद्गल की मान्यता। इसलिए पुद्गल की सीमा को लाघकर, उससे परे जाकर देखने का कोई भी साधन उन्हे उपलब्ध नही हुआ। उन्हे चारो ओर पुद्गल ही पुद्गल दिखायी दिया। पुद्गल की सीमा मे विचरण करने वाला व्यक्ति आत्मा

तक नही पहुच पाता। उसके लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकृत नही हो सकता। अभौतिकता पुद्गल से भिन्न है। इसे सिद्ध करना बहुत कठिन प्रश्न है। और कठिन इसलिए है कि हमारे ज्ञान की शक्ति बहुत स्थूल है। हमारे जानने का पहला साधन है—इन्द्रिया। ये केवल स्थूल पर्यायो को ही जान पाती है। हमारे जानने का दूसरा साधन है—मन। उसकी क्षमता भी बहुत सीमित है। हमारे जानने का तीसरा साधन है—बुद्धि। यह भी सीमित है। इन्द्रियो के द्वारा जो प्राप्त होता है उसका ज्ञान मन को होता है और मन को जो प्राप्त होता है उसका विवेक और निर्णय करना बुद्धि का काम है। तीनो की बहुत छोटी दुनिया है। इसलिए मैं देखता हू कि प्राचीन अनात्मवादियो ने, नास्तिको ने तर्क के आधार पर जो विश्लेषण किया, आत्मा और पुनर्जन्म को अस्वीकार किया तो इसमे बहुत बडी गहराई नही लगती। तर्को की प्रकपंता नही है, क्योकि उनकी दृष्टि सूक्ष्म तक नही पहुच पायी।

आज के वैज्ञानिको ने भले ही आत्मा को अस्वीकार किया, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मान्यता नही दी, किन्तु उन्होंने सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश करने का द्वार निश्चित ही खोल दिया। आज हमारे सामने एक विशाल द्वार खुला पडा है, जिसमे प्रवेश पाकर हम सूक्ष्म जगत् की बहुत लम्बी यात्रा कर सकते है। जहा केवल स्थूल जगत् के आधार पर आत्मा के अस्वीकार और स्वीकार की बात होती थी वहा आज सूक्ष्म चेतना के स्तरो तक पहुचने का रास्ता बहुत ही स्पष्ट हो गया है। चेतन मन, अर्द्धचेतन मन और अवचेतन मन तक पहुचने का मार्ग निष्कटक बन गया है। हम आज चेतना की बहुत गहराई मे जा सकते हैं। आज केवल स्थूल चेतना के आधार पर होने वाली चर्चा का द्वार बन्द हो गया, ऐसा लगता है। इस सूक्ष्म जगत् मे प्रवेश के कारण पूर्वजन्म का प्रश्न आज फिर नया हो गया है। इन पचास वर्षों मे इस पर जितने अनुसधान, प्रयोगात्मक परीक्षण हुए हैं, सभवत दो-तीन हजार वर्षों मे कभी नही हुए।

प्राचीन जैन साहित्य मे एक ऐसे ही प्रयोग की चर्चा का उल्लेख मिलता है। राजा प्रदेशी ने आत्मा के प्रश्न को समाहित करने के लिए कुछ प्रयोग किए। एक चोर को फासी की सजा प्राप्त थी। उसे मारना ही था। राजा ने सोचा—ऐसे ही क्यो मारू? प्रयोग करके देखू कि आत्मा है या नही? मरने के पश्चात् कुछ होता है या नही? आत्मा निकलकर जाएगी तो शरीर के टुकडे-टुकडे करने पर कही से तो निकलती दिखायी देगी। चोर के टुकडे-टुकडे किए। आत्मा का पता नही चला। ऐसे प्रयोगो के एक-दो उदाहरण मिलते है किन्तु आज आत्मा को जानने के विषय मे हजारो प्रयोग हो रहे हैं।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सबसे सशक्त प्रमाण है—स्मृति। जाति-स्मृति। जाति का अर्थ है जन्म। जाति-स्मृति अर्थात् जन्म की स्मृति। जन्म लेने वाले

वच्चे को अपने पहले जन्म की स्मृति होती है। उसे पता चलता है कि इससे पहले भी वह था। इस स्मृति के आधार पर आज वहुत वडे-वडे अनुसधान हुए हैं। डॉ० स्टीवन्सन आदि अनेक परामनोवैज्ञानिक मनीषियो ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की घटनाओ के अनेक आकड़े एकत्रित किए, उनका विश्लेषण किया और नये-नये तथ्य प्रस्तुत किए। जहा भी पता चला, वे लोग साक्षात् गए, घटना का अध्ययन किया, उसकी प्रामाणिकता को जाचा और फिर अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत किए। उन्होंने ऐसी घटनाओ का उल्लेख किया है, जिनको पढकर हमे आश्चर्य होता है। वच्चो ने अपने पुनर्जन्म और पूर्वजन्म की घटनाओ का वर्णन किया, जो सचमुच विस्मयकारी हैं। उनकी परीक्षा की गयी। जाच की गयी। वे सव सच निकली। उनका आज भी उत्तर दे पाना कठिन है। वे सही नही है, ऐसा प्रमाणित नही किया जा सकता। आत्मा को अस्वीकार करने वाले, पूर्वजन्म को नही मानने वाले भी असमजस मे पड जाते हैं जव वे पूर्वजन्म की स्मृतियो की घटनाओ को सुनते हैं। स्मृति कैसे होती है? किस प्रकार अपने पूर्वजन्म का विवरण प्रस्तुत किया जाता है? सचमुच यह एक प्रश्नचिह्न है। यह प्रश्न हो सकता है कि यदि पूर्वजन्म की स्मृति होती है तो सवको क्यो नही होती? किसी-किसी को ही क्यो होती है?

जैन आगमो का कथन है कि जन्म दु ख है और मरण भी दु ख है। प्राणी जव जन्म लेता है तव भी वहुत दु ख का अनुभव करता है और जव मरता है तव भी वहुत दु ख का अनुभव करता है। कान्वूग ने स्मृति का विश्लेषण करते हुए कहा, 'जन्म से पूर्व वच्चे मे पूर्वजन्म की स्मृति होती है किन्तु जन्म के समय इतनी भयकर यातना से उसे गुजरना पडता है कि उसकी सारी स्मृति नष्ट हो जाती है, विलुप्त हो जाती है। जैसे किसी व्यक्ति को गहरा आघात लगता है, तव उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है।' जन्म की घटना यातनापूर्ण घटना है। जन्म की घटना आघातपूर्ण घटना है। नयी दुनिया मे प्रवेश इतना विचित्र होता है कि पूर्व की स्मृतिया विलुप्त हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिको ने इस स्थिति को वहुत अच्छा माना है। यदि व्यक्ति मे पहले की सारी स्मृति वनी रहे तो मस्तिष्क एक पागलखाना वन जाएगा। कोरा स्मृतियो का ढेर वन जाएगा। उसका कर्तृत्व नष्ट हो जाएगा। वह कुछ भी नही कर पाएगा। जिस व्यक्ति को निरन्तर यह दीखता रहे कि मैं पहले जन्म मे यह था, वह था, मैंने यह किया, मैंने वह किया—ये सारे चित्र उसके सामने उभरते रहे तो वह उनमे खो जाएगा। वह पागल वन जाएगा। स्मृति के सिवाय करने के लिए कुछ भी नही वचेगा, इसलिए स्मृति का न होना ही अच्छा है।

हम इस प्राकृतिक नियम को नही भूल सकते कि जव कभी विशेष कठिनाई की स्थिति आती है, आदमी मूर्च्छित हो जाता है। प्रचुर भय की स्थिति मे आदमी मूर्च्छित हो जाता है। भयकर शारीरिक पीडा के समय आदमी मूर्च्छित हो जाता

है। यह मूर्च्छा बहुत बडा प्रयोजन है। बहुत अर्थवान् है। यदि इन अवस्थाओं में आदमी मूर्च्छित न हो तो वह जीवित नहीं रह सकता। चेतना की यह प्राकृतिक स्थिति है कि बीमारी या सकट की स्थिति मे वह मूर्च्छित हो जाती है। तब वह उस सकट को झेलने मे सक्षम हो पाती है। यदि मूर्च्छित न हो तो आदमी जीवित ही नही रह सकता। स्मृति पर भी यह नियम लागू होता है कि स्मृति उतनी ही रहे जितनी से काम चल सके। फिर प्रश्न होता है कि कुछेक लोगो को वह क्यो होती है? यह एक अपवाद है। किसी को बडा आघात लग गया, किसी के साथ बडी घटना घटित हो गयी। दुर्घटना या आत्म-हत्या हो गयी, हत्या कर दी गयी, उस स्थिति मे कोई व्यक्ति मरता है, तो वह सस्कार इतना प्रगाढ हो जाता है कि भारी कष्ट होने पर भी वह लुप्त नही होता और निमित्त पाकर उभर आता है। इसलिए किसी-किसी व्यक्ति मे पूर्वजन्म की स्मृति शेष रह जाती है। वह स्मृति किसी विशेष परिस्थिति या निमित्त को पाकर ही उद्‌बुद्ध होती है, जागृत होती है। पूर्वजन्म को जानने का एक सशक्त माध्यम है—पूर्वजन्म की स्मृति।

दूसरी बात यह है, वर्तमान मे प्रेत जीवन पर अनेक अनुसधान हुए है। प्रेतात्मा है या नहीं—इस प्रश्न पर अनेक खोजें हुई। इसके अन्तर्गत पहला प्रयोग किया गया—प्लेंचेट का। इसमे मृतात्माओं का आह्वान किया जाता है और उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता है। उनको आह्वान कर कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं और वे उन प्रश्नो का उत्तर देते हैं। इस प्रयोग मे भी कुछ घटनाए ऐसी घटित होती हैं, कुछ स्थितिया ऐसी बनती है कि जिन्हें नकारा नही जा सकता। जो उत्तर मृत आत्माओ के द्वारा मिलते है, वे इतने यथार्थ, इतने प्रामाणिक और सही निकलते हैं कि प्लेंचेट का प्रयोग करने वाले कभी आत्मा को अस्वीकार नही कर सकते।

तीसरा प्रयोग है—माध्यम का। कुछ व्यक्ति मृत आत्माओं के अवतरण के सहज माध्यम होते हैं। उनके माध्यम से दूसरे व्यक्ति अपने सम्बन्धी मृत आत्माओ से बातचीत करते हैं। इसके परीक्षण से ज्ञात हुआ कि निष्कर्ष सही उतरते हैं।

चौथा प्रयोग है—सूक्ष्म शरीर के फोटो का। वैज्ञानिक किरलियान दपति ने एक विशेष प्रकार की फोटो पद्धति का आविष्कार किया। उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर के फोटो लिये गए। प्रत्येक प्राणी और वनस्पति के आभा-मण्डल के फोटो लिये गए। मरते हुए व्यक्ति के फोटो लेने पर यह स्पष्ट दिखा कि इस शरीर की कोई एक आकृति शरीर से निकलकर बाहर जा रही है। सूक्ष्म शरीर के फोटो ने सचमुच एक क्रान्ति ला दी सारे आध्यात्मिक क्षेत्र में।

पूर्वकाल मे आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तर्क के अतिरिक्त कोई साधन नही था। तर्क के द्वारा खडन किया, तर्क के द्वारा मडन किया। तर्क की प्रकृति यह है कि कोई बलवान् तर्क प्रस्तुत करता है तो बाजी मार ले जाता

है। जो तर्कवाद मे कमजोर होता है वह हार जाता है। तर्क सचाई तक नही ले जाता। तर्क हमे खिलवाड सिखाता है। तर्क का सम्बन्ध तर्कवादी व्यक्ति से है, सचाई से नही है। तर्क प्रस्तुत करने वाला जितना निपुण होगा, उतना ही तर्क सफल होगा। सचाई, असचाई का वहा प्रश्न ही नही है। आज केवल तर्क पर कुछ नही चलता। आज का युग प्रयोग का युग है। प्रत्येक वात का प्रयोग द्वारा परीक्षण होता है। सारी स्थिति ही वदल चुकी है। सूक्ष्म जगत् के फोटो लेने मे सफल हो जाने के वाद अव हम स्थूल जगत् से वहुत हट गए और वाक्-विलोडन तथा तर्क की सीमा से वहुत आगे चले गए। जीवित अवस्था मे भी हमारा सूक्ष्म शरीर वाहर निकलता है। उसका प्रक्षेपण वाहर होता है। उसके भी फोटो लिये गए हैं। एक व्यक्ति ने अपने अनुभव मे लिखा, 'मेरा मेजर आपरेशन होने वाला था। निश्चित दिन मैं आपरेशन कक्ष मे गया। एक टेवल पर मुझे लिटा दिया गया। सुघनी से मैं मूर्च्छित हो गया। आपरेशन प्रारभ हुआ। मेरा सूक्ष्म शरीर ऊपर चला गया। आपरेशन की सारी क्रिया मैं ऊपर से देखता रहा। जैसे ही कही डॉक्टर की गलती हुई, मैंने तत्काल उसे टोका। सारा आपरेशन देखता रहा। आपरेशन के पूरा होने पर मैं अपने स्थूल शरीर मे आ गया।' सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर को छोडकर वाहर यात्रा करता है और कही सुदूर की घटनाओ को देख आता है। जव सूक्ष्म शरीर के विपय मे अनुसधान और आगे वढे तव यह स्पष्ट हो गया कि स्थूल शरीर ही अन्तिम सचाई नही है। इसके भीतर वहुत वडा सूक्ष्म जगत् है। इस सूक्ष्म जगत् की स्थापना ने सचमुच एक नया उन्मेप ला दिया। और पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म की समस्या का कुछ समाधान प्रस्तुत कर दिया। जव हमारी चेतना का विकास होता है हमारा ज्ञान आगे वढता है और जव हम सूक्ष्म को जानने लगते है तव यह स्पष्ट हो जाता है कि सचाई इस स्थूल जगत् से भी वहुत परे है। सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओ से वने होते हैं। उन्हे कर्मशास्त्रीय भापा मे कहा जाता है कि वे चतु -स्पर्शी परमाणुओ से वने होते है। मनोविज्ञान की भाषा मे कहा जाता है कि वे न्यूत्रिलोन कण से वने हैं। वे कण ऐसे हैं जिनमे भार नही है। उन कणो मे विद्युत् आवेग नही है। उन कणो मे प्रस्फुटन नही है। इस आधार पर वैज्ञानिको ने स्वीकार किया कि वे कण अभौतिक है। जैन आगमो के आधार पर वे सूक्ष्म शरीर अभौतिक नही है, भौतिक हैं, पौद्गलिक है। किन्तु विज्ञान के पास अभी इसकी कोई भापा नही है, इसलिए वे इन्हे अभौतिक कहते है, किन्तु हमारे पास इसकी स्पष्ट भापा है।

परमाणु स्कध दो प्रकार के होते हैं—चतु स्पर्शी परमाणु स्कन्ध और अष्ट-स्पर्शी परमाणु स्कन्ध। अष्टस्पर्शी परमाणु स्कन्धो मे भार होता है, विद्युत् आवेग होता है, प्रस्फुटन होता है और उसका स्थूल अवगाहन होता है। उन परमाणुओं

मे बाहर जाने की क्षमता नही होती। वे इस दीवार को लाघकर नही जा सकते। किन्तु जो चतुस्पर्शी परमाणु स्कन्ध हैं, उनमे भार नही होता। वे लघु नही होते, गुरु नही होते। उनमे विद्युत् आवेग नही होता। वे बाहर जा सकते है। वे इस दीवार के बीच से भी निकल जाते हैं। उनकी गति अप्रत्याहत होती है, अस्खलित होती है।

सूक्ष्म शरीर के परमाणु चतुस्पर्शी होते हैं। मनोविज्ञान इन्हे न्यूट्रिलोन कहता है। ये कण कोरे कण के रूप मे नही देखे जाते। जब दूसरे कणो के साथ सघर्ष होता है तब ये कण पकड मे आते है। वैज्ञानिको ने तब ही इन्हे पकडा है। ये सूक्ष्म परमाणु हमारे सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा विचित्र प्रकार की घटनाए घटित होती हैं। यह माना गया है कि मृत्यु के समय हमारे शरीर से शरीर के आकार की कोई वस्तु निकलती है। वैज्ञानिक उसके फोटो लेने मे सफल हो गए। हमारी दृष्टि मे यह आत्मा नही है, सूक्ष्म शरीर है। जो दिखाई देता है, जो फोटो प्लेट पर उतरता है वह आत्मा नही है। वह कर्म शरीर है। वह तैजस् शरीर है। आत्मा उससे भी परे की बात है। उसका न फोटो लिया जा सकता है और न किसी प्रतिबिम्ब मे बाधा जा सकता है। वह सर्वथा अभौतिक है, अमूर्त्त है।

दो प्रकार के द्रव्य है—मूर्त्त और अमूर्त्त। जो पौद्गलिक है, भौतिक है, वह मूर्त्त द्रव्य है। उसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श—ये चारो होते हैं। जो अपौद्-गलिक है, अभौतिक है वह अमूर्त्त द्रव्य है। उसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श—चारो नही होते। उसका कोई आकार नही होता। वह कभी दिखाई नही देता। यह आवश्यक नही है कि जो मूर्त्त होता है वह सारा दिखाई देता है। वह दृश्य होता है यह बात नही है। स्थूल शरीर दिखाई देता है, सूक्ष्म शरीर दिखाई नही देता। स्थूल परमाणु दिखाई देते हैं, सूक्ष्म परमाणु दिखाई नहीं देते।

विज्ञान जगत् की यह बहुत बडी उपलब्धि है कि आज के वैज्ञानिको ने आभा-मण्डल के फोटो ले लिये। दूसरे शब्दो मे उन्होने लेश्या के फोटो ले लिये। यह अपूर्व उपलब्धि है। इस उपलब्धि ने सूक्ष्म जगत् की घटनाओ के अध्ययन का मार्ग खोल दिया। तत्काल तोडी गयी पत्ती का फोटो लिया गया। उसका आभा-मण्डल स्वस्थ और अच्छा था। एक घण्टा बाद दूसरा फोटो लिया गया। आभा-मण्डल क्षीण होने लग गया था। दो-चार घण्टा बाद तीसरा फोटो लिया। उसमे आभा-मण्डल की अत्यधिक क्षीणता का अकन प्राप्त हुआ। बीस घण्टा बाद चौथा फोटो लिया। उस समय आभा-मण्डल सपूर्ण रूप से समाप्त हो चुका था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बीस घण्टा बाद वह पत्ती मर गयी। जीव मर गया। प्राचीन समय मे मृत्यु की घटना को श्वास के साथ जोडा जाता था। आज मृत्यु का सबध आभा-मण्डल की क्षीणता या अक्षीणता के साथ जोडा जाता है। आदमी की मृत्यु

हुई या नही—इसका निर्णय आभा-मण्डल के आधार पर किया जाता है। यदि आभा-मण्डल पूर्णरूप से समाप्त हो गया है तो प्राणी की मृत्यु घटित हो गयी है। यदि आभा-मण्डल अवशेष है तो प्राणी जीवित है, अभी मरा नही है। मृत्यु को जानने का मानदड वदल गया। पहले यह मान्यता थी कि हृदय गति करता है तव तक आदमी नही मरता। हृदय की गति वन्द हो जाती है तव वह आदमी मर जाता है। आज यह मानदण्ड नही रहा। आज मृत्यु का मानदण्ड है कि मस्तिष्क की कोशिकाए सारी समाप्त हुई या नही। जव तक मस्तिष्क की कोशिकाए समाप्त नही होती तव तक उस प्राणी को मृत घोषित नही किया जा सकता। जव तक आभा-मण्डल क्षीण नही होता तव तक प्राणी को मृत घोषित नही किया जा सकता। सूक्ष्म जगत् के ये नये तथ्य आज उजागर हुए हैं। आज पुनर्जन्म को समझने का सारा दृष्टिकोण ही वदल गया है।

जब हम स्थूल चेतना के जगत् पर खडे होकर केवल तर्कों के द्वारा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की जाच करते थे तव हमारी दुनिया वहुत छोटी थी। हमारा क्षेत्र सीमित था। हम केवल वाचिक प्रक्रियाओ के द्वारा एक अमूर्त्त तत्त्व को जानने के लिए वहुत वडा उपक्रम कर रहे थे। यह ठीक वैसा ही उपक्रम था, जैसे एक अवोध वच्चा चन्द्रमा के विम्व को पकडने का उपक्रम करता है। आज यह उपक्रम वदल गया। हम तार्किक क्षेत्र से परे जाकर प्रायोगिक क्षेत्र मे उतर गए। आज प्रयोग पर यह निर्भर है कि इस जिज्ञासा के समाधान की स्थिति क्या वनती है।

जैन आगम अमूर्त्त तत्त्व की स्वीकृति देते हैं। आज विज्ञान इस सचाई के आस-पास तो पहुच गया है। उसका कथन है, 'मेटर है तो एन्टीमेटर भी होना चाहिए। कोरा मेटर हो नही सकता। यदि एन्टीमेटर नही है तो मेटर का अस्तित्व ही नही हो सकता।' यह स्याद्वाद का सिद्धान्त है। अनेकान्त ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि दुनिया मे तत्त्व अकेला नही हो सकता। उसका प्रतिपक्ष अवश्य होगा। प्रतिपक्ष के विना पक्ष नही हो सकता। सारे शव्दो की रचना प्रतिपक्षी शव्दो के आधार पर हुई है। जितने प्रतिपाद्य विषय हैं वे सारे सप्रतिपक्ष हैं। ठण्डा है तो गर्म भी है। कोरा ठण्डा नही हो सकता, कोरा गर्म नही हो सकता। प्रकाश है तो अधकार भी है। सुख है तो दुःख भी है। लाभ है तो हानि भी है। एक भी शव्द ऐसा नही मिलेगा, जिसका प्रतिपक्ष न हो। एक भी सत्य ऐसा नही मिलेगा, जिसका प्रतिपक्ष न हो। यही वात मेटर के लिए लागू होती है। मेटर है तो एन्टीमेटर भी है। उसके विना मेटर का अस्तित्व नही हो सकता। चेतन है तो निश्चित ही अचेतन होगा। अचेतन के विना चेतन का अस्तित्व नही हो सकता। चेतन के विना अचेतन का अस्तित्व नही हो सकता। कोरा 'चेतन' यह नामकरण भी नहीं हो सकता। जव 'चेतन'—यह नामकरण करते हैं तव अचेतन को ध्यान मे रखकर ही यह नामकरण करते है। अन्यथा यह नामकरण हो नहीं सकता। यह

सप्रतिपक्ष का सिद्धान्त, विरोधी युगल का सिद्धान्त, द्वन्द्व का सिद्धान्त हमें इस सचाई तक पहुचा देता है कि जव अचेतन या पुद्‌गल की स्वीकृति करते हैं तो साथ-साथ चेतन और अपुद्‌गल की भी स्वीकृति करते हैं। जव मूर्त्त तत्त्व को स्वीकार करते हैं तो यह भी स्वीकार करते है कि एक तत्त्व ऐसा भी है जो अमूर्त्त है। जव हम वर्तमान चेतना को स्वीकार करते है तो इस वात को भी अस्वीकार नही करते कि अवर्तमान चेतना भी है—त्रैकालिक चेतना भी है। वह चेतना भी है जो वर्तमान को लाघकर अतीत और भविष्य मे सक्रान्त होने वाली भी है। इस सचाई पर जव पहुचते है तो यह पूर्वजन्म की पहेली सुलझ जाती है।

हम सूक्ष्म-जगत् की घटनाओ का विश्लेपण करते हैं तव ज्ञात होता है कि हमारे ज्ञान की क्षमता वहुत कम है। आइस्टीन ने ठीक कहा था—हम कभी यह दावा नही कर सकते कि हमारा ज्ञान निरपेक्ष है। हमारा ज्ञान सीमित है, सापेक्ष है। क्योकि हमारे ज्ञान के सभी समाधान वहुत सीमित हैं। उनके द्वारा हम वहुत थोडे सत्यो को जान सकते है। आज तक भी इस दुनिया मे वडे सत्यो का उद्‌घाटन जिन लोगो ने किया है, उन्होने तर्क या वुद्धि के क्षेत्र मे नही किया। विज्ञान का इतिहास देखें। प्रकृति के सूक्ष्म नियमो का पता अन्तर्ज्ञान के द्वारा हुआ है। अकस्मात् हुआ है। हमारे अन्तर्ज्ञान की अवस्था मे जो ज्ञान आता है, पता नही वह कहा से आता है? इस स्थिति मे वह अवचेतन मन वाली वात वहुत ठीक समझ मे आ जाती है कि हमारी स्थूल चेतना मे, स्थूल मन मे वहुत सीमित शक्तिया हैं और जव कोई व्यक्ति शून्य की स्थिति मे चला जाता है, निर्विकल्प की स्थिति मे चला जाता है, उस अवस्था मे जो घटना घटित होती है और जो ज्ञान उपलव्ध होता है वह क्रान्तिकारी घटना होती है और विशिष्ट ज्ञान होता है।

गगाशहर, सितवर' ७८।

भारतीय दर्शन मे निराशावाद

हम जिस जगत् मे जी रहे है वहा कुछ देश ऐसे हैं जो भौतिकता के चरम शिखर पर पहुच चुके हैं। पदार्थों की प्रचुर उपलब्धि उन्हे हुई है। वे साधन-सम्पन्न देश हैं। वे विकसित देश कहलाते हैं। हिन्दुस्तान विकसित देश नही है। यह विकास-शील देशो की गिनती मे आता है। देश के विकास पर वहा की चिन्तनधारा का वहुत वडा प्रभाव होता है। वहा का दार्शनिक दृष्टिकोण, जीवन की धारणाए और मान्यताए, सभ्यता और सस्कृति—ये सव तत्त्व विकास के घटक माने जाते हैं। हिन्दुस्तान अभी विकसित देशो की श्रेणी मे नही है। इसलिए पश्चिमी दार्शनिक, चिन्तक और विचारक यह आरोप लगाते हैं कि हिन्दुस्तान के पिछडेपन का एक कारण है निराशावादी दृष्टिकोण। भारतीय दर्शन ने निराशावाद का पाठ पढाया है। भारतीय मनुष्य वहुत निराशावादी होता है। इसलिए वह विकास की दौड मे साथी नही वन सकता।

एक ओर वहुत पुरुषार्थ, अधिक धन अर्जन, पदार्थ का विस्तार, आकाक्षाओ का विस्तार, इच्छाओ को वढाना, इच्छाओ की पूर्ति के लिए पूरा प्रयत्न करना—यह भौतिक विकास की पराकाष्ठा तक पहुचने का प्रयास है। दूसरी ओर भारतीय व्यक्ति है। वह पुरुषार्थ कम करता है। सन्तोष को साथ लेकर ही जन्मता है। असन्तोष जैसा उसमे कुछ रहता ही नही। ज्यादा अर्जन नही करना चाहिए, क्योकि आखिर चार रोटी ही तो चाहिए। उसके लिए इतना अपेक्षित नही है। यह सतोष का पाठ उसे जन्मघूटी के साथ ही प्राप्त हो जाता है। जगत् असार है। इसमे सार-भूत कुछ भी नही है। पदार्थ असार, धन असार, परिवार असार, सव असार ही असार है। सार जैसा कुछ भी नही है। यह असार की वात सुनते-सुनते उसकी सारता की वुद्धि समाप्त हो जाती है। वह मानता है सव कुछ चचल है। धन चचल है, लक्ष्मी चचल है, यौवन चचल है, प्राण और जीवन भी चचल है। यह समूचा ससार चचल है। इसमे कुछ भी स्थिर नही है। एक दिन व्यक्ति को सव कुछ छोडकर चला जाना है। साथ मे एक कौडी भी नही चलेगी। ऐसी स्थिति मे कर्म कावध क्यो किया जाए ? क्यो तृष्णा को वढाया जाए और क्यो अधिक धन अर्जित

करने का प्रयत्न किया जाए ? यह ऐसा बोध-पाठ भारतीय शिशु को, भारतीय युवक को मिलता है कि उसका सारा उत्साह, उसका सारा पराक्रम ठण्डा हो जाता है और बहुत बड़ा काम करने की शक्ति उसमें विकास नहीं कर पाती। मनोविज्ञान के क्षेत्र से, दर्शन और चिन्तन के क्षेत्र से भारतीय चिन्तन पर यह बहुत बड़ा आरोप प्रस्तुत हो रहा है। इसकी सचाई पर हम विचार करें।

क्या सचमुच यह आरोप सही है कि भारतीय दृष्टिकोण जीवन के प्रति निराशावादी है ? इसे हम स्वीकार करें या अस्वीकार करें ? यदि स्वीकार करें तो किस अर्थ में और अस्वीकार करें तो किस अर्थ में ?

भारतीय दार्शनिकों ने कहा, 'यह संसार इन्द्रजाल जैसा है, यह संसार स्वप्न जैसा है। यह संसार माया है, मिथ्या है। यह संसार मृग-मरीचिका और आकाश-कुसुम जैसा है। संसार की इतनी व्यर्थता, इतनी निस्सारता, इतनी अनुपादेयता बतलाई कि मानो संसार में रमणीय कुछ भी नहीं है, आदरणीय और उपादेय कुछ भी नहीं है। सब कुछ व्यर्थ ही व्यर्थ है। व्यक्ति के मन में संसार की व्यर्थता का चित्र उभर आता है। यह सही है कि जब यह बताया जाएगा कि संयम करो, संतोष करो, त्याग करो, यह छोड़ो, वह छोड़ो तो व्यक्ति का एक प्रकार का दृष्टिकोण बनेगा। व्यक्ति के मन में बहुत आशा नहीं जागेगी। यह संयम का पाठ, संतोष और त्याग का पाठ, निवृत्ति का पाठ, छोड़ने का पाठ—इन सब बोध-पाठों ने मिलकर व्यक्ति के मन में निराशा का भाव जागृत किया है। इतने बड़े दो बोध-पाठ और हैं जो निराशावादी दृष्टिकोण पैदा करते हैं। एक है कर्म का बोध-पाठ और दूसरा है भाग्य का बोध-पाठ। ऐसा बोध-पाठ मिला—भाई ! तुम क्या कर सकते हो, जैसा तुम्हारे भाग्य में लिखा है, जैसा तुम्हारी नियति में लिखा है, जैसा तुमने पूर्वजन्म में कर्म किया है, वैसा ही होगा। इसके सिवाय कुछ भी नहीं होगा। जितना धन भाग्य में लिखा है, उतना मिल ही जाएगा, चाहे तुम पुरुषार्थ करो या न करो। सांप ने कब बिल खोदा ? भाग्य में है तो अपने आप मिल जाता है, करने की कोई जरूरत नहीं है। ऐसी धारणाओं ने निराशा का भाव जगाया। पश्चिमी दार्शनिकों ने जो आरोप लगाया वह सर्वथा मिथ्या नहीं है, सही है।

जिस भूमिका पर भारतीय मनीषियों ने, साधकों और तपस्वियों ने जो-जो घोषणाएं की हैं, वे मिथ्या नहीं हैं, सच हैं। जिन चिन्तकों ने कहा कि यह संसार माया-जाल है, यह बहुत बड़ी सचाई का उद्घाटन है। जिन्होंने कहा, 'पदार्थ व्यक्ति को दुःख देता है।' यह बहुत बड़ी सचाई है। जिन मनीषियों ने कहा, 'परिग्रह ज्यादा होता है तो व्यक्ति अधिक दुःखी होता है।' यह भी बहुत बड़ी सचाई है। किन्तु कठिनाई एक हो गई कि जिन लोगों ने सचाई का अनुभव किया, सचाई को देखा और उस अनुभव की भूमिका पर खड़े होकर इन सत्यों की उद्घोषणाएं की, वे व्यक्ति, वे मनीषी नहीं रहे। वे चले गए। पीछे जो व्यक्ति हैं वे उन बातों को

केवल दोहराने वाले हैं। वैसे व्यक्ति एक ओर सतोप की वात करते है, उसकी गुणगाथा गाते हैं और दूसरी ओर पैसे-पैसे के लिए ललचाते है, अनैतिक और अप्रामाणिक धन्धे करते हैं। जव यह जीवन का विरोधाभास या अन्तर्द्वन्द्व सामने आता है तव यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका दृष्टिकोण निराशावादी है। वे पदार्थ का विकास नही कर पाते, इसलिए पदार्थ को भला-बुरा कहते है, पदार्थ को कोसते हैं। वे उतना श्रम नही कर पाते, वे अपने पुरुषार्थ का और बुद्धि का ऐसा नियोजन नही कर पाते, जिससे कि समृद्धि वढे, इसीलिए वे पदार्थो को गालिया देते हैं, परिग्रह को बुरा वतलाते हैं। यह एक दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

जिस व्यक्ति ने वडे सुख का अनुभव कर लिया और वह यदि छोटे सुख को छोटा वतलाए तो वात समझ मे आ सकती है और वह एक सचाई हो सकती है। जिस व्यक्ति ने वडे सुख का अनुभव नही किया और यदि वह छोटे सुख को बुरा वतलाए और दूसरी ओर वह उस छोटे सुख की प्राप्ति के लिए दौड-धूप करे तो यह हास्यास्पद होगा। अध्यात्म के साधको और आचार्यों ने अपने अनुभव की ऊचाई पर जाकर देखा तो उन्होने अनुभव किया कि पदार्थ से जो सुख होता है, उससे वडा सुख हमारे भीतर विद्यमान है। उन्होंने यह वात ग्रन्थ या शास्त्र के आधार पर नही कही। उन्होने स्वय साधना कर इस महान् सुख का अनुभव किया और इस सुख का साक्षात् अनुभव करने के वाद ही कहा, 'सव असार है। सव चचल है। सव व्यर्थ है। कोई सार्थकता नही है।'

हमारे मस्तिष्क मे सुख का एक वहुत वडा केन्द्र है। सुख की एक ग्रन्थि है। उस सुख के केन्द्र को कोई व्यक्ति जगाना जान जाए तो उसे अपूर्व सुख का अनुभव होता है। उस सुख-केन्द्र को चाहे तो इलेक्ट्रोड के द्वारा जगाया जाए, ध्यान के द्वारा जगाया जाए या आकस्मिक सयोग या निमित्त के द्वारा वह जाग जाए तो उसे लगता है दुनिया मे सव व्यर्थ है, सव असार है। सार है तो केवल इस सुख-केन्द्र का अनुभव। यही सुख है। इसके सामने सारे सुख फीके हैं। जिन लोगो ने अध्यात्म के क्षेत्र मे जाकर और अध्यात्म की साधना कर अपने आत्मिक केन्द्रो को जागृत किया, अपने सुख-केन्द्रो को जगाया और केन्द्रो के जागने पर जव उन्होने किसी पदार्थ के सामने देखा तो उन्हे लगा कि सव वेकार हैं, व्यर्थ हैं, निकम्मे हैं, कोई सार नही है। उस सुख की तुलना मे पदार्थ का कोई भी सुख टिक नही सकता। इस सचाई का उन्होने उद्घाटन किया। सामान्यत हम मानते हैं कि पदार्थ के उपभोग मे सुख है। सुख पदार्थ से ही मिल सकता है। अच्छी चीज खाए जीभ को अच्छा सवेदन मिलेगा, सुख होगा। अच्छा गाना सुनें, सुख मिलेगा, कानो को तृप्ति मिलेगी। किन्तु जिन लोगो ने नाद का अनुसधान किया, अपने भीतर होने वाले नाद को सुना तो दुनिया के सारे सगीत वेकार हो गए। एक स्थायी

चीज के प्राप्त होने पर अस्थायी चीज के प्रति विराग उत्पन्न हो जाए तो कोई अस्वाभाविक बात नही होगी। एक दीर्घकालीन वस्तु के प्राप्त होने पर यदि अल्प-कालीन वस्तु के प्रति मनुष्य की विरक्ति हो जाए तो कोई अनोखी बात नही होगी। परम वस्तु के प्राप्त होने पर अपरम वस्तु के प्रति विरक्ति हो जाती है। वैराग्य का अर्थ है—परम के प्रति अनुराग और अपरम के प्रति विराग। परम के प्रति आकर्षण नही होगा तो अपरम के प्रति विकर्षण नही होगा। आकर्षण और विकर्षण दोनो साथ-साथ चलते हैं। बडे लक्ष्य के प्रति राग होगा तो छोटे लक्ष्य के प्रति स्वत विराग हो जाएगा। 'अनुरागाद् विराग'—अनुराग से विराग होता है। कोरा विराग कभी नही हो सकता। यदि युवा व्यक्ति कहे कि मुझे कामभोगो के प्रति विराग हो गया है तो मानना चाहिए कि वह पागल हो गया है। जो काम-वासना का दमन करता है तो निश्चित ही उसके मन मे कोई न कोई दूसरा विकार जाग जाता है। काम के प्रति विराग उस व्यक्ति मे हो सकता है जिस व्यक्ति को ऐसा आनन्द उपलब्ध हो गया, ऐसा सुख प्राप्त हो गया, जिस सुख के समक्ष काम का सुख, काम के प्रकम्पनो से होने वाला सुख फीका पड जाता है, नगण्य हो जाता है। अच्छी चीज मिलने पर आदमी कम अच्छी चीज को छोड देता है, किन्तु जब तक वह नही मिलती तब तक वह उसे नही छोडता। बडे के प्रति अनुराग का मतलब ही है छोटे के प्रति विराग। पहली चीज के प्रति विराग तब ही हो सकता है कि नयी चीज के प्रति अनुराग पैदा हो जाए, अनुराग तीव्र हो जाए। भारतीय दर्शन का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'अनुरागाद् विराग'— अनुराग से विराग होता है। बिना अनुराग के कोई विराग नही होता। इसीलिए भारतीय दर्शन ने मोक्ष की कल्पना के साथ स्त्री की कल्पना की गई—शिवरमणी, शिववधू। इसके साथ यह कल्पना जुडी हुई है कि वह एक ऐसी वधू है, जिसके साथ रमण करने पर शेष सारे रमण छूट जाते है। जब व्यक्ति स्व-रति मे रमण करता है तब पर-रति की बात नि शेष हो जाती है। व्यक्ति को आनन्द चाहिए, सुख चाहिए। ससार का प्रत्येक व्यक्ति सुख के लिए प्रयास करता है, कोई दु ख नही चाहता। व्यक्ति शराब भी सुख पाने के लिए पीता है। आदमी नशा करता है सुख पाने के लिए। दुनिया मे सबसे बडा सुख है—अपने आपको भूल जाना। सारे सुख भोग लेने के बाद मनुष्य दु खी होता है, उस दु ख को मिटा देने का साधन है—अपने आपको भूल जाना। सुख को भोगते समय उनके साथ एक तारतम्य पैदा होता है, जो बेचैनी पैदा करता है। हम जब सोचते हैं तब शरीर मे जहर पैदा होता है। हम जब बोलते हैं तब जहर पैदा होता है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ शरीर मे जहर पैदा होता है। जब उस जहर की मात्रा बढ जाती है तब मन मे बेचैनी पैदा होती है। उस बेचैनी को मिटाने के लिए अपने आपको भूलना आवश्यक होता है। अपने आपको भुलाने के लिए आज के ससार मे कितने साधन प्रयुक्त हो रहे हैं।

कोई तम्बाकू पीता है, कोई गाजा और चरस पीता है। कोई शराव और मदिरा पीता है। कोई अन्यान्य मादक वस्तुओ का सेवन करता है। ये सारे साधन अपने आपको भुलाकर, दु ख को विसराकर, सुख पाने के लिए प्रयुक्त हो रहे हैं। जो व्यक्ति इस भूमिका पर होगा, वह मदिरा का या नशीली वस्तुओ के सेवन का समर्थन करेगा। किन्तु जिस व्यक्ति ने ध्यान की गहराइयो मे जाकर अपने आपको भुलाने का पाठ पढ लिया, वह व्यक्ति कहेगा—'इन नशीली वस्तुओ का सेवन बुरे परिणाम लाता है। वे आपातभद्र है, किन्तु परिणामविरस। अपने आपको भुलाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है ध्यान। इसका परिणाम वहुत कल्याणप्रद होता है। यह आपातभद्र भी है और परिणामभद्र भी है।

ध्यान सवसे वडा नशा है, मादकता है। जिस व्यक्ति ने ध्यान की मादकता का अनुभव कर लिया, जिसने ध्यान के द्वारा अपने आपको भुलाना, अपने आपको खोना सीख लिया। उस व्यक्ति के लिए शेष सारे नशे वेकार हो जाते है। किन्तु जो व्यक्ति ध्यान की उस स्थिति मे नही पहुचा, जिसने ध्यान की आराधना के द्वारा अपने आपको भूलना नही सीखा, अपने आपको खोकर आनन्द का अनुभव करना नही सीखा, वह व्यक्ति कलह करने मे, शराव पीने मे, अन्यान्य नशीली औषधियो के सेवन मे आनन्द का अनुभव करता है। उसे लगता है कि वह अलौकिक दुनिया मे चला गया है। यह सच है कि मादक औषधियो का सेवन करने वाला भी कभी-कभी अलौकिक दुनिया मे चला जाता है। जो अनुभव ध्यान के साधक को होते है, वे अनुभव उन नशीली वस्तुओ का सेवन करने वाले व्यक्तियो के भी होते हैं। किन्तु ये व्यक्ति न तो उस भूमिका पर पहुचा है और न मादकता की दुनिया मे ही पहुचा है। वह यदि कहे कि ससार असार है, ये सव वस्तुए खराव हैं तो लगेगा कि यह पागलपन है, जिनके लिए वह भटक रहा है, उसको ही खराव वता रहा है। हम अनुभव करें कि हम दोहरी समस्या मे है। उस भूमिका का हमने स्पर्श नही किया, उस भूमिका तक हम नही पहुच पाए जहा पहुचना है और गीत उस भूमिका के गाते है, जो ऊची से ऊची भूमिका है, तो वहा एक द्वन्द्व हमारे समने प्रस्तुत होता है।

हमारी सवसे वडी भूमिका है अनुभव की। भारतीय दर्शन मे अनुभव, साक्षात्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वय अनुभव करना—यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इन्द्रियो से जानना, मन से सोचना, शास्त्रो को पढना, शास्त्रो का विश्लेषण करना ये सारी वातें वहुत गहरे मे ले जाने वाली नही हैं। आधारभूत वात है—व्यक्ति का अपना अनुभव। व्यक्ति का अपना साक्षात्कार। जव हमने साक्षात् नही किया, साक्षात् नही देखा, साक्षात् नही जाना, उस स्थिति मे हमारा कुछ नही होता। इसलिए अपने अनुभव से जो प्राप्त होना चाहिए, वह तो मिलता नही और दुनिया मे जो पदार्थ मे मिलता है वह भी नही मिलता। न तो पदार्थ के प्रति लालसा कम

होती है और न पदार्थ के महत्त्व को स्वीकार करने की बात समझ मे आती है। हम पदार्थ के महत्त्व को इसलिए स्वीकार नही कर पाते कि हमारे शास्त्रो मे लिखा है—पदार्थ व्यक्ति को डुबाने वाला है, नरक मे ले जाने वाला है। जब यह बात शास्त्रो मे लिखी है तो हम पदार्थ को और परिग्रह को महत्त्व नही दे सकते। दूसरी ओर पदार्थ से जो सुख मिलता है, परिग्रह से जो सुविधा मिलती है, उस सुख से बडा सुख हमे प्राप्त नही हुआ जिससे कि उस सुख की अनुभूति हममे छूट जाए। दोनो ओर उलझन आ जाती है। पाश्चात्य दार्शनिको ने जो यह आरोप लगाया, वह आरोप नही, चिन्तन का सही कोण है, मिथ्या नही है। आज भारतीय दर्शन और धर्म की भूमिका को देखकर हर व्यक्ति यह कह सकेगा कि यह दर्शन निराशावादी दृष्टिकोण को पनपाता है। वह आशा नही देता, उत्साह नही देता, वह निराशा देता है, अनुत्साह उत्पन्न करता है। यदि भारतीय दर्शन आशावादी होता, आज का हमारा चिन्तन यदि आशावादी होता तो कुछ और ही रूप सामने आता। भारत की जो आध्यात्मिकता थी और भारतीय जीवन की जो एक परिपूर्ण कल्पना थी, वह कल्पना धूमिल हो गई हो, ऐसा लगता है। भारतीय जीवन की परिपूर्ण कल्पना के चार स्तम्भ थे—'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। दो युगल हैं। एक युगल है धर्म और मोक्ष का, दूसरा युगल है—अर्थ और काम का। काम व्यक्ति की साधारण मन स्थिति है। जहा शरीर है, इन्द्रिया है, मन है वहा काम को छोडा नही जा सकता। भारतीय चिन्तन की यह प्रारम्भिक मान्यता थी। जब व्यक्ति मे काम है, कामना है—जीने की कामना है, यश की कमना है और भी अनेक कामनाए हैं, उन कामनाओ की पूर्ति के लिए अर्थ अपेक्षित होता है। काम साध्य हो गया। अर्थ उसका साधन बन गया। काम और अर्थ—यह एक युगल बन गया। दूसरा युगल है—धर्म और मोक्ष। जब आदमी को यह अनुभव हुआ कि हमारा जो जीवन है, वह उतना ही नही है, जितना कि ज्ञात है। हमारा जीवन उतना ही नही है, जितना कि दृश्य है। हम ज्ञात और दृश्य जगत् के आधार पर सारे निर्णय करते हैं। यह सबसे बडी कठिनाई है। यदि हम गहरे मे जाकर देखें तो लगेगा कि ज्ञात जगत् एक बिन्दु है। अज्ञात् जगत् एक विशाल सागर है। दृश्य जगत् एक टिमटिमाता छोटा-सा दीप है और अदृश्य जगत् एक विशाल प्रकाश-पुञ्ज है।

महान् वैज्ञानिक आइस्टीन ने लिखा है, 'मैंने सोचा था कि प्रकृति के सारे नियमो की व्याख्या कर दू। जब मैंने विज्ञान के जगत् मे प्रवेश किया, उसमे कार्य करना शुरू किया, जैसे-जैसे मैं आगे बढा तो मुझे लगा कि प्रकृति के एक-एक अज्ञात नियम को खोजने का मतलब है, हजार अज्ञात नियमो की कतार खडी कर देना। एक को खोजता हू तो हजार अज्ञात नियम सामने आ उपस्थित हो जाते हैं।

अज्ञात का जगत् इतना विशाल है कि मनुष्य ज्ञात पर काम करना शुरू करता है तब धीरे-धीरे अज्ञात का एक विराट् ससार सामने आ उपस्थित हो जाता है। तब उसे लगता है कि जो जाना था वह कुछ भी नही था, जो नही जाना वह अनन्त है।

भर्तृहरि ने कहा है—

> यदा किञ्चिज्ज्ञोऽह द्विप इव मदान्ध समभव,
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्त मम मनः।
> यदा किञ्चित् किञ्चित् बुधजनसकाशादवगत,
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

—जब मैं थोडा जानता था, अल्पज्ञ था, तब हाथी की तरह मदान्ध हो गया। मैं सोचता था—मैंने सब कुछ जान लिया। मैं जब पडितो के सम्पर्क मे आया, विद्वानो के सम्पर्क मे आया, उनसे कुछ सीखा तो मुझे लगा—अरे! मैं तो कुछ भी नही जानता। इतने वर्षो तक मैंने कुछ भी नही जाना। मैं तो आज भी निरा मूर्ख और अज्ञानी हू। उस स्थिति मे मेरा अहकार ज्वर की तरह उपशान्त हो गया, मिट गया।

अज्ञात के ससार के आगे ज्ञात का ससार बिन्दु मात्र है। हमारी सारी मान्यताए, धारणाए, सारे निष्कर्ष ज्ञात के ससार के आधार पर होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अज्ञात के ससार मे प्रवेश कर किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है तो ज्ञात की भूमिका पर खडे रहने वाले व्यक्ति को लगता है यह कोरी कल्पना है।

एक दिन मेरे सामने प्रश्न आया—पूर्वजन्म का, पुनर्जन्म का। मैंने कहा, 'जो बात अनुभव के द्वारा जानी जा सकती है, वह तर्क के द्वारा कैसे जानी जा सकती है?' जब हम अनुभव करने का प्रयत्न नही करते, केवल वाक् या तर्क के द्वारा जानने का प्रयत्न करते है तो हम उसको कैसे जान पाएगे? क्योकि जो जिसका विषय ही नही है, वह उसके द्वारा कैसे जाना जा सकेगा। मैं आपसे पूछना चाहता हू कि हमारे सामने जो आकाश है, उसमे आपको क्या दिखाई दे रहा है? पर क्या यहा ऑक्सीजन नही है? नाइट्रोजन नही है? अन्यान्य गैसें नही है? क्या समूचा आकाश विभिन्न प्रकार के परमाणुओ से भरा हुआ नही है? क्या यहा भाषा वर्गणा के पुद्गल नही हैं? क्या यहा चिन्तन के परमाणु नही है? हजारो-हजारो शब्द-चित्र आकाश मे चक्कर लगा रहे है। हजारो-हजारो मनुष्यो की आकृतियो के चित्र इसमे घूम रहे हैं। हजारो-हजारो ध्वनिया घूम रही हैं। हजारो पदार्थ आकाश मे हैं। किन्तु हमे कुछ दिखाई नही देता। क्या इस आधार पर हम मान लें कि कुछ भी नही है? अज्ञात का प्रश्न बहुत विकट है। जब गहरे मे उतर कर अज्ञात को ज्ञात करने का प्रयत्न करते है तो लगता है कि वह कितना विशाल

है। एक मनुष्य के भीतर का जगत् कितना विशाल है ? इसमे कितनी विद्युत् है ? पर आप शरीर को चीर-फाड कर देख लें, कही वह नही मिलेगी। हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका विजली पैदा करती है। हमारा मस्तिष्क विजली पैदा करता है। हमारे इस स्थूल शरीर के भीतर कितने सूक्ष्म शरीर हैं ? हमारे शरीर के चारो ओर आभा-मण्डल है। पर कुछ भी दिखाई नही देता। सव अज्ञात, सव अज्ञात। अज्ञात ही अज्ञात। इतने वडे अज्ञात जगत् के भीतर रहकर, केवल कुछेक ज्ञात तथ्यो के आधार पर निर्णय लें, सचाइयो का प्रतिपादन करें तो इससे वडी भूल और कोई हो ही नही सकती। प्रत्येक निर्णय के पूर्व हमे इस वात को स्पष्ट करना होगा कि प्रत्येक आदमी दो दुनिया मे जीता है। एक है अज्ञात की दुनिया और दूसरी है ज्ञात की दुनिया। जो आदमी ज्ञात की दुनिया मे जीता है, वह भी उसको पूरा नही जानता। कोई भी आदमी ऐसा नही है जो ज्ञात को भी पूरा जानता हो। वह ज्ञात को भी थोडा ही जानता है। एक आदमी ज्ञात को पूरा जान नही सकता। जव ज्ञात की दुनिया और उसके आस-पास की दुनिया को भी हम पूरा नही जानते तो सारी दुनिया के सत्यो का निष्कर्ष और निर्णय की वात हम कैसे कर सकते हैं ?

इस सारी स्थिति के सन्दर्भ मे जव मैं समीक्षा करता हू तव लगता है कि जिन विचारको ने भारतीय दर्शन को निराशावादी दर्शन कहा, वह पूरा सच नही है। क्योकि भारतीय दर्शन ने जिस अज्ञात जगत् मे प्रवेश कर, अज्ञात जगत् की खिडकियो और दरवाजो को खोलकर जो देखा और देखने के वाद जो कहा कि परिग्रह का सग्रह अच्छा नही है, पदार्थो का अतिरिक्त उपभोग अच्छा नही है। सतोष, सयम और त्याग अच्छा है। मैं मानता हू कि यह निराशावादी दृष्टिकोण नही है।

गगाशहर, सितम्बर '७८

आत्मा और परमात्मा

'सपिक्खए अप्पगमप्पएण'—

—आत्मा से आत्मा को देखो, परमात्मा वन जाओगे।

नमि राजर्षि प्रव्रजित हो रहे थे। एक वूढा ब्राह्मण आकर वोला, 'राजर्षि ! तुम प्रव्रजित हो रहे हो, राज्य को छोड़ सन्यासी वन रहे हो ? क्या देख नही रहे हो कि तुम्हारी मिथिला, तुम्हारा अन्त पुर, तुम्हारा राजभवन—ये सारे के सारे धाय-धाय जल रहे हैं। इनको आग लगी है। जरा आख उठाकर देखो तो सही कि यह क्या हो रहा है ?'

राजर्षि ने शान्तभाव मे कहा, 'ब्राह्मण ! मैं देख रहा हू। मेरी मिथिला नही जल रही है। मेरा अन्त पुर और मेरा राजभवन भी नही जल रहा है। मैं जहा हू वहा कुछ भी नही जल रहा है। जहा कोई आग नही है, कोई चिनगारी नही है और कोई चिनगारी डालने वाला भी नही है। जहा कोई जलने वाला भी नही है और जलाने वाला भी नही है, मैं वहा हू। मैं सुख से जी रहा हू, सुख से रह रहा हू। मेरी राजधानी जल नही सकती। मेरा प्रासाद जल नही सकता। मेरी सपदा को कोई नही जला सकता। मिथिला जल रही है, जले, उसमे मेरा क्या ?'

राजर्षि के उत्तर ने ब्राह्मण को विस्मय मे डाल दिया। मिथिला जल रही थी या नही जल रही थी, यह कोई महत्त्व की वात नही थी और वह सचमुच नही जल रही थी। यह एक कसौटी थी। कसौटी करने वाला था एक ब्राह्मण और वह कसौटी कर रहा था उस राजर्षि की जो घर छोडकर जा रहा था। सब कुछ छोड-कर जा रहा था। ब्राह्मण जानना चाहता था कि राजर्षि वास्तव मे सव कुछ छोड रहा है या भावावेश मे छोडने का वहाना कर रहा है। वहुत वार ऐसा होता है कि हम छोडने का वहाना करते हैं और छूटता कुछ भी नही। स्मृति का भार और अधिक सिर पर लद जाता है। छोडने की स्मृति सताने लगती है। तो क्या नमि राजर्षि सचमुच छोडकर चला जा रहा है या स्मृति का भार ढोने जा रहा है ? वासना नही छूटती, अह नही छूटता वह छोडने का वहाना मात्र होता है, वास्तव

मे कुछ भी नही छूटता। किन्तु राजर्षि सचमुच छोडकर चले जा रहे थे। वे अपनी चेतना मे लीन हो गए थे। उन्होंने सकलनात्मक मन का विसर्जन कर दिया था। वे चेतना से बाहर किसी पदार्थ पर ध्यान दे सके, वैसा मन उसके पास नही रहा था। हम सोच सकते है कि मिथिला जल रही हो और राजर्षि उसे आख उठाकर देखने के लिए भी तैयार न हो, यह अव्यावहारिक बात है। व्यवहार उन लोगो के लिए है जो व्यवहार के धरातल पर जीते हैं। चेतना के धरातल पर जीने वाले लोग उसकी गहराई को देखते है और उसी के आधार अपना निर्णय लेते हैं। व्यवहार के निर्णय उन्हे मान्य नही होते। व्यवहार पर जीने वाले लोगो को चेतना की गहराई पर होने वाले निर्णय मान्य नहीं होते। दोनो की मान्यताए भिन्न होती हैं। इसमे कोई सदेह नही कि चेतना की गहराई मे जाने पर जलने की बात समाप्त हो जाती है। समस्या है चेतना की गहराई मे जाने की। जो चेतना की गहराई मे चला जाता है वह सचमुच परमात्मा बन जाता है।

चेतना के दो छोर हैं—एक आत्मा और दूसरा परमात्मा। एक बीज और दूसरा विस्तार। आपने देखा होगा कि बरगद का बीज कितना छोटा होता है और आपने बरगद के विस्तार को भी देखा होगा, वह कितना बडा होता है। नन्हा-सा बीज इतना फैल जाता है, उसकी कल्पना होना भी कठिन है। आत्मा बरगद का बीज है और परमात्मा उसका विकास। आत्मा का लक्ष्य है परमात्मा होना। यह लक्ष्य आरोपित नही है, किन्तु सहज है। उसकी सिद्धि मे बहुत विघ्न हैं। इसलिए यह दूरी एक साथ ही नही पट जाती। उसके लिए आत्मा को एक लम्बी यात्रा करनी होती है। इस यात्रा के पहले चरण मे अपने अस्तित्व का बोध होता है। आत्मा क्या है? वह कहा से आई है? वह कैसे उत्पन्न हुई है? ये उलझे हुए प्रश्न हैं। ये सुदूर अतीत मे ले जाते हैं—इतने सुदूर अतीत मे कि उसका आदि-बिन्दु खोजना कठिन है।

आत्माओ का एक अक्षय-कोष है जिसमे से वे निकलती रहती हैं। वह है वनस्पति। इसमे अनन्त-अनन्त आत्माए होती हैं। वनस्पति की एक श्रेणी है। उसका नाम है 'अव्यवहार राशि।' उसमे ऐसी अनन्त-अनन्त आत्माए है जिनका कभी विकास नही हुआ। वे अनादिकाल मे उसी योनि मे रह रही है। काल-मर्यादा, नियति और कर्म का समुचित योग होने पर कोई आत्मा उस राशि से निकलकर 'व्यवहार राशि' मे आती है। यहा उसका विकास प्रारभ हो जाता है। वह एकेन्द्रिय से विकसित होते-होते पचेन्द्रिय और मनुष्य की अवस्था मे पहुच जाती हैं। 'अव्यवहार राशि' की आत्माए अविकसित और 'व्यवहार राशि' की आत्माए विकसित होती हैं। 'व्यवहार राशि' एक नन्ही-सी बूद है और 'अव्यवहार राशि' एक महान् समुद्र है, अथाह समुद्र जिसका कोई आर-पार नही है। वहा कोई भाषा नहीं, चिन्तन नही, स्मृति नही, कल्पना नही, अभिव्यक्ति का कोई

साधन नही। 'व्यवहार राशि' मे भाषा है, चिन्तन है, स्मृति है, कल्पना है, अभिव्यक्ति के साधन है।

आत्मा की शक्ति समान है। 'अव्यवहार राशि' की आत्मा मे जो शक्ति है वही 'व्यवहार राशि' की आत्माओ मे है। दोनो मे शक्ति का कोई अन्तर नही है। अन्तर है केवल अभिव्यक्ति का। 'अव्यवहार राशि' की आत्माओ मे चेतना की केवल एक रश्मि प्रकट होती है। वह है स्पर्श-बोध। हमारे जागतिक व्यवहार का प्रारम्भ वाणी से होता है। वाणी नही तो व्यवहार नही, वाणी है तो व्यवहार है। हमने जैसे ही 'अव्यवहार राशि' को पार कर 'व्यवहार राशि' मे प्रवेश किया वैसे ही हमे सर्वप्रथम भाषा की उपलब्धि हुई, रसनेन्द्रिय का विकास हुआ। उस रसनेन्द्रिय ने स्वादानुभूति और भाषा—दोनो का कार्य सम्भाला। चेतना की दूसरी रश्मि, दूसरी किरण फूट पडी। हमने बोलना आरम्भ किया और स्वाद का अनुभव किया। हम व्यवहार के जगत् मे आ गए। हम अपनी चेतना को प्रकट करने की स्थिति मे आ गए। 'व्यवहार राशि' मे हम चेतना को प्रकट नही कर पा रहे थे। जैसे ही हम 'व्यवहार राशि' के जगत् मे आए वैसे ही हमने यह जानना शुरू कर दिया कि हमारा भी अस्तित्व है। हम भी है। अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए वाणी मुखर हो गयी। हम दो इन्द्रियवाले हो गए।

अब हमारे लिए विकास का स्रोत खुल गया। हमने सामाजिक जगत् को निकट से जानना प्रारम्भ किया। हमे चेतना की एक किरण और मिली। उससे हमने गन्ध का अनुभव किया। हम तीन इन्द्रिय वाले हो गए। हमने सूघकर बाह्य जगत् से सम्बन्ध स्थापित करना सीख लिया। हमने अनुभव किया कि फूलो मे गध होती है। केवल फूलो मे ही नही, मनुष्य मे भी गध होती है। इस जगत् की कोई वस्तु ऐसी नही, जिसमे गध न हो।

हम और आगे चले। चेतना की चौथी किरण प्रस्फुटित हुई। उसके द्वारा हमने अपने जगत् को देखा। रग को देखा, रूप को देखा। हम चकित रह गए। कितनी वस्तुए! कितने रूप! कितने आकार और कितने प्रकार! हम चार इद्रिय वाले हो गए।

हमारा विकास-क्रम और आगे बढा। हमे श्रोत्र की उपलब्धि हुई। हमने सुनना प्रारम्भ किया। व्यवहार जगत् के पहले चरण मे हमने बोलना अर्थात् सुनना शुरू किया और चौथे चरण मे सुनना शुरू कर दिया। इस चरण मे हमने शब्द का दान और आदान—दोनो प्रारम्भ कर दिए। अब हमारा व्यवहार-जगत् के साथ पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो गया। हम पाच इन्द्रिय वाले भी हो गए। हमारी चेतना की खिडकिया खुल गयी, पाचो रश्मिया प्रस्फुटित हो गयी।

चेतना के सूर्य की अनन्त रश्मिया है। उनमे से पाच रश्मिया हमे उपलब्ध हो गयी। हमारे केन्द्र मे प्रकाश ही प्रकाश है। उस पर एक आवरण पडा है जो प्रकाश

चित्रकार एकत्रित हुए। राजा ने कहा, 'राज्य-मुद्रा बनानी है। इसमें बाग देते हुए मुर्गे का चित्र होगा। ऐसा जीवन्त चित्र बनाओ जिसमें मुद्रा की श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। सर्वश्रेष्ठ चित्र पुरस्कृत किया जाएगा।' चित्रकार बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा की सब शर्तों को स्वीकार कर लिया। कुछ दिन बाद वे चित्र बनाकर लाये और राजा के सामने प्रस्तुत किए। राजा ने देखा और प्रसन्न हुआ। उसे चित्र बहुत अच्छे लगे। उसने सोचा, 'मैं कोई कलाकार तो हूं नहीं। किस चित्र को प्राथमिकता दी जाए, इसका निर्णय कौन करे?' राजा ने सोच-विचारकर एक बूढ़े चित्रकार को बुलाया। किसी समय वह राज्य का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार था। किन्तु अब बूढ़ा हो चला था। राजा ने कहा, 'इन चित्रों में कौन प्रथम है, इसका निर्णय करो।' चित्रकार सारे चित्रों को ले गया। दूसरे दिन आकर बोला, 'महाराज! मुद्रा में देने लायक एक भी चित्र नहीं है। सब बेकार है।' 'यह कैसे कहते हो? चित्र बहुत सुन्दर हैं।'—राजा ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा। चित्रकार बोला, 'सुन्दर तो हैं। किन्तु आपने कहा था जीवन्त चित्र होना चाहिए। इनमें जीवन्त चित्र एक भी नहीं है।' राजा कठिनाई में पड़ गया। 'राज्य के सारे मूर्धन्य कलाकार आ गए। उनका एक भी चित्र पसन्द नहीं आया तो फिर तुम बनाओ!' राजा ने कहा। चित्रकार बोला, 'मैं बूढ़ा हो गया हूं, कैसे बनाऊं? फिर भी यदि आप चाहते है तो मैं चित्र बनाऊंगा, पर मुझे तीन वर्ष का समय चाहिए।' 'तीन वर्ष का समय?' राजा ने विस्मय के साथ पूछा। चित्रकार ने कहा, 'श्रेष्ठता साधना के बिना प्राप्त नहीं होती। तात्कालिकता काम-चलाऊ हो सकती है, किन्तु वह श्रेष्ठता का सृजन नहीं कर सकती।'

चित्रकार तीन वर्ष की अवधि लेकर वहां से चला गया। छह मास बीत गए। चित्रकार कभी राजा से मिला ही नहीं। राजा ने उसके कार्य की जानकारी लेने के लिए अपने विश्वस्त कर्मचारी को भेजा। वह चित्रकार के घर गया। वह घर में नहीं मिला। खोजते-खोजते वह जंगल में गया। उसने देखा, वहां एक बाड़ा है। उसमें पचासों मुर्गे हैं। बूढ़ा चित्रकार मुर्गों के बीच में बैठा है। राजा के कर्मचारी ने पूछा, 'क्या चित्र बन गया?' बूढ़ा बोला, 'चित्र बना रहा हूं।'

'कब तक बनेगा?'

'अभी ढाई वर्ष लगेंगे।'

ढाई वर्ष बीत गए। राजा ने फिर जांच करवाई। चित्रकार को बुलाकर कहा, 'चित्र लाओ।'

'चित्र अभी बना नहीं है।'

'तीन वर्ष बीत गए, फिर चित्र क्यों नहीं बना? अब तक क्या किया?'

'क्या किया, यह बताऊं?'

'मैं अवश्य जानना चाहूंगा।'

राजसभा मे चारो ओर मुर्गे की आवाज होने लगी। इधर-उधर मुर्गा दौडने लगा। सभासदो ने देखा, यह कैसा आदमी ? यह तो मुर्गा है। वही भापा, वही व्यवहार और वही आचरण। राजा ने कहा, 'यह क्या करते हो ?' 'महाराज ! तीन वर्षो मे मैंने क्या किया, वह बता रहा हू। मैं मुर्गा हो गया हू।'

'मुझे तुम्हे मुर्गा नही बनाना है, मुझे मुर्गे का चित्र चाहिए।'

'मुर्गा बने बिना मुर्गे का चित्र नही बना सकता।'

'तो तुम मुर्गा बन गए ? अब चित्र लाओ।'

'चित्र बनाने मे क्या कठिनाई है। आधा घटे का काम है। तूलिका लाओ, रग लाओ, कागज लाओ, अभी चित्र तैयार कर देता हू।'

सारी सामग्री लायी गयी, और देखते-देखते चित्र तैयार हो गया।

राजा ने पूछा, 'क्या यह जीवन्त चित्र है ?'

'महाराज ! हा।'

'इसकी कसौटी क्या है ? वे जीवन्त क्यो नही थे और यह जीवन्त क्यो है ?'

चित्रकार ने एक मुर्गा मगाया। पहले के चित्रो को रखा और उनके सामने मुर्गे को छोडा। मुर्गा चित्रो के सामने गया और मुह फेरकर लौट आया। सबके बाद अपना चित्र रखा। उसे देखते ही मुर्गा सक्रिय हो गया। लडने की मुद्रा मे आ गया। उसने चित्र के मुर्गे पर आक्रमण कर दिया। चित्रकार बोला—

'महाराज ! यह जीवन्त चित्र है। मुर्गा मुर्गे से लड रहा है।'

'इतना जीवन्त चित्र ! इतनी जल्दी कैसे बनाया तुमने ?' राजा ने पूछा।

चित्रकार ने कहा, 'महाराज ! मैंने तीन वर्प का समय मुर्गा बनने मे लगाया। अगर मैं मुर्गा नही बनता तो जीवन्त मुर्गा नही बना पाता !'

जो स्वय देवता नही होता, वह देवता की पूजा नही कर सकता। कोई मनुष्य देवता होकर ही देवता की पूजा कर सकता है। परमात्मा की उपासना किए बिना आत्मा परमात्मा नही हो सकती। परमात्मा की उपासना मे लम्बा समय लगता है, परमात्मा होने मे लम्बा समय नही लगता। जो परमात्मा को नही देखता, वह कभी परमात्मा नही बन सकता।

आत्मा के विकास की सीमा है। चेतना के सूर्य की अनन्त रश्मियो मे से कुछेक रश्मिया उसमे प्रकट होती हैं। शेप सारी परदे के पीछे रहती हैं। दूसरी सीमा यह है कि शक्ति के अनन्त स्रोतो मे से कुछेक स्रोत उसमे प्रवाहित होते हैं। तीसरी सीमा यह है कि उसका आनन्द विकृत रहता है। वह आनन्द को खोजती है— वस्तुओ मे, शब्दो मे और वातावरण मे। भीतर मे आनन्द का अक्षय कोष होता है। उसकी ओर भी ध्यान नही जाता। क्या खाना कोई आनन्द है ? आपके शरीर पर कोई फोडा हो रहा है। उस पर मरहमपट्टी की जा रही है। क्या फोडे पर मरहमपट्टी करना कोई आनन्द है ? फोडे पर मरहमपट्टी करने मे थोडे आनन्द का अनुभव

को वाहर की ओर जाने से रोक रहा है। जैसे-जैसे उस लोहावरण को हटाकर हम आगे वढते है, वैसे-वैसे हमारी चेतना की रश्मिया प्रकाश देने लग जाती है। एक वार विकास का क्रम प्रारम्भ होता है, वह रुकता नही। वह आगे से आगे वढता चला जाता है। हमारे विकास का क्रम आगे वढा, हमने एक दरवाजा खोल लिया। पहले खिडकिया खुली थी और अव एक दरवाजा खुल गया। हम मनवाले प्राणी हो गए। मन वहुत वडा दरवाजा है। इन्द्रिय छोटी खिडकिया है। मैं देखता हू। मेरे सामने एक आदमी वैठा है। आख ने देखा। उसका काम पूरा हो गया। यह पहले क्या था ? आख नही जानती। वाद मे क्या होगा—यह भी नही जानती। मन का काम पहले-पीछे को जानना भी है। वह भूत और भविष्य को भी जानता है। इन्द्रिया केवल वर्तमान को जानती है। मन भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनो को जानता है। इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त जानकारी का सकलन करना मन का काम है। उसके विना पृथक्-पृथक् जाने हुए ज्ञान का सकलन नही हो सकता। १, १, १—प्रत्येक अक के अर्ध-विराम लगाते चले जाइए, प्रत्येक अक अलग रहेगा। अर्ध-विराम के हटने पर ही वे ग्यारह या एक सौ ग्यारह वन सकते हैं। यह जोड मन का काम है। वह अतीत की घटना से निष्कर्ष निकालता है, वर्तमान को वदलता है और भविष्य को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है। वह अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना करता है। यदि स्मृति और कल्पना नही होती तो हमारी दुनिया वहुत छोटी होती। हमारी दुनिया का विस्तार स्मृति और कल्पना के आधार पर हुआ है।

मन और वुद्धि का विकास होने पर मनुष्य ने सोचा—'मैं कौन हू ? मेरे सामने है वह कौन है ?' अस्तित्व की खोज शुरू हो गयी। उस खोज ने हमे आत्मा और परमात्मा की चर्चा तक पहुचा दिया। जव मन और वुद्धि हमारे साथ नही थे तव आत्मा और परमात्मा की कोई चर्चा नही थी। वह चर्चाहीन जगत् था। चर्चा के जगत् मे हमने प्रश्न पूछे, अपने से कम दूसरो से अधिक। उनके उत्तर मिले, अपने से कम दूसरो से अधिक। हमारी चेतना इतनी विकसित नही हुई कि हम अध्यात्म की गहराई मे जाकर अपने आप से पूछे और अपने आप उसका समाधान पा जाए। समाधान का सही उपाय है अपने आप मे पूछना। जो मनुष्य अपने आप मे समाधान खोजता है, उसे वह मिल जाता है। जो दूसरे से समाधान लेना चाहता है, उसका मार्ग वहुत जटिल है।

एक युवक वोधिधर्म के पास गया। वे वहुत वडे साधक थे। युवक ने पूछा, 'भते ! मैं कौन हू ?' वोधिधर्म ने एक चाटा मारा और भर्त्सना के स्वर मे कहा, 'चले जाओ, मूर्ख !' युवक विस्मय मे डूव गया। इतना वडा साधक, इतना वडा ज्ञानी और मैंने छोटा-सा प्रश्न पूछा और उसका उत्तर मिला चाटा। वह दूसरे साधक के पास जाकर वोला, 'भते ! मैंने वोधिधर्म से पूछा कि मैं कौन हू। उन्होने

उत्तर नही दिया, मुझे चाटा मारा।' साधक ने कहा, 'वोधिधर्म ने तुम्हे चाटा मारा और यदि वही प्रश्न मुझसे पूछते तो मैं डडा मारता।' वह कुछ समझ नही पाया, परेशान होकर चला गया। दूसरे दिन युवक फिर वोधिधर्म के पास गया। उसने कहा, 'भते! मैंने आपसे प्रशन पूछा था। आपने उसका कोई उत्तर नही दिया और चाटा मारा। क्या उत्तर देने का यह भी कोई तरीका है ? भते ! आपने यह क्या किया ?' वोधिधर्म ने कहा, 'इस प्रश्न को मत छेडो। यदि छेडोगे तो कल चाटा पडा था आज कुछ और पड सकता है।' युवक घवरा गया। वह भर्राए स्वर मे वोला, 'भते ! तो मैं क्या करू ?' वोधिधर्म वोले, 'तुम मूर्ख हो।' 'मैं मूर्ख कैसे ?' युवक ने पूछा। वोधिधर्म ने कहा, 'जो वात अपने से पूछनी चाहिए वह वात तुम दूसरे से पूछ रहे हो। इसलिए तुम मूर्ख हो। जाओ, यह प्रश्न अपने आप से पूछो कि मैं कौन हू ?' वात समाप्त हो गयी। युवक का समाधान हो गया।

हमारी दुनिया वडी विचित्र है। जो वात अपने मे पूछनी चाहिए वह दूसरो से पूछते हैं और जो दूसरो से पूछनी चाहिए वह अपने से पूछते हैं। दूसरो से पूछना चाहिए, 'तुम कौन हो ?' वह हम अपने आप से पूछते हैं। अपने आप से पूछना चाहिए कि 'मैं कौन हू ?' उसे हम दूसरो से पूछते हैं। 'मैं कौन हू ?'—इसका उत्तर मैं दूसरो से चाहता हू, इसीलिए उसका उत्तर नही मिलता और तव तक नही मिल सकता जव तक उसके उत्तर की खोज वाहरी जगत् मे चलेगी। 'मैं कौन हू ?'—इसका उत्तर पाने के लिए हमने एक चरण आगे वढाया और हम चेतना को वाहर से भीतर की ओर ले गए। वहा हमे अपने अस्तित्व का अनुभव हो गया। हमारी इन्द्रिया, वाणी और मन—ये चेतना को वाहर की ओर ले जा रहे थे। हमे वाह्य-दर्शन हो रहा था। प्रज्ञा ने चेतना को भीतर की ओर मोडा तो हमे आत्म-दर्शन होने लगा। हमारी वहिरात्मा की यात्रा समाप्त हो गयी और अन्तरात्मा की यात्रा प्रारम्भ हो गयी। चेतना की रश्मियो को मूल चेतना के साथ जोडने का प्रस्थान शुरू हो गया। अव आत्मा और परमात्मा के वीच का एक सेतु निर्मित हो गया। इस पार आत्मा और उस पार परमात्मा। दोनो के वीच का सेतु हो गया अन्तरात्मा।

'जो मनुष्य परमात्मा होना चाहता है उसे परमात्मा को जानना-देखना होता है। जो अर्हत् को जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है। जो अर्हत् को नही जानता वह अपनी आत्मा को भी नही जानता।' आचार्य कुन्दकुन्द का यह साधना-सूत्र परमात्मा होने का मूल्यवान् सूत्र है। साधारणतया कहा जाता है कि पहले आत्मा को जानो, फिर परमात्मा को जानो। वास्तविकता यह है कि पहले परमात्मा को जानो, फिर आत्मा को जानो। परमात्मा को जाने विना आत्मा को नही जाना जा सकता।

एक पुरानी कहानी है। राजा ने चित्रकारो को आमन्त्रित किया। देश भर के

होता है। कुछ आराम मिलता है। ये पेट के फोडे कुलबुलाने लगते हैं, यह जठराग्नि कष्ट देने लगती है, तब आदमी थोडा-सा भीतर डाल देता है। वे शान्त हो जाते है। आदमी सोचता है, बहुत आनन्द मिला। यह आनन्द है या फोडे का इलाज? शरीर को खुजलाने मे आनन्द का अनुभव होता है। भला शरीर को खुजलाना भी कोई आनन्द है? हमारी सीमा बन गयी। जिसमे आनन्द नही है उसमे आनन्द खोजते हैं। जिसमे आनन्द नही है उसमे आनन्द पाने का प्रयत्न करते हैं।

आत्मा की तीन सीमाए हैं—

- ज्ञान का आवरण।
- शक्ति का स्खलन।
- आनन्द की विकृति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर बढते हैं, उस दिशा मे हमारा प्रयाण होता है, वैसे-वैसे ये सीमाए टूटती चली जाती है। आवरण समाप्त होता चला जाता बादलो से ढका हुआ सूर्य प्रकट होने लग जाता है और एक दिन वह पूरा का प्रकट हो जाता है। यह है परमात्मा की स्थिति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर बढते हैं, वैसे-वैसे शक्ति के अवरोध समाप्त होते चले जाते हैं। वे ऊबड-खाबड भूमि मे होते हैं। समतल मे कोई अवरोध नही होता। समता के चरम बिन्दु पर पहुचते ही सारे गढे भर जाते है और शक्ति के सारे स्रोत प्रवाहित हो जाते है। यह है परमात्मा की स्थिति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर बढते हैं, वैसे-वैसे आनन्द का सागर लहरा उठता है। आवेश और एषणा के समाप्त होते ही विकृति के तूफान शान्त हो जाते हैं। आनन्द के सिंधु की ऊर्मिया आत्मा के चरण पखारने लग जाती हैं। यह है परमात्मा की स्थिति।

शिष्य ने पूछा, 'गुरुदेव! मैं परमात्मा कैसे बन सकता हू?'

गुरु ने उत्तर दिया, 'तुम परमात्मा बनना चाहते हो तो उसका ध्यान करो। उसे देखते रहो।' परमात्मा का ध्यान नही करने वाला कभी परमात्मा नही बन सकता। परमात्मा वही बन सकता है जो परमात्मा को देखता है, उसका मनन करता है, उसका चिन्तन करता है और उसमे तन्मय रहता है।

परमात्मा के प्रति होने वाली तन्मयता आत्मा मे छिपे हुए परमात्मा के बीज को अकुरित करती है और वे अकुर बढते-बढते स्वय परमात्मा बन जाते हैं।

सत्य की खोज : विसंवादिता का अवरोध

सत्य शाश्वत है। सत्यदर्शी उसका प्रवर्तन नही करता, व्याख्या करता है। भगवान् महावीर सत्य के प्रवर्त्तक नही किन्तु व्याख्याता थे। उन्होंने दीर्घ तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया और भाषा की सीमा मे उसे अनावृत किया। उन्होंने देखा, सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, उसकी समग्रता का प्रतिपादन नही किया जा सकता। प्रतिपादन सत्याश का ही किया जा सकता है। ज्ञान अपने लिए होता है और प्रतिपादन दूसरो के लिए। ज्ञान अपने-आप मे प्रत्यक्ष होता है। ज्ञेय को जानते समय वह प्रत्यक्ष भी होता है और परोक्ष भी होता है। वह अपने आप मे न प्रमाण होता है और न अप्रमाण। ज्ञेय को जानते समय वह प्रमाण भी होता है और अप्रमाण भी होता है। सशयित और विपर्यस्त ज्ञान अप्रमाण होता है। निर्णयात्मकज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान-विकास की तरतमता, स्वार्थ और परार्थ, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रामाण्य और अप्राण्माय—ज्ञान के इन विविध रूपो ने सत्य को विविध रूपो मे विभक्त कर दिया। सत्य सत्य ही है। वह मेरे लिए एक प्रकार का और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार का नही होता। फिर भी यह हो रहा है कि मैं जिसे सत्य मानता हू दूसरा उसे असत्य मानता है। दूसरा जिसे सत्य मानता है मैं उसे असत्य मानता हू। सत्य का यह विवादास्पद रूप मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। महावीर और बुद्ध भारत मे हुए, लाओत्से और कन्फ्यूशियस चीन मे। देश भिन्न हैं किन्तु काल भिन्न नही है। चारो सम-सामयिक हैं। व्यक्ति देश-काल से अविच्छिन्न हो सकता है किन्तु सत्य देशकाल से अविच्छिन्न नही होता। वह हर देश और हर काल मे एकरूप ही होता है। किन्तु महावीर को पढने वाला एक प्रकार के सत्य को पकड रहा है। बुद्ध को पढने वाला दूसरे प्रकार के सत्य को पकड रहा है। लाओत्से को पढने वाला तीसरे प्रकार के और कन्फ्यूशियस को पढने वाला चौथे प्रकार के सत्य को पकड रहा है। सत्य एकरूप, प्रतिपादन अनेकरूप और पकड उससे बहुत दूर। यह स्थिति एक सत्य-शोधक के मन मे यह प्रश्न पैदा करती है—क्या सत्य वास्तविक है या मृग-मरीचिका ? यदि वास्तविक है तो प्रतिपादन का भेद क्यो ? यदि मृग-मरीचिका है तो उसके लिए इतना प्रयत्न

क्यो ? इस प्रश्न ने बहुत लोगो को असत्य की दिशा मे ढकेल दिया जिनके चरण सत्य की दिशा मे बढने को तत्पर थे। महावीर ने इस प्रश्न को गम्भीरता से देखा। सत्य की दिशा मे बढने वाले पैरो को लडखडाते हुए देखा और देखा कि सत्याश सत्य पर आवरण डाल रहा है, असत्य को उजागर कर रहा है। उन्होंने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए अनेकान्त की स्थापना की और यह घोषणा की कि जो प्रतिपादन किया जाता है वह सत्य नही है, सत्याश है। सत्य का प्रतिपादन नही किया जा सकता। प्रतिपादन सत्याश का ही किया जा सकता। मैंने सत्य का साक्षात् किया है, किन्तु मैं उसका प्रतिपादन नही कर सकता। दूसरा कोई सत्य का साक्षात् कर सकता है किन्तु उसका प्रतिपादन नही कर सकता। वह अवक्तव्य है। वक्तव्य सत्याश हो सकता है। मैं एक सत्याश का प्रतिपादन करता हू, दूसरा दूसरे सत्याश का प्रतिपादन करता है। दोनो के सत्याश भिन्न हो सकते हैं और होते हैं। यह सत्य का भेद नही। यह सत्य का विभाजन नही। यह अपेक्षा-भेद से प्रतिपादित सत्याश का भेद है। मैं किसी एक सत्याश का प्रतिपादन अपेक्षित समझता हू तो दूसरा किसी दूसरे सत्याश का प्रतिपादन अपेक्षित समझता है। यह वाणी की क्षमता का भेद है। शब्द मे इतनी ही क्षमता है कि वह एक क्षण मे सत्य के अनन्त पर्यायो (अशो) मे से एक ही पर्याय का प्रतिपादन कर सकता है और समूची भाषा सत्य के कुछेक पर्यायो का प्रतिपादन कर सकती है। किसी भी भाषा ने सत्य के हजारो पर्यायो से अधिक पर्यायो को अभिव्यक्ति नही दी है और भविष्य मे भी नही दे पाएगी। कोई भी मनुष्य अपने जीवन मे सत्य के हजारो पर्यायो से अधिक पर्यायो को अभिव्यक्ति नही दे पाता। फिर इस तर्क का क्या अर्थ है कि यह सर्वज्ञ का वचन है। यह सत्य के साक्षात् द्रष्टा का वचन है। क्या सर्वज्ञ या सत्य का साक्षात् द्रष्टा सम्पूर्ण सत्य को कह सकता है ? यदि कह सके तो सत्य अनन्त नही हो सकता, शाश्वत नही हो सकता। और यदि नही कह सके तो वह सत्याश ही कह सकेगा। सत्याश को पूर्ण सत्य मानकर हम सत्य की खोज के द्वार को बन्द नही कर सकते। अनेकान्त के सिद्धान्त ने सत्य की खोज के द्वार को सदा के लिए, सबके लिए खोल दिया। उसका प्रतिपाद्य है, 'सत्य की खोज मैं भी कर सकता हू, तुम भी कर सकते हो। उसका साक्षात्कार भी हम सब कर सकते हैं।' हमारे पूर्वजो,ने सत्य की खोज की, उसका साक्षात् किया और प्रतिपादन भी। सत्य की खोज और साक्षात्कार उनका अपना विषय है और प्रयिपादन हमारे लिए है। हम उनके प्रतिपादन को ही मानकर चले, सत्याश के द्वारा ही सत्य को समझने का प्रयत्न करें, इससे बडा असत्य कोई नहीं हो सकता। सत्याश के द्वारा सत्य को नहीं समझा जा सकता। उनके द्वारा सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है किन्तु सत्य तो अपनी साधना के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है।

अनेकात ने उस साधना का पथ प्रस्तुत किया है। वह है ऋजुता, अनाग्रह।

महावीर ने कहा, 'सत्य उसे उपलब्ध होता है जो ऋजु है। वह जो जैसा है उसे उसी रूप मे स्वीकार करता है, यथार्थ को अपने पूर्वाग्रह के साचे मे ढालने का प्रयत्न नही करता, वस्तु-सत्य के दर्पण को अपनी रुचि और सस्कार के फ्रेम मे मढने का प्रयत्न नही करता, वस्तु-सत्य के विरोधी और विसगत प्रतीत होने वाले पर्यायो मे अपने तर्क-बल से सामजस्य और सगति स्थापित करने का प्रयत्न नही करता। यह ऋजुता की साधना है, झुकाव-शून्यता की साधना है, विचार-शून्यता की साधना है। ऋजु व्यक्ति न महावीर के प्रति झुकाव रखता है और न किसी दूसरे के प्रति। उसका मन और मस्तिष्क खाली होता है, शून्य होता है। महावीर ने कहा वह सत्य है या लाओत्से ने कहा वह असत्य है, ऐसा भाव उसमे नही होता। वह महावीर के सत्याश को महावीर के देश, काल, अपेक्षा और परिस्थितियो के सदर्भ मे समझने का प्रयत्न करता है। लाओत्से के सत्य को उनके देश, काल, अपेक्षा और परिस्थितियो के सदर्भ मे समझने का प्रयत्न करता है और सत्य की उपलब्धि के लिए अपनी साधना को आगे बढाता है। सत्य की खोज के मार्ग में जितने प्रश्न, जितनी समस्याए और जितनी उलझनें हैं वे सब एकान्तवादी लोगो ने उत्पन्न की हैं। एक एकान्तवादी व्यक्ति 'क' के सत्याश को पूर्ण सत्य मानकर 'ख' के सत्याश को असत्याश बतलाता है तो दूसरा व्यक्ति 'ख' के सत्याश को पूर्ण सत्य मानकर 'क' के सत्याश को असत्याश बतलाता है। इस प्रकार वे एक-दूसरे के सत्याश को असत्याश बतलाकर सत्य की खोज मे प्रश्न पैदा करते हैं। वे यथार्थ को यथार्थ रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार नही हैं। वे वचन-प्रामाण्य या शास्त्र-प्रामाण्य से ही सत्य को उपलब्ध करना चाहते है। उसके लिए ऋजुता या विचार-शून्यता की साधना करना नही चाहते। ऐसे ही लोगो ने सत्याशो मे विरोधाभास दिखलाकर सत्य की अनेकरूपता और सत्यदर्शी तपस्वियो की परस्पर विसवादिता के प्रश्न को उजागर किया है।

प्रत्ययवाद और वस्तुवाद

हमारे सामने दो जगत् है—परम अस्तित्व और अपर अस्तित्व। प्रत्ययवादी (या आदर्शवादी) दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक नही मानते। उनके मतानुसार चेतना से वाहर कुछ नही है। भारतीय दार्शनिको मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वेदान्त ने किया। पश्चिमी दार्शनिको मे इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कान्ट, फिक्ट, शेलिंग, हेगेल, ग्रीन, जेम्स वार्ड आदि दार्शनिक हैं।

वस्तुवादी दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं। उनके मतानुसार अपर अस्तित्व चेतना निरपेक्ष है, स्वतत्र है। भारतीय दार्शनिको मे सांख्य, वैशेषिक और वौद्ध दर्शन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पश्चिमी दार्शनिको मे रीड, हैमिल्टन, वर्ट्रेण्ड रसेल आदि दार्शनिक इसके प्रतिपादक हैं।

जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनो सत्याशो की सापेक्ष व्याख्या की है। उस व्याख्या का पहला सूत्र प्रत्ययवादी धारणा मे सशोधन प्रस्तुत करता है। चेतना से वाहर कुछ नही है, इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक सगत हो सकता है कि अस्तित्व से वाहर कुछ नही है। अस्तित्व को एक इकाई वनाया जा सकता है, किन्तु चेतना को एक इकाई नही वनाया जा सकता। अस्तित्व मे चेतन और अचेतन—दोनो का समाहार हो सकता है, किन्तु चेतन मे अचेतन का समाहार नहीं हो सकता। चेतन और अचेतन यह दो की स्वीकृति प्रत्ययवाद को वस्तुवाद मे वदल देती है। अचेतन को चेतना का प्रतिविम्व मानने मे अनेक जटिलताए उत्पन्न होती हैं। अस्तित्व की एकता मे कोई जटिलता नही है। चेतना विभाजक गुण है। वह चेतन को अचेतन से पृथक् करती है। 'सामान्य' सयोजक गुण है। वह सव द्रव्यो मे समानरूप से व्याप्त रहता है। इसलिए वह एकता का अन्तिम विन्दु है। उस पर पूर्ण अद्वैत का सिद्धान्त फलित होता है। अत प्रत्यय-वादी दृष्टिकोण भी सत्याश है।

'है' (सत्) परम अस्तित्व है। 'अमुक है'—यह अपर अस्तित्व है। परम अस्तित्व मे कोई विभाजन नही है, न द्रव्य और न पर्याय। अपर अस्तित्व मे विभाजन होता है। उसकी सीमा मे द्रव्य है और उसके अनेक प्रकार हैं। पर्याय है

और वे अनन्त है। द्रव्य मे दो प्रकार के गुण समन्वित होते हैं—सामान्य और विशेष। ये एक-दूसरे से कभी पृथक् नही होते। सामान्यशून्य विशेष और विशेष-शून्य सामान्य कही भी उपलब्ध नही होता। सामान्य गुण द्रव्य के अस्तित्व को बनाए रखता है किन्तु उसकी विशेषता का अपहरण नही करता। विशेष गुण द्रव्य की स्वतत्रता को बनाए रखता है किन्तु उसके अस्तित्व मे कोई भी बाधा उपस्थित नही करता।

जब हम सामान्य दर्शन की धारा मे होते है तब हम परम अस्तित्व को देखते है और जब हम विशेष दर्शन की धारा मे होते हैं,तब हम अपर अस्तित्व को देखते हैं। यह परम अस्तित्व और अपर अस्तित्व का विभाजन नही किन्तु हमारे दर्शन का विभाजन है। हम एक साथ दोनो को नही देख सकते, इसलिए जगत् को कभी सामान्य के कोण से देखते है और कभी विशेष के कोण से। सामान्य के कोण से देखने पर परम अस्तित्व का सत्याश उपलब्ध होता है और विशेष के कोण से देखने पर अपर अस्तित्व का सत्याश उपलब्ध होता है। इस सापेक्ष व्याख्या मे न प्रत्ययवाद वस्तुवाद का विरोधी है और न वस्तुवाद प्रत्ययवाद का। प्रत्ययवाद का ध्येय है—केवल चैतन्य की वास्तविक सत्ता स्थापित करना और वस्तुवाद का ध्येय है—चैतन्य से वस्तु की स्वतत्रता स्थापित करना।

ज्ञेय ज्ञाता से स्वतत्र है। यदि वह ज्ञाता से स्वतत्र न हो तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नही हो सकता। सम्बन्ध दो मे स्थापित होता है। एक मे कोई सम्बन्ध नही होता। ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर नही है। ज्ञाता के जानने के क्षणो मे वह निर्मित नही होता और ज्ञाता के न जानने के क्षणो मे वह विलुप्त नही होता। प्रत्ययवादियो का तर्क है—ज्ञेय स्वतत्र हो तो उसका अनुभव सबको समान होना चाहिए, किन्तु वैसा नही होता। एक ही वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपो मे जानते-देखते हैं। इस भेद के कारण हमारे मन मे है। यह तर्क बहुत गभीर नही है। हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। इसलिए एक वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपो मे जानते-देखते हैं। देश, काल, वातावरण, रुचि, पूर्व-मान्यता, झुकाव, मन की ग्रहणशक्ति का तारतम्य आदि मिलकर सापेक्षता का निर्माण करते हैं। इस सापेक्षदृष्टि से वस्तुवादियो का यह सत्याश समर्थित होता है कि वस्तु की सत्ता हमारे मन मे नही है। बर्ट्रेण्ड रसेल की यह उक्ति महत्त्वपूर्ण है कि 'वृक्ष हमारे मन मे नही है। वृक्ष का विचार मन मे है, किन्तु वृक्ष नही।'

वस्तु की सत्ता मन से स्वतत्र होने पर भी उसमे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध हो सकता है। एफ० सी० एस० शिलर ने प्रत्ययवादी होते हुए भी इसे स्वीकृति दी है। उनका अभ्युपगम है कि जिस प्रकार वस्तु के लिए मन की आवश्यकता है उसी प्रकार मन को मनन करने के लिए वस्तु की आवश्यकता है। अनेकान्त दर्शन ने जात्यन्तर के सिद्धान्त की स्थापना की। उसका तात्पर्य यह है कि भेद और

अभेद जैसा स्वतत्र गुण कोई नही है। जहा भेद है वहा अभेद है और जहा अभेद है वहा भेद है। भेदाभेद ही वास्तविक है। ज्ञाता ज्ञेय से सर्वथा भिन्न नही है। यदि वह ज्ञेय से सर्वथा भिन्न हो तो उनमे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नही हो सकता। यदि वह सर्वथा अभिन्न हो तो भी उनमे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नही हो सकता। वे भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर नही है, इसलिए वे स्वतत्र है। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध परस्पराश्रित है, इसलिए वे परस्पराधीन हैं। शेलिंग[1] का यह तर्क—'विषयो की सिद्धि पर उनकी ज्ञाता आत्मा की सिद्धि और ज्ञाता की सिद्धि पर उसके ज्ञेय विषयो की सिद्धि निर्भर है, अर्थपूर्ण नही है। मूल आधार अस्तित्व है। ज्ञाता और ज्ञेय एक सम्बन्ध है। अस्तित्व होने पर सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध से अस्तित्व नही होता। 'होना' और 'सिद्ध होना'—दोनो एक बात नही है। परमाणु के सिद्ध होने से पूर्व वह नही था यह नही माना जा सकता। सिद्धि ज्ञान के विकास पर निर्भर है। किन्तु अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नही है। उसकी निर्भरता अपने मौलिक गुणो पर है।

हम केवल पौद्गलिक वस्तु को ही नही जानते, चेतन द्रव्य को भी जानते हैं। ज्ञाता चेतन ही होता है, किन्तु ज्ञेय चेतन और अचेतन—दोनो हो सकते हैं। जैसे पौद्गलिक वस्तु ज्ञान से स्वतत्र है वैसे ही एक आत्मा से दूसरी आत्माए स्वतत्र हैं। आत्माए अनेक है। इसलिए जो आत्मा दूसरो का ज्ञान करते समय ज्ञाता होती है वही दूसरी आत्मा के द्वारा ज्ञेय हो जाती है। पौद्गलिक वस्तु मे केवल ज्ञेय धर्म होता है, किन्तु आत्मा मे ज्ञाता और ज्ञेय—ये दोनो धर्म होते हैं। महान् दार्शनिक कान्ट का यह वाक्य—'विचार को वस्तु नही बनाना चाहिए' जितना सत्य है उतना ही यह सत्य है कि 'वस्तु को विचार नही बनाना चाहिए'। अनेकान्तवाद ने विचार और वस्तु—दोनो की सापेक्ष व्याख्या की है। परम अस्तित्व के जगत् मे विचार और वस्तु का भेद नही है। अपर अस्तित्व के जगत् मे विचार से वस्तु भिन्न है। प्रत्ययवादी शेलिंग ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा और अनात्मा एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। एक की स्थिति दूसरे के बिना नही हो सकती।[2] इस स्वीकार को अनेकान्तवाद का समर्थन मिलता है। उसके अनुसार जो सत् है वह प्रतिपक्ष सहित होता है। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष की सिद्धि नही हो सकती। इस स्थिति मे वस्तुवाद भी सत्याश है। प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्याश हो जाते हैं और परस्पर सापेक्ष होकर सत्याश बन जाते हैं। परम अस्तित्व की स्वीकृति के बिना वस्तु और उसके पारस्परिक सम्बन्धो के मूल आधार की व्याख्या नही की जा सकती। वस्तु की स्वतत्रता की स्वीकृति के बिना विशिष्ट गुणो की व्याख्या नही की जा सकती। इन दोनो की सामजस्यपूर्ण व्याख्या परम अस्तित्व और वस्तु की स्वतत्रता की सापेक्ष स्वीकृति के द्वारा ही की जा सकती है।

१ पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास, पृष्ठ १७५। २ पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास, पृष्ठ १८१।

परिणामि-नित्य

आधी चल रही है। उसमे जितनी शक्ति आज है, उतनी ही कल होगी, यह नही कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नही है और जो आज है उसका आने वाले कल मे होना जरूरी नहीं है। इस दुनिया मे एकरूपता के लिए कोई अवकाश नही है। जिसका अस्तित्व है, वह वहुरूप है। जो वाल आज सफेद हैं वे कभी काले रहे हैं। जो आज काले हैं, वे कभी सफेद होने वाले हैं। वे एकरूप नहीं रह सकते। केवल वाल ही क्या, दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नही रह सकती। जैन दर्शन ने अनेकरूपता के कारणो पर गहराई से विचार किया है, अन्तर्वोध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के वाद एक सिद्धान्त की स्थापना की। उसका नाम है—'परिणामि-नित्यत्ववाद'।

इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य नही हैं। कोई भी तत्त्व सर्वथा अनित्य नही है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनो धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणमन-शून्य नही होता और परिणमन ध्रुव-शून्य नही होता। इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप मे उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप मे वदल जाता है। इस अवस्था मे प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनो परिणमन के आधार वनते है और ध्रौव्य उनका अन्वयीसूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति मे भी रहता है और व्यय की स्थिति मे भी रहता है। वह दोनो को अपने साथ जोडे हुए है। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली वार ही नही हो रहा है और जो नष्ट हो रहा है वह भी पहली वार ही नही हो रहा है। उससे पहले वह अनगिन वार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अस्तित्व का सृजन नही हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नही हुआ। ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता मे कोई अन्तर नही आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नही होती। इस विन्दु को पकडने वाले 'कूटस्थ नित्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। अस्तित्व के समुद्र मे होने

वाली ऊर्मियो को पकडने वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन ने इन दोनो को एक ही धारा मे देखा, इसलिए उसने परिणामि-नित्यत्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

भगवान् महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या परिणामि-नित्यत्ववाद के आधार पर की। उनसे पूछा, 'आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य?' उन्होंने एक ही उत्तर दिया, 'अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। इस अपेक्षा से वे नित्य है। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नही होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं। समग्रता की भाषा मे वे न नित्य हैं और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य हैं।

तत्त्व मे दो प्रकार के धर्म होते है—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्त्व की स्थिति और क्रमभावी धर्म उसकी गतिशीलता के सूचक होते हैं। सहभावी धर्म 'गुण' और क्रमभावी धर्म 'पर्याय' कहलाते है। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नही हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थनित्यवादियो से पूछा, 'पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा? कहा देखा? कब देखा? किस रूप मे देखा? कोई बताए तो सही।' उन्होने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियो से पूछा कि वे बताए तो सही कि द्रव्य-शून्य पर्याय किसने देखा? कहा देखा? कब देखा? किस रूप मे देखा? अवस्थाविहीन अवस्थावान् और अवस्थावान्‌विहीन अवस्थाए—ये दोनो तथ्य घटित नही हो सकते। जो घटना-क्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थायी तत्त्व है। घटना-क्रम उसी मे चल रहा है। वह उससे बाहर नही है। तालाब मे एक ककर फेंका और तरगे उठी। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शान्त था, वह क्षुब्ध हो गया, तरगित हो गया। तरग जल मे है। जल से भिन्न तरग का कोई अस्तित्व नही है। जल मे तरग उठती है इसलिए हम कह सकते हैं कि तालाब तरगित हो गया। तरगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान् मे घटित होती है। जलाशय नही है तो जल नही है। जल नही है तो तरग नही है। तरग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरग न हो—ऐसा भी नही हो सकता। जल का होना तरग होने के साथ जुडा हुआ है। जल और तरग—दोनो एक-दूसरे मे निहित हैं—जल मे तरग और तरग मे जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य को कहा देख पाते हैं। हम देखते हैं पर्याय को। हमारा जितना ज्ञान है, वह पर्यायका ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मैं उसे नही जान सकता। मैं उसके अनेक पर्यायो मे मे एक पर्याय को जानता हू और उसके माध्यम से यह जानता हू कि यह मनुष्य है। जब आख से उसे देखता हूं तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायो के आधार पर उसे मनुष्य कहता हू। कान से उसका

शब्द सुनता हू, तव उसे शब्द पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हू। उसकी समग्रता को कभी नही पकड पाता। आम को कभी मैं रूप-पर्याय से जानता हू, कभी गध-पर्याय से और कभी रस पर्याय से। किन्तु सव पर्यायो से एकसाथ जानने आदि का मेरे पास कोई साधन नही है। आख जव रूप को देखती है तो गध और रस पर्याय नीचे चले जाते हैं। गध का पर्याय जव जाना जाता है तव रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के सन्दर्भ मे मैं कहता हू कि मैं द्रव्य को नही देखता हू, केवल पर्याय को देखता हू और पर्याय के आधार पर द्रव्य का वोध करता हू।

हमारा पर्याय का जगत् वहुत लम्वा-चौडा है और द्रव्य का जगत् वहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायो के वलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायो के पटल मे छिपा हुआ है। उसका वोध कर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञान के लिए सम्भव नही है।

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आन्तरिक व्यवस्था से होता है। प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणमन होता है, ऐसी वात नही है। परिणमन का क्रम निरन्तर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का एक आयाम है। वह परिणमन का आतरिक हेतु है। इसलिए प्रत्येक अस्तित्व मे व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमनशील रखता है। स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इन्द्रियो की पकड मे नही आता, इसीलिए अस्तित्व मे होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनो की इन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नही की जा सकती। जीव और पुद्गल के पारस्परिक निमित्तो से जो स्थूल परिवर्तन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते हैं और उसके कार्य-कारण की व्याख्या करते हैं। कोई आदमी वीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। विमारी नही, चोट नही, आघात नही और कोई मारने वाला भी नही, फिर भी वह मर जाता है। जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। मृत्यु एक परिवर्तन है। जीवन मे उसकी आतरिक व्यवस्था निहित है। मनुष्य जन्म के पहले क्षण मे ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण मे नही मरता, वह फिर कभी नही मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए, फिर उसकी मृत्यु नही हो सकती। वाहरी निमित्त से होने वाली मौत की व्याख्या वहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है। किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा मे होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते है।

किन्तु जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीवन और पुद्‌गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सृजन, विकास या प्रलय—जो कुछ भी घटित होना है, वह जीव और पुद्‌गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ मे घटित होता है। काल दोनो का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओ मे वाहरी निमित्त भी अपना योग देते है। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त—समग्र परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व मे स्वय सन्निहित है।

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक—दोनो स्तर पर होता है। पानी मे चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश मे वादल मडराए और एक विशेप अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कन्ध मिले और वादल वन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तित्व मे ही होते हैं। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते हैं, वे सब वैयक्तिक होते हैं। पाच अस्तिकाय (अस्तित्व) हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय मे स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्‌गल मे स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनो प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इनका स्वाभाविक परिवर्तन वैयक्तिक ही होता है। किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत् है वह सव इन दो द्रव्यो के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवो ने अपने शरीर के रूप मे रूपायित किया है। इसे इन शब्दो मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे है वह या तो जीवच्छरीर है या जीवो द्वारा त्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काय, प्रदेश राशि) होता है। पुद्‌गल को छोडकर शेप चार अस्तित्वो का प्रचय स्वभावत अविभक्त है। उसमे सघटन और विभाजन नही होता। पुद्‌गल का प्रचय स्वभाव से अविभक्त नही होता। उसमे सघटन और विघटन—ये दोनो घटित होते हैं। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओ के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप मे रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते हैं। वास्तविक अर्थ मे सामुदायिक परिणमन पुद्‌गल मे ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्‌गल ही है। जगत् के नानारूप उसी के माध्यम से निर्मित होते हैं। यह जगत् एक रगमच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तो वह पुद्‌गल ही है। वही विविध रूपो मे परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमे जीव का योग भी होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्‌गल ही है।

अस्तित्व मे परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसमे परिवर्तित होने की क्षमता नही होती, वह दूसरे क्षण मे अपनी सत्ता को वनाए नही रख सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण मे रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप मे परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण मे अपनी सत्ता को वनाए रख सकता है। एक परमाणु अनन्त-

गुना काला है। वही परमाणु एकगुना काला हो जाता है। जो एकगुना काला होता है, वह कभी अनन्तगुना काला हो जाता है। यह परिवर्तन वाहर से नही आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमे भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होता रहता है। अनन्त काल के अनन्त क्षणो और अनत घटनाओ मे किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व वनाए रखने के लिए अनत परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनत न हो तो अनतकाल मे वह अपने अस्तित्व को वनाए नही रख सकता।

अस्तित्व मे अनत धर्म होते हैं, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास मे घी है? इसका उत्तर होगा घास मे घी है, किन्तु व्यक्त नही है। क्या दूध मे घी है? दूध मे घी है, पर पूर्ण व्यक्त नही है। दूध को विलोया या दही वनाकर विलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य मे 'ओव' और 'समुचित'—ये दो प्रकार की शक्तिया काम करती हैं। 'ओघ' नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। कारण कार्य के अनुरूप ही होता है। कारण अव्यक्त रहता है, कार्य व्यक्त होता है। अव आप पूछें कि घास मे घी है या नही? तो उत्तर होगा— 'ओव' शक्ति की दृष्टि से है, किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से नही है। पुद्‌गल द्रव्य मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श—ये चारो मिलते हैं। गुलाव के फूल मे जितनी सुगध है, उतनी ही दुर्गन्ध है। किन्तु उसमे सुगध व्यक्त है और दुर्गन्ध अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कडवी है। किन्तु उसमे मिठास व्यक्त है और कडवाहट अव्यक्त। सडान मे जितनी दुर्गन्ध है, उतनी ही सुगन्ध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर के वाहर जा रहा था। मत्री सुवुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई। उसमे जल भरा था। वह कूडे-करकट से गदा हो रहा था। उसमे मृत पशुओ के कलेवर सड रहे थे। दूर तक दुर्गन्ध फूट रही थी। राजा ने कपडा निकाला और नाक को दवा लिया। 'कितनी दुर्गन्ध आ रही है!' राजा ने मत्री की ओर मुडकर कहा। मत्री तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा, 'महाराज! यह पुद्‌गलो का स्वभाव है।' उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभगी से मद कर दिया। वात वही समाप्त हो गई। कुछ दिनो वाद मत्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमत्रित किया। भोजन के मध्य राजा ने पानी पीया, अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगन्धित। राजा वोला, 'मत्री! यह पानी तुम कहा से लाते हो? इच्छा होती है कि एक गिलास और पीऊ। मैं तुम्हे अभिन्न मानता हू, किन्तु तुम मुझे वैसा नही मानते। तुम इतना अच्छा पानी पीते हो, मुझे कभी नही पिलाते।' मत्री मुस्कराया और वोला, 'महाराज यह पानी उस खाई से लाता हू, जहा आपने नाक-भौ सिकोडी थी और कपडे से नाक ढकी थी।' राजा ने कहा, 'यह नही हो सकता। यह पानी उस खाई का

कैसे हो सकता है?' मंत्री अपनी बात पर अटल रहा। राजा ने उसका प्रमाण चाहा। मंत्री ने उस खाई का पानी मंगवाया। राजा की देख-रेख में सारी प्रक्रिया चली और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर और सुगंधित हो गया जैसा राजा ने मंत्री के घर पीया था। केवल पानी ही क्या, हर वस्तु बदलती है। परिणमन का चक्र चलता ही रहता है, वस्तुएं बदलती रहती हैं। 'ओघ' शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्गलिक पदार्थ को काला या पीला, खट्टा या मीठा, सुगंधमय या दुर्गन्धमय, चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नहीं कह सकते। एक नीम के पत्ते में वे सारे धर्म विद्यमान हैं जो दुनिया में होते हैं। किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसके आधार पर देखें तो नीम का पत्ता हरा है, चिकना है। उसकी अपनी एक सुगंध है। वह हल्का है और मृदु है। हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है।

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओं में बहुत सारी बातें घटित होती हैं। उनमें ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी एक है। ऊर्जा परिणमन से ही प्रकट होती है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि द्रव्य (Mass) को शक्ति (Energy) में और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्य-संहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या परिणामि-नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है। आइन्स्टीन से पहले वैज्ञानिक जगत में यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में नहीं बदला जा सकता। दोनों स्वतन्त्र हैं। किन्तु आइन्स्टीन के बाद यह सिद्धान्त बदल गया। वह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति—ये दोनों भिन्न नहीं किन्तु एक ही वस्तु के रूपान्तरण हैं। एक पौंड कोयला लें और उसकी द्रव्य-संहति को शक्ति में बदलें तो दो अरब किलोवाट की विद्युत् शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्गल। काल की अनन्त धारा में वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमें अनन्त शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत् में जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्गलिक जगत् है। पौद्गलिक वस्तु को उस स्थिति में ले जाया जा सकता है, जहां उसकी स्थूलता समाप्त हो जाए, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-संहति समाप्त हो जाए और उसे शक्ति के रूप में बदल दिया जाए।

जैन दर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि से देखते हैं तब द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी

कौन होता है ? आदमी कोई द्रव्य नही है। आदमी है कहा ? आप सारी दुनिया मे ढूढें, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नही मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नही है। वह एक पर्याय है। दुनिया मे जितनी वस्तुओ को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्यायें हैं। हम पर्याय को देख रहे हैं, द्रव्य हमारे सामने नही आता। वह आखो से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दो मे प्रकट किया था—

अपर्यय वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।

—हम अभेद के परिपार्श्व मे चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार से शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व मे चलें तो द्रव्य लुप्त हो जाएगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बडी हो जाएगी। भेद अभेद को निगल जाएगा। केवल विस्तार और विस्तार।

परिणमन के जगत् मे जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व मे जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी मे नही है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल मे है, उतनी किसी मे नही है। हमारे जगत् मे व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है।

तत्त्ववाद

इस जगत् मे जो है वह तत्त्व है, जो नही है वह तत्त्व नही है। होना ही तत्त्व है, नही होना तत्त्व नही है। तत्त्व का अर्थ है—होना।

विश्व के सभी दार्शनिको और तत्त्ववेत्ताओ ने अस्तित्व पर विचार किया। उन्होने न केवल उस पर विचार किया, उसका वर्गीकरण भी किया। दर्शन का मुख्य कार्य है—तत्त्वो का वर्गीकरण।

नैयायिक, वैशेषिक, मीमासा और अद्वैत—ये मुख्य वैदिक दर्शन हैं। नैयायिक सोलह तत्त्व मानते है। वैशेषिक के अनुसार तत्त्व छह है। मीमासा कर्म-प्रधान दर्शन है। उसका तात्त्विक वर्गीकरण बहुत सूक्ष्म नही है। अद्वैत के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व एक परम ब्रह्म है। साख्य प्राचीनकाल मे श्रमण-दर्शन था और वर्तमान मे वैदिक दर्शन मे विलीन है। उसके अनुसार तत्त्व पचीस हैं। चार्वाक दर्शन के अनुसार तत्त्व चार हैं।

मालुकापुत्र भगवान् बुद्ध का शिष्य था। उसने बुद्ध से पूछा, 'मरने के बाद क्या होता है? आत्मा है या नही? यह विश्व सान्त है या अनन्त?'

बुद्ध ने कहा, 'यह जानकर तुम्हें क्या करना है?'

उसने कहा, 'क्या करना है, यह जानना चाहते हैं? मुझे आप उनका उत्तर दें और यदि उत्तर नही देते है तो मैं आपके दर्शन को छोड दूसरे दर्शन मे जाने की बात सोचू। या तो आप कहें कि मैं इन विषयो को नही जानता और यदि जानते हैं तो मुझे उत्तर दें। मैं सत्य को जानने के लिए आपके शासन मे दीक्षित हुआ था, किन्तु मुझे मेरी जिज्ञासा का उत्तर नही मिल रहा है।'

बुद्ध ने कहा, 'मैंने कब कहा था कि मैं सब प्रश्नो के उत्तर दूगा और तुम मेरे मार्ग मे चले आओ।'

मालुकापुत्र बोला, 'आपने कहा तो नही था।'

बुद्ध ने कहा, 'फिर तुम मुझे आखें क्यो दिखा रहे हो? देखो, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति ने बाण मारा। वह बाण से बिंध गया। अब कोई व्यक्ति आता है, वैद्य आता है और कहता है बाण को निकालें और घाव को ठीक करें। किन्तु वह

व्यक्ति कहता है कि मैं तव तक वाण नही निकलवाऊगा जव तक कि यह पता न लग जाए कि वाण किसने फेंका है ? फेंकने वाला कितना लम्वा-चौडा है ? वह कितना शक्तिशाली है ? वह किस वर्ण का है ? वाण क्यो फेंका गया ? किस धनुष से फेंका गया ? वह धनुष कैसा है ? तूणीर कैसा है ? प्रत्यचा कैसी है ?—ये सारी वातें मुझें जव तक ज्ञात नही हो जाती, तव तक मैं इस वाण को नही निकलवाऊगा। वोलो, इसका अर्थ क्या होगा ?'

मालुकापुत्र वोला, 'वह मर जाएगा। वाण के निकलने से पहले ही मर जाएगा। वह जीवित नही रह सकेगा।'

वुद्ध ने कहा, 'इसीलिए मैं कहता हूं कि वाण को निकालने की जरूरत है। वाण किसने वनाया, कहा से आया, किस प्रकार से फेका गया, किस धनुष्य से फेंका गया, इन कल्पनाओ मे उलझने की तुम्हे कोई जरूरत नही है। जिन वातो मे उलझने की जरूरत है, उन्ही मे उलझो। दु ख क्या है ? दु ख का हेतु क्या है ? निर्वाण क्या है और निर्वाण का हेतु क्या है ? ये चार आर्य-सत्य क्या हैं ? इन्ही को जानने का प्रयत्न करो।'

पूर्व-प्रतिपादित वर्गीकरणो और मीमासाओ के सदर्भ मे मैं भगवान् महावीर के तात्त्विक वर्गीकरण का विश्लेषण करूगा। प्रारम्भ मे एक धारा की ओर मैं इगित करना चाहता हू। वर्तमान युग के कुछ इतिहासज्ञ और कुछ दार्शनिक जैन दर्शन को वैशेषिक, साख्य आदि दर्शनो का ऋणी मानते हैं। कुछ विद्वान् लिखते हैं कि परमाणुवाद महर्षि कणाद की देन है। जैन दर्शन ने उसका अनुसरण किया है। कुछ विद्वान् लिखते हैं—जैन दर्शन साख्य दर्शन का ही रूपान्तर है। उसका तत्त्ववाद मौलिक नही है। ये धारणाए क्यो चलती हैं ? इनका रहस्य खोजना जरूरी है। वे विद्वान् लेखक या तो इतिहास के कक्ष तक पहुचने का तीव्र प्रयत्न नही करते या वे साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दोनो मे से एक वात अवश्य है।

मालिक ने नौकर से कहा, 'जाओ, वगीचे मे पानी सीच आओ।' नौकर वोला, 'महाशय ! इसकी जरूरत नही है। वर्षा हो रही है तव पानी सीचकर क्या करू ? मालिक ने कहा, 'वर्षा से डरते हो तो छाता ले जाओ। पानी तो सीचना ही होगा।' अव आप देखिए, वर्षा हो रही है, फिर पानी सीचने की क्या ज़रूरत है ? कोई नही। किन्तु मालिक कह रहा है कि वर्षा हो रही है तो होने दो। भीगने का डर लगता है तो छाता ले जाओ। पर पानी सीचना ही होगा। उसके सामने छाते की उपयोगिता है। वह उसी को समझा रहा है। वर्षा से जो सहज सिंचन हो रहा है, उसे या तो वह समझ नही पा रहा है या जान-वूझकर नकार रहा है। मुझे लगता है कि यह एक प्रवाह है कि छाते की वात सुझाई जा रही है और पानी स्वय सिंचित हो रहा है उसे स्वीकृत नही किया जा रहा है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र भगवान् महावीर के बाद लिखा था। साख्य दर्शन का विकास भगवान् पार्श्व के बाद और भगवान् महावीर के आस-पास हुआ। किन्तु तत्त्व के विषय मे साख्य और जैन दर्शन का दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। इसलिए तत्त्व के वर्गीकरण मे साख्य दर्शन जैन दर्शन का आभारी है या जैन दर्शन साख्य दर्शन का आभारी है, यह नही कहा जा सकता। साख्य दर्शन सृष्टिवादी है और सृष्टिवाद की कल्पना उसके तात्त्विक वर्गीकरण के साथ जुड़ी हुई है। जैन दर्शन द्रव्य-पर्यायवादी है। उसके वर्गीकरण मे कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो साख्य के प्रकृति और पुरुष—इन दोनो से सर्वथा भिन्न है।

भगवान् महावीर ने पाच अस्तिकायो का प्रतिपादन किया। राजगृह के बाहर गुणशिलक नाम का चैत्य था। उसकी थोड़ी दूरी पर परिव्राजको का एक 'आवसथ' था। उसमे कालोदायी आदि अनेक परिव्राजक रहते थे। एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे, गुणशिलक चैत्य मे ठहरे। राजगृह मे 'मद्दुक' नाम का श्रमणोपासक रहता था। वह भगवान् को वन्दना करने के लिए आ रहा था। परिव्राजको ने उसे देखा, अपने पास बुलाया और कहा, 'तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पाच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते है। तुम जानते हो, देखते हो?'

मद्दुक ने कहा, 'जो पदार्थ कार्य करता है, उसे हम जानते हैं, देखते है और जो पदार्थ कार्य नही करता, उसे हम नहीं जानते, नही देखते।'

परिव्राजक बोले, 'तुम कैसे श्रमणोपासक हुए जो तुम अपने धर्माचार्य के द्वारा प्रतिपादित अस्तिकायो को नही जानते, नही देखते।'

उनका व्यग्य सुन मद्दुक बोला—

'आयुष्मन्! क्या हवा चल रही है?'

'हा, चल रही है।'

'क्या चलती हुई हवा का आप रूप देख रहे हैं?'

'नहीं।'

'आयुष्मन्! हम हवा को नही देखते किन्तु हिलते हुए पत्तो को देखकर हम जान लेते हैं कि हवा चल रही है।'

'फूलो की भीनी सुगन्ध आ रही है?'

'हा, आ रही है।'

'सुगन्ध के परमाणु हमारी नासा मे प्रविष्ट हो रहे हैं?'

'हा, हो रहे हैं।'

'क्या आप नासा मे प्रविष्ट सुगध के परमाणुओ का रूप देख रहे हैं?'

'नही।'

'आयुष्मन्! अरणि की लकड़ी मे अग्नि है?'

'हा, है।'

'क्या आप अरणि में छिपी हुई अग्नि का रूप देख रहे है ?'

'नही।'

'आयुष्मन् ! क्या समुद्र के उस पार रूप हैं ?'

'हा, हैं।'

'क्या आप समुद्र के पारवर्ती रूपो को देख रहे है ?'

'नही।'

'आयुष्मन् ! मैं या आप, कोई भी परोक्षदर्शी सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती वस्तु को नही जानता, नही देखता किन्तु वह सब नही होता, ऐसा नही है। हमारे ज्ञान की अपूर्णता द्रव्य के अस्तित्व को मिटा नही सकती। यदि मैं पाचो अस्तिकायो को साक्षात् नही जानता-देखता, इसका अर्थ यह नही होता है कि वे नही हैं। भगवान् महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उनका साक्षात् किया है, उन्हे जाना-देखा है, इसीलिए वे उनका प्रतिपादन कर रहे हैं।'

इस प्रसग से जाना जा सकता है कि पचास्तिकाय का वर्गीकरण अन्य-तीर्थिको के लिए कुतूहल का विषय था। इस विषय मे वे जानते नही थे। उन्होने इस विषय मे कभी सुना-पढा नही था। यह उनके लिए सर्वथा नया विषय था। मद्दुक के तर्कपूर्ण उत्तर से भी वे अस्तिकाय का मर्म समझ नही पाए।

कुछ दिन बाद, फिर परिव्राजको की गोष्ठी जुडी। उसमे कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी आदि अनेक परिव्राजक सम्मिलित थे। उनमे फिर महावीर के पचास्तिकाय पर चर्चा चली। कालोदायी ने कहा, 'श्रमण महावीर पाच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। वे कहते हैं कि चार अस्तिकाय अजीव है, एक जीवास्तिकाय जीव है। चार अस्तिकाय अमूर्त्त है, एक पुद्गलास्तिकाय मूर्त्त है। यह कैसे हो सकता है ?' उस समय भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम राजगृह से गुणशिलक चैत्य की ओर जा रहे थे। उन परिव्राजको ने गौतम को देखा और वे परस्पर बोले, 'देखो, वे गौतम जा रहे हैं। महावीर का इनसे अधिक अधिकृत व्यक्ति कौन मिलेगा ? अच्छा है हम उनके पास चलें और अपनी जिज्ञासा को उनके सामने रखें।' उस समय एक सन्यासी दूसरे सन्यासी के पास मुक्तभाव से चला जाता, बुला लेता, अपने स्थान मे आमत्रित कर लेता—इसमे कोई कठिनाई नही थी। मुक्तभाव और मुक्त वातावरण था। इसलिए परिव्राजको को गौतम के पास जाने मे कोई कठिनाई नही हुई। वे सब उठे और गौतम के पास पहुच गए। उन्होने कहा, 'तुम्हारे धर्माचार्य ने पचास्तिकाय का प्रतिपादन किया है। क्या यह युक्ति-सगत है ?'

गौतम ने उनसे कहा, 'आयुष्मान् परिव्राजको ! हम अस्ति को नास्ति नही कहते और नास्ति को अस्ति नही कहते। हम सम्पूर्ण अस्तिभाव को अस्ति कहते

हैं और सम्पूर्ण नास्तिभाव को नास्ति कहते हैं। तुम स्वय इस पर मनन करो और इसे ध्यान से देखो।'

गौतम परिव्राजको को सक्षिप्त उत्तर देकर आगे चले गए। कालोदायी ने सोचा—पचास्तिकाय के विषय मे हमने मद्दुक को पूछा, फिर गौतम को पूछा। उन्होने अपने-अपने ढग से उत्तर भी दिए। पर जब महावीर स्वय यहा उपस्थित हैं, तब क्यो न हम महावीर से ही उस विषय मे पूछें? कालोदायी के पैर भी महावीर की दिशा मे बढ गए। उस समय भगवान् महावीर महाकथा कर रहे थे। कालोदायी वहा पहुचा। भगवान् ने उसे देखकर कहा, 'कालोदायी! तुम लोग गोष्ठी कर रहे थे और उस गोष्ठी मे मेरे द्वारा प्रतिपादित पचास्तिकाय के विषय मे चर्चा कर रहे थे। क्यो, यह ठीक है न?'

'हा, भते! वैसा ही है जैसा आप कह रहे हैं।'

'कालोदायी! तुम्हारी जिज्ञासा है कि मैं पचास्तिकाय का प्रतिपादन करता हू, वह कैसे? कालोदायी! तुम्ही बताओ, पचास्तिकाय है या नही? यह प्रश्न किसको होता है, चेतन को या अचेतन को? आत्मा को या अनात्मा को?'

'भते! आत्मा को होता है।'

'कालोदायी! जिसे तुम आत्मा कहते हो उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हू। जीव चेतनामय प्रदेशो का अविभक्त काय है, इसलिए मैं उसे जीवास्तिकाय कहता हू।'

'कालोदायी! क्या तुम जानते हो कि मछली पानी मे तैरती है?'

'हा, भते! जानता हू।'

'तैरने की शक्ति मछली मे है या पानी मे?'

'भते! तैरने की शक्ति मछली मे है।'

'तो क्या वह पानी के बिना तैर सकती है?'

'नही, भते! ऐसा नही होता।'

'मछली को तैरने के लिए पानी की अपेक्षा है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल को गति करने के लिए तत्त्व की अपेक्षा है। जो द्रव्य जीव और पुद्गल की गति मे अपेक्षित सहयोग करता है, उसे मैं धर्मास्तिकाय कहता हू।'

मछली पानी के बाहर आती है और भूमि पर आ स्थिर हो जाती है। स्थिर होने की शक्ति मछली मे है किन्तु भूमि उसे स्थिर होने मे सहारा देती है। जीव और पुद्गल मे स्थिति की शक्ति है पर उनकी स्थिति मे जो अपेक्षित सहयोग करता है, उस स्थिति-तत्त्व को मैं अधर्मास्तिकाय कहता हू।

'गति-तत्त्व और स्थिति-तत्त्व—दोनो अस्तिकाय हैं। इनकी अविभक्त प्रदेश-राशि आकाश के बृहद् भाग मे फैली हुई है। आकाश के जिस खण्ड मे ये हैं, वहा गति है, स्पन्दन है, जीवन और परिवर्तन है। इस आकाश-खण्ड को मैं लोक कहता

हू। इससे परे जो आकाश-खण्ड है, उसे मैं 'अलोक' कहता हू। लोक का आकाश-खण्ड सान्त है, ससीम है। अलोक का आकाश-खण्ड अनन्त है, असीम है।

'तुम देख रहे हो कि यह पेड, यह मनुष्य, यह मकान कही न कही टिके हुए हैं। तुमने देखा है कि पानी घडे मे टिकता है। घडा फूट जाता है, पानी ढुल जाता है। पानी को टिकने के लिए कोई आधार चाहिए। इसी प्रकार द्रव्यो को भी आधार की अपेक्षा होती है। एक द्रव्य अस्तित्व मे है, उसमे आधार देने की क्षमता है, उसे मैं आकाशास्तिकाय कहता हू।'

'तुम देख रहे हो सामने एक पेड है। क्या देख रहे हो ?'

'भते ! उसका हरा रग देख रहा हू।'

'क्या उसकी सुगध नही आ रही है ?'

'भते ! आ रही है।'

'क्या उसमे रस नही है ?'

'भते ! है।'

'इसकी कोमल पत्तियो का स्पर्श मन को आकर्षित नही करता ?'

'भते ! करता है।'

'कालोदायी ! जिसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श होता है, उसे मैं पुद्गलास्ति-कहता हू।'

'मैंने अस्तिकायो को जाना है, देखा है। इसीलिए मैं पाच अस्तिकायो का प्रतिपादन करता हू। इनका प्रतिपादन मैं किसी शास्त्र के आधार पर नही कर रहा हू, किन्तु अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कर रहा हू।'

महावीर का आत्मिक प्रवचन सुनकर कालोदायी का मन समाहित हो गया।

यह पचास्तिकाय का वर्गीकरण मौलिक है। भारतीय दर्शनो के तात्त्विक वर्गीकरण को सामने रखकर उसका तुलनात्मक अध्ययन करने वाला यह कहने का साहस नही करेगा कि यह वर्गीकरण दूसरो से ऋण-प्राप्त है। कुछ विद्वान् स्वल्प अध्ययन के आधार पर विचित्र-सी धारणाए बना लेते हैं और उन्हे आगे बढाते चले जाते हैं। यह बहुत ही गम्भीर चिन्तन का विषय है कि विद्वद् जगत् मे ऐसा हो रहा है।

कही न कही कोई आवरण अवश्य है। आवरण के रहते सचाई प्रकट नही होती। मुझे एक घटना याद आ रही है। एक राजकुमारी को सगीत की शिक्षा देनी थी। वीणा-वादन और सगीत के लिए राजकुमार उदयन का नाम सूर्य की भाति चमक रहा था। राजा ने कूट-प्रयोग से उदयन को उपलब्ध कर लिया। राजा राजकुमारी को सगीत सिखाना चाहता था और दोनो को सम्पर्क से बचाना भी चाहता था। इसलिए दोनो के बीच मे यवनिका बाध दी। दोनो के मनो मे भी यवनिका बाधने की चेष्टा की। उदयन से कहा गया, 'राजकुमारी

अन्धी है। वह तुम्हारे सामने वैठने मे सकुचाती है। अत वह यवनिका के भीतर वैठेगी।' राजकुमारी से कहा गया, 'उदयन कोढी है। वह तुम्हारे सामने वैठने मे सकुचाता है। अत वह यवनिका के वाहर वैठेगा।' शिक्षा का क्रम चालू हुआ और कई दिनो तक चलता रहा। एक दिन उदयन सगीत का अभ्यास करा रहा था। राजकुमारी वार-वार स्खलित हो रही थी। उदयन ने कई वार टोका, फिर भी राजकुमारी उसके स्वरों को पकड नही सकी। उदयन कुछ क्रुद्ध हो गया। उसने आवेश मे कहा, 'जरा सभलकर चलो। कितनी वार वता दिया, फिर भी ध्यान नही देती हो। आखिर अन्धी जो हो!' राजकुमारी के मन पर चोट लगी। वह वौखला उठी। उसने भी आवेश मे कहा, 'कोढी! जरा सभलकर वोलो!' उदयन ने सोचा, 'कोढी कौन है? मैं तो कोढी नही हू। फिर राजकुमारी ने कोढी कैसे कहा?' राजकुमारी ने भी इसी भाषा मे सोचा, 'मैं तो अन्धी नही हू। फिर उदयन ने अन्धी कैसे कहा?' सचाई को जानने के लिए दोनो तडप उठे। यवनिका हटाकर देखा, कोई अन्धी नही है और कोई कोढी नही है। वीच का आवरण यह धारणा वनाये हुए था कि यवनिका के इस पार अन्धापन और उस पार कोढ। आवरण हटा और दोनो वातें हट गईं। मुझे लगता है, जैन दर्शन की मौलिकताओ को समझने मे भी कोई आवरण वीच मे आ रहा है। अव उसे हटाना होगा।

'परमाणुवाद का विकास वैशेषिक दर्शन से हुआ है, फिर जैन दर्शन ने उसे अपनाया है। चेतन और अचेतन—इस द्वैत का प्रतिपादन साख्य दर्शन ने किया है। फिर जैन दर्शन ने उसे अपनाया है।' यह सव ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानो जैन दर्शन का अपना कोई मौलिक रूप है ही नही। वह सारा का सारा ऋण लेकर अपना काम चला रहा है। सत्य यह है कि परमाणु और पुद्गल के वारे मे जितना गम्भीर चिन्तन जैन आचार्यों ने किया है, उतना किसी भी दर्शन के आचार्यो ने नही किया। सांख्य दर्शन की प्रकृति और उसका विस्तार एक पुद्गलास्तिकाय की परिधि मे आ जाता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा स्वतन्त्र है। जैन दर्शन की प्राचीनता की अस्वीकृति, उसके आधारभूत आगम-सूत्रो के अध्ययन की परम्परा के अभाव और जैन विद्वानो की उपेक्षावृत्ति ने ऐसी स्थिति का निर्माण किया है कि जैन दर्शन का देय उसी के लिए ऋण के रूप मे समझा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने वस्तु-मीमासा और मूल्य-मीमासा—दोनो दृष्टियो से तत्त्व का वर्गीकरण किया। वस्तु-मीमासा की दृष्टि से उन्होने पचास्तिकाय का प्रतिपादन किया और मूल्य-मीमासा की दृष्टि से उन्होंने नौ तत्त्वो का निरूपण किया।

चार्वाक का तात्त्विक वर्गीकरण केवल वस्तु-मीमासा की दृष्टि से है। उसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार तत्त्व हैं। उनसे निर्मित यह जगत्

भौतिक और दृश्य है। अदृश्य सत्ता का कोई अस्तित्व नही है।

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम का तात्त्विक वर्गीकरण एक प्रकार से प्रमाण-मीमांसा है। वैशेषिक दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण नैयायिक दर्शन की अपेक्षा वास्तविक है। उसमे गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की व्यवस्थित व्याख्या मिलती है। जैन दर्शन की दृष्टि से इनकी स्वतत्र सत्ता नही है। ये द्रव्य के ही धर्म हैं। साख्य दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण सृष्टि-क्रम का प्रतिपादन करता है। इनके पचीस तत्त्वो मे मौलिक तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। शेप तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। पचास्तिकाय के वर्गीकरण मे पांचो द्रव्यो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। कोई भी द्रव्य किमी का गुण या अवान्तर विभाग नही है। गति, स्थिति, अवगाह, चैतन्य तथा वर्ण, गध रस और स्पर्श—ये विशिप्ट गुण हैं। इन्ही के द्वारा उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। इस वर्गीकरण मे न प्रमाण-मीमांसा है, न गुणो की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति और न सृष्टि का क्रम। इसमे दृश्य और अदृश्य, भौतिक और अभौतिक अस्तित्वो का प्रतिपादन है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण मौलिक और वास्तविक है।

वस्तु-मीमासा और मूल्य-मीमासा का वर्गीकरण एक साथ किया होता तो वह नैयायिक, वैशेषिक और साख्य दर्शन जैसा मिला-जुला वर्गीकरण होता। उमकी वैज्ञानिकता समाप्त हो जाती। पचास्तिकाय के विपय मे सक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी उस विपय मे महावीर और गौतम का एक सवाद मैं प्रस्तुत करना चाहूगा। गौतम ने पूछा, 'भते! धर्मास्तिकाय से क्या होता है?' 'भगवान् ने कहा, 'गौतम! आदमी चल रहा है, हवा चल रही है, श्वास चल रहा है, वाणी चल रही है, आखें झपक रही हैं, यह सव धर्मास्तिकाय के सहारे हो रहा है। यदि वह न हो तो निमेष और उन्मेष नही हो सकता। यदि वह न हो तो आदमी वोल नही सकता। यदि वह न हो तो आदमी सोच नही सकता। यदि वह नही होता तो सव कुछ पुतली की तरह स्थिर और स्पन्दनहीन होता।'

उपनिपद् के ऋषियो ने कहा कि यदि आकाश नही होता तो आनन्द नही होता। आनन्द कहा होता है? आकाश है, तभी तो आनन्द है। ठीक इसी भाषा मे भगवान् महावीर ने कहा, 'धर्मास्तिकाय नही होता तो स्पन्दन भी नही होता। तुम पूछ रहे हो और मैं उत्तर दे रहा हू, यह इसीलिए हो रहा है कि धर्मास्तिकाय है। यदि वह नही होता तो न तुम पूछ सकते और न मैं उत्तर दे सकता। हम मिलते भी नही। जो जहा है, वह वही होता। हमारा मिलन, वाणी का मिलन, शरीर का मिलन, वस्तु का मिलन जो हो रहा है, एक वस्तु एक स्थान मे दूसरे स्थान मे आ-जा रही है, यह सव उसी गति-तत्त्व के माध्यम से हो रहा है।' वह अपना सहारा इतने उदासीन भाव से दे रहा है कि किसी को कोई शिकायत नहीं है। उसमे चेतना नही है, इसलिए न उपकार का अहकार है और न कोई पक्षपात।

वह स्वाभाविक ढग से अपना कार्य कर रहा है।'

गौतम ने पूछा, 'भते ! अधर्मास्तिकाय से क्या होता है ?'

भगवान् ने कहा, 'तुम अभी ध्यान कर आए हो। उसमे तुम्हारा मन कहा था?'

'भते ! कही नही। मैंने मन को निरुद्ध कर दिया था।'

भगवान् बोले, 'यह निरोध, एकाग्रता और स्थिरता अधर्मास्तिकाय के सहारे होता है। यदि वह नही होता तो न मन एकाग्र होता, न मौन होता और न तुम आख मूद बैठ सकते। तुम चलते ही रहते। इस अनन्त आकाश मे अविराम चलते रहते। जिस बिन्दु से चले उस पर फिर कभी नही पहुच पाते। अनन्त आकाश मे खो जाते। किन्तु गति के प्रतिकूल हमारी स्थिति है, इसीलिए हम कही टिके हुए है। इस कार्य मे अधर्मास्तिकाय वैसे ही उदासीन भाव से हमारा सहयोग कर रहा है, जैसे गति मे धर्मास्तिकाय।'

'गौतम ने पूछा, 'आकाश मे क्या होता है ?'

'भगवान् ने कहा, 'धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन सबका अस्तित्व आकाश के अस्तित्व पर निर्भर है। वह इन सबको आधार दे रहा है। जिस आकाश-खण्ड मे धर्मास्तिकाय है, उसी मे अधर्मास्तिकाय है, उसी मे जीवास्तिकाय और उसी मे पुद्गलास्तिकाय हैं। आकाश की यह अवकाश देने की क्षमता नही होती तो ये एक साथ नही होते। उसके अभाव मे इन सबका भाव नही होता।'

गौतम ने पूछा, 'भते ! जीव क्या करता है ?'

भगवान् ने कहा, 'वह ज्ञान करता है, अनुभव करता है। उसके पास इद्रिया हैं। वह देखता है, सुनता है, सूघता है, चखता है और छूता है। सामने हरा रग है। आख ने देखा, उसका काम हो गया। पत्तियो की खनखनाहट हो रही है। कान ने सुना, उसका काम समाप्त। हवा के साथ आने वाली सुगन्ध का नाक ने अनुभव किया, उसका काम समाप्त। जीभ ने फल का रस चखा और उसका काम पूरा हो गया। हाथ ने तने को छुआ और उसका काम पूरा हो गया। किन्तु कुल मिलाकर वह क्या है ? यह न आख जानती है और न कान। इसके बिखरे हुए अनुभवो को समेटकर सकलन करने वाला जो है, वह है मन। उसके लिए हरा रग, पत्तिया, पुष्प, फल और छाल—ये अलग-अलग नही है किन्तु एक ही पेड के विभिन्न रूप हैं। इन्द्रियो के जगत् मे वे अलग-अलग होते हैं और मन के जगत् मे वे सब अभिन्न होकर पेड बन जाते हैं। मन सोचता है, मनन करता है, कल्पना करता है और स्मृति करता है। जीव के पास बुद्धि है। वह मन के द्वारा प्राप्त सामग्री का विवेक करती है, निर्णय देती है और उसमे कुछ अद्भुत क्षमताए हैं। वह इन्द्रिय और मन से सामग्री प्राप्त किए बिना ही कुछ विशिष्ट बातें जान

लेती है। ये (इन्द्रिय, मन और बुद्धि) सब जीव की चेतना के भौतिक सस्करण हैं। इसलिए ये पुद्गलो के माध्यम से एक को जानते हैं। ये ज्ञेय का साक्षात्कार नहीं कर सकते। शुद्ध चेतना ज्ञेय का साक्षात्कार करती है। वह किसी माध्यम से नही जानती इसीलिए हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान का सपूर्ण क्षेत्र जीव के अधिकार मे है।'

गौतम ने पूछा, 'भते! पुद्गल का क्या कार्य है?'

भगवान् ने कहा, 'आदमी श्वास लेता है, सोचता है, बोलता है, खाता है—यह सब पुद्गल के आधार पर हो रहा है। श्वास की वर्गणा (पुद्गल समूह) है, इसलिए वह श्वास लेता है। मन की वर्गणा है इसलिए वह सोचता है। भाषा की वर्गणा है, इसलिए वह बोलता है। आहार की वर्गणा है, इसलिए वह खाता है। यदि ये वर्गणाए नही होती तो न कोई श्वास लेता, न कोई सोचता, न कोई बोलता और न कोई खाता। जितने दृश्य तत्त्व हैं, वे सब पुद्गल की वर्गणाए है। पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप एक है, फिर भी कार्य के आधार पर उसकी अनेक वर्गणाए हैं। उसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। एक ग्वाला भेडो को चराता था। वे अनेक लोगो की थी। उसे गिनती करने मे कठिनाई होती थी। उसने एक रास्ता निकाला। एक-एक मालिक की भेडो का एक-एक वर्ग बना दिया और उन्हे एक-एक रग से रग दिया। उसे सुविधा हो गयी। यह वर्गणाओ का विभाजन भी कार्यबोध की सुविधा के आधार पर किया गया है। जीव की जितनी प्रवृत्ति होती है, वह पुद्गल की सहायता से होती है। यदि वह नही होता तो कोई प्रवृत्ति नही होती। सब कुछ निष्क्रिय और निर्वीर्य होता।

अद्वैत और द्वैत

मनुष्य चेतनावान् प्राणी है। इसलिए वह सोचता है, देखता है। वह मानसिक स्तर पर सोचता है। मन की गहराई मे उतरकर देखता है। सत्य की खोज चिन्तन-मनन और दर्शन से हुई है। उसका विकास सामाजिक सदर्भ मे हुआ है। मनुष्य ने सामाजिक जीवन जीना प्रारम्भ किया। उसके वाद उसने सत्य की खोज वडी तीव्रता से की। उसने देखा कि पहाड क्या है? नदिया क्या हैं? दिखाई देने वाले ये पदार्थ क्या हैं? क्या ये ही सव कुछ हैं या इनसे परे भी कुछ है? क्या ये सृष्ट हैं या स्वयभू हैं? इनका स्रष्टा कौन है? अगर कोई है तो वह ज्ञात है या अज्ञात?—इस प्रकार अनेक जिज्ञासाए मनुष्य के मन मे पैदा हुईं और उसने अपनी जिज्ञासाओ का समाधान पाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिए। इस श्रृखला मे दृष्टि और विचारो का विकास हुआ। दृष्टि और विचार—ये दोनो दर्शनपरक हैं। दर्शन का निर्माण किया नही गया, वह हो गया।

मैं जो देखता हू उसे दूसरा माने या न माने, यह मेरे पर निर्भर नही है। यह निर्भर है सामने वाले पर। मैंने जो अन्तर्दृष्टि से देखा, उसे समझाने के लिए, उसकी व्याख्या करने के लिए, तर्क का सहारा लिया। जो देखा जाता है, वह दूसरो तक पहुचाया जाता है तर्क के माध्यम से। मैंने जो देखा, उसे मैं अपने तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता हू और सामने वाले व्यक्ति को मेरा तर्क स्वीकार हो जाता है तो मेरा विचार और उसका विचार—दोनो के विचार एक हो जाते हैं। तर्क दोनो को जोडने का काम करता है। अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक है और तर्क है दोनो को जोडने वाला सूत्र। दोनो में वैचारिक एकता का सपादन करने वाला सूत्र है तर्क। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि और विचार—दोनो मिलकर दर्शन की आत्मा का निर्माण करते हैं। दर्शन का प्रासाद इन दो खम्भो पर खडा हुआ है।

दर्शन की दो धाराएं

दर्शन की धारा वहुत प्राचीन है। विश्व के इतिहास मे दो देश थे दर्शन के आविष्कारक—भारत और यूनान। भारतीय दार्शनिक और यूनानी दार्शनिक—

ये दोनो विश्व के सभी दर्शनो को प्रभावित करने वाले हुए हैं। भारत के दार्शनिको ने पूर्वी जगत् को प्रभावित किया और यूनान के दार्शनिको ने पश्चिमी जगत् को प्रभावित किया। पश्चिम के सारे दर्शन यूनानी दर्शन से प्रभावित हैं और पूर्व के सारे दर्शन भारतीय दर्शन से प्रभावित हैं। इस प्रकार विश्व के पटल पर इन दो देशो के दार्शनिको ने अपनी विचारधारा का पूरा प्रभुत्व स्थापित किया।

मेरे सामने दर्शन की अनेक धाराए हैं। उनका वर्गीकरण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद—इन दो रूपो मे करना मुझे इष्ट है। मनुष्य ने जब देखा तब प्रारम्भिक दर्शन मे जो स्थूल था वह सामने आ गया। मैं खडा हू। मेरे सामने एक वृक्ष है। मैं उसे जितनी सुगमता से देख सकता हू उतनी ही सुगमता से उसके नीचे चलने वाली चीटी को नही देख सकता। क्योकि वृक्ष स्थूल है और चीटी सूक्ष्म। उस पर मेरी दृष्टि नही दौडती, वृक्ष पर पहले ही दौड जाती है। आदमी स्थूल को जल्दी पकडता है। सूक्ष्म तक पहुचने मे उसे बहुत गहराई मे उतरना पडता है। हमारे सामने जो स्थूल जगत् है, वह भौतिक है। दार्शनिको ने सबसे पहले भौतिक जगत् को देखा। उन्होने देखा, दुनिया मे पृथ्वी है, पानी है, अग्नि है, और वायु है। उन्होंने देखा कि जो दिखाई दे रहा है वह इन्ही के द्वारा निष्पन्न है। इन चार भूतो से दुनिया का निर्माण हुआ है।

कुछ चिन्तक आगे बढे। उन्होंने आकाश को भी खोजा। आकाश भी एक तत्त्व है, भूत है। भारतीय दर्शन मे दो धाराए चली—एक चतुर्भूतवादी और एक पचभूतवादी। पश्चिमी दार्शनिको मे भी इस विषय मे काफी मतभेद रहा। किसी ने माना सारी दुनिया का मूल जल है, किसी ने माना कि वायु है और किसी ने माना कि अग्नि है। जलवादी, वायुवादी और अग्निवादी—ये स्थूलवादी विचारक रहे है। इन दोनो धाराओं के विकास के बाद मनुष्य के मन मे फिर द्वन्द्व उत्पन्न हुआ। उसने सोचा, भूत अचेतन है। यह चेतन क्या है? सोचता कौन है? विचार कौन करता है? जानने का प्रयत्न कौन करता है? भौतिक तत्त्वों मे चिन्तन, मनन और ज्ञान नही है। उसने फिर चेतना की ओर ध्यान दिया। चेतना भौतिक तत्त्वो मे नही है। पृथ्वी मे चेतना नही है, पानी मे चेतना नही है, अग्नि, वायु और आकाश मे चेतना नही है। चिन्तन करते-करते वह इस निष्कर्ष पर पहुचा कि चेतना भौतिक तत्त्वो की परिणति है, उनके सघटन की क्रिया है। उनसे भिन्न कोई तत्त्व नही है। यदि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह भौतिक तत्त्वो से कही पृथक् दिखाई देता। जैसे जल का कण हमे दिखाई देता है वैसे चेतना की स्वतन्त्र सत्ता हमे कही दिखाई नही देती। भूतवादी दार्शनिको ने चेतना को स्वीकार किया किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही किया। दूसरी धारा उन दार्शनिको की है जो स्थूल जगत् मे रुके नही, जिनके चरण उससे आगे बढे।

उन्होंने स्थूल को देखा और साथ-साथ सूक्ष्म को भी देखा। उनका चिन्तन इस दिशा में आगे बढ़ा कि चेतना भौतिक नही है। वह न प्रत्येक भूत मे है और न उनकी सामुदायिक परिणति मे है। प्रत्येक भूत यदि उसका उपादान नही है तो उनकी सहति भी चेतना का उपादान नही हो सकती। सहति मे वही गुण प्रकट होता है, उपादान के रूप मे जिसकी सत्ता प्रत्येक इकाई मे होती है। चेतना का उपादान न कोई भौतिक इकाई है और न उनकी सहति। इस स्थिति मे उसका उपादान कोई स्वतन्त्र है। वे चिन्तन-मनन से आगे ध्यान की गहराई मे गए और उन्होंने चेतना के उत्पादन का साक्षात्कार किया। उन्होंने उसका नाम रखा 'आत्मा'। आत्मा इन्द्रियो से दृष्ट नही है। वह चेतना की अधिक गहराई मे जाने पर ही दृष्ट होती है इसलिए आत्मवादी दार्शनिको ने दर्शन की अध्यात्मवादी धारा को विकसित किया।

जैन दर्शन का द्वैतवाद

जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। वह आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। आत्मवादी दार्शनिको ने आत्मा का भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रतिपादन किया है। वेदान्त भारत के प्रमुख दर्शनो मे से एक है। उसने उपनिषदो के आधार पर आत्मा की व्याख्या की। उपनिषद् भारतीय तत्त्व-चिन्तन के अपूर्व कोश हैं। उनमे शताब्दियो तक होने वाला सूक्ष्म चिन्तन सकलित है। सृष्टि के गहनतम रहस्यो को जानने का जो तीव्रतम प्रयत्न हुआ उसकी प्रतिध्वनि उपनिषद् के शब्दो मे सुनाई देती है। वेदान्त उनका प्रतिनिधित्व करता है। उसका सिद्धान्त है—मूल आत्मा एक है। उसकी सज्ञा है 'ब्रह्म'। चैतन्य की पारमार्थिक सत्ता वही है। दृश्य जगत् मे जो चेतन और अचेतन है, वह सब उसी मूल आत्मा का प्रपच है। यह 'चैतन्याद्वैतवाद' है। 'जडाद्वैतवादी' दार्शनिको का अभिमत है—भूत ही वास्तविक सत्ता है, चेतन वास्तविक सत्ता नही है। ठीक इसके विपरीत 'आत्माद्वैतवादी' वेदान्त का अभिमत है—चेतन ही वास्तविक सत्ता है, भूत वास्तविक सत्ता नही है।

जडवादी कहते हैं—भूत चेतन से उत्पन्न हुआ है तो आत्माद्वैतवादी कहते हैं कि चेतन भूत से उत्पन्न हुआ है। दोनो एक-दूसरे के विरोधी हैं। दोनो एक-दूसरे के आमने-सामने खडे हैं। दोनो एक-दूसरे की टकराहट को झेल रहे हैं और एक-दूसरे का निरसन कर रहे हैं।

जैन दर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है, चेतना की वास्तविकता को स्वीकार करता है। फिर भी अचेतन की अवास्तविकता का प्रतिपादन नही करता। वह चेतन को जितना वास्तविक मानता है उतना ही अचेतन को वास्तविक मानता है। इसलिए वह 'जडाद्वैतवादी' दर्शन का सीधा

विरोधी नही है। वह दोनो के मध्य मे है। उसकी धारा दोनो की ओर प्रवाहित होती है। चेतन की वास्तविक सत्ता है, इसमे उसकी स्वीकृति है और अचेतन की वास्तविक सत्ता है, इसमे भी उसकी स्वीकृति है। इस उभयपक्षी स्वीकृति के कारण जैन दर्शन द्वैतवादी है—चेतन और अचेतन की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करनेवाला है।

दर्शन की तीन धाराए विकसित हो गई—जडाद्वैतवाद, आत्माद्वैतवाद और द्वैतवाद। भारतीय दर्शन इन तीन धाराओ मे वटा हुआ है। कुछ आधुनिक विद्वान् मानते है कि साख्य दर्शन वहुत प्राचीन है। जैन दर्शन का विकास उसके आधार पर हुआ है। मुझे लगता है यह एकागी स्वीकार है। इसमे कोई सन्देह नही कि साख्य दर्शन वहुत प्राचीन है। किन्तु इस सत्य को भी विस्मृत नही करना चाहिए कि जैन दर्शन उससे कम प्राचीन नही है। साख्य दर्शन उसी श्रमण दर्शन की धारा मे विकसित हुआ था जिसमे जैन दर्शन विकसित हुआ। दोनो एक ही धारा के दर्शन है, इसलिए उनमे समान तत्त्वो की खोज की जा सकती है, किन्तु उससे उनके पौर्वापर्य का अनुमान नही किया जा सकता। शकराचार्य ने लिखा है, 'कपिल का साख्य दर्शन वेद-विरुद्ध है और महर्षि मनु का जो वेदानुसारी वचन है, उसके भी विरुद्ध है। अर्थात् वह श्रुति और स्मृति—दोनो के विरुद्ध है, इसलिए वह विचारणीय नही है।' पद्मपुराण मे एक उल्लेख मिलता है, 'नैयायिक, वैशेषिक और पतजलि का योग दर्शन—ये श्रुतिविरुद्ध होने के कारण त्याज्य है।' मुझे आश्चर्य होता है कि इन तथ्यो पर विद्वानो का ध्यान क्यो नही आकर्षित हुआ? प्राचीनता और अर्वाचीनता के निर्णय मे इनका उपयोग क्यो नही किया गया?

आप पतजलि के योग दर्शन को देख जाइए। उसमे अनेक शब्द ऐसे हैं जो श्रमण साहित्य मे मिलेंगे। वे वैदिक साहित्य मे नही खोजे जा सकते। केवली, ज्ञानावरणीय कर्म, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, चरमदेह, सोपक्रम, निरुपक्रम, सवितर्क, सविचार, निर्विचार आदि-आदि शब्द श्रमण परम्परा मे वहुलता से व्यवहृत हैं। साख्य और योग—ये दोनो एक धारा के हैं। एक दर्शन पक्ष और दूसरा साधना पक्ष। ये दोनो वैदिक परम्परा मे नही थे इसलिए श्रमण परम्परा के दर्शनो से इनका समन्वय स्वाभाविक है। श्रमण दर्शनो मे अर्हत् दर्शन प्रभावशाली रहा है। जैन दर्शन उसकी मुख्य धारा है। साख्य, आजीवक और वौद्ध—ये सव श्रमण दर्शन रहे हैं। इनकी तात्त्विक परम्परा के वीज सुदीर्घकालीन श्रामणिक चिन्तन मे निहित हैं।

जैन दर्शन ने द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। साख्य भी द्वैतवादी है। उसने दो तत्त्वो—प्रकृति और पुरुष की स्थापना की। जैन दर्शन ने दो तत्त्वो—चेतन और अचेतन का प्रतिपादन किया। कहा जाता है, इस प्रतिपादन मे जैन दर्शन पर

साख्य दर्शन का प्रभाव है। इस मान्यता का कारण जैन साहित्य का अपरिचय है। विद्वानो के सामने जैन दर्शन का मुख्य ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ सूत्र' रहा। किन्तु उससे पाच-छह शताब्दी पूर्व रचित आगम साहित्य उनके पास नही पहुचा। यदि वह पहुचा होता तो यह धारणा निर्मूल हो जाती। जैन दर्शन और साख्य दर्शन—दोनो द्वैतवादी है। किन्तु द्वैतवादी होने पर भी उनकी दर्शन-धारा मे कुछ मौलिक अन्तर हैं। साख्य दर्शन का स्वीकार है कि प्रकृति मे सारी सृष्टि का विकास हुआ है। सृष्टि का मूल कारण है प्रकृति और सृष्टि है प्रकृति की विकृति। जैन दर्शन ने सृष्टि की व्याख्या चेतन और अचेतन—दोनो की सयुक्त प्रक्रिया के आधार पर की। उसके अनुसार केवल पुद्गल और केवल जीव से सृष्टि का विकास नहीं होता किन्तु जीव और पुद्गल—दोनो का समुचित योग होने पर ही वह होता है।

विश्व की व्याख्या का जैन दृष्टिकोण

दार्शनिक आचार्यों ने विश्व की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणो से की है। आचार्य शकर के मतानुसार दृश्य जगत् पारमार्थिक नही है। प्रश्न हुआ—फिर वह क्या है? उत्तर मिला—यह माया है। सुषुप्ति अवस्था का यह अनुभव है। आपने स्वप्न मे सिह देखा, आप भय से प्रकपित हो गए। आप जागृत अवस्था मे आए, सिह का भय समाप्त हो गया। स्वप्नावस्था का सिह जागृत अवस्था का सिह नही है। जागृत अवस्था मे स्वप्नावस्था के सिह की वास्तविक सत्ता नहीं है। इसलिए यह दृश्य जगत् व्यावहारिक सत्य है, वास्तविक सत्य नही है। हम लोग जागृत अवस्था मे जो देख रहे है और हमे जो वास्तविक प्रतीत हो रहा है वह भी ब्रह्म की स्थिति मे जाने पर वैसे ही मिथ्या हो जाएगा जैसे स्वप्न जगत् के दृश्य जागृत अवस्था मे मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने दो सत्यो से विश्व की व्याख्या की—एक व्यवहार सत्य और एक परमार्थ सत्य। ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है और दृश्य जगत् व्यावहारिक सत्य है।

बौद्ध दर्शन ने भी सवृति सत्य और पारमार्थिक सत्य—इन दो दृष्टियो से विश्व की व्याख्या की। उसके अनुसार चेतन और अचेतन—दोनो क्षणजीवी हैं। यह पारमार्थिक सत्य है। उनकी त्रैकालिक एकता की प्रतीति सावृतिक सत्य है। इन दोनो दृष्टियो ने सभवत वेदान्त के दृष्टिकोण को प्रभावित किया। आचार्य शकर के गुरु 'गौडपाद' बौद्ध धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे। हो सकता है कि गौडपाद का शकर पर प्रभाव पडा हो और उन्होने प्रकारान्तर से उपनिषदो के आधार पर मायावाद की व्याख्या की हो।

जैन दर्शन ने विश्व की व्याख्या अनेकान्त दृष्टि से की। अनेकान्त के अनुसार द्रव्य मे अनन्त धर्म हैं। जितने धर्म हैं उतने ही उन्हें जानने के 'नय' हैं और जितने 'नय' हैं उतने ही उनके प्रतिपादन के प्रकार हैं। नयो का समाहार करने पर मूल

नय दो होते है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक नय की दृष्टि से चेतन और अचेतन—दोनो शाश्वत और वास्तविक सत्य हैं। व्यावहारिक नय की दृष्टि से चेतन और अचेतन—दोनो के पर्याय अशाश्वत, किन्तु वास्तविक सत्य हैं। नैश्चयिक नय द्रव्य की व्याख्या करता है और पर्यायार्थिक नय उसमे होने वाले विविध परिणमनो की व्याख्या करता है। व्यावहारिक नय की दृष्टि से चीनी मीठी है, सफेद है किंतु नैश्चयिक नय की दृष्टि से उसमे सब वर्ण, सब रस, सब गन्ध और सब स्पर्श होते हैं। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है कि चेतन और अचेतन—दोनो निरपेक्ष सत्य हैं तथा उनमे होने वाले परिवर्तन सापेक्ष सत्य हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष—दोनो सत्यो की समन्विति ही वास्तविक सत्य है।

विश्व-व्यवस्था और सह-अस्तित्व

नीम की एक टहनी मे अनन्त धर्म हैं। वह मूल द्रव्य नही है। वह द्रव्य की एक पर्याय है। मूल द्रव्य पुद्गल है और मूल द्रव्य जीव है। जीव और पुद्गल दोनो का योग मिला और नीम उत्पन्न हो गया, टहनी निर्मित हो गई। उस टहनी मे जीव और पुद्गल दोनो साथ रह रहे है। जीव चेतन और पुद्गल अचेतन और दोनो परस्पर विरोधी। वह द्रव्य ही नही होता जिसमे विरोधी धर्मों के अनन्त युगल न हो। एक परमाणु मे भी अनन्त विरोधी युगल होते है। इसी-लिए जैन दर्शन का प्रत्येक द्रव्य सत् भी है और असत् भी है, नित्य भी है और अनित्य भी हैं। शकराचार्य ने कहा, 'दार्शनिक को सबसे पहले नित्य और अनित्य का विवेक करना चाहिए'। जो नित्य और अनित्य का विवेक नही रखता वह दार्शनिक नही हो सकता। प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव मे सत्य का प्रतिपादन नही कर सकता।' महर्षि पतजलि ने कहा, 'नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानना अविद्या है।' शकराचार्य ने कहा, 'ब्रह्म नित्य और जगत् अनित्य है।' उन्होंने नित्य और अनित्य—दोनो का प्रतिपादन किया किन्तु उनकी दृष्टि मे ऐसा द्रव्य एक भी नही है जो नित्य भी हो और अनित्य भी हो। ब्रह्म नित्य ही है, वह अनित्य नही है। जगत् अनित्य ही है, वह नित्य नही है। जैन दर्शन इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखता है। उसकी दृष्टि का सार यह है—ब्रह्म अनित्य भी है और जगत् नित्य भी है। नित्य और अनित्य—दोनो के सह-अस्तित्व को कुछ दार्शनिक विरोधाभास मानते हैं और वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि यह जैन दर्शन का दृष्टि-भ्रम है। किन्तु जैन-दार्शनिक इस आरोप को स्वीकार नही करते। उनके मतानुसार द्रव्य की प्रकृति मे सामजस्य की अपूर्व क्षमता है। उसमे कोई विरोधाभास नही है। यह विरोधाभास हमारे व्यावहारिक दृष्टि-कोण मे है। द्रव्य की व्याख्या नैश्चयिक दृष्टिकोण से की जा सकती है, केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या नही की जा सकती। आचार्य हेमचन्द्र

ने महावीर की स्तुति मे लिखा है, 'आपकी आज्ञा को नहीं जानने वाले आकाश को नित्य और दीपक को अनित्य मानते है। आकाश जैसा है वैसा ही रहता है, इसलिए वह नित्य है। दीपक की लौ आती है और चली जाती है। हवा का झोका आता है और दीपक बुझ जाता है। इसलिए वह अनित्य है।' महावीर का दर्शन इससे भिन्न है। उसकी दृष्टि मे जैसे आकाश नित्य है वैसे दीपक भी नित्य है और जैसे दीपक अनित्य है वैसे आकाश भी अनित्य है। यह स्याद्वाद की मर्यादा है। कोई भी द्रव्य इसका अतिक्रमण नही करता। दीपक एक पर्याय है। वह विनष्ट हो जाता है किन्तु उसका आधार-तत्त्व पुद्गल कभी नष्ट नही होता। आकाश आधारभूत तत्व है, वह कभी नष्ट नहीं होता। किन्तु घटाकाश, पटाकाश और गृहाकाश—ये उसके पर्याय हैं। ये उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। हम आकाश को आधार-तत्त्व के रूप मे ही देखते हैं, तव उसे केवल नित्य कहते हैं। हम दीपक को वर्तमान पर्याय के रूप मे ही देखते है, तव उसे अनित्य कहते है। पर कोई भी आधार-तत्त्व पर्याय से शून्य नही होता और कोई भी पर्याय आधार-तत्त्व से शून्य नही होता। इसलिए आकाश को अनित्य और दीपक को नित्य कहना दृष्टि का भ्रम नही, किन्तु यथार्थ है।

जैन दर्शन ने विरोधी युगलो का सह-अस्तित्व स्वीकार किया इसलिए वह सर्वग्राही दर्शन हो गया। वह किसी भी विचारधारा को असत्य की दृष्टि से नहीं देखता किन्तु सापेक्ष-सत्य की दृष्टि से देखता है। जितने विचार है, वे सव पर्याय हैं और पर्याय निरपेक्ष-सत्य नही हो सकता। निरपेक्ष-सत्य तो मूल द्रव्य हो सकता है। जैन दर्शन को जडवादी विचार अमान्य नही है किन्तु साथ-साथ आत्मवादी विचार भी उतना ही मान्य है जितना कि जडवादी विचार। दोनो विचारो का योग होने पर ही जैन दर्शनका यथार्थ वनता है।

मैं एक वार आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार' पढ रहा था। नैश्चयिक नय की जलराशि मे डुवकिया लगाते-लगाते मुझे ऐसा आभास हुआ कि कही मैं अद्वैतवादी तो नही हो गया हू। सचमुच मेरा मानस ऐसा वन गया कि द्वैत की अपेक्षा अद्वैत का सिद्धान्त अधिक गम्भीर है। मेरी द्वैत की दृष्टि समाप्त हो गई। हम द्वैत की दिशा से चलते हैं और चलते-चलते ऐसे स्थान पर पहुचते है जहा केवल सत्ता है। सत्ता मे कोई भेद नही होता। विभक्त होता है केवल पर्याय। मैं दर्शन से काम लेता रहा तव तक मुझे अद्वैत का अनुभव होता रहा। दर्शन अनाकार होता है। वह द्रव्य को देखता है, इसलिए उसके सामने कोई आकार नही होता। केवल सामान्य होता है, कोई विशेष नही होता। मैंने जव ज्ञान से काम लेना शुरू किया, तव मेरे सामने पर्याय आ गए। जैसे ही मैंने पर्यायो को जानना प्रारम्भ किया, मैं फिर अद्वैतवादी हो गया। प्रत्येक पर्याय का एक निश्चित आकार होता है और ज्ञान उस आकार को जानता है। हम जव-जव

आकारो का ज्ञान करते हैं तव-तव पर्यायवादी या अद्वैतवादी होते है। हम जव-जव अनाकार को देखते हैं, तव-तव अस्तित्ववादी या अद्वैतवादी होते हैं। पर्याय द्रव्य मे विलीन हो जाते हैं और द्रव्य अस्तित्व मे विलीन हो जाते हैं। शेप वचता है कोरा अस्तित्व। उसमे न चेतन और अचेतन का भेद होता है, न मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद होता है। कोई भेद नही होता, कोई आकार नही होता, केवल सत्ता शेप रह जाती है। अनेकान्त की भाषा मे यह 'सग्रह नय' का सत्य है। अनेकान्त मर्यादा मे केवल एक नय ही सत्य नही होता। शेष सव नयो की सत्यता स्वीकार करने पर ही कोई नय सत्य होता है। सग्रह नय सत्य है, अद्वैत सत्य है, किन्तु व्यवहार नय या द्वैत भी उतना ही सत्य है। अस्तित्व द्रव्य और पर्याय—इन दो आकारो मे विभक्त होता है। द्रव्य पाच अस्तिकायो मे विभक्त होता है। पर्याय अनन्त रूपो मे विभक्त होता है। यह अद्वैत उतना ही सत्य होता है, जितना कि अद्वैत। इस स्वीकृति के वाद हम जैन दर्शन को न अद्वैतवादी कह सकते हैं और न द्वैतवादी। वह अद्वैत-द्वैतवादी है।

द्रव्य का अस्तित्व जो है वह शाश्वत है। वह कभी भी नष्ट नही होता। पर्याय वदलता रहता है। असत् पर्याय की उत्पत्ति और सत् पर्याय का नाश—यह क्रम वरावर चलता रहता है। इसलिए जैन दर्शन न सत्वादी है और न असत्वादी, किन्तु वह सत्-असत्वादी है।

मानवीय एकता

मैंने एक बार पढ़ा, जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है। मैंने दूसरी बार पढ़ा, जैन धर्म विश्वधर्म है। मैं चिन्तन की गहराई मे गया। मैंने मन-ही-मन सोचा—क्या ये विचार सत्य है? क्या जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है? क्या वह विश्वधर्म है? मैं विश्वधर्म के मानदण्डो से जैनधर्म को मापने लगा। जिसके अनुयायियों की सख्या विशाल हो, वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायियो की सख्या एक करोड से अधिक नही है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है? जिसके अनुयायी विश्व के हर कोने मे विद्यमान हो वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायी कुछेक देशो मे विद्यमान है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है? जिसके अनुयायी सब जातियो और सब प्रकार के आवश्यक व्यवसाय करने वालो मे हो वह विश्वधर्म हो सकता है, किन्तु जैन धर्म के अधिकाश अनुयायी वैश्य है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है? इन मानदण्डो के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि जैन धर्म अपने वर्तमान स्वरूप मे विश्वधर्म नही है। मैं एक चरण पीछे लौटा और मैंने यह देखने का प्रयत्न किया—क्या जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है? मैं यह देखकर स्तभित रह गया कि उसमे विश्वधर्म होने की क्षमता भी नही है। मैं कुछ हताश-सा हो गया। जिस धर्म के प्रति मेरे मन मे ममता है, श्रेष्ठता का सस्कार है, उसे परीक्षा के समय कल्पना की ऊचाई पर नही पा सका, इसलिए हताश होना अस्वाभाविक नही था। मैंने अपने चरण अतीत की अनजानी राहो मे बढाए। मैं खोया-खोया-सा चलता चला। एक बिन्दु पर मेरे पैर ठिठक गए। कोई अपरिचित चेहरा मेरे पास आकर मेरे कानो मे गुनगुनाने लगा।

'मनुष्य जाति एक है।' मैंने वह स्वर पहचान लिया। वह स्वर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का था। मैंने उनसे पूछा—

'क्या यह सत्य है कि मनुष्य जाति एक है?'

'यह काल्पनिक नही, वास्तविक सत्य है।'

'फिर मनुष्य जाति का विभाजन किसने किया?'

'मनुष्य ने।'

'क्या यह ईश्वरीय नही है ?'

'यह ईश्वरीय होता तो भारत मे ही क्यो होता ? क्या ईश्वर भारत की सीमा मे प्रतिवद्ध है ?'

'इसका आधार क्या है ?'

'वैदिक ऋपियो ने सामाजिक सगठन के लिए चार वर्णों की व्यवस्था की। इसका आधार सामाजिक सगठन है।'

'क्या इस व्यवस्था का भारतीय समाज के विकास मे कोई योग नही है ?'

'नही क्यो ? इस व्यवस्था ने शिक्षण-सस्थानो की अल्पता मे भी कला-कौशल की पैतृक परम्परा को सुरक्षित रखा है, विकसित किया है।'

'फिर महावीर ने मनुष्य जाति की एकता का उद्घोप क्यो किया ?'

'जन्मना जाति की व्यवस्था ने मनुष्यो मे ऊच-नीच और छुआछूत की भावना पैदा की, समत्व के सिद्धान्त का विखडन किया। इस स्थिति मे मनुष्य जाति की एकता का उद्घोप नही होता तो अहिंसा अर्थहीन हो जाती।'

मैं आचार्य भद्रवाहु से अपनी जिज्ञासा का समाधान पा रहा था। इतने मे मेरे कानो से एक ध्वनि टकराई, 'मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र। मैंने दो क्षण इस पर मनन किया। फिर भद्रवाहु से पूछा, 'क्या कर्मणा जाति का वाद मनुष्य जाति की एकता के सिद्धान्त का प्रतिवाद नही है ?'

उन्होंने कहा, 'यह तात्त्विक नही है। केवल व्यवहार की उपयोगिता है। मनुष्य केवल मनुष्य है। वह विद्याजीवी होता है तव ब्राह्मण हो जाता है। वही व्यक्ति उसी जीवन मे रक्षाजीवी होकर क्षत्रिय, व्यवसायजीवी होकर वैश्य और सेवाजीवी होकर शूद्र हो सकता है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच मे ऊच-नीच और छुआछूत की दीवार खडी नही करती।'

मैंने विनम्र वदना कर कृतज्ञता प्रकट की और मैं आगे वढा। अतीत की दहलीज को पार करते-करते मैं इन्द्रभूति गौतम के पास पहुचा। ये थे भगवान् महावीर के सवसे प्रथम और सवसे ज्येष्ठ शिष्य—महावीर के सिद्धान्तो के मुख्य प्रवक्ता और सूत्रकार। सूक्ष्म लोक मे पहुचकर मैंने उनसे सपर्क स्थापित किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने प्रस्तुत की—

'भते ! आप जाति से ब्राह्मण और वेदो के पारगामी विद्वान् थे फिर आपने महावीर का शिष्यत्व क्यो स्वीकार किया ?'

'धर्म जाति से अतीत है, इसलिए मैं महावीर का शिष्य वना।'

'क्या जैन धर्म जाति नही है ?'

'नही, सर्वथा नही। जाति का आधार आजीविका है, अर्थ-व्यवस्था है। धर्म

का आधार आत्मा का अनुसधान है। इसीलिए सभी जातियो और वर्गों के लोग महावीर के शिष्य बने।'

मैं अतीत के गर्भगृह से वर्तमान के वातायन मे लौट आया। मैंने युगधारा का अवगाहन किया तो पाया कि महावीर की अमृत आत्मा युग-चेतना की पार्श्वभूमि मे आज भी विद्यमान है। उनकी वाणी की प्रतिध्वनि आज भी अनन्त के कण-कण मे हो रही है। उनके सिद्धान्त आज भी सर्वव्यापी हैं।

महावीर ने सापेक्षवाद से विश्व की व्यवस्था की। उन्होंने कहा, 'एकता और अनेकता की धारा एक साथ प्रवाहित है। इस सहअस्तित्व के प्रवाह मे 'या तुम या मैं' के लिए कोई स्थान नही है। तुम्हारे विना मैं और मेरे विना तुम नही हो सकते। तुम और मैं एक साथ ही हो सकते है।' सघर्ष वास्तविक नही है। घृणा वास्तविक नही है। वास्तविक है सहयोग, वास्तविक है समन्वय—अपने अस्तित्व के साथ दूसरो के अस्तित्व की स्वीकृति, अपने व्यक्तित्व के साथ दूसरो के व्यक्तित्व की स्वीकृति।

'मानवीय एकता' की स्वीकृति के साथ मानवीय अनेकता की स्वीकृति जुडी हुई है। 'सब मनुष्य एक हैं'—यह सापेक्ष सिद्धान्त है। सापेक्षता एकता-अनेकता के विना नही हो सकती। मनुष्य-मनुष्य के वीच प्रकृति और व्यवस्थाकृत अनेकताए भी हैं। उनके आधार पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। यह मानवीय एकता और अनेकता की तथ्यात्मक स्वीकृति है।

महावीर ने उक्त सिद्धान्त का धर्म के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा, 'मनुष्य जाति मे एकता और अनेकता—दोनो के तत्त्व विद्यमान हैं और दोनो वास्तविक हैं। इसलिए ये धर्म की आधार नही बन सकती।' यदि एकता के आधार पर हम मनुष्य जाति से प्रेम करें तो अनेकता के आधार पर द्वेष कैसे नही करेंगे? हम अनेकता को इसलिए द्वेष का आधार वनाते हैं कि एकता के आधार पर हम प्रेम करते हैं। इस द्वन्द्व के आधार पर होने वाला प्रेम धार्मिक का प्रेम नही होता। एकता और अनेकता के द्वन्द्व से जो द्वन्द्वातीत आत्मा की अनुभूति है वह धर्म है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय एकता का अर्थ होगा—मनुष्य-मनुष्य के वीच घृणा और सघर्ष की समाप्ति।

महावीर ने धर्म की दृष्टि से मानवीय एकता की व्याख्या की, उसमे सम्प्रदाय को स्थान नही दिया। उनके मतानुसार कौन व्यक्ति किस सम्प्रदाय मे दीक्षित है, इसे मूल्य नही दिया जा सकता। मूल्य इसका होगा कि कौन व्यक्ति कितना ऋजु, कितना पवित्र और कितना कषायमुक्त है। जैन धर्म मे दीक्षित होने वाला मुक्त नहीं भी हो सकता और अन्य धर्म मे दीक्षित होने वाला मुक्त हो सकता है—इसका प्रतिपादन कर महावीर ने धर्म का सम्प्रदायातीत और भेदातीत स्वरूप जनता के सामने प्रस्तुत किया।

धर्म आत्मा की आन्तरिक पवित्रता है, इसलिए उसका किसी जाति, वर्ग और सम्प्रदाय से सम्बन्ध नही हो सकता। किन्तु धर्म का बाहरी रूप सम्प्रदाय मे प्रकट होता है, इसलिए वह जाति और वर्ग से भी जुड जाता है। महावीर ने अपने धर्म-शासन का द्वार सब जातियो और सब वर्गों के लिए खुला रखा था। उन्होंने कल्पना ही नहीं की होगी कि उनका धर्म-शासन किसी एक जाति या वर्ग से जुडकर दूसरो के लिए द्वार बन्द कर देगा। किन्तु काल की गति ने ऐसा घटना-चक्र प्रस्तुत किया कि महावीर का मानवीय एकता का पक्षधर धर्म-शासन मानवीय अनेकता का पक्षधर हो गया। हम महावीर के मानवीय एकता के सिद्धान्त को विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं। किन्तु महावीर के आधुनिक धर्म-शासन को मानवीय एकता के पक्षधर के रूप मे प्रस्तुत नहीं कर सकते।

अपरिग्रह मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे विश्व के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु जैन समाज को इसके उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता।

अनेकान्त मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे जागतिक समस्याओ के समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक जैन शासन को सापेक्षता और समन्वय के महान् प्रयोगकार घटक के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता।

सिद्धान्त और व्यवहार के इस अन्तर्विरोध को देखकर प्रश्न होता है—क्या ये सिद्धात केवल मनोग्राही और बुद्धिग्राही हैं या व्यावहारिक भी है? यदि ये व्यावहारिक नही हैं तो इनको प्रस्तुत करने से क्या लाभ? यदि ये व्यावहारिक है तो जैन शासन इनके व्यवहार से वचित क्यो? कालचक्र की घटनाओ ने जैन शासन को इतना प्रभावित किया कि वह महावीर के मौलिक सिद्धान्तो की प्रयोग-भूमि नही रह सका। आज उस जैन शासन की अपेक्षा है जो महावीर के महान् सिद्धान्तो का प्रतिनिधि हो, जिसे महावीर के धर्म-शासन का उत्तराधिकार प्राप्त हो सके। इसकी अर्हता विश्व का कोई भी अचल प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से मैं मान सकता हू कि जैन धर्म विश्वधर्म है।

सेवा और नैतिकता

एक गोष्ठी का आयोजन था। अनेक व्यक्ति एकत्रित हुए। वहा यह प्रश्न उभरा कि दुनिया मे सबसे अधिक मीठा क्या है ? जितने व्यक्ति थे सब ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए। एक ने कहा, 'दही मधुर होता है।' दूसरे ने कहा, 'दही से भी मधुर मधु होता है।' तीसरे ने कहा, 'दाख मीठी होती है' और चौथे ने कहा, 'सबसे मीठी होती है—चीनी।' और भी अनेक विचार आए, किन्तु किसी भी निष्कर्ष पर नही पहुचा जा सका। अन्त मे एक व्यक्ति ने कहा, 'पदार्थ की मधुरता के विषय मे मतैक्य नही हो सकता। यह सर्वविदित तथ्य है कि जिसका मन जहा सलग्न हो जाता है उसके लिए वही मधुर है, वही सबसे ज्यादा मीठा है।'

'दधि मधुर मधु मधुर, द्राक्षा मधुरा च शर्करा मधुरा।
तस्य तदेव हि मधुरं, यस्य मनो यत्र सलग्नम्॥

—जो कहना था वह सब कुछ उस समझदार व्यक्ति ने एक वाक्य मे कह दिया कि जिसका मन जहा सलग्न है उसके लिए वही मधुर है।

विश्व का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जिसका मन जहा सलग्न है उसके लिए वही मधुर है, अच्छा है। जिसका मन सेवा मे सलग्न हो गया उसके लिए सेवा से बढकर और कुछ भी नही है। जिसका मन और कही लग गया उसके लिए वही सब कुछ है। मन का नियोजन, मन का व्यवस्थापन, मानसिक-शरीर का निर्माण जिस रूप मे कर दिया, उसके लिए वह तन्मय और तदाकार बन जाता है।

सेवा के अनेक पहलू हैं। स्याद्वाद की दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक पदार्थ के अनन्त पर्याय हैं। एक अक्षर, एक मात्रिका का वर्ण 'अ'—इसके भी अनन्त पर्याय हैं। एक परमाणु के भी अनन्त पर्याय हैं। विश्व की बडी से बडी या छोटी मे छोटी इकाई (यूनिट) के भी अनन्त पर्याय हैं। सेवा और नैतिकता के भी अनन्त पहलू हैं, अनन्त पर्याय हैं। कुछेक पर्यायो की चर्चा ही सीमित समय मे सम्भव हो सकती है। सारे आवरणो को हटाकर उन्हे अनावृत करना समय-सापेक्ष होता है।

अज्ञात का ससार वहुत वडा है। वह इतना वडा है कि उसका कभी भी अन्त नही आ सकता। किन्तु मनुष्य का यह सतत प्रयत्न रहा है कि वह अज्ञात को ज्ञात करे, जो नही जाना गया है उसे जाने। जव अज्ञात ज्ञात होता है तव अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वैसा आनन्द किसी भी पदार्थ से नही होता।

सेवा एक कर्म है। मैं इसे अस्वाभाविक या वहुत ऊचा नही मानता, क्योकि जिसे ऊचा सिद्धान्त कहा जाए वह काल्पनिक होता है। उसके लिए यथार्थ से हटकर कल्पना करनी पडती है। किन्तु जो नैसर्गिक है, स्वाभाविक है, उसके लिए वहुत वडी कल्पना की आवश्यकता नही होती। सेवा सहज और स्वाभाविक कर्म है। 'आचार्य उमास्वाति' ने प्रत्येक पदार्थ के उपकार की चर्चा की है। चेतन और अचेतन सभी पदार्थों के उपकार की चर्चा की है, सम्प्रेक्षा प्रस्तुत की है। उन्होने लिखा है—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**—जीवो का परस्पर उपग्रह-सहयोग होता है। मेवा जहा होती है वहा दो होते हैं—एक सेवा देने वाला और एक मेवा लेने वाला। द्वैध वना रहता है। वास्तव मे वह सेवा सेवा नही होती जहा द्वैध होता है। वहा और ही कुछ घटित होता है। जहा द्वैध रहेगा, वहा एक कर्त्ता ओर एक कर्म रहेगा, वहा सेवा की यथार्थता घटित नही होती। जव तक कर्म रहेगा, 'प्रति' की भावना वनी रहेगी तव तक सेवा नही होगी।

पूछा गया कि दाता और याचक को कैसे पहचाना जाए ? कवि ने कहा, **'दातृयाचकयोर्भेदः कराभ्यामेव सूचित'**—दाता और याचक की पहचान हाथ के विन्यास से ही समझ ली जाती है। दाता का हाथ ऊचा और याचक का हाथ नीचा रहेगा। हाथ वताते हैं कि यह दाता है और यह याचक।

देने वाला और लेने वाला—जहा यह होता है वहा सेवा की मूल भावना खण्डित हो जाती है। एक सहयोग लेने वाला और एक सहयोग देने वाला, जहा यह भावना होती है वहा सेवा की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। उसका रूप धुधला हो जाता है। सेवा है परस्परता। जहा एक कर्त्ता और एक कर्म नही वनता, किन्तु दोनो समान धरातल पर खडे होते हैं। वह उसका उपकार और वह उसका उपकारी, सहयोग देने वाला भी उपकृत होता है और सहयोग लेने वाला भी उपकृत होता है। देने वाले मे अह नही होता और लेने वाले मे हीनता की अनुभूति नही होती, वह है सेवा। वह है सेवा की प्रतिष्ठा। जहा अह की अनुभूति और हीनता की अनुभूति—दोनो का विलय हो जाता है वहा सेवा शब्द का प्रयोग उपयुक्त कहा जा सकता है।

इस विषय मे वहुत वडी भ्रान्ति पलती जा रही है। जितनी भी 'समाज-सेवा' सस्थाए हैं, वे जो कार्य कर रही हैं, उनके प्रति मेरे मन मे कोई विरक्ति का भाव नही है, उनके प्रति विरोध की भावना भी नही है, किन्तु मैं यह वताना

चाहता हू कि कहा एक जागतिक भ्रान्ति हो रही है, सामूहिक चेतना कहा भटक रही है।

सेवा के लिए दो साधन अपेक्षित होते है—एक श्रम और दूसरा धन। श्रम तो व्यक्ति अपना दे सकता है, किन्तु धन कुछ लोगो से ही प्राप्त होता है। जिन लोगो ने धन का विशिष्ट अर्जन किया है, उनसे धन आता है। इसमे एक बात जान लेनी चाहिए कि जो धन सेवा के लिए आता है, वह आता है परस्परता को खण्डित कर। सेवा का पहला सूत्र है—परस्परता। वह खडित हो जाती है। सेवा का दूसरा सूत्र है—दूसरो के अधिकारो का अहनन। किन्तु जो लोग विशेष धन अर्जन करते हैं वे अर्जन करते समय दोनो बातो का ध्यान नही रखते। मिल-मालिक करोडो रुपये कमाता है। फिर सेवा के लिए लाखो का दान भी करता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि वह मिल-मजदूरो को उनका देय देता तो वह करोडो की आय नही कर सकता, लाखो का दान दे नही पाता। जिन मजदूरो ने अपना सारा श्रम उसमे नियोजित किया, पूजी का उत्पादन किया जिनके आधार पर मालिक को करोडो का अनुदान मिला, उनके प्रति अन्याय कर उसने करोडो की आय कर ली। मिल-मालिक ने अपने बुद्धि-बल से उन लोगो के हिस्सो को समेटकर बडा हिस्सा स्वय ले लिया। अब वह उसमे से कुछेक हिस्सा सेवा और लोक-कल्याण कार्य मे लगाता है। यह यथार्थ है। जब तक इस भ्रान्ति को नही मिटाया जाएगा तब तक सेवा की छोटी-छोटी प्रवृत्तिया चलती रहेगी, पर मूलभूत समस्या हल नही होगी, दु खो का अन्त नही होगा। आज समाज-सेवी, सस्थाओ के लिए यह आवश्यक है कि वे केवल पत्तो और फूलो पर ही ध्यान न दें, जड पर भी ध्यान दें। मैं यह कहना नही चाहता कि पत्तो की या फूलो की जरूरत नही है, किन्तु यह आवश्यक है कि हम पत्तो और फूलो मे ही न उलझें, जड को भी देखें। पत्ते आते है फूल आते हैं और चले जाते हैं। वसन्त आता है और पतझड भी आता है। वसन्त और पतझड सदा आता रहेगा, पर समस्या का समाधान नहीं होगा। समस्या के समाधान के लिए हमे प्रयत्न करना होगा।

दो प्रकार की वृत्तिया होती हैं—सैंहीवृत्ति और श्वावृत्ति। एक है सिह की वृत्ति और एक है कुत्ते की वृत्ति। बहुत पुराना रूपक है। कुत्ते की ओर ढेला फेंको वह मार खाकर भी ढेले को चाटने लग जाएगा। वह यह नही देखेगा कि ढेला कहा से आया है, किसने फेंका है। सिह के प्रति गोली दागो, वह मार की परवाह नही करेगा। किन्तु वह देखेगा कि गोली कहा से आई है? किसने दागी है? वह उसी ओर लपकेगा। वह आक्रामक बनकर झपटेगा। कुत्ता वर्त्तमान को देखता है, आगे-पीछे नही देखता। सिह आगे-पीछे देखता है, वर्तमान पर अधिक ध्यान नही देता।

इसी प्रकार हमारी भी दो वृत्तिया हैं। एक वह वृत्ति है जो परिणाम मे

उलझ जाती है और एक वह वृत्ति है जो प्रवृत्ति के मूल को पकडती है। समझदार व्यक्ति सिंह की वृत्ति को मानकर चलता है, मूल को खोजता है। साधारण व्यक्ति श्वा को अपनाकर चलता है, मूल को नही खोजता। सेवा का मूल है—हम सब सेवा मे दिए जाने वाले सहयोग को दूसरी बात माने और पहली बात यह माने कि किसी मानवीय अधिकारो का हनन न हो। इससे सेवा का महान् सूत्र हाथ लग जाता है और तब सेवा की सही प्रतिष्ठा हो जाती है।

वर्तमान का उपचार कोई स्थायी-समाधान नही है। एक घाव को भरने का प्रयत्न करें और साथ-साथ हजारो घाव उत्पन्न करते चले जाए—यह सेवा का विकृत रूप है।

नैतिकता के दो रूप हैं—

१ मानवीय-सम्बन्धो की व्यवस्था ठीक करने वाला।

२ चरित्र का विकास करने वाला।

ये दोनो बातें नैतिकता के साथ जुडी हुई हैं। सेवा करने वाला नैतिक होगा ही, होना ही चाहिए। अपने तथा दूसरो के विकास का प्रयत्न न हो और केवल बाढ के समय, अकाल के समय या ऐसे ही किसी उत्पीडन के समय सहयोग दें, उपकार करे, यह एक बात है। इसका मैं खडन नही करता। इसे मैं बुरा भी नही मानता। किन्तु सहयोग के साथ कितनी बातें जुडी होती हैं, उनकी उपेक्षा नही करें। सहयोग के साथ यह महत्त्वपूर्ण बात जुडी होती है कि सहयोग करने वाला स्वय का चरित्र ऊचा रखे और सहयोग लेने वाले के चरित्र को ऊचा उठाने का सद् प्रयत्न करे।

तीसरी बात यह है कि सेवा करने का अधिकार उस व्यक्ति को होता है जिसका मन निर्मल हो। जिसका मन कलुषित है वह सेवा कर नही सकता। यदि वह सेवा के क्षेत्र मे पदार्पण करेगा तो मिथ्या धारणाओ का पोषण करेगा और अह को विकसित करेगा। वह पूजा, प्रतिष्ठा आदि को उसके साथ जोड देगा। जिस सेवाभावी मे मन की निर्मलता होगी, वह जो भी करेगा वह सेवा होगी।

हमे द्विजन्मा होना चाहिए। हमारा एक जन्म होता है माता के गर्भ से, तब बाहरी दुनिया सामने आती है। दूसरा जन्म होना चाहिए भीतर मे, तब भीतरी दुनिया सामने आती है। हमे द्विज होना चाहिए। मुनि द्विजन्मा होता है। ब्राह्मण भी द्विजन्मा होता है। प्रत्येक व्यक्ति को द्विजन्मा होना चाहिए—एक जन्म माता के गर्भ से और एक जन्म अपने आप मे, अपने भीतर मे। जो अपने आप मे जन्म लेता है उसके सामने दूसरी दुनिया उपस्थित होती है। जब आन्तरिक दुनिया उपस्थित होती है, जब मन निर्मल होता है, तब निर्मल मन के द्वारा कुछ भी होता है, वह सचमुच सेवा ही होती है और कुछ भी नही होता। निर्मल मन के द्वारा असेवा कभी नही होती है।

सेवा और नैतिकता के सम्बन्ध मे कुछ मैंने कहा है वह मेरी स्वतन्त्र धारणा है। सेवा को चमत्कार माना जाता है। इस चमत्कार को हम स्वाभाविक मानें, अस्वाभाविक न मानें। कुछ साधक परस्पर बातें कर रहे थे। एक ने कहा, 'मैं आकाश मे उड सकता हू।' दूसरे ने कहा, 'मैं पानी पर चल सकता हू।' तीसरे साधक ने कहा, 'इन दोनो क्रियाओ मे कोई चमत्कार नही है। पक्षी भी आकाश मे उडते हैं और मछली भी पानी मे तैरती है। आकाश मे उड़ना और पानी पर चलना चमत्कार नही है। बडा चमत्कार है—अपने आप को पा लेना, चेतना के आकाश मे उडना और आत्म-चैतन्य के अथाह समुद्र को तैरना।'

सेवा दुनिया का सबसे बडा चमत्कार है यदि उसके साथ तीन सूत्र जुडे हुए हो—

- दूसरो के अधिकारो का अहनन।
- मन की निर्मलता।
- परस्परता।

गगाशहर, १८ अक्टूबर, ७८

नयी शिक्षानीति और आन्तरिक व्यक्तित्व

वर्तमान मे शिक्षा और शिक्षा-सस्थान की सीमा वहुत व्यापक हो गई है। पुराने जमाने मे कुछ विशिष्ट लोग ही शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा-सस्थान वहुत कम थे। आज कुछ राष्ट्रो मे शत-प्रतिशत लोग साक्षर मिलते हैं। साक्षरता का अनुपात सभी देशो का वढा है और वढ रहा है। आज के विश्वविद्यालयो मे शिक्षा की अनगिन शाखाए हैं। उन सवकी उपयोगिता भी प्रमाणित हो चुकी है। मनुष्य जाति जीवन की सभी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उनका उपयोग कर रही है। समाज की समृद्धि वढी है, साधन वढे हैं, सुविधा वढी है। चिकित्सा के क्षेत्र मे भारी प्रगति हुई है। शल्य-चिकित्मा के नये नये कीर्तिमान स्थापित हो रहे हैं। मानव शरीर के पुर्जे निर्मित हो रहे हैं। प्लास्टिक सर्जरी अव आश्चर्य की वात नही रही। अन्तरिक्ष यात्रा भी एक साधारण घटना हो गई है। अतीत मे जो योग की सिद्धिया मानी जाती थी, वे आज सामान्य व्यक्ति को उपलब्ध हो गई हैं—दूरश्रवण, दूरदर्शन आदि-आदि। वैज्ञानिक युग की सारी उपलब्धियो का विहगावलोकन कर लेने पर भी एक प्रश्न उभरे विना नही रहता। क्या मानसिक शान्ति वढी है? क्या मन का तनाव कम हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर 'हा' मे नही मिलता। हर कोई कहेगा, 'मन का तनाव वढा है, मन की अशान्ति वढी है।' ऐसा क्यो? वाहर मे प्रचुर सपन्नता और भीतर मे इतनी रिक्तता क्यो? सुखानुभूनि के साधनो का विकास होने पर भी मन की शान्ति की समस्या क्यो? इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान शिक्षा और वर्तमान के शिक्षा-सस्थान से नही मिलता। उनमे आतरिक जीवन के लिए कोई स्थान ही नही है। वहा वह सर्वथा वहिष्कृत है।

विज्ञान के क्षेत्र मे परा-विद्या को आशिक स्वीकृति मिली है। मानसिक तनाव और वढती हुई पागलो की सख्या से भयभीत होकर वैज्ञानिको ने ज्ञान के विषय मे खोजें शुरु की हैं। उनके परिणाम वहुत अच्छे मिलते हैं। फलत फिर एक वार वाह्य जगत् के साथ-साथ अन्तर्जगत् से परिचित होने की जिज्ञासा जाग रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अध्यात्म फिर गुह्य-विद्या की सीमारेखा को तोडकर सामान्य श्रेणी मे आ रहा है।

शिक्षा से अपेक्षा की जाती है कि वह मनुष्य को बदले, उसके चरित्र का निर्माण करे। लोगो की शिकायत है कि यह अपेक्षा पूरी नही हो रही है। मुझे लगता है कि शिकायत सही नही है। शिक्षा अपना काम ठीक कर रही है। इजीनियरिंग कालेज मे पढने वाला अच्छा इजीनियर बन रहा है। मेडिकल कालेज मे पढने वाला कुशल डॉक्टर बन रहा है। शिक्षा के सभी क्षेत्रो मे दक्षता बढ रही है। वह अपना पूरा काम रही है। यह नही कहा जा सकता कि आज की शिक्षा व्यर्थ है। वर्तमान शिक्षा की सार्थकता को चुनौती नही दी जा सकती। वह अपने कार्य-क्षेत्र मे पूर्ण सार्थक सिद्ध हो रही है। चरित्र-निर्माण की कोई शिक्षा ही नही है, तब हम शिक्षा से उसकी आशा कैसे करें? जिसका बीज ही नही बोया जाता, उसके पौधे की आशा करना क्या समझदारी होगी? गणित की शिक्षा विद्यार्थी को गणित मे कुशल बना सकती है, पर चरित्र-कुशल बनाने का दायित्व कैसे उठा सकती है? यह बात सभी विद्याओ के लिए लागू होती है। चिकित्सा की शिक्षा से चिकित्सा-कुशल व्यक्तित्व की अपेक्षा की जा सकती है, किन्तु चरित्र-कुशल व्यक्तित्व की अपेक्षा की जाए तो वह समझदारी नही होगी। बौद्धिक विकास, कार्य-कौशल और कार्यक्षमता—ये शिक्षा के काम है और ये सबके सब पूरे हो रहे है। चरित्र-विकास के लिए जिस शिक्षा की अपेक्षा है, वह शिक्षा ही प्रचलित नही है, तब चरित्र-विकास की त्रुटि को वर्तमान शिक्षा पर आरोपित कर उसे दोषपूर्ण बतलाना, विचारपूर्ण नही लगता।

चरित्र का निर्माण शिक्षा से नही होता, सामाजिक परिस्थिति और पारिपार्श्विक वातावरण से होता है—ऐसा माना जाता है। एक बच्चा जिस वातावरण मे पलता है, उसकी छाप उसके मन पर अकित होती है और वही उसका चरित्र बनाता है। इस दृष्टि से बच्चो के चरित्र-निर्माण का दायित्व अभिभावको पर होता है। दूसरे मे अध्यापको पर होता है। बच्चे उनके सम्पर्क मे रहते हैं, उनसे प्रभावित होते हैं, उनका आचरण सहज ही बच्चो पर प्रतिबिंबित होता है? चरित्र-निर्माण का तीसरा तत्त्व माना जाता है—स्वाध्याय। कहानिया और जीवनिया—ये दोनो विद्यार्थी के मानस को बहुत प्रभावित करती हैं। बड़े लोगो की जीवनिया पढकर अनेक विद्यार्थियो मे आदर्श की निष्ठा जागृत हुई और वे आदर्श की दिशा मे चल पड़े। महान् धार्मिको और विचारको के शिक्षा-वचन भी प्रेरक बनते हैं। उनसे भी अनेक लोग प्रेरित होकर जीवन का निर्माण करते है। चरित्र-निर्माण के इन सभी साधनो की उपयोगिता है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। चरित्र-निर्माण का इन सबसे अधिक प्रभावी साधन जो है, उसके प्रति हमारा ध्यान आकर्षित नही है। वह है अपना आतरिक परिचय। आन्तरिक महानता के लिए आन्तरिक परिचय बहुत जरूरी है, किन्तु समस्या यह है कि हमे अपने आप से परिचित होने का कोई अवसर ही नही मिलता। न शिक्षा हमारे आन्तरिक

व्यक्तित्व से हमे परिचित कराती है और न धर्म ही हमारी इस आवश्यक्ता की पूर्ति करता है। प्राचीन काल मे शिक्षा के दो अग थे—अपरा-विद्या और परा-विद्या। अपरा-विद्या से विद्यार्थी बौद्धिक विकास और कर्म-कौशल को प्राप्त होता था तथा परा-विद्या मे वह आन्तरिक व्यक्तित्व से परिचित होता था। वर्तमान शिक्षा के साथ परा-विद्या का सम्बन्ध नही है। धर्म की शिक्षा वर्तमान विद्यालयो मे सभव नही है। धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं। कोई ऐसा सर्वमान्य धर्म नही है, जिसे निर्विवाद रूप मे विद्यालयो मे पढाया जा सके। इसलिए शिक्षा विद्यार्थी को धर्म का बोध कराने मे सक्षम नही है। धर्म भी स्थूल कर्म-काण्डो मे उलझे हुए हैं। वे बाह्य जगत् के स्थूल आकर्षणो का सहारा लेकर अपने अनुयायियो को आकर्षित करने मे लगे हुए है।

हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व हमारे चरित्र को सर्वाधिक प्रभावित करता है और उसी के प्रति हम सर्वाधिक अज्ञानी हैं। यह हमारे चरित्र की सबसे बडी समस्या है। इस समस्या को सुलझाने का उत्तरदायित्व शिक्षा-सस्थान उठा सकते हैं। कोई धर्म यह उत्तरदायित्व नही उठा सकता। आज का विद्यार्थी शैक्षणिक योग्यता प्राप्त कर विद्यालय से बाहर आता है, तब उसका धर्म के प्रति जितना आकर्षण होना चाहिए, उतना आकर्षण नही होता, इसीलिए धर्म उस दायित्व को नही उठा सकते। केवल शिक्षा-सस्थान ही उस दिशा मे कुछ कर सकते है। वे धर्म, नैतिकता और आध्यात्मिकता के नाम पर शायद बहुत नही कर सकते। चरित्र का सम्बन्ध जीवन से है। वह एक जीवन-विज्ञान है। जीवन-विज्ञान की एक विद्या-शाखा का विकास किया जाए तो आन्तरिक व्यक्तित्व से परिचित होने और उसे समझाने-सवारने का अधिक व्यापक अवसर मिल सकता है।

आज का प्रबुद्ध व्यक्ति मान्यताओ और उपदेशो पर अधिक निर्भर नही रह सकता। उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियो पर आस्था है। इसलिए वह वैज्ञानिक खोजो को ही अधिक विश्वस्त मानकर चल सकता है। धर्म ने भी सत्य की खोज की और विज्ञान भी सत्य की खोज मे लगा हुआ है। विज्ञान धर्म द्वारा खोजे गए सत्यो को पुनरुच्चारित कर रहा है, इसलिए आज के सूत्रो को विज्ञान की भाषा मे प्रस्तुत किया जाए, यह आवश्यक हो गया है। 'क्रोध मत करो, क्रोध करना अच्छा नही है, क्रोध करने वाला नरक मे जाता है'—यह भाषा आज के मानस को पकडती नही है। क्रोध के शारीरिक और मानसिक परिणाम होते हैं। उन पर आज काफी खोजें हुई है। क्रोध की उत्तेजना से एड्रिनल का स्राव असतुलित हो जाता है, रक्त दूषित हो जाता है और रक्तचाप बढ जाता है। हार्ट-ट्रबल आदि अनेक समस्याए पैदा होती हैं। शरीर-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र और मानस-शास्त्र के निष्कर्ष एक साथ सकलित कर प्रस्तुत किए जाए तो व्यक्ति को अपनी आदत और उसके परिणामो से परिचित होने का अवसर मिल जाता है। आदत बदले

या न बदले—इस चिन्ता को हम एक बार छोड भी दे किन्तु अपनी आदतो और उनके परिणामो से हम अनजान न रहे। इतना भी हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व को बदलने के लिए कम नही है। हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व नही बदलता, उसका सबसे बडा कारण है कि हम अपने आपसे परिचित नही है। अपने शक्ति-स्रोतो के विषय मे हमारी कोई जानकारी नही है। तब उनके उपयोग का कोई प्रश्न ही नही उठता। हमारे आतरिक व्यक्तित्व मे जो बुराइया है, उन्हे भी जाने, जो अच्छाइया है, उन्हे भी जाने, जो बुराइयो के स्रोत है, उन्हे भी जाने, जो अच्छाइयो के स्रोत है उन्हे भी जाने। बदलने की बात जानने के बाद ही हो सकती है। हम जानते ही नही, फिर बदलने की आशा कैसे कर सकते है?

कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) और ध्यान के द्वारा हम नाडी-सस्थान पर ही नही, स्वत चालित नाडी-सस्थान पर भी नियत्रण पा सकते है, ग्रन्थियो के स्रावो को सतुलित कर सकते है और वाछनीय स्रावो को बढा सकते है। हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व मे शरीर और मन की चिकित्सा के तत्त्व ही निहित नही है, किन्तु अतिचेतना जागरण के तत्त्व भी सन्निहित है। बौद्धिक चेतना का विकास होने के पश्चात् अतिचेतना का विकास बहुत आवश्यक होता है। यदि ऐसा नही होता है तो बौद्धिक विकास एक बडा खतरा भी बन सकता है। अणु-अस्त्रो के निर्माण के रूप मे वह आज समूची मानव जाति के सिर पर मडरा रहा है। उस खतरे का सर्वाधिक शक्तिशाली समाधान है अतिचेतना का जागरण। अतिचेतना का जागरण होने पर—

१. मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य विकसित होगा।
२. पागलपन नही होगा।
३. दूसरो के स्वत्व को हडपने की भावना नही होगी।
४. सामाजिक विषमता नही होगी।
५. चिन्ता, भय और आतक नही होगा।
६. शस्त्रो की होड और युग का उन्माद नही होगा।

हम निराश न हो, अतिकल्पना भी न करें, यथार्थ के धरातल पर चलें। आन्तरिक व्यक्तित्व को बदलने की दिशा मे प्रस्थान करें। असभव कुछ भी नही है। सभव को सभव बनाने के लिए शिक्षा के साथ विद्या की एक नयी शाखा को जोडने की जरूरत है। इस जरूरत पर हम लोग अनुभव की भाषा मे सोचे और उसी भाषा मे बोलें। बस, यही एकमात्र आकाक्षा है युगचेतना की।

दिल्ली, अप्रैल, ७९

शिक्षक का कर्त्तव्य-बोध

हे दारिद्र्य ! नमस्तुभ्य, सिद्धोस्मि त्वत्प्रसादतः।
सर्वानहं च पश्यामि, मा न पश्यति कश्चन ॥

कवि ने नमस्कार किया है, किसी प्रभु को नही, परमात्मा को नही, किन्तु दारिद्र्य को। दारिद्र्य ! तुझे नमस्कार है। ऐसी क्या वडी वात है ? ऐसी कौन-सी वडी शक्ति है ? किन्तु कवि को लगा कि शायद इस दुनिया मे गरीवी से वढकर कोई शक्ति और सत्ता दूसरी नही है, इसलिए उसने उसे नमस्कार किया। उसने कहा, 'दारिद्र्य ! तेरी कृपा से मैं स्वय भगवान् वन गया।' हिन्दुस्तान मे तो लोग दरिद्रनारायण कहते ही हैं। मैं तो नही मानता। किन्तु लोग कहते हैं। कवि ने कहा कि तुम्हारी कृपा से मैं भगवान् वन गया। कैसे ? आपके मन मे भी तर्क हो सकता है। पैसे से तो लोग भगवान् वनते हैं, किन्तु दारिद्र्य से कैसे भगवान् वन गया ? किन्तु कवि ने ठीक कहा, औचित्यपूर्ण कहा और तर्कसगत कहा कि मैं तुम्हारी कृपा से भगवान् वन गया हू। कैसे वन गया ? वह तर्क भी मैं आपको वता दू। कवि ने कहा, 'भगवान् सवको देखता है, भगवान् को कोई नही देखता। मैं सवको देखता हू, मुझे कोई नही देखता। मेरे सामने कोई आख उठा कर भी नही देखता और मैं सवकी ओर देखता हू।'

प्रश्न है कि जो दारिद्र्य है, गरीवी है, यह क्यो है ? इसका सवसे वडा कारण है—शक्ति का अभाव, पुरुषार्थ का अभाव। फिर प्रश्न होता है कि यह शक्ति का अभाव क्यों है ? ज्ञान का अभाव शक्ति के अभाव को जन्म देता है। यह कार्य-कारणमाला के रूप मे चलता है। दरिद्रता इसलिए है कि हमारे भीतर शक्ति जागृत नही है और हमारी शक्ति सुषुप्त इसलिए है कि हमारा ज्ञान प्रवुद्ध नही है। यदि ज्ञान हमारा प्रवुद्ध हो तो हमारी शक्ति जागृत होगी और अगर हमारी शक्ति जागृत होगी तो हमारी समृद्धि वढेगी। कार्य-कारणमाला के रूप मे देखता हू, तो ज्ञान की निष्पत्ति है शक्ति और शक्ति की निष्पत्ति है समृद्धि। यह एक क्रम चलता है। जो व्यक्ति पढा और उसमे शक्ति का विकास नही हुआ तो मैं यह मानने के लिए तैयार नही हू कि उसे ज्ञानी या पढा हुआ कहा जाए। हो

सकता है कि उसने अक्षरो का ग्रहण किया है, कुछ विषयो का ग्रहण किया है। किन्तु आजकल कम्प्यूटर भी ऐसा ग्रहण कर लेता है। टेपरिकार्डर भी ग्रहण कर लेता है। यह हमारी ग्रहणात्मक योग्यता हो सकती है, किन्तु हमारी अपनी आत्मिक योग्यता या चेतना का जागरण नही हो सकता।

ज्ञानी आदमी मे निश्चित ही शक्ति का विकास होना चाहिए और जिस व्यक्ति मे ज्ञान का विकास और शक्ति का विकास हो और समृद्धि का विकास न हो, यह कभी हो नही सकता। यह अनिवार्यत होगा ही। उसमे समृद्धि बढेगी। समृद्धि के भी दो रूप है। चाहे हम सुख की तरफ जाए और चाहे आनन्द की तरफ जाए। किन्तु कोई भी ज्ञानी या शक्तिमान पुरुष दीन, हीन और गरीब नही हो सकता। वह प्रसन्न होगा, आनन्दित होगा, प्रफुल्लित होगा और एक पुष्प की भाति सदैव मुस्कराता रहेगा।

ज्ञान हमारी बहुत बडी उपलब्धि है। ज्ञान उस बीज की उपलब्धि है जिसके बाद अकुरण होता है। पल्लवन, पुष्पन और फलन—सब कुछ होता है। यह बीज है हमारा। कवि ने ज्ञान के विषय मे ठीक कहा है—

पीयूषमसमुद्रोत्य, रसायनमनौषधम्।
अन्यानपेक्ष्यमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्महर्षिणः॥

—ज्ञान क्या है ? यह पीयूष है, अमृत है। अमृत तो है किन्तु किसी समुद्र से निकला हुआ नही है। रूपक की भाषा मे कहा जाता है कि अमृत समुद्र से निकला है। ज्ञान अमृत अवश्य है किन्तु किसी समुद्र से निकला हुआ नही है। यह रसायन है किन्तु किसी औषधशाला मे बना हुआ रसायन नही है, औषध नही है। अनौषध रसायन है। और यह ऐश्वर्य है किन्तु दूसरे के सिर पर या दूसरे के कन्धे पर पैर रखकर अपने आप मे प्रकट होने वाला ऐश्वर्य नही है। लौकिक ऐश्वर्य के लिए कुछ चाहिए, नौकर चाहिए, गुलाम चाहिए, दास चाहिए। कोई नीचे न हो तो ऐश्वर्य प्रकट नही होता। कोई न कोई नीचे चाहिए। एक व्यक्ति के पास बहुत बडा साम्राज्य हो सकता है, बहुत धन हो सकता है किन्तु उसके नीचे कोई दूसरा न हो तो ऐश्वर्य उसका प्रकट नही होता। फिर तो ऐश्वर्य सोया रह जाता है।

कन्फ्युशियस बैठा था। सम्राट् उधर से आ रहे थे। सम्राट् ने पूछा, 'तुम कौन हो?' उसने कहा, 'मैं सम्राट् हू।' 'अरे! तुम कैसे सम्राट्! जगल मे बैठे हो' फिर सम्राट् कैसे ?' कन्फ्युशियस ने पूछा, 'तुम कौन हो ?' वह बोला, 'मैं सम्राट् हू। देखो, असली सम्राट् यह होता है। कितने सेवक, कितने वाहन, कितना ठाट-बाट और ऐश्वर्य, यह होता है सम्राट्। तुम अकेले जगल मे फकीर की भाति बैठे हो और अपने आपको सम्राट् मान रहे हो। कितना मोह और कितनी भ्रान्ति है ? बताओ, तुम सम्राट् कैसे हुए ?'

कन्फ्युशियस बहुत बड़ा दार्शनिक था, बहुत बड़ा संत था। वह बोला, 'सेवक उस आदमी को चाहिए जो आलसी होता है। मैं आलसी नहीं हूं, इसलिए मेरे साम्राज्य में सेवक की जरूरत नहीं हैं।'

सम्राट् ने पूछा, 'बताओ, तुम्हारे पास सेना है क्या? बिना सेना के कोई सम्राट् कैसे हो सकता है?'

कन्फ्युशियस बोला, 'सेना उसे चाहिए जिसके शत्रु हों। दुनिया में मेरा कोई शत्रु नहीं हैं। इसलिए मेरे साम्राज्य में सेना की आवश्यकता नहीं है।'

फिर पूछा, 'क्या तुम्हारे पास धन और वैभव है?'

उत्तर मिला, 'धन और वैभव उसे चाहिए जो दरिद्र हो। मैं दरिद्र नहीं हूं, इसलिए मुझे धन और वैभव की आवश्यकता नहीं है।'

फिर पूछा, 'तुम्हारा वेश भी सुन्दर नहीं हैं, फिर तुम कैसे सम्राट् हुए?'

'सुन्दर वेश उसे चाहिए जो कुरूप हो और अपनी कुरूपता को छिपाने के लिए उत्सुक हो। मैं अन्त सुन्दर हूं। मुझे सुन्दर वेश की जरूरत नहीं है।'

सम्राट् का सिर झुक गया। बेचारा क्या बोलता? वह कुरूप था, इसलिए सुन्दर वेश बनाकर अपने को सुरूप दिखाना चाहता था। वह आलसी था, इसलिए दूसरों के सिर पर, दूसरों के कन्धों पर अपने सारे जीवन का सारा भार लादकर अपने ऐश्वर्य को प्रकट करना चाहता था। उसके हजारों-हजारों शत्रु थे। उसके साथ सैनिक नहीं होते तो न जाने कब गोली लग जाती। कब का वह मर जाता। इसलिए सेना उसे रखनी पड़ती थी। वह दरिद्र था। अपनी दरिद्रता को छिपाने के लिए बहुत बड़े वैभव का अम्बार लगाना उसके लिए आवश्यक था। किन्तु कन्फ्युशियस का साम्राज्य इन सब बातों से परे था। वह वास्तव में दुनिया का सम्राट् था।

हमारे जीवन की जो उपलब्धियां हैं, हमारे जीवन की जो विशेषताएं हैं वे हमारी आन्तरिकता में निहित होनी चाहिए और जो ज्ञान केवल दरिद्रता और शक्तिहीनता की दिशा में मनुष्य को ले जाता है, वह ज्ञान, ज्ञान नहीं हो सकता। मैं शक्ति का उपासक नहीं हूं किन्तु शक्ति में बहुत विश्वास करता हूं और यह निश्चित मानता हूं कि जो व्यक्ति शक्तिहीन होता है उसे दुनिया में न्याय पाने का अधिकार कभी नहीं मिल सकता। न्याय उसी व्यक्ति को मिलता हैं, जिसके हाथ में शक्ति होती है। शक्तिहीन और दुर्बल व्यक्ति न्याय की भीख मांगता फिरे, पर दुनिया में कोई भगवान् भी ऐसा दयालु नहीं है कि शक्तिहीन को न्याय दे दे। न्याय उन्हीं लोगों को मिला है जिसके पीछे शक्ति का वरदान रहा है। कमजोर को न्याय देने के लिए न कोई दुनिया में भगवान् पहले आया, न आज आ सकता है, न भविष्य में आने वाला हैं। हमारे जितने भी भगवान् हुए हैं, हम जिनको भगवान् मानते रहे है, मानते चले जा रहे हैं, उनके साथ आप शक्ति को

काट दीजिए, शक्ति को तोड दीजिए, भगवान् अपने आप मे पगु है, वे हमारी कभी सुरक्षा नही करेंगे। भगवान् भी अपने को इसीलिए भगवान् मान सकता हैं कि मुझे मानने वाले शक्तिशाली हैं। अगर भगवान् के अनुयायी कमजोर और दुर्बल हो तो भगवान् भी वेचारा किसी वालू की परतो के नीचे दव जाता है। दुनिया जानती भी नही है कि भगवान् का कोई अस्तित्व भी है। शक्ति का सूत्र सवमे वडा सूत्र होता है। शक्ति के साथ समृद्धि का योग होता है।

मैंने सुना कि आप लोग छात्र भी हैं और शिक्षक भी है। मुझे तो यह ठीक जचा, क्योकि मैं एक जैन मुनि हू। जैन मुनि होने के नाते अनेकान्त को मानता हू और अनेकान्त के साथ-साथ मानवीय चिन्तन की धारा को और सत्य के प्रतिपादन को देखता हू तो मुझे लगता है कि अगर ये दोनो वातें न हो कि कोई व्यक्ति अगर छात्र भी न हो, शिक्षक भी न हो तो वह कोई तीसरी ही जाति हो सकती है। वह न छात्र हो सकता है और न शिक्षक हो सकता है। कोई भी शिक्षक, जिसमे छात्र होने की पात्रता नही हैं, वह शिक्षक हो सकता है, यह मुझे नही लगता।

आचार्य ने वहुत सुन्दर वात कही हैं। 'शिष्य वनो, गुरु मत वनो।' पूछा, 'क्यो ?' होना तो यह चाहिए कि गुरु वनो। वडी वात तो गुरु वनना मानी जाती है। परन्तु आचार्य ने उल्टा कहा। इस दुनिया मे सत लोग जितनी उल्टी वाते कहते हैं, कोई पागल आदमी भी नही कहता है। उन्होने उत्तर दिया कि शिष्य के ही शिष्य हो सकते हैं, गुरु के शिष्य नही हो सकते। जो शिष्य नहीं है, उसका कोई शिष्य नही वन सकता। दुनिया शिष्य का शिष्य वनती है, गुरु का शिष्य कभी नही वनती। जो शिष्य नही है, शिष्य नही रहा, उसका कोई भी शिष्य नही वन सकता। इसलिए शिष्य वरावर वने रहो।

आचार्यश्री तुलसी, जो आज के युग के वहुत वडे तत्त्ववेत्ता हैं, वहुत वार कहते हैं कि मैं विद्यार्थी हू। अभी तक वे अपने आपको विद्यार्थी ही मानते हैं। वे जीवन के हर क्षण मे अपने आपको विद्यार्थी ही मानते रहेगे। अपने आपको विद्यार्थी मानना ही विद्या के द्वार को खुला रखना है। जिस दिन हम अपने आप को शिक्षक मान लेते हैं, हम उसी दिन विद्या के द्वार को वन्द कर एक वन्द कमरे मे वैठ जाते हैं जहा आगे के लिए कोई अवकाश ही नही रहता।

शिक्षक होना वहुत अच्छी वात है। साथ मे छात्र होना भी वहुत अच्छी वात है और मैं समझता हू कि छात्र पहले होना चाहिए और वाद मे शिक्षक होना चाहिए। यहा स्याद्वाद का एक नया उदाहरण सामने आ गया। सर्दी और गर्मी तो एक साथ हो सकती है, प्रकाश और अन्धकार एक साथ हो सकता हैं, दो विरोधी धर्म एक साथ हो सकते हैं, तो यह भी एक विरोधी युगल का उदाहरण मिल गया—छात्र और शिक्षक। आपके इस 'टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज' मे शायद

अनेकान्त का यह प्रयोग हो रहा है जहा छात्र भी हो और शिक्षक भी हो। होता हैं। आपने सुना होगा, कालिदास के पास एक वार एक समस्या आयी। किसी व्यक्ति ने राजा भोज से कहा कि कालिदास ऐसा है कि कोई भी विषय दो, हर वात को शृगार मे ले जाता है। राजा ने सोचा—यह हो नही सकता। आज मैं ऐसा कोई उपनिषद् का विपय दूगा, शृगार मे कैसे ले जाएगा ? विषय दिया—**'अणोरणीयान् महतो महीयान् ।'** यह वाक्य उपनिषद् का है। इसका अर्थ है—भगवान् अणु से अणु और महान् से महान् होता हैं। कालिदास को विपय दिया समस्या-पूर्ति के लिए। कालिदास दो क्षण के लिए गभीर हो गया। फिर वोला—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्र, करेण धृत्वा शपथ करोमि।
योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया, अणोरणीयान् महतो महीयान् ॥

—यह परम पवित्र यज्ञोपवीत हाथ मे लेकर सौगन्ध खाकर कहता हू, पत्नी के सयोग मे दिन छोटे से छोटा होता है और वियोग मे वडे से वडा।

यह अनेकान्त का उदाहरण है। छोटे से छोटा और वडे से वडा, दोनो साथ होते है। तो मैं भी सोचता हू कि दोनो वाते हमारे जीवन मे होनी चाहिए और जो विद्यार्थी आज उत्तीर्ण होने की उपाधि लेने के लिए उपस्थित हैं, उनके जीवन मे अवश्य फलित होनी चाहिए। दोनो वातें साथ-साथ चलें। वे यह न मान लें कि गाधी विद्या मन्दिर से हम वाहर चले गए, हम उत्तीर्ण हो गए, हमे उपाधि मिल गयी और अव हम तो शिक्षक वन गए, विद्यार्थी नही रहे।

केवल शिक्षक होना वहुत वडा खतरा है। इस खतरे को आप कभी अपने सिर पर मोल न लें। पढते रहें, पढते रहे और अपने विद्यार्थी भाव को सदा वनाए रखें। उससे आपको वहुत वडा लाभ होगा। आपको तो उपाधि मिल गयी। हमे तो पढते-पढते इतने वर्ष हो गए, अभी तक किसी ने उपाधि नही दी। कुछ भी नही मिला। न गाधी विद्या मन्दिर ने दी और न मेरे आचार्य ने दी। किसी ने नही दी। आज तक विद्यार्थी ही मानते चले जा रहे हैं। मैं समझता हू, चलो दुनिया मे कुछ तो ऐसा होना चाहिए कि जहा शिक्षक कभी वने ही नही, विद्यार्थी ही वना रहे।

अव आप प्रत्यक्षत जीवन के सग्राम मे प्रवेश कर रहे हैं। वहा वहुत सारी कठिनाइया सामने आती हैं। सवसे वडी कठिनाई आती है एकागी दृष्टिकोण की। एकागी दृष्टिकोण हमारे हर विकास मे वाधक वनता है। हमारे सामने दो प्रश्न है—एक शाश्वत का और एक सामयिक का। कुछ धार्मिक लोग शाश्वत की वातो से इस प्रकार चिपके वैठे हैं, इतने अडे हुए वैठे हैं कि दुनिया का भला होगा तो शाश्वत सिद्धान्तों से ही होगा, सनातन सिद्धान्तो से ही होगा। जो हमारे भगवान् हुए हैं, राम, कृष्ण, वुद्ध, महावीर, ईसा आदि-आदि जो भी हुए हैं,

उन्होने जिस शाश्वत सत्य का प्रतिपादन किया, उन्ही के द्वारा हमारा भला होगा, जगत् का कल्याण होगा। एक तो यह शाश्वत की बात। दूसरी ओर हमारे बहुत सारे बन्धु ऐसे हैं, जो सामयिक सिद्धान्त को लिये बैठे हैं। वे कहते है कि यह परिवर्तनशील ससार है। समाज परिवर्तनशील है। राजनीति परिवर्तनशील है और हमारी सारी विचारणाए परिवर्तनशील हैं, क्योंकि सारी विचारणाए सामाजिक सदर्भ मे, परिस्थितियो के परिवेश मे, उत्पन्न होती हैं। ये कभी शाश्वत नही हो सकती। हमने भगवान् को बनाया, हमने भगवान् को पुजाया, हमने भगवान् को महत्त्व दिया, हमने सिद्धान्तो को महत्त्व दिया, वे कभी शाश्वत नही हो सकते। सब कुछ मनुष्य ने बनाया है। उसका बनाया हुआ कभी शाश्वत नही हो सकता। यह है सामयिक धारा।

इन दोनो धाराओ के बीच कुछ लोग इस खेमे मे चले जाते है तो कुछ लोग उस खेमे मे चले जाते हैं। दो खेमे बन गए है—एक शाश्वतवादियो का खेमा और दूसरा सामयिकवादियो का खेमा। ये दो खेमे बन गए। इसी कारण हमारी बहुत सारी समस्याए आज बीच मे ही लटकी हुई हैं। क्योकि कुछ समस्याए जो शाश्वत सिद्धान्तो मे सुलझने वाली हैं, हमने आग्रह कर उन्हे सामयिकता मे ढकेल दिया। और कुछ समस्याए जो सामयिक सदर्भों मे सुलझने वाली है, उनको हमने शाश्वत की ओर ढकेल दिया। यह भयकर उलझन हो गयी और परिस्थिति की जटिलता पैदा हो गयी। आज बहुत सारे पढे-लिखे और शिक्षक लोग भी एक आग्रह को लेकर बैठे रहते हैं। वे कहते हैं कि वर्तमान से कुछ होना-जाना नही, पुराने ग्रन्थो मे जो कुछ लिखा है, वही सही है।

पुरानेपन का मोह हमारे भीतर नही होना चाहिए। आज हम बीसवी-इक्कीसवी शताब्दी मे जी रहे है। हमारे शास्त्र, हमारे ग्रन्थ, हमारे नियम दो हजार, चार हजार और पाच हजार वर्ष पहले बनाये गए थे। देश का परिवर्तन हुआ है, काल का परिवर्तन हुआ है, हमारी सोचने की क्षमताए बढी हैं, वैज्ञानिक उपलब्धिया हमारे सामने आयी हैं, नये ग्रन्थ हमारे सामने आए हैं। उन सब की ओर आख मूदकर, केवल अतीत की ओर झाककर हम सब बातो का निर्णय लेना चाहे तो वह एकागिता सचमुच दरिद्र बना देने वाली है। हिन्दुस्तान जो बहुत बातों मे पिछडा रहा, इसका कारण मैं यह मानता हू कि उसने विज्ञान के क्षेत्र मे और उपलब्धियो के क्षेत्र मे पहल करने की बात बन्द कर दी। महाभारत से पहले का जमाना हिन्दुस्तान की उपलब्धियो का जमाना था। नये-नये चिन्तन के आयामो को उद्घाटित करने का जमाना था और उसमे बहुत कुछ हुआ था। पर इन दो हजार वर्षों मे तो मुझे लगता है कि द्वार बिल्कुल ही बन्द हो गया।

हिन्दुस्तान बार-बार पराजित हुआ। बाहर के आने वाले लोगो से पराजित हुआ। क्यो हुआ ? क्या यहा कोई लडने वाले नही थे ? क्या पराक्रमी योद्धा नहीं

थे ? पराक्रम की दृष्टि से हिन्दुस्तान की तुलना मे दुनिया मे वहुत कम योद्धा मिलेंगे। प्राणो की आहुति देने वाले, प्राणो को न्योछावर करने वाले और प्राणो का विसर्जन करने वाले यहा वहुत मिलेंगे। किन्तु उनका तकनीक विकसित नही था। वाहरी लोग लडते हैं वारूद से, तो हिन्दुस्तानी लडते हैं तलवार से। तलवार और वारूद का मेल कहा ? अंग्रेजो के पास तोपें थी, तव यहा वन्दूक आयी। हिन्दुस्तानी लोग—दो-चार नही, कई पीढिया—पीछे चलते हैं। यह हारने का क्रम हमारे पराक्रम के अभाव मे नही हुआ, यह हमारी शक्ति के अभाव मे नही हुआ, किन्तु विज्ञान के क्षेत्र मे पिछडने के कारण ऐसा हुआ है। हमारे मन मे अतीत का मोह कभी नही होना चाहिए। अतीत से हमे पूरा लाभ उठाना है। आज तक जितना विकास हुआ है, उससे पूरा लाभ उठाना है। लडका हमेशा पिता के कधे पर चढकर देखता है। पिता के कन्धे की ऊचाई तो उसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। उसकी ऊचाई और ज्यादा होती है। हमारे यहा यह मान लिया गया कि शिष्य को गुरु से आगे कैसे वढना चाहिए। गुरु ने जो कह दिया, उससे आगे की वात किसी को कैसे कहनी चाहिए ? मैं सोचता हू कि विनीत शिष्य वह होता है जो गुरु ने कहा, उस वात को और आगे वढा दे। गुरु की कही हुई वात को और अधिक विकसित कर दे, न कि गुरु की वात को रटता ही रहे। 'जो ऐसा नही करता, मैं तो उसे वहुत विनीत या योग्य शिष्य नही मानता।

अभी भी दूसरो का अनुकरण चल रहा है। मौलिकता कम है। हिन्दुस्तान के अध्यापक, हिन्दुस्तान के शिक्षक और प्रशिक्षक इस वात की ओर ध्यान दे कि हमारे शिक्षण की पद्धतियो मे मौलिकता आनी चाहिए। दूसरो का अनुकरण और नकल नही होनी चाहिए। अनुकरण आखिर अनुकरण होता है।

सस्कृत का वहुत वडा कवि माघ एक वार स्नान करने के लिए नदी पर गया। लोटा था पास मे। सोचा—कल फिर आना है। चलो, इसे कही रेत के टीले मे गाड दें, कल काम आ जाएगा। ऐसा किया। किसी ने देख लिया। लोगो ने सोचा, इतना वडा कवि है। लोटे को गाड रहा है, अवश्य कोई अर्थ है। दूसरे लोग जो नदी पर आये हुए थे, उन्होने माघ का अनुकरण किया और स्थान-स्थान पर अपने लोटे नदी मे गाड दिए। दूसरे दिन माघ आया। उसने अपने लोटे का स्थान ढूढना चाहा। किन्तु वह उसे ढूढ नही सका, क्योकि पचासो स्थान एक-से वन गए थे। वह हताश होकर वोला—

गतानुगतिको लोक., न लोकः पारमार्थिकः।
गगाया वालुकामध्ये, गत मे ताम्रभाजनम्॥

—'लोग गतानुगतिक होते हैं। पीछे चलने वाले होते है। इनके अनुकरण ने मेरा लोटा और गवा दिया।'

हिन्दुस्तान मे आज भी अनुकरण की वृत्ति वहुत है। हमें सचमुच दूसरो के आधार पर नही, किन्तु अपने आधार पर प्रशिक्षण की योजनाए वनानी चाहिए। मैंने दिल्ली मे युनिवर्सिटी ग्राट कमीशन के सचिव श्री नाइक मे कहा कि आपका यह जो प्रशिक्षण का क्रम चलता है एक वर्ष का, क्या यह दो वर्ष का नही हो सकता ? जो विषय चल रहा है, क्या उसके साथ मानसिक विकास और नैतिक विकास के प्रशिक्षण की वात को नही जोडा जा सकता ? आज हमारी वहुत सारी समस्याओ का कारण है मानसिक दुर्वलता और नैतिक दुर्वलता। उन्होंने मेरी वात को तो स्वीकार किया किन्तु अपनी असमर्थता प्रवट की। उन्होंने कहा, 'हमारे आयोग के जो वहुत सारे विदेशी लोग हैं, वे जो परामर्श देंगे, सरकार उसे मान्य करेगी।' हमारी वात वही समाप्त हो गयी।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूगा कि शिक्षक अपने उत्तरदायित्व को समझकर राष्ट्र की भावी सम्पत्ति के नैतिक निर्माण मे अपना योग दें। वे स्वय कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हुए राष्ट्र को भी उस ओर अभिमुख करें।'

१ दीक्षान्त भाषण—अध्यापक प्रशिक्षण केन्द्र, सरदारशहर।

वर्तमान शिक्षा और जनतन्त्र

मानव मननशील प्राणी है। मानव का मस्तिष्क सभी प्राणियो से अधिक विकसित है। वह अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक क्रियाशील है। मानव आवश्यकताओ की गठरी है। उसे इससे भी अधिक विकसित मस्तिष्क की आवश्यकता पडी। फलस्वरूप शिक्षा का प्रचलन हुआ।

मानव जीवन का सम्पूर्ण विकास, सर्वोपरि उन्नति, मानव की सुप्त शक्तियो का विकास और समाज के लिए उपयोगी बनाने वाली शक्ति शिक्षा है। सम्पूर्ण जीवन को श्रेष्ठतम ढग से व्यतीत करने के लिए शिक्षा प्रशिक्षण देती है।

शिक्षा के अभिप्राय व उद्देश्य को व्यक्त करने के लिए विद्वानो ने अनेक प्रकार से प्रयास किया है। पाश्चात्य विद्वान् हर्बर्ट के शब्दो मे—'चरित्र-निर्माण ही शिक्षा का उद्देश्य है। इसका एकमात्र अभिप्राय चरित्र-निर्माण है।' इसके अतिरिक्त हर्बर्ट स्पेसर ने शिक्षा के उद्देश्य के साथ-साथ शिक्षा देने के ढग को भी स्पष्ट करते हुए कहा, 'शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि आत्म-शक्ति का पूरी तरह उद्बोधन और विकास हो। विद्यार्थियो को अवसर देना चाहिए कि वे अपनी बुद्धि से काम लेकर खोज करें और उससे परिणाम निकालें। जहा तक हो नयी बातें उन्हे कम बतलाई जाए। विद्यार्थियो को प्रेरित किया जाए कि वे स्वय खोज करे और नयी बातें निकालें। मानव समाज का उत्थान इसी प्रकार हुआ है और ससार के विकास का इतिहास भी इसी बात का साक्षी है।'

शिक्षा के महत्त्व पर विचार किया जाए तो शिक्षा का महत्त्व उसके उद्देश्य की प्राप्ति मे ही है। यदि उपयुक्त शिक्षा भली प्रकार दी जाए व समुचित ढग से ग्रहण की जाए, तो शिक्षा अच्छे समाज के जीवन की कुजी है। अन्यथा जब शिक्षा अपने उद्देश्य को ही पूरा नही कर पाती तो उसका महत्त्व अधूरा रह जाता है। शिक्षा से मानव की अन्तर्निहित प्रतिभा स्फुरण पाकर उसके उच्च व्यक्तित्व के स्वरूप में व्यक्त होती है। उपयुक्त शिक्षा मानव को सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है। वह मानव को जीवन-सग्राम के लिए तैयार करती है। शिक्षार्थियो को सभी प्रकार का समुचित विकास कर उन्हे असत् व अन्धकार से सत् व प्रकाश की ओर ले जाने मे समर्थ है।

शिक्षित मानव जीवन के हर पहलू को विविक्त कर सम्पन्न करना सीखता है। स्वतन्त्र भारत ने जनतन्त्र शासन-प्रणाली को अपनाया है,जिसमे जनसामान्य को ही शासन करने के लिए अपने उपयुक्त साथियो का चयन करना पडता है। ये उपयुक्त नेता जो जन-सामान्य द्वारा निर्वाचित कर लिये जाते है, शासन का कार्यभार चलाते है। नेताओ के निर्वाचन मे जन-सामान्य को शिक्षित होना आवश्क है, अन्यथा आदर्श जनतन्त्र के भीडतन्त्र मे परिवर्तित होने का अन्देशा रहता है। विना शिक्षा के अधिकार एव कर्त्तव्यो का ज्ञान, जनमत का निर्माण व राजनैतिक जागृति जन-सामान्य मे नही आ सकती। जनतन्त्र मे अशिक्षा के कारण कुछ समस्याए उत्पन्न हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार आर्चविशप ऑफ यार्क द्वारा दी गई चेतावनी—'अशिक्षित जनतन्त्र सब राज्य-शासन प्रणालियो मे खतरनाक हैं' अक्षरश सत्य है। जनता अपने अधिकारो व कर्त्तव्यो के ज्ञान से वहुधा अनभिज्ञ ही रहती है। वह तो 'कोउ नृप होउ हमे का हानी' मे विश्वास कर लेती है। भारत मे अशिक्षा के फलस्वरूप ही देश की प्रगति की चाल धीमी है। भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी जैसी अनैतिकता की महामारिया अशिक्षा के आश्रय मे ही पनपती हैं।

भारत मे शिक्षा का प्रचलन वहुत प्राचीन काल से है, जवकि वनो में गुरुकुल थे। किन्तु आधुनिक शिक्षा-प्रणाली लार्ड मेकाले की योजनानुसार ब्रिटिश सरकार की देन है। इस शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य केवल ब्रिटिश सरकार के लिए भारत मे क्लर्क, लेखपाल आदि तैयार करना ही था। वही शिक्षा आज तक चली आ रही है और शिक्षा भी उसी उद्देश्य को पूर्ण कर रही है। स्वतन्त्र भारत ने तो शिक्षा में नाम मात्र ही परिवर्तन किया, जवकि आमूल परिवर्तन की आवश्यकता थी और अव भी है। आजकल की शिक्षा भारतीयो को केवल सरकारी नौकर ही वना सकती है, व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नही। आज का स्नातक, जिसने कृषि विज्ञान मे शिक्षा पायी है, वह भी अपनी शिक्षा का उपयोग कृषि के रूप मे नही कर, नौकरी के रूप मे करना चाहता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अनुपयुक्त, दोपयुक्त परीक्षाप्रणाली, विद्यार्थियो के स्वास्थ्य का ह्रास, शिक्षा की अव्यावहारिकता, नैतिक वल का उत्तरोत्तर अभाव व अग्रेजी माध्यम आदि-आदि दोपो से प्रेरित है।

शिक्षा मे आमूल परिवर्तन करने मे ही देश का कल्याण है, क्योकि वर्तमान शिक्षा स्वतन्त्र भारतीय परिस्थितियो के प्रतिकूल है। आजकल स्कूल व कॉलेज रूपी टकसाल सस्ते सिक्के रूपी स्नातक तैयार करते है, जिनका जीवन-रूपी वाजार मे कोई मूल्य नही है। शिक्षा प्रणाली मे क्राति की आवश्यकता है और इसी पर भारत का उज्ज्वल भविष्य और निर्मल राष्ट्रीयता का उदय निर्भर है।

शिक्षा मे पुस्तकीय ज्ञान को महत्त्व न देकर व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व देने

के लिए उसी ढग से उसका निर्माण होना चाहिए। जीवन को उच्च आदर्शों से पूर्ण और भारतीय सस्कृति के अनुकूल बनाने वाली शिक्षा की योजना होनी चाहिए। शुद्धाचरण, आत्मगौरव, स्वावलम्बी, कर्त्तव्यपरायण और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक जागृत करने वाली ही वास्तव मे शिक्षा है। वर्तमान शिक्षा मे धन व समय का दुरुपयोग होता है, वह न हो। शिक्षा में मितव्ययिता हो।

इस प्रकार शिक्षा के आमूल परिवर्तन मे ही कल्याण निहित है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली द्वारा उत्पादित बेकारी की समस्या फिर न रहेगी। विद्यार्थी जीवन मे उपार्जित गुणो की छाप जीवन-पर्यन्त रहती है। अत हीनता, व्यभिचार, भ्रष्टाचार व रिश्वतखोरी आदि बीमारिया विद्यमान हैं। शिक्षा के परिवर्तित रूप के बाद वे न रहेगी। उचित शिक्षा पाकर आने वाली सन्तति मे आज के समान पौरुषहीनता नही रहेगी। इस प्रकार शिक्षा मे आमूल परिवर्तन वाछनीय है। वर्तमान शिक्षा को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि जनतन्त्र भी अपने आप मे सुरक्षित नही है।

आज का शिक्षक

आज का शिक्षक सबल नही है। वह तन्त्राधीन है, तन्त्र के द्वारा शासित है। वह अपने कर्तव्य को पूरा कर सके, पुरुषार्थ के द्वारा दूसरो को निर्मित कर सके, यह उसके हाथ मे नही है, क्योकि वह एक ऐसी जजीर मे जकडा हुआ है जो दूसरो के द्वारा प्रशासित है। इसी कारण वह अपना विकास नही कर पाता, स्वतन्त्रता से सोच नही सकता। उसके सामने ऐसी अनेक समस्याए है जिनके कारण वह विद्यार्थी को पाठ्यक्रम भी पूरी स्वतन्त्रता से पढा नही सकता।

हमारे सामने विद्या की बात मुख्य नही है। मुख्य बात है निर्मिति की। वह चाहे किसी भी क्षेत्र मे हो। उसका मूल आधार है—'स्वतन्त्र विचार का विकास।' आज जहा शिक्षक को भी स्वतन्त्र विचार प्राप्त नही है, वहा वह दूसरो को क्या स्वतन्त्र विचार दे सकता है। आज भी हमारे सामने उस अतीत की परम्परा का प्रवाह है, जिसके कारण स्वय का स्वतन्त्र विकास, विवेक-जागृति तथा वैयक्तिक अस्तित्व को प्रकट करने का हमारे मे विश्वास भरा हुआ है। किन्तु वह क्रियान्वित नही हो रहा है।

हमारे सामने मूल प्रश्न है—'व्यक्ति के स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता का विकास।' जहा पर व्यक्ति की मूल धारा ही उल्टी है वहा पर उसके जीवन का विकास कैसे होगा। हमको चाहिए कि हम समस्या के समाधान की गवेषणा करें। विद्यार्थी स्नातक या स्नातकोत्तर परीक्षा पास करके भी समझने की योग्यता प्राप्त नही कर पाता है। उसका ध्येय केवल परीक्षा को पास करना ही होता है। आज प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि हमारी जो शिक्षा-प्रणाली है, वह गलत है। हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ० राजेन्द्र बाबू तथा डॉ० राधाकृष्णन भी आज की शिक्षा पद्धति को गलत बताते थे।

आज जो यह शिक्षा का क्रम चल रहा है वह व्यक्ति मे आत्मानुशासन का भाव पैदा नही कर सकता। शिक्षा-जगत् मे तथा अन्यान्य क्षेत्रो मे अनुशासन बढ रहा है, किन्तु उस अनुशासन के कारण आत्मीय भाव पैदा नही हो रहा है। यह कैसी विडम्बना है! हमारी शिक्षा फलित हो रही है। शिक्षा कभी नही

वोलती कि मैं फलित हो रही हू, वोलता है व्यक्ति। शिक्षा अच्छी है या वुरी, फलित हो रही है या नही—इसका निर्णय व्यक्ति करता है। शिक्षा का मूल हेतु है, व्यक्ति मे आत्मानुशासन का भाव पैदा करना। आज वह शिक्षा के द्वारा हो नही रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि हम वाहरी अनुशासन से जकडे हुए हैं, इसीलिए हम सफल नही हो रहे हैं।

आप उसे गलत समझ सकते हैं, किन्तु वह गलत नही है। विद्यार्थियो पर जो अनुशासन थोपा जाता है, वह अनुशासन नही है, वह तो परतत्रता का भाव है, जो अनुशासन मे फलित न होकर परतन्त्रता मे फलित होता है। आज का थोपा जानेवाला अनुशासन परतन्त्रता का भाव है। विद्यार्थी मे विवेक जागृत हो जिससे उसमे आत्मानुशासन वढे। परम्परा के अनुसार हमारे मे अतीत की कुछ ऐसी रेखाए खीची गयी हैं जिसके कारण हमारा विकास दव जाता है। आज की अपेक्षा है कि हम स्वतन्त्रता के वातावरण मे अतीत की कुण्ठाओ को हटाए जो स्वतन्त्रता के विकास मे वाधक वन रही हैं। हमारे सामने दो विकल्प है—

१ स्वच्छन्दता।
२. अनुशासन।

स्वच्छदता परतन्त्रता की प्रतिक्रिया है जो आत्मीय भाव के विकास मे वाधक वनती है।

स्वच्छदता और अनुशासन के वीच मे है 'स्वतन्त्रता' जो वहुत अपेक्षित है। हमे वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त करना है, न कि कृत्रिम स्वतन्त्रता को। व्यक्ति स्वय अपने पर अनुशासन रखे। वह अपने विवेक को जागृत करे, आत्म-विवेक की दिशा को प्राप्त करे, कर्तव्य के दायित्व का निर्वाह करे। वह निर्वाह केवल वातो से नही हो सकता, उसमे सकल्प की आवश्यकता रहती है।

व्यक्ति के जीवन मे जो सफलता की भावना छिपी हुई है, वह वाहरी अनुशासन के कारण प्रकट नही हो रही है। हमे चाहिए कि हम अपने मे आत्मानुशासन को पैदा करके छिपी हुई भावना को प्रकट करें। भगवान् महावीर ने कहा, 'जो कुशल होता है वह न वद्ध होता है और न मुक्त होता है।'

स्वतन्त्र विवेक को जागृत करना व्रत की परम्परा मे होता है। व्रत का वोध होना भी आवश्यक है। आज के सन्दर्भों मे जो शिक्षा का उल्टा क्रम चल रहा है, उसका प्रभाव प्रारभिक सस्कारो पर पडता है। इसी कारण आज स्वतन्त्रता को अवकाश नही है। हम जिस अतीत की सीमा मे चलते आ रहे हैं उसमे ही चलना अच्छा है, उससे आगे चलना खतरनाक है—इस आनुवशिकता के कारण हमारे विकास मे ताला लग जाता है। हमारे पर यह सस्कार क्यो थोपा जाता है कि अतीत की रेखाओ पर चलना अच्छा है और उसका अतिक्रमण

करना खतरनाक है। इसके कारण श्रद्धा का विकास तो अवश्य होता है परन्तु वैचारिक कुण्ठा के कारण अदम्य भावना पर लोहावरण आ जाता है जिसको हम देख नही सकते।

आज अपेक्षा है एक वैचारिक क्रान्ति की। वह क्राति व्रतो के द्वारा हो सकती है। आचार्यश्री तुलसी जब हिन्दू विश्वविद्यालय मे गए तब आचार्यों, शिक्षा-शास्त्रियो, विद्वानो की गोष्ठी हो रही थी। उसमे कहा गया कि आजादी की लडाई मे शिक्षको, वकीलो और विधिवेत्ताओ ने सक्रिय सहयोग दिया था। आज भी हमारे सामने दो लडाइया प्रमुख हैं—आर्थिक स्वतन्त्रता की और नैतिक स्वतन्त्रता की।

इन स्वतन्त्रताओ के लिए शिक्षको को लडाई लडना है और उनके लिए यह उपयुक्त अवसर है आज समाज मे जो यह अनिष्ट प्रवाह वह रहा है, उस प्रवाह को रोकना है। मैं मानता हू, शिक्षको के सामने अर्थ की, लडकियो की शादी करने की, दहेजदेनेकी, आदि अनेक समस्याए हैं। क्योकि शिक्षक आकाश मे नही रहता, वह समाज मे रहता है और वह उस समाज से सम्बन्ध भी विच्छेद नही कर सकता। वह भी यथार्थ को भुगतने वाला शिक्षक है। हमारी और उसकी समस्याए समान हैं। किन्तु एक वात अवश्य है कि जो व्यक्ति विचार-जगत् मे जीता है, जिसका वातावरण ज्ञानमय है और जो बौद्धिकता के क्षेत्र मे रहता है, यदि वह चाहे तो नये मोड के लिए समाज को उसकी ओर प्रेरित करे और उसमे एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति लाये, जिससे समाज मे एक नया वातावरण आए। इस कार्य को शिक्षक आसानी से कर सकता है।

जिज्ञासा

आज दुनिया मे जितना विकास हुआ है वह सारा जिज्ञासा द्वारा हुआ है। जब मनुष्य मे जिज्ञासा नही होती, जानने की इच्छा नही होती, तो कोई विकास नही हो सकता। यह जिज्ञासा का बीज जब अकुरित होता है, अन्य विकास के लिए सारे द्वार खुल जाते हैं। मनुष्य जानना चाहता है, अपने सुख के लिए, अपने विकास के लिए और अपनी उन्नति के लिए। अज्ञानी मनुष्य ने इस दुनिया मे कुछ नही किया और यदि किया तो बुरा काम किया। यदि किया तो मनुष्य को नीचे गिराने वाला काम किया। मनुष्य की आखें फोडने का काम किया। प्रकाश वह नही फैला सकता जो अज्ञानी है। हम जानते हैं कि प्रकाश के कितने आयाम हमे चाहिए। सूर्य प्रकाश देता है। जिस व्यक्ति के आख नही हैं, उसके लिए सूर्य के प्रकाश का क्या अर्थ ? उसके लिए सूर्य के प्रकाश का क्या मूल्य ? सूर्य का प्रकाश हो, चाहे न हो, कोई अन्तर नही आता, जिसके आख नही है। बाह्य को देखने के लिए सूर्य का प्रकाश चाहिए और उसके साथ-साथ आख का प्रकाश भी चाहिए। दोनो प्रकाश हो, तब काम चल सकता है। हमारे बहुत सारे ग्रन्थ, बहुत सारे सिद्धान्त और बहुत सारे शास्त्र प्रकाश देते है परन्तु जिसकी बुद्धि मे ग्रहणशीलता नही है, उसके लिए कोई अर्थ नही है शास्त्र का, ग्रन्थ का और सिद्धान्त का। इसीलिए एक सस्कृत कवि ने लिखा है—

यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा, शास्त्र तस्य करोति किम् ?
लोचनाभ्या विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ?

—जिसकी अपनी प्रतिभा नही है, बुद्धि नही है, उसके सामने हजार पुस्तकें लाकर रख दीजिए, कोई अर्थ नही होता। जिसके चक्षु नही है, उसके सामने दर्पण लाकर रख दें, कोई फायदा नही। सबसे मूल बात है अपनी ज्योति और अपनी ज्योति के साथ सूर्य की ज्योति और फिर शास्त्र की ज्योति। तब हम देख सकते हैं, जान सकते हैं और अपनी जिज्ञासा को बढा सकते हैं।

एक रोगी डॉक्टर के पास आया। आख की शिकायत थी। वह बोला,

डॉक्टर साहब ! दिखाई नहीं देता। कुछ इलाज कीजिए।' सामने बोर्ड पर अक्षर लिखे हुए थे। डॉक्टर ने कहा—'पढ़ो, इस पर क्या लिखा है ?'

रोगी डॉक्टर साहब ! अक्षर दिखाई नहीं देते।

डॉक्टर बोर्ड की ओर देखो।

रोगी किन्तु मुझे बताइए कि बोर्ड कहां है ?

डॉक्टर सामने भित्ति पर।

रोगी भित्ति कहां है ?

डॉक्टर ने कहा, 'अब तुम चले जाओ। तुम्हारा इलाज होने वाला नहीं है। अक्षर दिखाई न दे तो कोई बात नहीं, बोर्ड भी दिखाई न दे और भित्ति भी दिखाई न दे तो तुम्हारा इलाज कैसे हो सकता है ?'

इस दुनिया मे बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जो अक्षर तो क्या, भित्ति भी नही देख पाते ! जिसकी ज्योति इतनी शेष नही है, उसमें ज्योति का प्रत्यारोपण शायद डॉक्टर भी नही कर सकता। आंख का प्रत्यारोपण हो सकता है, परन्तु ज्योति के प्रत्यारोपण की कोई भी प्रक्रिया अभी हमारे सामने नही आयी है। तो आज सबसे पहले हमारे भीतर जिज्ञासा को जागृत करने की जरूरत है। बड़ी कठिनाई है हमारे जानने की। और हम लोग बहुत संतोषी हैं। बहुत थोड़ा-सा जान लेते हैं तो हम मान लेते हैं कि हमने बहुत देख लिया और बहुत समझ लिया किन्तु मैं आपको आज एक बात से सावधान करना चाहता हू कि थोड़ा-सा जान-कर आप अपने को यह न समझें कि मैंने बहुत जान लिया। थोड़ा-सा जानकर आप यह न समझें कि मैंने बहुत मान लिया। अगर इस भूल को हम मिटा सकें तो हमारी सारी जिज्ञासा के द्वार खुल जाते हैं और जिज्ञासा अनन्त हो जाती है। कही उसका अन्त नही आता। जो आदमी थोड़ा भी जानने का प्रयत्न करता है, उसकी जिज्ञासा बढ़ती ही चली जाती है। जैन दर्शन एक ऐसा द्वार है जो कभी बन्द नही होता, एक ऐसा रास्ता है जिसका कभी अन्त नही होता। आप देखिए कि जानने का विषय हमारे सामने कितना है ? एक कपड़ा मेरे हाथ मे है। छोटा-सा कपड़ा है। जो कहता है कि हमने कपड़े को जान लिया तो मैं समझता हू कि वह सर्वज्ञ है। उसने सारी दुनिया को जान लिया। इस छोटे-से एक कपड़े को जानने का अर्थ है सारी दुनिया को जान लेना और सारी दुनिया को जानने वाला ही इस एक कपड़े को जान सकता है। आपके मन मे प्रश्न हो सकता है किन्तु मैं आप से कहता हू कि अणु के अनन्त पर्याय होते हैं। हम कितने पर्यायो को जानते हैं ? बड़ी मुश्किल से कोई दो पर्याय, दस पर्याय या बहुत बड़ा विद्वान् हुआ तो सौ पर्यायो को जान सकता है। एक आचार्य ने एक ग्रन्थ लिखा है, उसका नाम है—अष्टलक्षार्थी। एक अनुष्टुप् श्लोक के एक चरण मे आठ अक्षर होते हैं। वे आठ अक्षर है—'राजा नो ददते सौख्यम्। आचार्य ने अपनी दिव्य प्रतिभा के

द्वारा आठ अक्षरो के आठ लाख अर्थ किए। दो-चार नही, आठ लाख अर्थ। इसीलिए ग्रन्थ का नाम है अष्टलक्षार्थी। उन्होने लिखा है कि एक अर्थ के अनन्त पर्याय होते हैं। अगर वहुत वडा विद्वान् हो तो इन आठ अक्षरो के आठ करोड, आठ अरव, आठ खरव अर्थ कर सकता है। किन्तु मेरी इतनी प्रतिभा नही है, इसलिए मैंने आठ लाख अर्थ ही किए हैं। अनन्त अर्थ किए जा सकते हैं। फिर आप देखिए कि ज्ञान का अन्त कहा है ? जो लोग थोडी-सी वात जान लेते हैं, उनके सामने अगर कोई नयी वात आ जाती है तो वडी उलझन मे पड जाते हैं। उलझन क्यो ? किसलिए ? हम लोग अपने को सर्वज्ञ मान वैठते है। हम सोचते हैं कि हमने सव कुछ जान लिया, अव कुछ जानने को शेप नही रहा। कितना वड़ा अज्ञान है यह ! आदमी को ज्ञान के क्षेत्र मे इतना जिज्ञासु और इतना विनम्र रहना चाहिए कि अभी हमने कुछ भी नही जाना। जानना तो सारा का सारा शेष है। मनुष्य समुद्र के किनारे खडा है। ज्ञान का समुद्र सारा का सारा तैरने के लिए उसके सामने पडा है।

एक व्यक्ति वीमार हो गया। दही का वडा शौकीन था। वह वीमारी मे भी उसे नही छोडता था। परन्तु दही और खासी दोनो साथ-साथ नही चल सकते। वैद्य आता है, दवा देता हैं और कहता है कि दही का परहेज रखना दही मत खाना। रोगी कहता है, 'मुझसे ऐसी वात मत करो। मैं दही नही छोड सकता, एक वैद्य वडा अनुभवी था। उसने पूछा, 'आपको खासी आती है ?'

रोगी—हा, खासी आती है।

वैद्य—क्या उपचार किया ?

रोगी—क्या उपचार करू ? जो भी आता है, कहता है कि दही मत खाना। विना दही खाए मैं रह नही सकता। इसलिए वात वनती नही।

वैद्य—मैं आपको सलाह देता हू कि आप दवा भी खाए और दही भी खाएं, आप दही जरूर खाए।

रोगी—आप वहुत अनुभवी हैं। अगर आप पहले आ गए होते तो मेरी खासी कभी ठीक हो जाती। वैद्यजी ! कारण क्या है कि सव दही खाने के लिए मना करते हैं और आप दही खाने के लिए कहते हैं ?

वैद्य—वे अनुभवी नही थे। एक दही के कितने रूप होते हैं, वे नही जानते। दही को मथ दिया तो खाने मे दोप नही। किन्तु मैं आपको कहता हू कि दही खाना चाहिए, मथा हुआ नही। कम से कम आप को ये तीन लाभ तो होंगे ही—

> कासे दध्नो भोजनेन, लाभा सन्ति त्रयो ध्रुवम्।
> न वार्धक्य न वा चौर्यं, न श्वा भक्षयति क्वचित् ॥

पहला—खामी मे दही खाने वाला कभी बूढा नही होता।

दूसरा—खासी मे जो दही खाता है उसके घर कभी चोरी नहीं होती।

तीसरा—खासी मे जो दही खाता है उसको कभी कुत्ता नही काटता।

रोगी ने तीनो बातो को सुनकर तत्काल कहा, 'अब मैं दही नही खाऊगा।' वैद्य ने कहा, 'नही आपको खाना चाहिए।' रोगी ने कहा, 'नहीं, कभी नही।'

कितने आश्चर्य की बात है! जब वैद्य नहीं खाने की सलाह देते थे, तब खाता था और अब खाने की सलाह दी जा रही है तो इन्कार हो रहा है। आप लोग कहानी का आशय समझ गए होंगे। बुढापा किसको आए जब पहले ही चल बसे। चोरी कैसे हो जब दही खाने वाला सारी रात खासता रहे। खासी मे दही खाने वाला बिना लाठी के सहारे चल नही सकता और जब हाथ मे लाठी है तो कुत्ता कैसे काटेगा?

एक चीज के अनेक पर्याय होते हैं। दही क्या, ससार मे नगण्य से नगण्य वस्तुओ के पर्यायो की ओर ध्यान दें तो उनकी दिव्यता, उनकी सार्थकता का पता हमें चलता है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान् महावीर ने वस्तु के अनन्त धर्म का प्रतिपादन किया। भारत के क्षितिज मे एक महावीर ही ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने यह बताया कि हर वस्तु के अनन्त पर्याय होते हैं, अनन्त गुण होते हैं, अनन्त विरोधी युगल होते हैं। यह कपडा नित्य भी है और अनित्य भी है। यह कपडा है भी और नही भी। भगवान् महावीर ने दो विरोधी बातें एक वस्तु मे प्रतिपादित की हैं। भगवान् ने कहा, आग ठण्डी भी है, गर्म भी। आदमी अच्छा भी है, आदमी बुरा भी है। आज तक इस दुनिया मे कोई भी आदमी ऐसा नही जन्मा होगा कि जो अपने जीवन के कुछ क्षणो मे डाकू नही रहा हो और आज तक दुनिया के इतिहास मे ऐसा कोई व्यक्ति नही जन्मा होगा जो अपने जीवन के कुछ क्षणो मे परम साधु नही रहा हो। जो डाकू रहा है, वह साधु रहा है और जो साधु रहा है, वह डाकू रहा है।

अच्छाई और बुराई का सगम, प्रकाश और अन्धकार का सगम, सत् और असत् का सगम हर वस्तु मे अनन्तकाल से चला आ रहा है और इसी प्रकार चलता रहेगा। यह था भगवान् महावीर के विरोधी युगलो का सगम, विरोधी युगलो के अस्तित्व के दर्शन का सगम। किन्तु हमने इसे नही समझा। कोई भी बात सामने आती है, टकराव मालूम देता है। हम सोचते हैं कि अरे! हम तो ऐसा मानते आए है और यह कैसे हो गया? मैं नही समझता कि इसमे विरोध क्या है? इसमे कठिनाई क्या है?

सर्दी का मौसम आ रहा है। मा बच्चे को गर्म कपडा पहनने के लिए कहेगी। चार महीने बाद सर्दी चली जाएगी, फिर गर्मी आएगी। गर्म कपडा

सन्दूक मे रख दिया जाएगा। सूती कपडा पहनने के लिए कहा जाएगा। अब कोई वच्चा सोचे कि चार-पाच महीने पहले गर्म कपडा पहने के लिए कहा गया था, अब सूती पहनने के लिए कहा जा रहा है। अच्छा तो हो कि एक वार जो पहन लिया, तो पहन लिया। जब तक शरीर न छूटे, तब तक न खोले। ऐसी समझदारी यदि मनुष्य मे होती तो वहुत ही समझदार होता मनुष्य इस दुनिया का। परन्तु समझदारी कहा ? लोग मूर्ख है, जो आज करते हैं, कल छोड देते है, कल करते हैं वह एक महीने वाद छोड देते है, महीने वाद करते हैं वह एक वर्ष वाद छोड देते है। छोडते ही चले आए हैं और छोडते न आए होते तो आज जो ये वडे-वडे मकान दिखायी देते हैं, उनके स्थान पर केवल झोपडिया दिखायी देती। मनुष्य नये को स्वीकारता है, पुराने को छोडता चला जाता है और जो रखने को होता है, उसे रखता चला जाता है। यह है हमारी जिज्ञासा का द्वार। यह है हमारी जिज्ञासा के परिणामो का प्रयत्न और उसकी परिणति।

आज यदि मन मे सत्य की थोडी-सी भी ज्योति प्रज्ज्वलित है तो फिर से जिज्ञासा की ओर सोचना होगा। वेदान्त का प्रारम्भ वादरायण करते हैं इस सूत्र के द्वारा—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। अर्थात् यहा से ब्रह्म की जिज्ञासा प्रारम्भ होती है। सस्कृत मे ब्रह्म का अर्थ होता है, व्यापक और विराट्। उन्होने जिज्ञासा की और ब्रह्म का ज्ञान मनुष्य को मिला। आप मीमासा दर्शन मे देखिए। आपको मिलेगा—'आथातो धर्मजिज्ञासा।' अर्थात् यहा से धर्म की जिज्ञासा शुरू होती है जैन-दर्शन कहता है—'पढम नाण तओ दया।' पहले ज्ञान, वाद मे आचरण। पहले जानो, फिर करो। जानोगे नही तो करोगे क्या ?

पुरानी वात है। एक भाई आया। उसे खीर परोसी गयी खाने को। खीर मे नोजे-पिस्ते पडे हुए थे। भाई ने कहा, 'यहा के लोग कितने गवार हैं ? कितने प्रमादी और आलसी हैं ? इन्हें यह भी पता नही कि खीर मे कितनी लटें पडी हुई हैं ?' उसने तत्काल खीर से नोजे-पिस्ते निकालकर फेंक दिए और खीर खा ली। यह था समझदारी का खेल। यह सचमुच उन लोगो की गति होती है जो करते जाते हैं परन्तु समझते नही कि क्या करते हैं ? खाते है परन्तु पता नही कि क्या खा रहे हैं ? प्रतिक्रमण की वात तो दूर, वहुत सारे लोग तो नवकार मन्त्र का शुद्ध उच्चारण भी नहीं कर पाते। उन्हे जिज्ञासा भी पैदा नही होती कि नवकार का अर्थ क्या होता है ? यह सारा क्रम इसलिए चलता है कि उनमे जिज्ञासा का अभाव है।

यदि आप कुछ प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने मन मे जिज्ञासा का भाव जागृत करें। जानना और जानना। यदि जानने की भावना जागृत होती है तो मनुष्य सो नही सकता। ऋषि कणाद वैशेपिक दर्शन के सस्थापक थे। उनमे इतनी प्रवल जिज्ञासा जाग गयी कि मार्ग मे भी वे पढते जाते थे। उन्हे कुछ

दिखायी ही नही देता था। गढा आता तो उसमे गिर जाते थे, उन्हे पता ही नही पडता था कि क्या आया है ? आखिर सरस्वती ने सोचा—यह मेरा वरदपुत्र है। उसने उनके पैरो मे आख लगा दी ताकि पैरो से देखकर चले। इसीलिए उनका नाम अक्षपाद पडा।

मैं नही कहता कि आप कणाद वन जाए। क्योकि आप लोगो को रोटी कमाना है, परिवार चलाना है। मैं यह भी नही कहता कि आप लोग कणाद की तरह चलें। पर पाच मिनट का समय प्रतिदिन जिज्ञासा के लिए अवश्य ही निकालें।

हिंसा की काली छाया : मानव की प्रतिमा धूमिल नही होगी ?

'अहिंसा परमो धर्म:' का घोष कभी-कभी सुनाई देता है। कुछ ही लोग इस घोष को पुनरुच्चारित करते हैं। **'हिंसा परमो धर्म:'** का घोष निरन्तर समूचे आकाश मे प्रतिध्वनित हो रहा है और इसकी गूज सबके कठो मे है। हिंसा पर अहिंसा की विजय कैसे सभव हो सकती है ? अहिंसा पर हिंसा की विजय हो रही है। यह बहुत साफ है। यह कहना और अधिक अच्छा होगा कि हिंसा पर हिंसा की विजय हो रही है। एक हिंसा मर रही है और दूसरी हिंसा मार रही है। मरने वालो का विश्वास भी हिंसा मे रहा है और मारने वालो का विश्वास भी हिंसा मे रहा है। वस्तुत अहिंसा पर हिंसा की विजय नही होती, हिंसा पर ही हिंसा की विजय होती है। पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधानमत्री भुट्टो को फासी की सजा मिली। ईरान मे क्रातिकारी समर्थको को गोली से उडा दिया गया। इन घटनाओ को एक दृष्टि मे देखें तो लगता है कि मनुष्य इतना प्रबुद्ध हो जाने पर भी मनुष्य के खून का प्यासा ही है। उसके अन्त करण मे रक्त की प्यास बुझी नही है। सभ्यता और शिष्टता के विकास बिन्दु पर पहुच रहा है आज का युग और दूसरी ओर मनुष्य मनुष्य के खून का प्यासा है—इन दोनो मे कोई तालमेल नही है। इस पहेली को सुलझाने के लिए कुछ गहरे मे उतरना होगा। कुछ लोग अनिवार्यता की स्थिति मे हिंसा करते है, किन्तु हिंसा मे उनका विश्वास नही होता। कुछ लोग हिंसा मे विश्वास करते हैं और थोडा-सा निमित्त मिलने पर हिंसा के लिए उतारू हो जाते हैं। हिंसा मे विश्वास नही करने वाले यदि कोई हिंसा करते हैं तो उसे एक सामयिक घटना ही कहना होगा। हिंसा मे विश्वास करने वाले यदि हिंसा करते हैं तो उसमे कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। मनुष्य मे सदेह और प्रतिशोध की भावना होती है। कुशल राजनेता यह सोचे कि यदि विरोधी राजनेता जीवित रहा तो मेरा आसन छिन सकता है, इसलिए उसे समाप्त कर देना ही बुद्धिमानी है। इस चिन्तन मे आश्चर्य की क्या बात है ? यह सदेह हर कुशल राजनेता के मन मे होता ही है और उसका विश्वास हिंसा

मे हो तो फिर वैसा करने मे उसे कोई सकोच भी नही होता। वदले की भावना से भी मनुष्य अपने प्रतिपक्षी की हिंसा करता है। सदेह और प्रतिशोध की भावना होने पर भी यदि हिंसा मे विश्वास न हो तो अपने प्रतिपक्षी को कोई मौत के घाट उतार नही सकता।

अहिंसा मे विश्वास करने की तीन शर्तें है—

१ सत्ता से सदा चिपके न रहने की मनोवृत्ति।

२ मरने की तैयारी।

३ उक्त दोनो परिस्थितियो को सहने की शक्ति।

किसी राजनेता को फासी देने वाले अथवा गोली से छलनी वना देने वाले के प्रति जनता मे आक्रोश का भाव जागता है। यह आक्रोश हिंसा के प्रति आक्रोश नही है, किन्तु हिंसक व्यक्ति के प्रति आक्रोश है। जिस व्यक्ति की हत्या की जा रही है, क्या उस व्यक्ति का हिंसा मे विश्वास नही है ? क्या उसने अपने हिंसा के विश्वास को क्रियान्वित नही किया है ? क्या वह जीवित रहकर अपने प्रतिपक्षी को मौत का शिकार नही वनाएगा ? ये प्रश्न जव तक अनुत्तरित हैं, तव तक हिंसा की समस्या का समाधान सभव नहीं लगता।

हिंसा जिस प्रकार उभर रही है, वह चिन्ता का विषय है। सामन्तशाही युग में प्राणदण्ड की अमानवीय पद्धतिया चलती थी। उसमे कोई आश्चर्य नही है। आज के इस विकसित प्रजातन्त्रीय युग मे उस प्रकार की घटनाओ की पुनरावृत्ति होती है तो आश्चर्य होता है। इस समूचे आश्चर्य को समेटकर पुन· उसी विन्दु पर पहुचना होगा कि प्राणदण्ड पाने वालो का विश्वास भी हिंसा मे है तो हिंसा मे विश्वास करने वाले व्यक्ति के द्वारा दिया जाने वाला प्राणदण्ड अनुचित क्या है ? अनुचित इतना ही कहा जा सकता है कि प्राणदण्ड पाने वालो के हाथ मे सत्ता नही है और प्राणदण्ड देने वालो के हाथ मे सत्ता है। यहा पहुचने पर एक रहस्य उद्‌घाटित होता है कि हिंसा हिंसा के लिए नही है, वह सत्ता, अधिकार या वैभव के लिए है। एक शब्द मे कहें तो परिग्रह के लिए है। समस्या की जड हिंसा नही, परिग्रह है। हिंसा के लिए परिग्रह नही है, परिग्रह के लिए हिंसा है। जैन लोग कहते हैं—अहिंसा परमो धर्मः। यह सूत्र ठीक है, पर पूरा ठीक नही है। पूरी सचाई को प्रकट करने वाला सूत्र है—'अपरिग्रह परमो धर्मः। पहला परम धर्म अपरिग्रह ही हो सकता है। अहिंसा परम धर्म द्वितीय हो सकती है प्रथम नही।

अहिंसा के सिद्धान्त मे आस्था करने वाले भी उस पर आचरण नही कर पाते, इसका कारण क्या है ? कारण वहुत साफ है, पर जो वहुत साफ होता है, उस पर हमारा ध्यान नही जाता। हिंसा का हेतु है—परिग्रह। मनुष्य उसे छोडना नही चाहता, केवल हिंसा को छोडना चाहता है। ऐसा हो नही हो सकता।

परिग्रह की आसक्ति को छोडे विना हिंसा को कभी नही छोडा जा सकता।

आज की सारी लडाई परिग्रह की लडाई है, सत्ता और वैभव की लडाई है। कुछ लोग सत्ता और धन पर अपना एकाधिकार करना चाहते है या वनाए रखना चाहते हैं। शेप समाज ऐसा करने देना नही चाहता। वह सत्ता और धन का सन्तुलन या समाजीकरण चाहता है। अहिंसा मे इसलिए आस्था नही जम पा रही है कि अहिंसा की वात करने वाले भी अपरिग्रह को प्राथमिकता नही दे रहे हैं। क्या आज का मनुष्य पूरे समाज के सुख-दु ख का समभागी होकर जीने को तैयार है ? क्या वडपन और छुटपन के मानदड वदलने को तैयार है ? यदि है तो अहिंसा की आस्था का वहुत गहरा सामाजिक अर्थ है। यदि ऐसा नही है तो उसका अर्थ वहुत कम हो जाता है। फिर अहिंसा हिंसा को रोकने मे समर्थ नही हो सकती।

अपरिग्रह का अर्थ कोई सन्यास नही है, सव कुछ छोडकर भीख मांगना नही है। यह स्वय स्वीकृत अनुशासन है। इसकी व्याख्या सामाजिक सन्तुलन या समानता के आधार पर ही की जा सकती है। अकेले अतिरिक्त सुख भोगने या सुविधा-सम्पन्न जीवन जीने की मनोवृत्ति मनुष्य मे होती है तव परिग्रह का सग्रह और उसके लिए हिंसा—यह शृखला वनती है। अहिंसा की दृष्टि से चिन्तन करने वाले विचारको ने हृदयपरिवर्तन और शुद्ध साधन पर वहुत वल दिया है। समाज को वदलने के लिए वल का प्रयोग न किया जाए, हिंसात्मक साधनो का सहारा न लिया जाए, व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय को वदला जाए। अणुव्रत आन्दोलन का भी यही सिद्धान्त है। पर वही प्रश्न फिर उभर आता है—कुछ व्यक्तियो के वदल-जाने पर भी पूरा समाज कैसे वदलेगा ? पूरा समाज वदले विना वदले हुए कुछ व्यक्ति भी क्या कर पाएगे ? प्रश्न अध्यात्म की साधना का नही है, प्रश्न सामाजिक जीवन का है, समाज की व्यवस्था का है, समाज के ढाचे का है। पूरे समाजको व्यवस्था के विना नही वदला जा सकता और व्यवस्था को हिंसा और दमन के विना नही वदला जा सकता यदि व्यवस्था को वदलने के लिए हिंसा और दमन अनिवार्य है तो फिर प्राण-दण्ड और मारकाट को भी नही रोका जा सकता। इस व्यवस्था-परिवर्तन के सिद्धात पर मनुष्य फिर हिंसा और दमन को स्वीकार करता है। हिंसा जव एक दिशा मे स्वीकृत होती है तो फिर वह शेष दिशाओ मे अस्वीकृत नही हो सकती। गहरे उतरने पर ऐसा लगता है कि मनुष्य हिंसा के वात्याचक्र मे उलझा हुआ है। वह सहज ही उससे छुटकारा पाने की स्थिति मे नही है।

मैं इस वात की चिन्ता नही करता कि समाज वदले या समाज की पूरी व्यवस्था वदले। मुझे यही मार्ग सही लगता है कि व्यक्ति-व्यक्ति वदले। वदलने की प्रक्रिया भीतर से शुरू हो। अहिंसा उनके लिए प्रभावी नही होती जो केवल

वाहर से वदलते हैं। वह उन्ही के लिए प्रभावी होती है जो भीतर मे वदलते है। 'मनुष्य का चरित्र परिस्थिति से निर्मित होता है'—इस मान्यता ने मनुष्य को वहुत पथ-च्युत किया है। परिस्थिति मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करती है, इस आशिक सचाई को वह पूरी सचाई मान वैठा है। जव तक मनुष्य भीतर मे नही वदलता, उसके चरित्र को प्रभावित करने वाली अन्त स्रावी ग्रन्थियो का स्राव नही वदलता, तव तक वह वाहरी परिस्थितियो से प्रभावित होता है, किन्तु आन्तरिक परिवर्तन हो जाने पर वह वाहरी परिस्थितियो से प्रभावित नही होता। राजनीति हमेशा वाहर को वदलने की वात करती है और धर्म हमेशा भीतर को वदलने की वात करता है। क्या वाहरी और भीतरी वदलाव की वात मे सामजस्य का सूत्र नही खोजा जा सकता ? क्या अध्यात्म और राजनीति को समानान्तर रेखा मे गतिशील नही किया जा सकता ? यही प्रश्न आज समाधान चाहता है।

दिल्ली अप्रैल, ७६

हिसा : क्रिया नही, प्रतिक्रिया

हिंसा जीवन का स्वभाव है—इस तथ्य की अभिव्यक्ति करने मे मेरे अहिंसक मानस का कोई भी अचल प्रकपित नही होता। सूक्ष्म-स्थूल शरीर, वाणी, मन और श्वास की समष्टि का नाम जीवन है। शरीर आहार, वाणी अभिव्यक्ति, मन स्वतन्त्रता और श्वास मुक्त वातावरण चाहता है। इनकी चाह पूरी होती रहती है तव हिंसा शान्त रहती है। इनकी चाह पूरी नही होती तव हिंसा का सागर तूफान से भर जाता है।

क्या यह तूफान स्वाभाविक है ? यह स्वाभाविक नही है। इसे कुछ निमित्त पैदा करते हैं। भारतीय मनीषियो ने हजारो-हजारो वर्ष पहले हिंसा की प्रकृति और उसके निमित्तो का गभीर अध्ययन किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि क्रिया प्रतिक्रिया से मुक्त नही हो सकती। हिंसा जीवन की प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया न पैदा की जा सकती है और न समाप्त की जा सकती है। उत्पत्ति और समाप्ति दोनो क्रिया होती हैं। इस सत्य के आधार पर उन्होंने समता का सूत्र प्रस्तुत किया। समता क्रिया है, अहिंसा उसकी प्रतिक्रिया। विषमता क्रिया है, हिंसा उसकी प्रतिक्रिया। भारतीय चेतना क्रिया से परिचित रही, तव भारत ने अहिंसा का देश होने की प्रतिष्ठा प्राप्त की। आज कुछ विपरीत हो रहा है। खरगोश के जाल मे फंसा हुआ शेर अपने ही प्रतिविम्व से लडकर जलसमाधि लेने को उत्सुक दिखाई दे रहा है। सरकार डण्डे के वल पर हिंसा को मिटाना चाहती है। सैकडो वार लाठीचार्ज करने और गोली चलाने पर भी हिंसा नही मिट पा रही है। यह हिंसा को जिलाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसे हिंसा को मिटाने का कारगर उपाय समझा जा रहा है।

क्रिया के अपरिचय की स्थिति मे जनता प्रतिक्रिया को ही पढती है और उसे ही वनाना या मिटाना चाहती है। कुछ समझदार लोग अहिंसा का विकास चाहते हैं पर समता को विकसित किए विना अहिंसा का विकास नही हो सकता। उसके लिए मानसिक और सामाजिक व्यवस्था दोनो की समता जरूरी है। आज की वढती हुई हिंसा के ये दो ही मुख्य कारण हैं। प्रतिशोधात्मक हिंसक घटनाए

शत-प्रतिशत मानसिक विपमता के कारण होती हैं। सामाजिक हिंसक घटनाए समाजकी त्रुटिपूर्ण व्यवस्था के कारण होती हैं। हिन्दुस्तान मे अभी हिंसा मानसिक स्तर पर ही पनप रही है। व्यवहार के स्तर पर अभी अपेक्षाकृत कम है। इसका हेतु धर्मभीरुता या कर्मवादी धारणा भी हो सकती है। कुछ भी हो, कोई न कोई हेतु अवश्य है। हिन्दुस्तान का जन-साधारण जिस विपन्नता को भोग रहा है, वह किसी दूसरे देश के नागरिक को भोगनी पडती तो हिंसा की आग कभी भडक उठती। आज का हिन्दुस्तानी युवक हिंसा की वास्तविकता समझने लगा है। भाग्यवादी धारणा के आधार पर वह सामाजिक विषमता को मान्यता देने के लिए तैयार नही है। वह वतमान की ज्वलत समस्याओ का समाधान पारलौकिक आदर्शो मे देखने को उत्सुक नही है। इसलिए ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हिंसा बढ रही है।

विपमतापूर्ण समाज-व्यवस्था मे हिंसा मान्यता प्राप्त कर चुकी थी। करोडो लोगों के तडपते प्राण कुछेक लोगो की सपन्नता को सहारा देते रहे हैं। उस अभाव पर पनपने वाले भाव को, उस विपन्नता पर पलने वाली सपन्नता को हिंसा नही माना गया, इसीलिए उस हिंसा को मान्यता प्राप्त हो गयी।

परिग्रह मान्यया-प्राप्त हिंसा है। विद्यार्थी हिंसा करता है, उसके पीछे या तो अभाव की चिनगारी है या मानसिक असतुलन की। मजदूर हिंसा करता है, उसके पीछे भी ये चिनगारिया हैं। राजनीतिक और साम्प्रदायिक हिंसा प्रतिशोधात्मक या अहपूर्ति के लिए होती है। उपासना और कर्मकाण्ड मे उलझा हुआ धर्म मानसिक समता की लौ प्रज्ज्वलित नही कर रहा है।

वाद और राजनीति के वात्याचक्र मे फसी हुई शिक्षा आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने का दायित्व नही उठा रही है। दलीय राजनीति समाज-व्यवस्था को समता का आधार नही दे पा रही है। क्या हिंसा इन सबका परिणाम नही है ?

मान्यता-प्राप्त हिंसा के देश मे अमान्यता-प्राप्त हिंसा का पनपना अस्वाभाविक नही है।

समाज-संरचना के सूत्र

आज समाज-सरचना के कार्यक्रम चल रहे हैं और उनकी अपेक्षाए महसूस की जा रही हैं। कार्यक्रम हमारे दर्शन की एक अभिव्यक्ति है। उसकी ओर हम कुछ ध्यान दें। जिस प्रकार का समाज वनता हैं, उसकी अभिव्यक्ति दर्शन मे होती है। मवसे वडी कठिनाई है—सम्यक् दर्शन की, सम्यक् दृष्टिकोण की। अनेक कार्यकर्त्ता हैं, अनेक सस्थाए हैं और अनेक रचनात्मक कार्यक्रम भी हैं। किन्तु मनुष्य की कठिनाई उसके पीछे-पीछे है। मनुष्य की अपनी कुछ आकाक्षाए होती हैं, कुछ आवेग होते हैं, कुछ भावनाए होती हैं। जहा वे समस्याओ को सुलझाने चलते हैं, वहा अनेक नयी समस्याए उत्पन्न भी हो जाती है। पचीस-तीस वर्षों के इतिहास को हमने देखा, घटनाओ को भी देखा, चाहे अणुव्रत का कार्य हो, चाहे कोई दूमरी सस्थाओ का कार्य हो, इस प्रकार की स्थितिया सामने आती हैं। हमारा एक उद्देश्य होना चाहिए—स्वस्थ समाज की रचना, किन्तु राजनीति से परे। इस प्रकार के जो शव्द चल पड़े हैं—समाजवादी, साम्यवादी आदि-आदि, हमे उनसे परे सोचना चाहिए। क्योकि राजनीति की छाया मे जाकर सोचेंगे तो उन्ही शव्दो का प्रयोग होगा और उन्ही साधनो का प्रयोग होगा। हम उस सन्दर्भ मे नही सोचना चाहते। अहिंसा और समता के सन्दर्भ मे कुछ सोचना चाहते हैं। तव हमारी समाज-सरचना की दृष्टि भिन्न होगी और दर्शन भी भिन्न होगा। दर्शन का आधार होगा समता। समतावादी समाज-सरचना की वात हम कर रहे हैं। समता की गहराई मे पहुचने वाले हर महापुरुष और साधक ने अपने जीवन मे समता का अनुभव किया और उमकी आवश्यकता को महसूस किया।

योग का मूल स्वरूप ही समता है। जहा सतुलन होना है, वही से सारी चीज अच्छी निकल सकती है। अव मूल समस्या क्या आती है, इसकी ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और उसके आधार पर कार्यक्रम की वात सोचनी चाहिए।

समता के दो पक्ष होते हैं—एक है व्यक्तिगत समता और एक है दूसरो तक

पहुचने वाली समता। होता क्या है कि चाहे कार्यकर्त्ता हो, चाहे नेता हो, उन सबका ध्यान व्यक्तिगत समत्व की ओर कम जाता है पर दूसरो मे समता लाने की ओर अधिक जाता है। कठिनाई फिर वही आ जाती है कि जब तक कार्यकर्त्ता के अपने व्यक्तिगत जीवन मे समत्व का दर्शन नही है, उसकी स्फुरणा नही है तो फिर दो को जोडने वाली बात सध सकेगी, इसमे मुझे सदा सदेह है और वह मिटने वाला भी नही है। हम इस बात पर फिर गहराई से ध्यान दें। यदि हमे एक कार्यक्रम निश्चित करना है, चाहे छोटा हो—फैलाव कम हो, किन्तु उसके मूल मे यह बात रहे कि जो भी कार्यकर्त्ता है, वर्ष मे पाच तैयार हो, दस तैयार हो या बीस तैयार हो, वे कम से कम अपने जीवन मे समत्व से भावित हो। अपने जीवन मे समत्व का पूरा अभ्यास हो जाए। सम्यग् दर्शन के द्वारा, सिद्धान्त के द्वारा और अभ्यास के द्वारा उनके जीवन मे समत्व आए और समत्त्व से भावित व्यक्ति समाज मे समत्व के सेतु का काम करे और दूसरो को जोडने का प्रयत्न करे। फिर चाहे रचनात्मक काम कोई भी हो— स्वावलम्बन का हो, शिक्षा का हो, किसी भी दिशा मे मनुष्य के जागरण का हो। दो-तीन दिशाए होती हैं, उनमे सारा कार्यक्रम समा जाता है।

पहला कार्यक्रम है—शिक्षा का, मनुष्य के अज्ञान को मिटाने का। यह बहुत बडा कार्यक्रम है। प्रौढ शिक्षा के सम्बन्ध मे काफी चर्चाए चली है और यदि हम इस काम को हाथ मे लें तो एक शक्तिशाली माध्यम बन सकता है, अनेक दिशाए उद्घाटित हो सकती हैं। आप लोगो को स्वावलम्बन सिखाना चाहते हैं, मद्यपान छुडाना चाहते हैं, और-और भी बुराइया छुडाना चाहते हैं, किन्तु वह तब छूट सकेगा जब आपसे उनका परिचय हो, निकटता स्थापित हो, प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो। छोडने की बात नम्बर दो मे है, पहली बात है आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना। उसका एक ऐसा अच्छा माध्यम है कि पचीस-पचास व्यक्ति से भी कोई कार्यकर्त्ता अपना सम्पर्क स्थापित करता है। और प्रतिदिन उनके लिए एक घण्टा का समय देता है तो न केवल वह अक्षरबोध देता है, बल्कि उसका अज्ञान मिटाता है। उसके लिए वह इतना विश्वास अर्जित कर लेता है कि वह जो कुछ भी कहता है, उसके लिए वह ग्राह्य बन जाता है। सीधे ही गाव मे पहुचे और कहे कि मद्य छोडो, यह छोडो-वह छोडो, तो वे समझेंगे कोई अजनबी आदमी आया है। उस पर पूरा विश्वास भी नही करेंगे और कौन उसकी बात मानेगा ? हम दूसरी-दूसरी बुराइयो को छोडने की बात को बाद मे रखें, सबसे पहले कोई एक ऐसा माध्यम हो, जिस माध्यम के सहारे आत्मीयता स्थापित हो जाए और फिर उसमे आप जो छुडाना चाहेगे, सारी बातें वह आपकी मान लेगा।

हमारा मूलभूत कार्यक्रम है—कार्यकर्त्ता का निर्माण करना। इस कार्यक्रम को हाथ मे लें और कार्यकर्त्ता का निर्माण भी साधना की भूमिका के आधार पर

करें। मैं समझता हू, आज एक सुविधा भी है। दिल्ली मे अध्यात्म साधना केन्द्र है और लाडनू मे प्रज्ञा-प्रदीप (साधना केन्द्र) है। हमारे सामने एक सुविधा हैं। समाज से विच्छिन्न होना, समाज से कटना, हमारी साधना मे नही हैं। कुछ लोग कहते है कि साधना करने वाले को समाज के वीच मे क्यो रहना चाहिए ? मैंने कहा, 'जितने भी वडे-वडे महापुरुष और साधक हुए है, उन्होने कैवल्य की प्राप्ति के वाद, सम्वोधि की प्राप्ति के वाद, अपना सारा जीवन समाज के बीच मे लगाया है। चाहे महावीर को लें, चाहे वुद्ध को लें, चाहे किसी दूसरे को लें, वे सव पहले साधना-काल मे जगल मे रहे, अकेले घूमते रहे, अकेले मे रहे, वर्षों तक जगल मे रहे, किन्तु जैसे ही उपलब्धि हुई वे समाज मे आ गए।'

जिसे प्राप्त होता है, उसके मन मे देने की भावना आ जाती है। जिसे उपलब्ध होता है, वह अकेले मे रहना नही चाहता। मैं आप लोगो को एक आश्चर्यजनक वात वताऊ। भगवान् महावीर के समय मे आजीवक सम्प्रदाय के एक वहुत वडे आचार्य थे गोशालक। उन्होने एक प्रसग मे कहा, 'ये महावीर कैसे हो गए ? पहले थे तपस्वी। अकेले मे रहते थे। रूखा-सूखा भोजन करते थे। विल्कुल निस्सग थे, निर्लेप थे। किन्तु आज हजारो लोगो के वीच मे रहते है, धर्मोपदेश देते हैं।

इस भूमिका को आप समझें। महावीर जव वदले यानी जव उन्हे उपलब्ध हो गया, अपने लिए कुछ करना वाकी नही रह गया तो वे दूसरो को वाटने लगे। कोई वडी चीज मिल जाती है तो आदमी दूसरो को वताना चाहता है। दु ख भी वताना चाहता है, सुख भी वताना चाहता है। हानि को भी वता देता है और लाभ को भी वता देता है। वडी-वड़ी उपलब्धि प्राप्त करने वालो ने जव समाज के वीच अपना जीवन जिया और समाज को दिया तो अध्यात्म मे जाने वाला समाज से कट जाता है, विच्छिन्न हो जाता है, मैं ऐसा नही सोचता। हमे सोचना तो यह चाहिए कि जो व्यक्ति अध्यात्म की गहराई मे गए विना दूसरो की भलाई करना चाहता है तो शायद वह भलाई के वहाने पता नही क्या-क्या कर डालता है।

हम अपने आपको समदर्शी वनाए विना, समत्व मे प्रतिष्ठित किए विना, समाजवाद, साम्यवाद और-और दूसरे जो वाद लाना चाहते हैं, वह समता की वात तो नही होती, राजनीति या प्रभुत्व की वात जाग जाती है, या सत्ताधारी वनने की वात जाग जाती है, दूसरी-दूसरी भावनाए जाग जाती हैं।

कर्म का अपना कोई उद्देश्य नही होता और कर्म हमेशा कोई अन्तिम उद्देश्य रखता भी नही। कर्म उतना ही जितनी कि आवश्यकता है। विना उद्देश्य के जो कर्म होता है तो फिर मूल्यो को सतुलित रखने के लिए अनाज को समुद्र मे डालना पडता है। जो वहुत अनाज पैदा करते हैं, उन्हे आर्थिक-सतुलन वनाए रखने के लिए अनाज को या तो समुद्र मे डालना पडता है या जलाना पडता है।

कर्म का अपना कोई उद्देश्य होता ही नही। कर्म हमारी आवश्यकताओ पर निर्भर है। उतना कर्म जितनी आवश्यकता। सबसे बडी भूल यह हो रही है कि हम कर्म को ही सब कुछ मान कर चल रहे हैं। हमे सोचना यह चाहिए कि कर्म के पीछे हमारा दर्शन क्या है? यदि इस बात पर गहराई से सोचे तो हमे कोई भी कठिनाई नही होगी, कार्यक्रम के निर्धारण मे और कार्यक्रम के सचालन में। व्यक्ति जो कर्म मे जुडा हुआ है, उस व्यक्ति मे समत्व की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। आज का चिन्तन दूसरा चल रहा है। व्यक्ति अच्छी बात करता है। उसका व्यक्तिगत जीवन कैसा है, इससे क्या मतलब! राजनीति मे यह सूत्र चलता है। राजनीति मे प्राइवेट लाइफ का कोई महत्त्व नही। किन्तु मैं समझता हू, जहा हम अहिसा और समता के सदर्भ मे सोचते हैं, वहा यह सूत्र बिल्कुल बेकार हो जाता है। हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन कैसा है? समाज का भला करता है तो करता है, हमे इससे कोई मतलब नही। जिसका व्यक्तिगत जीवन स्वच्छ और पवित्र नही है, समत्व मे प्रतिष्ठित नही है, एक दिन ऐसा आ सकता है कि समाज की भलाई करने वाला समाज को इतना बडा धोखा दे सकता है, जिसकी हम कल्पना नही कर सकते।

कार्यकर्त्ता को सबसे पहले अपने कार्य के दर्शन को समझना चाहिए और पढना चाहिए। गहराई से समझना चाहिए कि दर्शन क्या है? मद्य छोडो, सकल्प स्वीकार करो—मैं इसे बहुत छोटी बात मानता हूं। यह व्यावहारिक बात है कि अमुक-अमुक कार्य मत करो। आप जानते हैं कि बुराइया ग्यारह ही नही होती। बुराई भी अपना रूप बदलना जानती है। उसके भी अनेक मुखौटे हैं कि एक मुखौटे को छुडाया कि दूसरा मुखौटा तैयार हो जाता है। मुखौटो की भरमार है। उसकी कोई सीमा नहीं है। बुराई को छुडाने का यह एक माध्यम जरूर है, किन्तु उससे पूर्व जो है वह है उसका दर्शन। तो हम दर्शन को पढें। आप इस वर्ष दस-बीस-पचास कार्यकर्त्ताओ को प्रशिक्षण दें जिससे कि वे अपने कार्य के दर्शन को समझ सकें और साधना मे अपना जीवन पका सकें।

आगमो के व्याख्या ग्रन्थो मे एक महत्त्वपूर्ण बात आती है। कोई मुनि अपने गाव में गया। अपने परिवार के बीच अगर उसे भिक्षा के लिए जाना है तो वह नहीं जा सकता और तब तक नही जा सकता जब तक कि वह गीतार्थ नहीं हो जाता, परिपक्व नही हो जाता। एक निश्चित अवधि के पश्चात् उसे प्रवचन का अधिकार होता है। इसके पीछे चिंतन यही है कि जो स्वयं नही पका, जिसको अपना अनुभव नही है, वह दूसरो को क्या देगा? यह आत्म-परिष्कार की बात उन लोगो के लिए चाहे मान्य हो या न हो जो अहिंसा के सदर्भ मे पूरी परिक्रमा नहीं करते। किन्तु जो सस्थाए समता, अहिंसा और चरित्र-शुद्धि—इन सारे संदर्भों मे सोचती है, उनके लिए मैं समझता हू कि पहला कार्यक्रम होना चाहिए

आत्म-परिष्कार का। आत्म-परिष्कृत कार्यकर्त्ता के द्वारा फिर पर-परिष्कार की बात आती है और उसके आधार पर हमारा सारा कार्यक्रम बनता है।

परिष्कार की जो प्रमुख बातें हैं, उनमे पहली है—अभय। अहिंसा और समता की बात आगे की है। पहली बात है—अभय। जब तक हम कार्यकर्त्ता को अभय नही बनाते, भय-मुक्त नही करते, तब तक यह सभावना करें कि यह अच्छा कार्य कर सकेगा, यह हमारी दुराशा होगी। जहा थोडा भय का प्रसग आएगा और वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाएगा। अहिंसा महाव्रत है तो अभय उसकी भावना है। अभय के बिना अहिंसा की कोई बात सोची नही जा सकती। दूसरी बात है—कष्ट-सहिष्णुता। आराम की ऐसी मूर्च्छा होती है और आज तो प्रलोभन की बात मुख्य रूप से सामने आ जाती है। राजनीति का यह पहला सूत्र है। कोई भी पार्टी का नेता या दल, जो सत्ता मे आएगा वह पहली बात यही कहेगा कि हम आपकी सारी कठिनाइया दूर कर देंगे। अणुव्रत के क्षेत्र मे काम करने वालो का न यह चिन्तन होना चाहिए, न यह प्रचार होना चाहिए कि हम आपकी कठिनाइयो को दूर कर देंगे। उनका प्रचार यह होना चाहिए कि जितनी सुविधाए मिल सकती हैं, मिलेंगी। किन्तु हर कठिनाई को सहने के लिए आपको तैयार रहना चाहिए। आपके जीवन का निर्माण ऐसा होना चाहिए कि अपने वाली कठिनाई को झेल सकें और उसके सामने घुटने न टेके।

अहिंसा का जितना विकास हुआ है, इन दो भूमिकाओ पर हुआ है। हम केवल अहिंसक बनना चाहे, अहिंसक समाज की सरचना करना चाहे और उनको प्रलोभन भी देते जाए कि आपको ऐसी सुविधाए मिलेगी, ऐसा आराम मिलेगा, ऐसा सब कुछ होगा तो मैं समझता हू कि उनके साथ भी धोखा होगा और हम स्वय भी धोखे मे रहेगे। अहिंसक बनने वाले व्यक्ति को यह पहले समझ लेना चाहिए कि वह कितना अभय है और कष्टो को झेलने की उसकी तैयारी कितनी है।

कार्यकर्त्ता अभय, कष्ट-सहिष्णुता और समता—इन तीनो की साधना करे। मेरा विश्वास है कि इन तीनो की साधना से ऐसे व्यक्तियो का निर्माण होगा जिनके कार्यकलापो से हजारो-हजारो व्यक्ति प्रभावित होगे।

क्या हम स्वतन्त्र है ?

इस दुनिया मे सब प्रकार के लोग जन्म लेते है। सब लोग कृपालु भी नही होते तो सब लोग क्रूर भी नही होते। यहा पर महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं, अशोक जैसे महान् व्यक्ति उत्पन्न हुए है तो दूसरी ओर उनके उल्टे व्यक्ति भी उत्पन्न हुए है। हिटलर इसी दुनिया मे पैदा हुआ था जिसने पाच लाख यहूदियो को मरवा डाला। केवल दोष के आधार पर नही, किन्तु यहूदी को मारना है, जाति को समाप्त करना है, इस जाति-विद्वेष के आधार पर उसने क्रूर कर्म किया। नादिरशाह भी इसी दुनिया मे पैदा हुआ और वर्तमान के याह्या खा भी इसी दुनिया के रंगपट्ट पर उत्पन्न हुआ।

महान् सीन्थिस जो आस्ट्रिया का राजा था, इसी दुनिया मे उत्पन्न हुआ। उसने जहा यह लिखा, 'मैं गुलाम और गुलामों को मुक्त कराया। यहूदी धर्म को बसाया। दुनिया का भला किया। बन्दियो को छोडा। खेतो को सीचने की सुविधा दी। जनता के कष्टो को दूर किया।' पचीस सौ वर्ष पहले हुए महान् सीन्थिस ने जो यह लिखा साइप्रेस मे, तो दूसरी ओर असुर क्या लिखता है कि मैंने अमुक गाव को उजाडा, मैंने तीन हजार सैनिको को जिन्दा जला डाला।

इस प्रकार ये दोनो धाराए दुनिया मे चलती हैं—एक क्रूरता की और एक करुणा की। एक उदारता की और एक सकुचितता की। इस स्थिति मे मानवीय स्वतन्त्रता का इतिहास इतना दयनीय, इतना करुण और इतना निर्मम रहा कि मनुष्य को बहुत कम स्वतन्त्रता मिली है। सारी दुनिया के इतिहास को देखें तो हमे मालूम होगा कि पौने सोलह आना परतन्त्रता की जकडन रही है, मुश्किल से एक पैसा मनुष्य को स्वतन्त्रता मिली है।

फिर हम क्यो स्वतन्त्रता की बात करें ? मानवीय व्यथा की करुण कहानी को इस पर तोलें तो ऐसा लगता है कि यह दुनिया जीने के लायक नही है। यहा वही आदमी जी सकता है, जिसके पास हृदय नही है, कामना नही है, जो व्यथा को समझने की क्षमता नही रखता। अन्यथा इतनी गुलामी, इतनी परतन्त्रता, इतनी जकडन और मनुष्यो को पशु से भी गया-बीता मानने की इतनी तीव्र

मनोवृत्ति कि जिसका चित्रण करना भी एक सहृदय व्यक्ति के हृदय मे भय पैदा कर देता है।

इस परतन्त्रता का आवरण मनुष्य पर क्यो डाला जाता है ? कौन डालता है ? वह व्यक्ति डालता है, जो स्वय स्वतन्त्र नही है। और मैं समझता हू कि हमारी सबसे बडी कठिनाई यही तो है कि किस व्यक्ति को स्वतन्त्र माना जाए ? केवल शासन थोपना और जेल के सीखचो मे बन्द कर देना, इतनी ही परतन्त्रता की गाथा, व्याख्या और अर्थ नही है। वे लोग जो कि अपनी मानसिक वृत्तियो के अधीन होकर ऐसा काम करते है, वे स्वतन्त्र कहा हैं ? यदि मानसिक गुलामी, मानसिक परतन्त्रता मिट जाए तो मानना चाहिए कि एक पैसा ही स्वतन्त्रता हमे प्राप्त है या एक पैसे भर ही लोग दुनिया मे स्वतन्त्र हुए हैं, किन्तु वे भी शायद पूरे नही उतरते।

यह मानसिक जकडन, यह सस्कारो की जकड, उससे कौन, कहा, कैसे छूट रहा है ? छूट नही पा रहा है। मदारी लोग बन्दर को पकडने के लिए एक छोटे-से बर्तन मे चना डाल देते हैं। बन्दर चनो के शौकीन होते हैं। चने खाने के लिए वे बर्तन में हाथ डालते है। मुट्ठी मे चने भरकर वे हाथ बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं। मुट्ठी बन्द होने पर हाथ बाहर नही निकलता, क्योकि बर्तन का मुह इतना सकरा है कि बन्द मुट्ठी निकालना सरल नही और चनो का छोडना उन्हे स्वीकार्य नही और मुट्ठी को खोले बिना निकालना सिकोरे को मान्य नही। दोनो ओर कठिनाई है। वह सोचते हैं कि अन्दर मे किसी ने हाथ पकड लिया। वही के वही खडे रह जाते है और पकडने वाला आकर तत्काल पकड लेता है। यह पकड किसकी पकड है ? अपनी वृत्ति की, परतन्त्रता की पकड है। ऐसी पकड न जाने कितने लोगो मे होती है। कौन व्यक्ति यह कह सकता है कि मैं स्वतन्त्र हू। स्वतन्त्र होना बहुत कठिन काम है। स्वतन्त्र वह होता है, जो प्रतिक्रिया का जीवन नही जीता, किन्तु क्रिया का जीवन जीता है, स्वतन्त्रता का जीवन जीता है। आप देखिए, थोडी-सी बात किसी ने अप्रिय कही और मुझे क्रोध आ जाता है। क्या मेरा यह क्रिया का जीवन है ? क्रिया का नही है, किन्तु प्रतिक्रिया का है। मैं प्रतिबिम्ब का जीवन जी रहा हू। सामने जैसा आता है वैसा मैं बन जाता हू।

सारी दुनिया प्रतिक्रिया का जीवन जी रही है और प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है ? स्वतन्त्रता का समर्थन कर सकता है ? या स्वतन्त्रता का दावा कर सकता है ? जो जितना करता है उतना ही झूठ है। हमारे यहा अध्यात्म की गाथा गायी गई। उसे इसलिए महत्त्व दिया गया कि अध्यात्म को समझने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया का जीवन नही जीता। कोई सामने गाली देता है तो वह हसता है, मुस्कराता है, क्योकि वह प्रतिक्रिया

का जीवन नही जीता। अन्यथा गाली दे तो उसे भी गाली देनी चाहिए। पीटे तो उसे भी पीटना चाहिए और मारे तो उसे भी मारना चाहिए। ईंट से मारे तो पत्थर से जवाव देना चाहिए। उस स्थिति मे आध्यात्मिक व्यक्ति क्या करता है ? गाली नही देता, मारता-पीटता नही। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने अभी कहा था कि कुछ लोग हमे धमकिया देते है, परन्तु वे धमकिया अव कोई काम की नही होगी। हम लोग धमकियो से डरेंगे नही और साथ-साथ भारत धमकिया देना भी नही चाहता। धमकी को धमकी देना भारत नही जानता। यह भारत की अपनी प्रकृति की विशेषता है। धमकी के सामने वह झुकता भी नही है किन्तु धमकी देना भी नही चाहता। यह है स्वतन्त्रता, यह है क्रिया का जीवन। अगर धमकी का जवाव धमकी से दिया जाए तो वह होगा प्रतिक्रिया का जीवन। यानी परतन्त्रता का जीवन। हमारा जीवन ऐसा वन जाता है, जैसे वच्चे का खिलौना। वच्चा खिलौने को चाहे जैसे इधर-उधर कर देता है। हमारा जीवन वैसा ही वन जाता है कि कोई रुलाना चाहे तो हम रो सकते हैं, हसाना चाहे तो हस सकते हैं, खिलाना चाहे तो खिल सकते हैं, मुरझाना चाहे तो मुरझा सकते हैं। दो वात प्रशसा की कहता है, हम खिल जाते है। दो गालिया देता है, हम मुरझा जाते हैं। थोडा-सा कुछ दिया, हम खुश हो जाते है और थोडी-सी कोई अप्रिय घटना घटी, हम रोने लग जाते हैं। यह हमारा परतन्त्रता का जीवन होता है।

हमे केवल शारीरिक, भौतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ही स्वतन्त्रता पर विचार नही करना है और भारत ने कभी ऐसा नही किया। जो केवल इन वातो पर ही विचार करते हैं, उनका अधूरा दर्शन, अधूरा दृष्टिकोण और अधूरी वात रहती है।

वहुत वडी कठिनाई है हमारे चरित्र-निर्माण की। या तो हमारे चरित्र का निर्माण होता है भय के आधार पर या हमारे चरित्र का निर्माण होता है प्रशंसा या दण्ड के आधार पर। किन्तु इनसे व्यक्ति का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही वनता चरित्र का कोई मौलिक आधार नही वनता, कोई पृष्ठभूमि नही वनती। वे धर्म करते हैं तो भय के आधार पर। वे सोचते हैं कि धर्म नही करेंगे तो नरक मे चले जाएगे। नरक में जाने का भय है, इसलिए धर्म करते हैं। धर्म का कोई स्वतन्त्र मूल्य नही है। अगर आज कोई कह दे कि तुम हिंसा करो—नरक मे नही जाओगे तो वे हिंसा करने के लिए तैयार हो जाएगे। इसलिए शायद कहा गया कि युद्ध जीतोगे तो लक्ष्मी मिलेगी। युद्ध मे मरोगे तो देवागना मिलेगी। यह देवागना का प्रलोभन भी शायद युद्ध-स्थान मे मरने मे सहायक रहा।

यदि प्रलोभन के आधार पर हमारे चरित्र का निर्माण नही होता, शुद्ध कर्तव्य की भावना और आदर्श की निष्ठा के आधार पर हमारे चरित्र का निर्माण होता तो शायद ऐसी वातें नही कही जाती। वहुत सारी वातें यही कही जाती हैं

यहा कि यह करोगे तो नरक मे जाओगे और वह करोगे तो स्वर्ग मे जाओगे। ये दोनो हमारे धर्म के कोण बन गए हैं—एक भय का और एक प्रलोभन का। एक हाथ मे भय का पलडा है और एक हाथ मे प्रलोभन का पलडा है। अगर ये दोनो पलडे टूट जाए तो धर्म भी हमारा टूट जाता है और इसीलिए धर्म टूट रहा है। आज के वैज्ञानिको ने और बौद्धिक व्यक्तियो ने जब इस स्वर्ग और नरक की बात को थोडा-सा झुठला दिया तो आज लोगो की धर्म की आस्था भी जरा धुधली-सी हो गयी, क्योकि जो आधार था वह टूटने लगा तो फिर ऊपर की बात कहा रहती है ? अगर किसी का मूल उखड जाएगा तो फूल और पत्ती कहा टिकेंगे? धर्म का आधार होना चाहिए था, व्यक्ति का स्वतन्त्र चिन्तन, व्यक्ति का स्वतन्त्र आदर्श और स्वतन्त्र निष्ठा। जब हम स्वतन्त्रता की बात करें तो बहुत गम्भीर बात है कि हमारा मस्तिष्क, हमारा मन, हमारा हृदय, हमारी आस्थाए स्वतन्त्र हो। उसी परिस्थिति मे व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है जबकि वह बाहर के वातावरण से प्रभावित न हो। ऐसा कोई वातानुकूलित स्थान दुनिया मे नही है, जहा सब लोग बैठ जाए और बाहर का असर न हो। साधारण आदमी इतना भावुक होता है कि उस पर हर परिस्थिति का असर हो जाता है और उस असर के कारण वह प्रतिक्रिया का जीवन जीता चला जाता है। जिस व्यक्ति ने मेरा कुछ बिगाड दिया, जब तक मैं प्रतिशोध नही ले लेता हू तब तक मुझे चैन नही पडता। दस-बीस वर्ष तक भी मैं उस प्रतिशोध की भावना को भुला नही पाता, जब तक मैं प्रतिशोध न ले लू। यह प्रतिशोध की तीव्र भावना, प्रतिक्रिया की तीव्र भावना होते हुए क्या हम यह कह सकते हैं कि हम स्वतन्त्र है ? हम स्वतन्त्रता का जीवन जीते हैं ? हम स्वतन्त्रता को समझें और अपने स्वतन्त्र जीवन का निर्माण करें। जब भौगोलिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती, नागरिक अपने देश का स्वामी स्वय नही होता, तो वह अपने देश का निर्माण नही कर सकता। पूर्व बगाल की जटिलता क्यो बढी ? बगाल इतना उत्पादक देश जहा से कि अरबो रुपयो का जूट निर्यात होता था, फिर भी इतना गरीब क्यो रहा ? वास्तव मे वह सही अर्थ मे स्वतन्त्र नही था। उसकी सारी आमदनी का उपयोग दूसरे स्थान पर हो रहा था, पश्चिमी पाकिस्तान मे हो रहा था। इसी प्रतिक्रिया ने बगाल के मन मे, बगलादेश के निवासियो के मन मे एक भावना पैदा की और उस भावना का यह परिणाम आया कि आज बगला देश स्वतन्त्र हो गया। भौगोलिक स्वतन्त्रता, राजनैतिक स्वतन्त्रता न होने पर व्यक्ति अपने अस्तित्व का, अपने देश का निर्माण नहीं कर पाता। जहा हमारी चारित्रिक स्वतन्त्रता नही है, वहा व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण कैसे कर पाएगा ? इसलिए हमे इस विषय पर बहुत गहराई से विचार करना चाहिए और यह सोचना भी बहुत जरूरी है कि हम अपने कर्तव्य का, चरित्र और निष्ठा का निर्धारण सिद्धान्त के आधार पर

कार्य और कारण, कर्त्ता और कृति का सम्वन्ध है। जहा यह सम्वन्ध है, वहा स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की भी व्याख्या सम्भव है।

स्वतन्त्रता का चिन्तन दो कोटि के दार्शनिको ने किया है। धर्म के सन्दर्भ मे स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की आन्तरिक प्रभावो (आत्मिक गुणो को नष्ट करने वाले आवेशो) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। राजनीति के सन्दर्भ मे स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की वाहरी प्रभावो (व्यवस्थाकृत दोषपूर्ण नियत्रणो) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। धर्म जागतिक नियमो की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा मे स्वतन्त्रता का सम्वन्ध केवल मनुष्य से नही किन्तु जागतिक व्याख्या मे है। राजनीति वैधानिक नियमो की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा मे स्वतन्त्रता का सम्वन्ध व्यक्तियो के पारस्परिक सम्वन्ध और सविधान से है। भारतीय धर्माचार्यों और दार्शनिको ने अधिकाशतया धार्मिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की। उन्होने राजनीतिक स्वतन्त्रता के विषय मे अपना मत प्रकट नही किया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे शाश्वत नियमो की व्याख्या मे राजनीति के सामयिक नियमो का मिश्रण करना नहीं चाहते थे। उन्होने शाश्वत नियमो पर आधारित स्वतन्त्रता की व्याख्या से राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्रभावित किया किन्तु उसका स्वरूप निर्धारित नही किया। स्मृतिकारो और पौराणिक पडितो ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की है। उन्होने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को वहुत मूल्य दिया।

पश्चिमी दार्शनिको ने राजनीति के सन्दर्भ मे स्वतन्त्रता और शासन-व्यवस्था की समस्या पर पर्याप्त चितन किया। अरस्तू, ऐक्वाइनेस, लॉक और मिल आदि राजनीतिक दार्शनिको ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को आधारभूत तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया। दूसरी ओर प्लेटो, माक्यावेली, हाव्ज, हेगल और वर्क आदि राजनीतिक दार्शनिको ने शासन-व्यवस्था को प्राथमिकता दी।

राजनीतिक दार्शनिको की दृष्टि मे वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो कर्तव्य का पालन करता है—वही कार्य करता है जो उसे करना चाहिए। व्यक्ति के कर्तव्य का निर्धारण सामाजिक मान्यताओ और सविधान की स्वीकृतियो के आधार पर होता है। इस अर्थ मे व्यक्ति सामाजिक और वैधानिक स्वीकृतियो का अतिक्रमण किए विना इच्छानुसार कार्य करने मे स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग सामाजिक और आर्थिक प्रगति मे होता है। महावीर के दर्शन मे स्वतन्त्रता का अर्थ है कषाय-मुक्ति—क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्ति। आवेशमुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है। गाली के प्रति गाली, क्रोध के प्रति क्रोध, अह के प्रति अह और प्रहार के प्रति प्रहार—यह प्रतिक्रिया का जीवन है। प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नही हो सकता। चिडिया जैसे अपने प्रतिविम्व पर चोच मारती थी, वच्चे ने अपनी परछाई को पकडने का

प्रयत्न किया और सिंह अपने ही प्रतिविम्व के साथ लडता हुआ कुए मे गिर पडा—ये सब प्रतिक्रियाए वाहरी दर्शन से घटित होती हैं। स्वतन्त्रता आतरिक गुण है। जिसका अन्त करण आवेश से मुक्त हो जाता हे, वह समस्या का समाधान अपने भीतर खोजता है, क्रिया का जीवन जीता है और वह सही अर्थ मे स्वतन्त्र होता है। वह गाली के प्रति मौन, क्रोध के प्रति प्रेम, अह के प्रति विनम्रता और प्रहार के प्रति शान्ति का आचरण कर सकता है। यह क्रिया सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार से प्रेरित नही होती किन्तु अपने ध्येय से प्रेरित होती है, इसलिए यह क्रिया है। स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक अर्थ है क्रिया, परतन्त्रता का अर्थ है प्रतिक्रिया। अहिंसा क्रिया है, हिंसा प्रतिक्रिया। इसीलिए महावीर ने अहिंसा को धर्म और हिंसा को अधर्म वतलाया। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता धर्म है और परतन्त्रता अधर्म।

आन्तरिक जगत् मे मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु शरीर, कर्म और समाज के प्रतिवन्ध-क्षेत्र मे कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र नही हो सकता। वहा आन्तरिक और वाहरी प्रभाव उसकी स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। आत्मा अपने अस्तित्व मे ही पूर्ण स्वतन्त्र हो सकती है। वाहरी सम्पर्कों मे उसकी स्वतन्त्रता सापेक्ष ही हो सकती है। यह ससार अपने स्वरूप मे स्वय वदलता है। इसके वाहरी आकार को जीव वदलते हैं और मुख्यतया मनुष्य वदलता है। क्या मनुष्य इस ससार को वदलने मे समर्थ है ? क्या वह इसे अच्छा वनाने मे समर्थ है ? इन प्रश्नो का उत्तर दो विरोधी धाराओ मे मिलता है। एक धारा परतन्त्रतावादी दार्शनिको की है। उनके अनुसार मनुष्य कार्य करने मे स्वतन्त्र नही है, इसलिए वह ससार को नही वदल सकता, उसे अच्छा नही वना सकता। दूसरी धारा स्वतन्त्रतावादी दार्शनिको की है। उनके अनुसार मनुष्य कार्य करने मे स्वतन्त्र है। वह ससार को वदल सकता है, उसे अच्छा वना सकता है। कालवादी दार्शनिक मनुष्य के कार्य को काल से प्रतिवधित, स्वभाव-वादी दार्शनिक उसे स्वभाव से प्रतिवधित, नियतिवादी दार्शनिक उसे नियति से निर्धारित, भाग्यवादी दार्शनिक उसे भाग्य के अधीन और पुरुषार्थवादी दार्शनिक उसे पुरुपार्थ से निष्पन्न मानते हैं।

महावीर ने मनुष्य के कार्य की अनेकान्तदृष्टि से समीक्षा की। उन्होंने कहा, 'द्रव्य वह होता है, जिसमे अर्थक्रिया होती है। यह स्वाभाविक क्रिया है। यह न किसी निमित्त से होती है और न किसी निमित्त से अवरुद्ध होती है। यह किसी निमित्त से प्रतिवधित नही होती इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र होती है। द्रव्य मे वाह्य निमित्तो से अस्वाभाविक क्रिया भी होती है। वह अनेक योगो से निष्पन्न होने के कारण यौगिक होती है। यौगिक क्रिया मे काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुपार्थ—इन सवका योग होता है—किसी का कम और

करें, दूसरी चीज के आधार पर नही ।

आचार्यश्री वहुत वार उपदेश देते है कि समाज को थोडा वदलना चाहिए, सामाजिक रूढियो मे परिवर्तन आना चाहिए, वैवाहिक प्रदर्शनो मे परिवर्तन आना चाहिए—जमाने के अनुसार कुछ वातें परिवर्तित होनी चाहिए। लोग यह अनुभव भी करते हैं कि वर्तमान की परिस्थिति मे ऐसा होना चाहिए। परन्तु जव दूसरी ओर मुडते हैं, देखते हैं तो सोचते हैं कि यह नही करेंगे तो पडोसी क्या कहेगे ? सगे-सम्वन्धी क्या कहेगे ? गाव क्या कहेगा ? इतना धन कमाया और शादी पर भोज भी नही दिया ?

अव गाव क्या कहेगा, सगे-सम्वन्धी क्या कहेगे, यह सव सोचते हैं तव सारे सिद्धान्त कही के कही चले जाते हैं। दो चीजें हैं—एक सिद्धान्त और एक व्यवहार। इसमे दूरी रहती है। इस दूरी का कारण क्या है ? सिद्धान्त का निर्धारण होता हैं हमारी वुद्धि के द्वारा और व्यवहार का निर्धारण होता है हमारी रागात्मक भावनाओ के द्वारा। वुद्धि द्वारा होने वाला निर्णय और रागात्मक भावनाओ द्वारा होने वाला निर्णय पूरा मिल नही पाता। जव तक हम रागात्मक भावनाओ पर तथा भय, क्रोध आदि आवेगो पर विजय नही पाएगे तव तक वुद्धि और कर्तव्य का सामजस्य होगा नही। उनमे वह खाई या विरोध वना-का-वना रहेगा। धार्मिक वह होता है जो रागात्मक वृत्तियो पर भी नियत्रण पाता है। रागात्मक भावनाओ पर नियत्रण और सैद्धान्तिक दृढता, दोनो मे सामजस्य स्थापित करने के लिए जरूरी है स्वतन्त्रता का विकास और स्वतन्त्र होने के लिए जरूरी है रागात्मक भावनाओ पर विजय। अगर ऐसा योग मिले तो सचमुच हमारे जीवन मे स्वतन्त्रता की नयी किरण फूटेगी और हम अपने जीवन मे स्वतन्त्रता का नया अनुभव कर सकेंगे और उसी स्थिति मे स्वतन्त्रता हमारे लिए भौतिक और आध्यात्मिक—दोनो क्षेत्रो मे वरदान वन पाएगी।

मनुष्य की स्वतन्त्रता का मूल्य

यदि यह जगत् अद्वैत होता—एक ही तत्त्व होता, दूसरा नही होता तो स्वतन्त्र और परतन्त्र की मीमास नही होती। इस जगत् मे अनेक तत्त्व हैं। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। उनमे कार्यकारण का सम्बन्ध भी है। इस परिस्थिति मे स्वतन्त्र और परतन्त्र की मीमासा अनिवार्य हो जाती है। दूसरी बात—प्रत्येक तत्त्व परिवर्तनशील है। परिवर्तन तत्त्व की आतरिक प्रक्रिया है। काल के हर क्षण के साथ वह घटित होता है। सूर्य और चन्द्रकृत काल सार्वदेशिक नही है। जो परिवर्तन का निमित्त बनता है, वह काल सार्वदेशिक है, वह प्रत्येक तत्त्व का आन्तरिक पर्याय है। वह निरन्तर गतिशील है। उसकी गतिशीलता तत्त्व को भी गतिशील रखती है। वह कभी और कही भी अवरुद्ध नही होती। परिवर्तन की अनिवार्य शृखला से प्रतिबद्ध तत्त्व के लिए स्वतन्त्र और परतन्त्र का प्रश्न स्वाभाविक है। जो कार्य-कारण की शृखला से बधा हुआ है, वह स्वतन्त्र नही हो सकता। जिसके साथ परिवर्तन की अनिवार्यता जुडी हुई है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मनुष्य कार्य-कारण की शृखला से बधा हुआ है, गतिशीलता का अपवाद भी नही है, फिर वह स्वतन्त्र कैसे हो सकता है? क्या फिर वह परतन्त्र है? कोई भी वस्तु केवल परतन्त्र नही हो सकती। यदि कोई स्वतन्त्र है तो कोई परतन्त्र हो सकता है और यदि कोई परतन्त्र है तो कोई स्वतन्त्र हो सकता है। केवल स्वतन्त्र और केवल परतन्त्र कोई नही हो सकता। मनुष्य परतन्त्र है, इसका अर्थ है कि वह स्वतन्त्र भी है।

स्वतन्त्र और परतन्त्र की सापेक्ष व्याख्या हो सकती है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई वस्तु स्वतन्त्र नही है और कोई परतन्त्र नही है। महावीर ने दो नयो से विश्व की व्याख्या की—पहला निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। निश्चय नय के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित है। न कोई आधार है और न कोई आधेय। न कोई कारण है और न कोई कार्य। न कोई कर्त्ता है और न कोई कृति। जो कुछ है वह स्वरूपगत है। यह अस्तित्व की व्याख्या है। उसके विस्तार की व्याख्या व्यवहार नय करता है। उसकी सीमा मे आधार और आधेय,

किसी का अधिक। जिसमे काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है उसमे मनुष्य विचार मे स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने मे परतन्त्र होता है। जिसमे पुरुपार्थ का योग अधिक होता है, उसमे मनुष्य काल आदि योगो से परतन्त्र होते हुए भी कार्य करने मे स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रता सापेक्ष ही होती है, निरपेक्ष, निरन्तर और निर्बाध नही होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस ससार को सुदूर अतीत मे ही अपनी इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने मे स्वतन्त्र होता ही नही तो वह ससार को कुछ भी नही बदल पाता। यह सच है कि उसने ससार को बदला है और यह भी सच है कि वह ससार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी मे नही बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख की सृष्टि नही कर पाया है। इन दोनो वास्तविकताओ मे मनुष्य के पुरुपार्थ की सफलता और विफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब हैं।

मनुष्य की कार्यजा शक्ति यदि काल, स्वभाव आदि मे से किसी एक ही तत्त्व द्वारा सचालित होती तो काल, स्वभाव आदि मे सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती और वे एक-दूसरे को समाप्त करने मे लग जाते, किन्तु जागतिक द्रव्यो और नियमो मे विरोध और अविरोध का सामजस्यपूर्ण सतुलन है इसलिए वे कार्य की निष्पत्ति मे अपना-अपना अपेक्षित योग देते हैं। सापेक्षवाद की दृष्टि से किसी भी तत्त्व को प्राथमिकता या मुख्यता नही दी जा सकती। अपने-अपने स्थान पर सब प्राथमिक और मुख्य हैं। काल का कार्य स्वभाव नही कर सकता और स्वभाव का कार्य काल नही कर सकता। भाग्य का कार्य पुरुषार्थ नही कर सकता और पुरुपार्थ का कार्य भाग्य नही कर सकता। फिर भी कर्तृत्व के क्षेत्र मे पुरुपार्थ अग्रणी है। पुरुपार्थ से काल के योग को पृथक् नही किया जा सकता, किन्तु काल की अवधि मे परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ से भाग्य को पृथक् नही किया जा सकता, किन्तु भाग्य मे परिवर्तन किया जा सकता है। इन सत्यो को इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कसा जा सकता है। जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे पुरुपार्थ की क्षमता बढती है। सभ्यता के आदिम युग मे मनुष्य का ज्ञान अल्प-विकसित था। उसके उपकरण भी अविकसित थे, फलत पुरुपार्थ की क्षमता भी कम थी। प्रस्तरयुग की तुलना मे अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान बहुत विकसित है। उसके उपकरण शक्तिशाली हैं और पुरुपार्थ की क्षमता बहुत बढी है। आदिम युग का मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर था। वर्षा होती, तो खेती हो जाती। एक एकड भूमि मे जितना अनाज उत्पन्न होता, उतना हो जाता। अनाज को पकने मे जितना समय लगता, उतना लग जाता। आज का मनुष्य इन सब पर निर्भर नही है। उसने सिचाई के स्रोतो का विकास कर वर्षा की निर्भरता को कम कर दिया। उसने रासायनिक खादो का निर्माण कर अनाज

की पैदावार मे अत्यधिक वृद्धि कर दी और कृत्रिम उपायो द्वारा फसल के पकने की अवधि को भी कम करने का प्रयत्न किया है। उसने सकर पद्धति के द्वारा अनाज के स्वभाव मे भी परिवर्तन किया है। पुरुपार्थ के द्वारा काल अवधि और स्वभाव के परिवर्तन के सैकडो उदाहरण सभ्यता के इतिहास मे खोजे जा सकते हैं। काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त नही है, इसलिए वे पुरुपार्थ को कम प्रभावित करते हैं। पुरुपार्थ को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त है, इसलिए वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है। उनको प्रभावित कर वर्तमान को अतीत से भिन्न रूप मे प्रस्तुत कर देता है।

इमान्युएल कान्ट (Immanuel Kant) ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपनी सकलपन-शक्ति मे स्वतन्त्र है और इसीलिए कर्म करने और शुभ-अशुभ फल भोगने मे भी स्वतत्र है। यदि वह कर्म करने मे स्वतन्त्र न हो तो वह कर्म करने और उसका फल भोगने के लिए उत्तरदायी नही होता। भारतीय कर्मवाद का यह प्रसिद्ध सूत्र है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। इस सूत्र की मीमासा से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य नया कर्म करने मे पुराने कर्म से बधा हुआ है। वह कर्म करने और उसका फल भोगने मे स्वतन्त्र नही है। यदि ऐसा है तो उसे किसी भी अच्छे या बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। उसका वर्तमान अतीत से नियन्त्रित है। वर्तमान का अपना कोई कर्तृत्व नही है। वह अतीत की कठपुतली मात्र है। कर्मवाद के इस सामान्य सूत्र ने भारतीय मानस को बहुत प्रभावित किया। उसे भाग्यवाद के साचे मे ढाल दिया। उसके प्रभाव ने पुरुपार्थ की क्षमता क्षीण कर दी।

महावीर ने पुरुपार्थ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका पुरुपार्थवाद भाग्यवाद के विरोध मे नही था। भाग्य पुरुषार्थ की निष्पत्ति है। जो जिसके द्वारा निष्पन्न होता है, वह उसके द्वारा परिवर्तित भी हो सकता है। महावीर ने कर्म के उदीरण और सक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भाग्यवाद का भाग्य पुरुपार्थ के अधीन कर दिया। कर्म के उदीरण का सिद्धान्त है कि कर्म की अवधि को घटाया-बढाया जा सकता है और उसकी फल देने की शक्ति को मन्द और तीव्र किया जा सकता है। कर्म के सक्रमण का सिद्धान्त है कि असत् प्रयत्न की उत्कटता के द्वारा पुण्य को पाप मे बदला जा सकता है और सत् प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा पाप को पुण्य मे बदला जा सकता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है—कर्मवाद के इस एकाधिकार को यदि उदीरण और सक्रमण का सिद्धान्त सीमित नही करता तो मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना होता। उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती। फिर ईश्वर की अधीनता और कर्म की अधीनता मे कोई अन्तर नही होता। किन्तु उदीरण और सक्रमण

के सिद्धान्त ने मनुष्य को भाग्य के एकाधिकार से मुक्त कर स्वतन्त्रता के दीवट पर पुरुषार्थ के प्रदीप को प्रज्ज्वलित कर दिया।

नियति को हम सीमित अर्थ में स्वीकार कर पुरुषार्थ पर प्रतिबंध का अनुभव करते हैं। पुरुषार्थ पर नियति का प्रतिबंध है, किन्तु इतना नहीं है, जिससे कि पुरुषार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाए। यदि हम नियति को जागतिक नियम (Universal Law) के रूप में स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है। इसलिए नियति उसका सीमा-बोध करा सकती है किन्तु उसके स्वरूप को विलुप्त नहीं कर सकती। विलियम जेम्स ने लिखा है—'संसार में सब कुछ पहले से ही निर्धारित हो तो मनुष्य का पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि पूर्व-निर्धारित अन्यथा नहीं हो सकता। यदि संसार में अच्छा और बुरा करने की स्वतन्त्रता न हो तो पश्चात्ताप करने का क्या औचित्य है?' किन्तु जहां सब कुछ पहले से निर्धारित हो वहां पश्चात्ताप करने से रोका भी नहीं जा सकता। जब तक हम मनुष्य की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक हम उसे किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। अनेकान्तदृष्टि हमें इस वास्तविकता पर पहुंचा देती है कि इस विश्व में नियत वही है जो शाश्वत है। जो अशाश्वत है, वह नियत नहीं हो सकता। अस्तित्व शाश्वत है। कोई भी पुरुषार्थ उसे अनस्तित्व में नहीं बदल सकता। जो यौगिक है, वह अशाश्वत है, वह पूर्व-निर्धारित नहीं हो सकता। उसे बदलने में ही स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ की अर्थवत्ता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ की सीमा का कार्य है। ऐसा करने में नियति उसका साथ देती है। अस्तित्व को बनाया-बिगाड़ा नहीं जा सकता। वह पुरुषार्थ की सीमा से परे है। नियति और पुरुषार्थ की इस सीमा का बोध होने पर उन दोनों में विरोध का अनुभव नहीं होता, सापेक्षतापूर्ण सामंजस्य का ही अनुभव होता है।

क्रिया चेतन और अचेतन—दोनों का मौलिक गुण है। अचेतन की क्रिया स्वाभाविक या पर-प्रेरित होती है। चेतन में स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ स्वतन्त्र क्रिया भी होती है। यंत्र की गति निर्धारित मार्ग पर होती है। उसमें इच्छा और संकल्प की शक्ति नहीं होती, इसलिए उसकी गति स्वतन्त्र नहीं होती।

मनुष्य चेतन है। उसमें इच्छा, संकल्प और विचार की शक्ति है, इसलिए वह स्वतन्त्र क्रिया करता है। डन्स स्काट्स ने भी इसी आधार पर मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—'हमारी स्वतन्त्रता हमारे संकल्पों के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुए भी अधर्म के पथ पर चल सकता है, यही उसकी स्वतन्त्रता है।'

प्रगति का पहला चरण है संकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न। ये दोनों मनुष्य में सर्वाधिक विकसित होते हैं। इसलिए हमारे संसार की प्रगति का मुख्य सूत्रधार

मनुष्य ही है। उसने आन्तरिक जगत् मे सुख-दु ख, सिद्धान्त, कल्पना, विचार, तर्क और भावना की सृष्टि की है। उसने वाह्य जगत् मे आवश्यकता, सुख-सुविधा और विलासिता के उपकरणो की सृष्टि की है। युद्ध और शान्ति का सृजन मनुष्य ने ही किया है।

डार्विन ने यह स्थापना की—'सघर्ष प्रकृति का एक नियम है। वह शाश्वत और सार्वत्रिक है। वह जीवन-सग्राम का मूल हेतु है।' इस स्थापना का स्वर भारतीय चिन्तन मे भी 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के रूप मे मिलता है। डार्विन ने जगत् को सघर्ष के दृष्टिकोण से देखा। इसमे भी सत्याश है। किन्तु यह पूर्ण सत्य नही है। महावीर ने जगत् को भिन्न दृष्टिकोण से देखा था। उन्होने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि जीव-जगत् पारस्परिक सहयोग के आधार पर टिका हुआ है। मनुष्य मे यदि सघर्ष का बीज है तो उसमे सहयोग का बीज क्यो नही हो सकता ? यदि वह सघर्ष करने मे स्वतन्त्र है तो वह सहयोग करने मे स्वतन्त्र क्यो नही हो सकता ? महावीर के सिद्धान्त का सार है कि मनुष्य सघर्ष और सहयोग—दोनो के लिए स्वतन्त्र है किन्तु जीवन मे शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए वह अपनी स्वतन्त्रता को सघर्ष की दिशा से हटाकर सहयोग की दिशा मे मोड दे। हमारे जीवन मे सघर्ष के क्षण वहुत कम होते हैं, सहयोग के क्षण वहुत अधिक।

महावीर ने मनुष्य की स्वतन्त्रता को कुठित नही किया। उन्होने उसके दिशा-परिवर्तन का सूत्र दिया। वह सूत्र है—'मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग श्रेय की दिशा मे करे, हर वुराई को अच्छाई मे वदल डाले।'

स्वतंत्रता : एक अमिट प्यास

• मुदित

एक सस्कृत कवि की सम्मति है कि इस दुनिया मे वन्धन वहुत है पर प्रेमरज्जु जैसा गाढ वन्धन कोई नही है। भौंरा काठ को भेदकर निकल जाता है, किन्तु कोमलतम कमलकोश को भेदकर नही निकल पाता।

सूर्य-विकासी कमल था। मध्याह्न मे वह खिल उठा। एक भौंरा आया और उसके पराग मे लुव्ध हो गया। वह वार-वार उस पर मडराता रहा। अन्त मे उसके मध्य मे जाकर वैठ गया। सध्या हो गयी, फिर भी वह नही उडा। कमल-कोश सिकुड गया, भौंरा वन्दी वन गया। प्रेम से कौन वन्दी नही वना ?

दूसरो के प्रति प्रेम होता है, वह वाधता है और अपने प्रति प्रेम होता है, वह मुक्त करता है। वन्धन का अर्थ है दूसरो की ओर प्रवाहित होने वाला प्रेम और मुक्ति का अर्थ है अपने अस्तित्व की ओर प्रवाहित होने वाला प्रेम। यह स्वार्थ की सकुचित सीमा नही है। यह व्यक्तित्व की सहज मर्यादा है। जिसे अपने अस्तित्व का अनुराग है, वह दूसरो को वन्धन मे नही डाल सकता। दूसरो को वे ही लोग वाधते हैं, जो अपने अस्तित्व के प्रति उदासीन होते हैं। मनुष्य अपने मनोरजन के लिए तोते को पिंजडे मे डालता है। मनुष्य अपने से अनुरक्त नही है, इसलिए वह दूसरो को वन्धन मे डाल अपना मनोरजन करता है।

एक आदमी की अपने पडोसी से अनवन हो गयी। उसके मन मे क्रोध की गाठ वैठ गयी। जव वह कभी पडोसी को देखता, उसकी आखें लाल हो उठती। यह द्वेष का वधन है।

एक वुढिया शरीर मे कृश होने लगी। पुत्र ने पूछा, 'मा ! क्या तुम्हे कोई व्याधि है ?' 'नही, वेटा ! कोई व्याधि नही है।' 'फिर यह कृशता क्यो आ रही है ?' 'वेटा ! अपने पडोसी के घर मे विलोना होता है, उससे मुझे वहुत पीडा होती है। मथनी की डडिया मेरी छाती मे चलती हैं।' यह ईर्ष्या का वन्धन है।

राजा ने कहा, 'वकरी को खूव खिलाओ पर वह शरीर मे वढनी नही चाहिए। गांव वाले समस्या मे उलझ गए। रोहक ने मार्ग ढूढ लिया। वकरी को शेर के पिजडे के पास ले जाकर वाध दिया। उसे चारा खूव देते, पर वकरी का शरीर पुष्ट नही हुआ। यह भय का वन्धन है।

एक आदमी किसी सेठ के पास गया। घर मे विवाह था। सेठ से कुछ सामग्री लेनी थी। सेठ ने माग की तो वह वोला, 'ठहरो, अभी यहा कोई आदमी नही है।' आधे घटा वाद फिर माग की तो सेठ ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी वार माग की और वही उत्तर मिला, तव आगन्तुक ने कहा, 'मैं तो आपको आदमी समझकर ही आपसे मागने आया था।' यह मानदण्ड का वधन है। अपने भीतर के वधन से निवटे विना वाहरी वधनो से निवटना, नही निवटने के समान है।

मुझे मुक्ति प्रिय है, आपको भी प्रिय है, हर व्यक्ति को प्रिय है। किन्तु दूसरो को वाधने की मनोवृत्ति को त्यागे विना क्या हम मुक्त रह सकते हैं ? अपने से छोटे को मैं वाधता हू, इसका अर्थ है, मैं अपने वडो से वन्धन का रास्ता साफ करता हू। आप वधना न चाहे, इसका अर्थ होना चाहिए कि आप दूसरो को वाधना न चाहे। वधन वधन को जन्म देता है और मुक्ति मुक्ति को। वाहरी वधनो से मुक्ति पाने की अनिवार्य शर्त है मानसिक मुक्ति, आन्तरिक मुक्ति।

• सृजनात्मक स्वतन्त्रता

अन्तर्जगत् मे हर वस्तु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसमे किसी दूसरे का कोई हस्तक्षेप नहीं है। वह स्वतन्त्रता निर्वाध, शृखलाविहीन, अप्रतिवद्ध और निरकुश है। स्वतन्त्रता का नियमन वाह्य विस्तार मे होता है। अतर्जगत् मे समग्र एकता होती है। इसलिए वहा स्वतन्त्रता निर्मर्याद होती है। घर मे अकेला आदमी है। वह जहा चाहे वैठ सकता है, सो सकता है। उसी घर मे दो आदमी हो जाते हैं तव उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता मर्यादित हो जाती है। फिर वह अमुक स्थान मे वैठ सकता है, सो सकता है, अमुक मे नही वैठ सकता, नही सो सकता। स्वतन्त्रता की मर्यादा है—व्यक्ति का द्वन्द्वीकरण या समाजीकरण। कोई भी सामाजिक व्यक्ति पूर्ण स्वतत्र नही हो सकता। वाह्य जगत् मे अनेकता है और जहा अनेकता है वहा स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है।

स्वतत्रता का नियमन देश, काल, वातावरण और दृश्य सृष्टि के द्वारा होता है। एक दृश्य को देखकर व्यक्ति कामुक वन जाता है। यह उसकी स्वतन्त्रता नही, किन्तु दृश्य की अधीनता का वरण है। देश, काल और परिस्थिति से

अप्रभावित आचरण स्वतन्त्रता के सूचक हो सकते हैं, किन्तु उनके प्रभाव से प्रतिबद्ध आचरण स्वतंत्र नही हो सकते। वह अपनी दृश्याधीनता को स्वतंत्रता का विकृत परिधान देने का कृत्रिम उपाय है।

बाह्य विस्तार से प्रभावित नही होना अस्तित्व की नकारात्मक स्वतन्त्रता है। अस्तित्व मे बाह्य क्षमताओ को अनावृत करना उसकी सृजनात्मक स्वतन्त्रता है। आधुनिक भारतीय साहित्य के रगमंच पर एकागी धाराओ का अभिनय हो रहा है। वास्तविकता धाराओ की समन्विति है। यथार्थ एकागी दृष्टि से गृहीत नही होता। इसलिए हमारा साहित्य अपनी प्रगतिवादिता के उद्घोष के उपरान्त भी वस्तु-स्पर्शी नही है। वह वस्तु-स्पर्शी नही है इसलिए वह मानवीय समस्याओ की व्यजना मे पर्याप्त सक्षम भी नही है।

मनुष्य का जीवन द्वद्वात्मक है। उसमे प्रकाश भी है और अन्धकार भी है। स्वतन्त्रता भी है और नियन्त्रण भी है। अनुराग भी है और विराग भी है। हम इनका एकपक्षीय लोप या समारोप नही कर सकते।

सृजन और ध्वस मे परस्पर अनुबन्ध है। पूर्वावस्था का ध्वस होता है और उत्तरावस्था का सृजन। फिर ध्वस और सृजन—इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। किन्तु सृजन की प्रेरणा वहा से प्राप्त होती है जो सृजन और ध्वस के अन्तराल मे अनुस्यूत है। भारतीय साहित्यकार इस अनुस्यूति से कितना परिचित है मैं नही कह सकता।

हम शाश्वत और अशाश्वत दोनो की सत्ताको हृदयगम किए बिना सृजनात्मक साहित्य की प्रतिपत्ति नही कर सकते।

क्या हम अतश्चेतना द्वारा सृष्ट परिवर्तनो की उपेक्षा कर परिस्थिति को बदलने मे सक्षम हो सकते हैं? सक्षम होकर भी क्या उससे लाभान्वित हो सकते हैं?

समस्याओ का सर्वांगीण अध्ययन, सापेक्ष स्वीकार और सापेक्ष समाधान प्रस्तुत कर हम सर्वसमाहारी साहित्यिक परम्परा का सूत्रपात कर सकते हैं। सृजनात्मक साहित्य की एकागी धारणा के कारण उसके मूल्य भी एकागी हो गए हैं। अनावरण, कामुकता, स्वतन्त्रता, आस्थाभग आदि मूल्यो की स्थापना को सर्वथा त्रुटिपूर्ण नही कहा जा सकता तो क्या आवरण, विराग, नियन्त्रण, आस्था आदि मूल्यो के विघटन को सर्वथा उचित कहा जा सकता है?

आज जो हो रहा है उसके पीछे प्रकृति कम है, अनुकृति ज्यादा है। हमारे परिवेश भी अनुकृति प्रधान हो रहे हैं। इसका हेतु साहित्यकार के सामने स्पष्ट दर्शन का अभाव है।

आज हम सापेक्ष दृष्टि का उपयोग कर साहित्य को अधिक यथार्थता दे सकते हैं।

• मर्यादा की मर्यादा

बन्धन मुक्ति की दिशा को उद्घाटित करता है और मुक्ति बन्धन की दिशा से जुड़ी हुई है। बन्धन और मुक्ति दोनों सापेक्ष है। केवल बन्धन और केवल मुक्ति इस जगत् का नियम नही है। बन्धन भी केवल बन्धन नही है और मुक्ति भी केवल मुक्ति नही है। बधन और मुक्ति दोनो है, इसलिए बन्धन का भी बधन है और मुक्ति की भी मुक्ति है।

आदमी बधा हुआ है, अपनी इच्छाओ से, वासनाओ से और समाज के सूत्र मे। उसने कुछ मर्यादाए स्वय बना रखी हैं और कुछ उसके लिए समाज ने बना रखी हैं। वह अपनी मर्यादाओ का भी अतिक्रमण करता है और सामाजिक मर्यादाओ का भी अतिक्रमण करता है और अतिक्रमण इसलिए करता है कि बधन केवल बधन नही है। बधन को मुक्ति की भी जरूरत है। यह मुक्ति ही मर्यादा की मर्यादा है।

सामाजिक चेतना मर्यादा की चेतना है। वह व्यक्ति को बाधती है। उससे बधा हुआ व्यक्ति समाज के प्रत्यक्ष मे मर्यादा का पालन करता है और उसके परोक्ष मे मर्यादा का अतिक्रमण करता है। यह अतिक्रमण का सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक अध्यात्म की चेतना या मुक्ति की चेतना नही जाग जाती।

अध्यात्म की चेतना कालातीत होती है, इसलिए उसमे दिन और रात का भेद नही होता। प्रकाश मे मर्यादा और अन्धकार मे अमर्यादा की स्थिति नही आती।

अध्यात्म की चेतना देशातीत होती है, इसलिए उसमे प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नही होता। प्रत्यक्ष मे मर्यादा और परोक्ष मे अमर्यादा की स्थिति नही आती।

सामाजिक प्राणी बाधने मे विश्वास करता है, इसलिए वह मर्यादा के धागो को गूथता चला जाता है। वे गूथे हुए धागे जाल बन जाते हैं और ऐसा लगने लगता है कि समाज उस जाल मे फसता जा रहा है। यह मर्यादा की अन्तहीन शृखला बधन पर बधन पैदा करती है और मनुष्य का दम घुटने लगता है। समाज ने मनुष्य को इतना बाधा है कि आज व्यक्ति कोई व्यक्ति रहा ही नही। वह समाज के महायन्त्र का केवल एक पुर्जा रह गया है और आज की समाजवादी व्यवस्था व्यक्ति को पुर्जा बनाने पर ही तुली हुई है। उसे यह इष्ट नही है कि चैतन्य का स्वतन्त्र मूल्य रहे। व्यक्ति के यन्त्रीकरण मे वह स्वय भी दोषी है। उसने मर्यादा की ओर कभी ध्यान ही नही दिया। समाज की चेतना मे ही विश्वास किया, किन्तु अध्यात्म की चेतना मे कभी विश्वास नही किया। वह

समाज की मर्यादा को आगे से मानता चला और पीछे से तोडता चला, इसलिए यह स्पष्ट हो गया कि समाज मर्यादाहीन है और उसमे जीने वाला हर व्यक्ति मर्यादाहीन है। मर्यादा का नया आदोलन शुरू हुआ। उस आन्दोलन मे नयी मर्यादाए निर्मित हुई। समाज के सन्दर्भ मे नयी स्मृतिया लिखी गई—सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अस्वीकृति और इसे मनवाने के लिए स्वतन्त्रता का परिसीमन। व्यक्ति सपत्ति का मोह छोडना नही चाहता और समाज उसे सम्पत्ति सग्रह की स्वतन्त्रता देना नही चाहता। उस स्थिति मे मनुष्य को जकडने की बात पैदा हुई और वह जकडा गया। इस जकडन ने मर्यादा-चक्र का प्रवर्तन किया और मनुष्य उससे बध गया।

बधन प्रिय नही है। परतन्त्र होना कोई चाहता ही नही। पर प्रश्न चाह का नही है, प्रश्न है यथार्थ का। मनुष्य जब तक यथार्थ को नकारता रहेगा तब तक बधन, मर्यादा और परतन्त्रता—ये उसके पीछे-पीछे चलते रहेगे। यह बधन मर्यादा की मर्यादा का अवतरण होने पर ही टूट सकता है।

अपने भीतर झाकना और दूसरो के भीतर झाकना और दोनो स्थूलताओ के भीतर छिपी हुई मौलिक समानता का अनुभव करना जीवन की सबसे बडी मर्यादा है। इस मर्यादा के घटित होने पर आरोपित मर्यादाओ का जाल सिमटने लगता है और मनुष्य का प्रस्थान बधन से मुक्ति की दिशा मे हो जाता है। समाज की मर्यादा है—दूसरो को देखना और अपने से अनजान रहना और मर्यादा की मर्यादा है—अपने को देखना और दूसरो के प्रति तटस्थ रहना। हम एक नयी दिशा का उद्घाटन करें, मर्यादा की मर्यादा का निर्माण करें।

• मर्यादा की बैसाखी

बिन्दु लघु है, सिन्धु विराट्। बिन्दु पर सेतु-निर्माण आवश्यक नही होता। सिन्धु भूमि को खतरे मे नही डालता, इसलिए वह भी सेतु-मुक्त होता है। जो मध्यम परिमाण मे होते हैं, उन्हे बचाने की जरूरत होती है और उनसे बचने की जरूरत होती है, इसलिए उन्हें सेतु से नियन्त्रित किया जाता है। साधना के जगत् मे जलाशय की प्रकृति ही अनुकूल होती है। जिसे साधना का प्रथम दर्शन—सम्यग् दर्शन प्राप्त हो, वह मर्यादा का वरण नही करता। साधना की परिपक्व दशा मे होने वाला साधक मर्यादातीत हो जाता है। उसके लिए मर्यादा के बन्धन नही होते। मध्यम परिमाण मे रहने वाले साधक मर्यादा से बधे होते हैं। पर साधना विराट् के लिए की जाती है। विराट् होने के लिए गहरा होना जरूरी है। सिन्धु

की गहराई ही उसकी मर्यादा है। यदि वह गहरा नही होता तो बाहरी सेतु से मुक्त नही रह सकता। जिसमे चेतना की गहराई प्रकट नही हो जाती, वह साधक मर्यादा से मुक्त नही हो सकता। मर्यादा जागतिक नियम है। अपनी मर्यादा हो तो बाहरी मर्यादा नही आती। बाहरी मर्यादा आती है तो उसका अर्थ है कि अपनी मर्यादा नही है।

चिंतन की एक धारा यह है कि व्यक्ति के आसपास मर्यादा का, नियमो का जाल बिछा दो जिससे वह बच सके, उससे दूसरे बच सकें।

चिंतन की दूसरी धारा यह है कि व्यक्ति को चेतना की गहराई मे जाने का मार्ग दिखा दो और उसे अपनी गति से चलने दो। गहराई स्वय मर्यादा है। उसके लिए बाहरी मर्यादा का तानाबाना बुनना जरूरी नही है। दोनो धाराओ का अपना अपना दृष्टिकोण है, अपने-अपने तर्क और अपना-अपना सत्याश है। दो वर्ष के बच्चे को खुला छोड देना हित मे नही है और तीस वर्ष के युवा को बाधकर रखना भी हित मे नही है।

मर्यादा अर्थहीन नही है और वह सार्थक भी नही है। उसकी सार्थकता की एक सीमा है और उसकी अर्थहीनता की भी सीमा है। जो मनुष्य केवल मर्यादा को जानता है, वह उसकी अर्थहीनता को भी नही जान सकता और सार्थकता को भी नही जान सकता। उसकी अर्थहीनता और सार्थकता को वह जान सकता है, जो मर्यादा की मर्यादा को जानता है। मर्यादा दूसरो को ही मर्यादित नही करती, उसकी भी अपनी मर्यादा है। वह सार्वभौम सत्य नही है, वह देशकालातीत सत्य नही है। वह सापेक्ष सत्य है। एक देश और काल मे जो मर्यादा सार्थक होती है, दूसरे मे वह अर्थहीन हो जाती है। एक व्यक्ति के लिए जो मर्यादा सार्थक होती है, वह दूसरे के लिए अर्थहीन हो जाती है। एक के लिए अर्थहीन, दूसरे के लिए सार्थक हो जाती है। यही मर्यादा की मर्यादा है।

धर्म का अर्थ है मर्यादा को जगाना। धार्मिक व्यक्ति निश्चित ही मर्यादाशील होता है। मर्यादाशील व्यक्ति का धार्मिक होना जरूरी नही है। अप्रमाद धर्म है। वह जीवन की सबसे बडी मर्यादा है। अप्रमत्त के लिए मर्यादा बनानी नही पडती। जो अतरग मे स्वतन्त्र होता है, वह परतत्र नही हो सकता, उसे परतत्र नही किया जा सकता। जो अतरग मे परतत्र होता है, वही परतत्र होता है, उसे ही परतत्र किया जा सकता है।

परतत्रता अपने ही नियत्रण से आती है। दूसरा कोई नही लाता। जितनी आकाक्षा उतनी परतत्रता। जितनी अनासक्ति उतनी स्वतत्रता। स्वतत्रता को कोई नही बाध सकता, अनासक्त को कोई नही जकड सकता। आज की चिंतनधारा मे मर्यादा, जकडन, परतत्रता से सब एक श्रेणी मे आ गए हैं। उन्मुक्तता, स्वतत्रता, उच्छृखलता ये भी एक ही श्रेणी के मान लिये गए हैं। लोग उन्मुक्त होना चाहते

हैं। मर्यादाओ के बधन तोडकर स्वतत्र होना, एक अर्थ मे स्वतत्रता हो सकती है पर सामुदायिक जीवन मे क्या ऐसा सभव है ? मर्यादाओ को तोड देना एक बात है और उन्हे अर्थहीन बना देना दूसरी बात है। अप्रमत्त या अनासक्त व्यक्ति मर्यादा को तोडता नही है, उसे अर्थहीन बनाता है। अपने लिए उसकी उपयोगिता निश्शेष कर देता है। धर्म-सघ की सुदृढता का यही मूल आधार है। आचार्य भिक्षु ने आचार की धातु से मर्यादा का कवच बनाया था, किन्तु मर्यादा की धातु से मर्यादा का कवच नही बनाया। मर्यादा, मर्यादा के लिए नही है। वह बैसाखी है जो प्रमाद से लगडाते पैरो को सहारा देने के लिए आवश्यकतानुसार पहन ली जाती है। मूल प्रयोजन है पैर मजबूत बनें, उन्हे बैसाखी की कम से कम जरूरत हो।

दिशाहीन पीढ़ी : नयी या पुरानी ?

आदमी अपूर्ण हैं। जो अपूर्ण होता है वह हमेशा दूसरो का दोष देखता है। अपूर्णता का लक्षण ही यह है कि दूसरो का दोष देखना। पूर्ण आदमी कभी दूसरो का दोप नही देखता। आदमी पूर्ण कव होता है यह पता नही। इस सृष्टि का ऐसा नियम वना हुआ है कि यहा हर चीज अपूर्ण होने के कारण मनुष्य सारी जिम्मेदारी को अपने पर लेना नही चाहता। और जो जिम्मेदारी को अपने पर लेना नही चाहता उसके लिए यह जरूरी है कि वह दूसरे पर दोष मढे। पुराने जमाने की एक कहानी है। एक राज्य था पोपावाई का। कहा जाता है कि वहा अचानक एक मकान गिर गया। नया वना था, फिर भी गिर गया। पोपावाई के पास शिकायत गयी। उसने कारीगर को वुलाकर कहा—'अभी तो तुमने मकान वनाया और अभी गिर गया। मारा दोष तुम्हारा है।' उसने कहा—'मेरा दोप नही है।' पोपावाई ने पूछा—'तो किसका दोष है ?' उसने कहा—'जो चूना आ रहा था वह गीला ज्यादा था, ठीक नही था। इसमे चूने वाला दोषी है।'

पोपावाई वोली—'अच्छा, तो उसे बुलाओ।' वह आया। उससे कहा—'भाई, यह मकान इसलिए गिर पडा क्योकि चूना ज्यादा गीला था। यह तुम्हारा दोप है।' वह वोला—'महाराज ! मेरा दोप नही है।' तो फिर किसका दोष है ?' पोपावाई ने पूछा। उसने कहा—'चूने मे जो पानी डाल रहा था उसने पानी ज्यादा डाल दिया। चूना ज्यादा गीला हो गया। मैं क्या करू ? पानी वाले को वुलाकर कहा—तूने पानी ज्यादा डाल दिया, यह तेरा दोष है। तुझे मालूम नही, मकान गिर गया और आदमी मर गए।' उसने कहा—'दोप मेरा नही है।' पोपावाई ने पूछा—'तो फिर किसका दोप है ?' उसने कहा—'मैं जव पानी डाल रहा था, तव वाजे वज रहे थे। उस समय इतने अच्छे वाजे वज रहे थे कि मैं उधर देखने लग गया और पानी ज्यादा गिर गया। दोप वाजे वजाने वाले का है।'

अव आप देखिए कि इस शृखला का अन्त कहा होगा ? कही अन्त होने वाला नहीहै। एक दूसरे पर दोप मढता चला जा रहा है। कोई अपना दोप स्वीकार करना

नही चाहता। कोई जिम्मेदारी को, दायित्व को अपने ऊपर लेना नही चाहता। हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दोषी बनाकर अपने मन मे सन्तोष का अनुभव करता है। आज चाहे अध्यापक हो, चाहे धर्मगुरु हो, चाहे माता-पिता हो, चाहे कोई हो, कोई भी दोषमुक्त है, ऐसा मुझे नही लगता। चारो ओर से दोष आ रहा है। मूलत दिशा की भ्रान्ति मन मे हो रही है। मैं कैसे कहू कि नयी पीढ़ी दिशाहीन है या पुरानी दिशाहीन है। क्योकि यह पहले निश्चय करना भी कठिन है कि आखिर दिशा है क्या? दिशा का बोध हो तो फिर हीनता और उत्कर्ष की बात मैं आपके सामने कर सकता हू। प्रश्न उलझा हुआ है—दिशाहीन कौन? दिशा आखिर है क्या? यह बहुत जटिलता है। दिशा के बारे मे कोई एकमत नही है। जो हमारे पुराने मूल्य थे वे आज बदलते जा रहे हैं, और बदलना स्वाभाविक बात है। क्योकि मूल्य हमेशा परिवर्तनशील होते हैं। किन्तु उन बदलते हुए मूल्यो के बीच मे भी कुछ मूल्य ऐसे है जो नही बदलने चाहिए। आज हमने मान लिया कि सारे मूल्य बदले जा सकते हैं तो इस बदलने के प्रसग मे जो नही बदलने के मूल्य थे उनको बदला जा रहा है, जिन्हे बदलना था वे शायद नही बदले जा रहे हैं, रखे जा रहे हैं।

यह दो तरफ की कठिनाई हमारे सामने है। पुरानी पीढी के लोगो के मन में धन का इतना अतिरिक्त मूल्य है कि आज शायद वर्तमान पीढ़ी के मन मे नही है। धन का मूल्य है, इसे मैं अस्वीकार नही करता। क्योकि समाज के लिए अर्थ का होना अनिवार्य है, जैसाकि साहित्य मे लिखा है—'अर्थमूलो हि धर्म।' 'समाज का सारा धर्म, न कि अध्यात्म का धर्म। किन्तु समाज का सारा धर्म और काम—ये दोनो अर्थ के सहारे चलते हैं, अर्थ नही होता तो कुछ भी नही हो सकता। दरिद्र देश क्या कर सकता है? आज यदि हिन्दुस्तान मे सबसे ज्यादा दोष दिया जाए तो वह दरिद्रता को दिया जा सकता है। जो दिशाहीनता हुई है, दिशा का भ्रम हुआ है, वह भी हमारी दरिद्रता के कारण हुआ है। एक सस्कृत कवि ने ठीक ही लिखा था—

> हे दारिद्र्य ! नमस्तुभ्यं, सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादत.।
> सर्वानह च पश्यामि, मां न पश्यति कश्चन ॥

—'दरिद्रता ! तुझे नमस्कार है। मैं तेरे कारण परमात्मा बन गया। यह कैसे? परमात्मा सबको देखता है, परमात्मा को कोई नही देखता। मैं सबको देखता हू, मेरी ओर कोई नही देखता।'

दरिद्र को कौन देखता है? इस ओर कोई ध्यान नही देता। इस दुनिया मे सबसे बडी उपेक्षा होती है तो दरिद्र की होती है। सबसे अधिक बिगाड़ होता है तो दरिद्र का होता है। हिन्दुस्तान मे अप्रामाणिकता, अनैतिकता और छोटी-छोटी बातो

मे विश्वासघात, यह क्यो ? क्या मनुष्य इतना नीचे जा सकता है ? और उस देश का मनुष्य, जो देश अपना गौरव गाने मे कभी सुस्ताता नही है।

आचार्यश्री बम्बई मे थे। नार्वे का एक पर्यटक आया। आचार्यश्री से मिला। उसने कहा कि मैंने सुना था हिन्दुस्तान बहुत बडा धार्मिक देश है। वहा अध्यात्म की सरिता बहती है, बहुत ऊचा ज्ञान है, बहुत ऊचा दर्शन है। ये सारी बातें मैंने सुनी थीं। यहा बम्बई मे आते ही देखा कि तागेवाले तागे चलाते हैं, उनमे मरियल घोडे जोतते हैं और ऊपर दस-बीस आदमी लदकर बैठ जाते हैं। मेरे देश मे अगर ऐसा हो तो वह तागा और तागा चलाने वाला—दोनो जेल मे ही मिलेंगे। जहा इतनी निर्दयता, इतनी क्रूरता और पशुओ के प्रति कोई ममता नही, दया नही और फिर वह धार्मिक देश और आध्यात्मिक देश ? नही-नही, उसे धार्मिक नही माना जा सकता।

क्या सचमुच आप अनुभव करते है कि हिन्दुस्तान धार्मिक देश है ? मैं तो यह मानता हू कि आज सबसे पहले कोई क्राति का क्षेत्र है तो वह धार्मिक क्षेत्र है। धर्म के क्षेत्र मे जितना अधकार आज व्याप्त है उतना शायद किसी भी क्षेत्र मे नही है। यदि कोई दिशाहीन हुआ है तो वह धर्म हुआ है, न नयी पीढी दिशाहीन है और न पुरानी पीढी। यदि नयी पीढी मे कोई दोष आया है तो धर्म के कारण आया है, और यदि पुरानी पीढी मे कोई दोष आया है तो धर्म की दिग्भ्रान्ति के कारण आया है। आप देखिए हमारी स्थिति क्या है ? बाप भी मन्दिर मे जाता है, बेटा भी मन्दिर मे जाता है। दोनो पूजा करते है, आरती उतारते हैं और प्रार्थना करते हैं। साधुओ के स्थान मे जाते हैं। धर्म के बडे-से-बडे स्थान मे जाते है किन्तु उनके आचरण मे धर्म का कोई प्रतिबिम्ब नही। हमने यह मान लिया कि मन्दिर मे जाना, पूजा करना, धर्मशास्त्र का पाठ करना, कुछ बातें कर लेना और धर्म-गुरुओ के पैरो मे अपना सिर रख लेना, उनके पास जाकर बैठ जाना, बस यही धर्म है। नैतिक होना धार्मिक के लिए कोई जरूरी नही है। धार्मिक होना चाहिए, नैतिक होने की कोई आवश्यकता नही, जबकि वास्तव मे होना यह चाहिए था कि मनुष्य को पहले नैतिक होना चाहिए। कोई धार्मिक बन सके या नही बन सके, यह दूसरी बात है, पहली बात नही है। पहली बात है नैतिक होना। और नैतिक होने के बाद दूसरी भूमिका प्राप्त होती है धार्मिक होने की। पूजा का अधिकार और आरती उतारने का अधिकार उस व्यक्ति को मिलना चाहिए जो नैतिक है और प्रामाणिक है। जिसके जीवन मे नैतिकता नही, सचाई नही, ईमानदारी नही, प्रामाणिकता नही, क्या वह आदमी भगवान् का भक्त हो सकता है ? क्या वह वीतराग की उपासना कर सकता है ? बडी हैरानी है। मैं इस बात को आज तक समझ ही नही पाया कि क्या ऐसा हो सकता है ? और अगर ऐसा हो सकता है तो उस धर्म से बढकर दुनिया मे कोई धोखा नही होगा। और इतना

वडा धोखा जहा चल रहा हो वहा हम यह आशा करें कि हमारी पीढी दिग्भ्रान्त न हो, उसकी दिशा भ्रष्ट न हो, कभी सोचा ही नही जा सकता।

एक गधा जा रहा था। अधेरा हो गया। वह रास्ता देख नही पा रहा था। एक वृक्ष पर उल्लू वैठा था। उसने कहा, 'तुम भटक रहे हो?' गधे ने कहा, 'तुम मार्ग वता दो।' उल्लू ने कहा, 'मैं वता सकता हू।' वह गधे की पीठ पर आकर वैठ गया। दोनो चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं। प्रातःकाल होने को आया। जैसे ही प्रकाश की किरण फूटी, उल्लू को दीखना वन्द हो गया। अव वह गधे का मार्गदर्शन कैसे कर सकता? फिर भी वह गधे की पीठ को छोडने को तैयार नही हुआ। कैसे छोडता? कुर्सी मिल गयी थी। उसे कैसे छोडता? अव वह स्वय भ्रात हो गया था। वह दूसरे का मार्गदर्शन कैसे करता? उसे स्वय आत्म-भ्रान्ति हो रही थी। मोहवश व्यक्ति आत्मभ्रान्ति मे जीता है। उल्लू ने गधे की पीठ नही छोडी। गधा चलता गया। उल्लू मार्गदर्शक वना था तो मार्गदर्शन देना भी आवश्यक था। गधा आगे चला। उल्लू ने कहा, 'इधर नही, वायी ओर चलो। इधर गड्ढा है।' गधा देख सकता था। किन्तु उसने मान लिया कि मेरा मार्ग-दर्शक तो यह है, मुझे देखने की कोई जरूरत नही है। गधा उल्लू के निर्देशानुसार वायी ओर मुडा। वायी ओर गहरी नदी थी। वह नदी मे वह गया।

हमने मान लिया कि धर्म से अधिक हमारा कोई मार्गदर्शन नही कर सकता। धर्मगुरु से अधिक हमारा कोई मार्गदर्शक नही हो सकता। यह तो मान लिया, किन्तु इसका अर्थ यह तो नही कि देखना ही वन्द कर दें। आज तो मुझे ऐसा लगता है कि धर्म करने वाले लोग शायद स्वय देखने का प्रयत्न नही करते, क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया कि इस मामले में हमारी बुद्धि विक चुकी है, समाप्त हो चुकी है और जो मिलता है उसी से हम चलें। यदि यह नही होता तो आज सवसे पहले धर्म के वारे मे क्रान्ति होती।

श्रद्धा को मैं वहुत अच्छा मानता हू। किन्तु मैं श्रद्धा को अभिशाप भी मानता हू। हम मध्य-युग के साहित्य पर दृष्टिपात करें। वह साहित्य चाहे दर्शन का है, चाहे धर्म का है, चाहे राजनीति का है, चाहे अर्थशास्त्र का है, चाहे आयुर्वेद का है, उसमें मौलिकता कम है, अनुकरण अधिक है। साहित्य की ये चार-पाच मुख्य शाखाएं हैं। उनको देखता हू तो मुझे ऐसा लगता है जो चरक ने लिखा या सुश्रुत ने लिखा, वाणभट्ट ने लिखा, वही वस अन्तिम हो गया। आज यदि कोई लिखेगा तो वह सवसे पहले इस वात को सामने रखकर लिखेगा कि जो चरक ने लिखा उससे आगे मुझे नही वढना है, उस सीमा मे, उस परिधि के भीतर-भीतर सोचना है। तो परिणाम यह आया कि जो था वह पुनरावर्तित होता गया। आप दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थ को देखिए, एक आचार्य ने दर्शन का एक महान् ग्रन्थ लिखा। अव दूसरा आएगा, तीसरा आएगा, चौथा आएगा तो कोई भी नयी वात भाग्य से ही

आपको मिलेगी। गुजरात मे वडौदा युनिवर्सिटी मे हम गए। वहा शोध का काम चल रहा था। वहा 'काव्यप्रकाश' का पाठ-सशोधन हो रहा था। इस चर्चा मे एक विद्वान् ने बताया कि एक दूसरा ग्रन्थ था। उसके वारे मे हमने काफी वातें सुनी थी। फिर पाठ-सशोधन के लिए सामने उसे रखा, तो हमने देखा कि उस ग्रन्थ का इतना ही मूल्य है कि उसके द्वारा पाठ-सशोधन किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त कोई मूल्य नही। ग्रन्थ दूसरा, निर्माता दूसरा, लेखक दूसरा, किन्तु उसका मूल्य इतना ही है कि यह पाठ-सशोधन के लिए काम आ सकता है। इसमे और कोई नयी वात नही। एक नही, आप हजारो-हजारो ग्रन्थो को उठाकर देखें और अध्ययन करें तो आपको पता चलेगा कि पृष्ठ के पृष्ठ वे ही हैं जो पुराने ग्रन्थो मे थे। एक के दूसरे मे, दूसरे के तीसरे मे, इस तरह आप चलते चले जाइए। विचार का इतना कम विकास हिन्दुस्तान मे क्यो हुआ ? इसका मूल कारण हमने मान लिया कि महर्षि चरक ने जो लिख दिया उससे अधिक हम क्या लिखें ? और हमारे लोगो का यह तर्क भी होता है। हमारे सामने भी यह तर्क आता है। वहुत वार लोग कहते हैं, 'आज आप नयी वात कर रहे हैं, क्या आचार्य भिक्षु उस वात को नही सोच सकते थे? क्या अमुक आचार्य इस वात को नही सोच सकते थे ?' मैं तो उनको प्राय यह कहता हू, 'सोच तो सकते थे पर वाप की जो ऊचाई होती है वह वेटे को अनायास मिल जाती है। वह उस पर खडा होकर जो देखता है, उतनी दूर आप नही देख पाता। वाप की ऊचाई वेटे को अनायास प्राप्त हो जाती है। उतनी ऊचाई तो उसके लिए स्वाभाविक है। अव वेटा उसके कधे पर चढकर आगे की वात देख सकता है लेकिन वाप नही देख सकता।' हमने तो यह मान लिया कि जो पहला होता है वह तो पूर्ण होता है और पीछे सारी की सारी पीढी जो होती है वह अपूर्ण होती है। इस विचार ने हिन्दुस्तान को एक अन्धकार मे ढकेल दिया। आज भी हम सही सोच नही पा रहे हैं। आज यदि हिन्दुस्तान मे किसी क्रान्ति की आवश्यकता है तो वह यह कि हम फिर से विचार करना सीखें। आज हमे सचमुच सीखना होगा, हम चिन्तन करना नही जानते, विचार करना नही जानते। हम उदाहरण देना जानते हैं या वातो को दोहराना जानते हैं। पुनरावृत्ति और अनुकरण इन दो वातो मे तो हम निपुण हैं किन्तु मौलिक विचार मे हम निपुण नही हैं। पी-एच० डी० के लिए जो थीसिस लिखे जाते हैं, उन महानिवधो को, थीसिसो को जव देखता हू तो मुझे ऐसा लगता है कि उन्हे महानिवध कहा जाना चाहिए या कोरा ग्रन्थो का एक सकलन का पुलिन्दा कहा जाना चाहिए। ऐसे पुलिन्दे होते हैं कि इधर से लिया, उधर से लिया और थीसिस तैयार। एक पी-एच० डी० के लिए एक निवन्ध लिखा। हमने देखा। देखने के वाद आश्चर्य हुआ कि कुछ आचार्यश्री की पुस्तको से, कुछ मेरी पुस्तको मे, कुछ मेरे साथी मुनियो की पुस्तको से लेकर एक थीसिस लिख दिया गया है। लगभग वारह आना तो मेरा था और

चार आना औरो का था। पी-एच० डी० के लिए महानिबन्ध तैयार हो गया और उसे 'डॉक्टरेट' की उपाधि मिल गयी। बडा आश्चर्य होता है। मानता हूँ कि एक लोटा दूध है। हो सकता है कि उसमे एक-दो तोला, चार तोला पानी भी मिला दिया हो। यह सभव है। किन्तु एक लोटा दूध और उसमे आधा गिलास पानी किसी ने मिला दिया। फिर तीसरा आया और उसने आधा गिलास पानी और मिला दिया। पानी मिलाते चले गए। अन्त मे केवल पानी ही पानी दीखने लगा। लगभग ऐसी ही हमारे विचारो की स्थिति हो रही है। एक व्यक्ति ने कुछ लिखा। दूसरा व्यक्ति उसमे से कुछ लेता है और पास मे से कुछ जोडकर एक नयी चीज तैयार कर देता है। फिर तीसरा आता है, इसका सहारा लेता है और थोडा-सा जोडकर और कर लेता है। आखिर मे दूध सारा चला जाता है, केवल पानी बच जाता है।

इस स्थिति मे आज सबसे अधिक यदि हम दिशा-बोध की बात करे तो हमे विचार के दिशा-बोध की बात करनी होगी और चिन्तन के दिशा-बोध की बात करनी होगी। आज हमारा चिन्तन मौलिक और स्वतन्त्र नही है। चिन्तन का भी आयात हो रहा है। कविता का आयात हो रहा है। उपन्यास का भी आयात हो रहा है। बडे आश्चर्य की बात है।

मैं एक बार दिल्ली मे था। एक व्यक्ति मेरे पास आया। वह बोला, 'आज मैंने एक अच्छे पत्र मे एक उपन्यास पढा तो मुझे लगा कि यह तो मैंने इगलिश मे कभी पढा था। फिर मैंने मिलान किया, तो लगा कि मूल उपन्यास वही है। उसका केवल हिन्दी मे अनुवाद किया हुआ है और अपने नाम से प्रकाशित करवाया है। लेखक भी कोई छोटा-मोटा नही था, हिन्दुस्तान मे हिन्दी का माना हुआ लेखक। प्रसिद्ध लेखक और प्रसिद्ध पत्र। प्रसिद्ध लेखक ने लिखा और प्रसिद्ध पत्र मे प्रकाशित हुआ और था केवल अनुवाद। लेखक को पत्र लिखा। प्रत्युत्तर आया, 'आप मेहरबानी रखें, मेरी भूल हो गयी, कृपा करें और इस बात को प्रकाश मे न लायें।' आप देखिएगा, हमारे सुप्रसिद्ध कवि, सुप्रसिद्ध लेखक और सुप्रसिद्ध विचारक इस प्रकार साहित्य की चोरी करते हैं, दूसरो की बात चुराते हैं और अपने नाम से प्रस्तुत करते हैं। क्या हम समझें कि हमारे चिन्तन का कोई स्तर है ही नही ? आज विचार के पक्ष मे दिशा-बोध आवश्यक है।

श्रद्धा का क्षेत्र दूसरा है। श्रद्धा बहुत जरूरी है। श्रद्धा आवश्यक है अपनी सकल्प की पुष्टि के लिए। आज सचमुच हमने सकल्प खो दिया है। एक समय था, हिन्दुस्तान के लोगो मे इतना दृढ सकल्प था कि इस सकल्प के सहारे हमारी साधना चलती थी और ध्यान के बल पर हम इतनी गहराई मे जाते थे और ऐसे तथ्यो की खोज करते थे जिन तथ्यो की खोज आज बडे-बडे यन्त्रों द्वारा भी अभी सभव नही हो रही है। आज आप हमारे प्राचीन

साहित्य को देखिए। ऐसे तथ्यो की वात उसमे निहित है जो आज वैज्ञानिको को भी भ्रम मे डाल देती है। वैज्ञानिको ने उन पर काम किया है और लाभ उठाया है। जर्मनी के लोग आज भारतीय साहित्य के लिए कितने लालायित है, उनकी लायब्रेरियो को आप देखिए। वे भारत के विभिन्न धर्मों के प्राचीन साहित्य से भरी पडी है। प्राचीन साहित्य विचारो की गहराई के आकर हैं। वे अनुभूत तथ्यो का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्तमान मे चिन्तन की धारा अवरुद्ध हो गयी। इन हजार वर्षो मे चिन्तन का विशेष विकास नही हुआ।

कोई भी राजनेता क्रान्ति नही ला सकता। कोई भी प्रणाली क्रान्ति नही ला सकती और यदि वह क्रान्ति आएगी तो क्रान्ति कोई परिणामदायी नही होगी, लाभदायी नही होगी। कुछ देशो मे क्रान्ति हुई थी किन्तु वह टिक नही पायी, क्रान्ति का कोई अर्थ नही हुआ। क्रान्ति तभी अर्थवान् वनती है जवकि उसके पीछे चिन्तन और दीर्घ चिन्तन होता है। माओ ने जो चीन मे सवसे वडी वात की क्राति की, मैं मानता हू कि वडी वात नही है, वह तो क्रिया की प्रतिक्रिया थी। सवसे वडी वात थी तो यह थी कि उन्होंने जो एक पुस्तक लिखी और उस पुस्तक मे चीनियो के दृष्टिकोण को वदलने का प्रयत्न किया। हम चिन्तन कैसे करें—उसकी प्रणाली प्रस्तुत की और उसमे यह वताया कि हमे किस प्रकार सोचना चाहिए। ठीक मुझे एक वात याद आती है। कुत्ते के सामने पत्थर फेंकते हैं तो कुत्ता पत्थर को चाटने लग जाता है। सिंह के सामने वाण फेंकिए या कुछ भी फेंकें, वह गोली पर ध्यान नही देगा, वाण पर ध्यान नही देगा, वह देखेगा कि गोली कहा से आयी, वाण कहा से आया ? वहा लपकेगा, उस पर आक्रमण करेगा। एक होती है वर्तमान काल की दृष्टि जो वर्तमान को पकड लेती है और एक होती है हमारी दीर्घकालीन दृष्टि, दूरगामी दृष्टि, मूल को पकडने वाली दृष्टि। ठीक इसी भाषा मे जैसे माओ ने सोचा कि एक वर्तमान दृष्टि से समाधान देने का हमारा प्रयत्न होता है और एक मूल को सुधारने का प्रयत्न होता है, जड की वात को पकडने का प्रयत्न होता है। तो सचमुच उन्होंने जड की वात को पकडने की दिशा दी। आज वहा काफी परिवर्तन आ गया है। आज हिन्दुस्तान मे न कोई ऐसा दार्शनिक दीख रहा है और न कोई ऐसा विचारक ही दीख रहा है और न कोई ऐसा राज-नेता ही दीख रहा है जो मूल तक पहुचने की दृष्टि दे। पत्तो को सीचने का प्रयत्न हो रहा है। फूलो को सीचने का प्रयत्न हो रहा है। शाखाओ को सीचने का प्रयत्न हो रहा है। किन्तु मूल को नहीं सीचा जाता तव न पत्तो को सीचने का अर्थ होता है, न फूलो को सीचने का अर्थ होता है और न शाखाओ को सीचने का अर्थ होता है। ये सारे सूख जाते हैं अगर मूल को नही सीचा जाता है तो हिन्दुस्तान मे भी ऐसा ही कुछ हो रहा है। दिशा की वात सारे सन्दर्भ मे की जा सकती है। समाज का यह सारा सन्दर्भ है। सन्दर्भ से एक तरफ होकर कोई वात नही सोची जा सकती। हर

वस्तु की व्याख्या के लिए कम से कम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार आयाम होने चाहिए। द्रव्य—वस्तु क्या है? क्षेत्र क्या है? काल क्या है? और अवस्था क्या है? ये चार आयाम कम से कम होने चाहिए। दिशाहीन चिन्तन की जो स्थिति हमारी बनी है, उस स्थिति के कारण सचमुच दिशा का भटकाव हुआ है, पुरानी पीढी मे भी हुआ है, नयी मे भी हुआ है। किसी को दोष देने की जरूरत नही। स्वय अपने-अपने दोष देखने की जरूरत है। धर्म का सबसे बडा सूत्र है—अपना दोष देखो, दूसरे का दोष मत देखो। अगर इस स्थिति मे सोचा जाए तो समस्या का समाधान मिल सकता है और इस स्थिति से हटकर सोचेंगे तो एक-दूसरे को दोष देते रहेंगे, दिशा का भटकाव दोनो का रहेगा, दोनो एक-दूसरे से कट जाएगे, परिणाम कुछ नही आएगा।

समग्रता के सन्दर्भ मे देखें और अपना-अपना दायित्व, अपना-अपना दोष सब अपने पर ओढें तो मुझे विश्वास है कि युवक भी अधिक शक्तिशाली होगा और पुरानी पीढी का व्यक्ति भी अधिक सोचने के लिए बाध्य होगा।[1]

१ १३ अक्तूबर, १९७३ को हिसार में तेरापथ युवक परिषद् के सातवें अधिवेशन में प्रदत्त प्रवचन।

समाज-निर्माण में बुद्धिजीवियो का योगदान

हिसार मे आने के बाद मैं प्राय देख रहा हू कि इन मकानो पर बन्दर बहुत आते हैं। वदरिया और उनकी छाती मे चिपके हुए छोटे-छोटे वच्चे, एक छत से दूसरी छत पर छलाग भरते रहते हैं। मैंने एक दिन सोचा, युग कितना वदल गया है। आदमी चन्द्रमा तक पहुच चुका है। वडे-वडे मकान वन गए हैं। सौ वर्ष पहले शायद ही इतने वडे मकान रहे हो। हर क्षेत्र मे मनुष्य ने विकास किया है। किन्तु आप चाहे हजार वर्ष पहले का इतिहास देख लीजिए, चाहे सौ वर्ष पहले का देख लीजिए, ये वन्दर ऐसे के ऐसे ही रहे हैं। सौ वर्ष पहले भी ये छलाग भरते थे और आज भी भर रहे हैं। क्यो नही इन्होंने मकान वनाया? क्यो नही सीढिया वनायी? यह क्यो? लगता है कि इनमे बुद्धि का विकास नही हुआ। आदमी मे बुद्धि का विकास हुआ है। आदमी कहा से कहा पहुच गया है। कभी जगलवासी था और आज इतना वडा नागरिक हो गया है कि कलकत्ता, वम्वई जैसे नगरो मे एक-एक मकान मे हजारो-हजारो लोग रहते हैं, किन्तु पास के फ्लैट मे कौन रहता है, पता तक नही चलता। पडोस की बात समाप्त हो गयी है और पडोसी का प्रेम भी समाप्त हो गया है। एक-दूसरे का अपरिचय वढ गया है। बहुत निकट रहते हैं, किन्तु फिर भी दूरी वढ गई है। एक आदमी दूसरे आदमी को नही जानता है।

जहा आदमी ने इतना विकास किया, वहा बन्दर आज भी वैसे के वैसे वैठे हैं। कारण क्या है? इसका कारण यह है कि आदमी बहुत बुद्धिमान है और बुद्धिमान होना अच्छा है। मैं बुद्धि को अच्छा मानता हू। किन्तु मैं दर्शन मे विश्वास करता हू और दर्शन की धारा मे जो जैन दर्शन है, उसका मैंने अध्ययन किया है। औरो का भी किया है, किन्तु उसका अधिक किया है। जैन दर्शन का एक दृष्टिकोण है—अनेकान्त। किसी भी वस्तु को एक दृष्टि से मत देखो, अनेकान्त से देखो, अनेक कोणो से देखो, हजारो-हजारो दृष्टियो से देखो; तव यथार्थ का, सत्य का पता चलेगा।

बुद्धि अच्छी है किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से देखता हू तो बुद्धि जितनी खतरनाक दुनिया मे दूसरी कोई चीज नही है। इस विश्व का निर्माण या समाज का निर्माण

यदि बुद्धिमान आदमी ने किया है तो इस समाज का अधिक से अधिक विघटन बुद्धिमान ने ही किया है। मूर्ख आदमी कुछ नही कर सकता। वह निर्माण नही कर सकता तो विघटन भी नही कर सकता। जो निर्माता है, वही विघटक हो सकता है। दुनिया के इतिहास मे जितने युद्ध हुए हैं, उन युद्धो के पीछे बुद्धि का ही तत्र रहा है। समाज मे भी जो तोड-फोड होती है, वह बुद्धिमान आदमी ही करता है, दूसरा कोई नही करता। दुनिया मे अन्याय हुआ है तो बुद्धिमान आदमी के द्वारा ही हुआ है। मूर्ख आदमी क्या अन्याय करेगा? वह बेचारा जान ही नही सकता, समझ ही नही सकता। यह सारा का सारा काम बुद्धिमान आदमी का ही है। दोनो बातें बराबर साथ चलती हैं। जब मनुष्य राग और द्वेप से भर जाता है, जब पक्षपात आ जाता है, उस समय बुद्धि के द्वारा जो भी फलित होता है, जो भी निकलता है, वह सारा का सारा विघटनकारी तत्त्व होता है। जब राग और द्वेप क्षीण होते हैं, शान्त होते हैं, कम होते हैं, उस समय बुद्धि के द्वारा जो निकलता है, वह बहुत श्रेप्ठ तत्त्व होता है। इसलिए मैं कह सकता हू कि समाज के निर्माण मे बुद्धिजीवी का बहुत बडा हाथ है तो समाज के विघटन मे भी बुद्धिजीवी का बहुत बडा हाथ है।

मुझे एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है। एक आदमी जा रहा था। जगल आ गया। काफी गर्मी थी। थक गया। थकने के बाद एक वृक्ष की छाया मे जाकर बैठ गया। उसने सोचा, कितनी गर्मी है। प्यास लग गई है। कितना अच्छा हो कि एक गिलास ठडा पानी मिल जाए। देखता है कि एक गिलास पानी आ गया। वह आश्चर्य मे पड गया। उसने सोचा, यह कैसे हुआ? मैंने तो केवल मन मे सोचा था, पानी लाने के लिए किसी कुए या तालाब पर नही गया था, फिर यह पानी का गिलास कहा से आया? समझ नहीं सका। किन्तु दुनिया मे बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं जो समझ में नही आती, फिर भी हो जाती हैं। उसने पानी पी लिया। थोडी देर बैठा रहा। अब भूख लगी। उसने सोचा, कितना अच्छा हो कि एक थाली भोजन आ जाए। उसके सोचते ही भोजन थाली मे परोसकर आ गया। फिर उसने सोचा, आज क्या हो रहा है? कही स्वप्न तो नही ले रहा हू? सो तो नही रहा हू? हो क्या रहा है? उसने भोजन भी कर लिया। फिर सोचा, ठडी हवा आ रही है, कितना अच्छा हो कि सोने के लिए एक पलग मिल जाए। सोचते ही पलग तैयार हो गया। वह सो गया। नीद आ गयी। सोने के बाद उठा तो सोचने लगा कि यह क्या तमाशा हो रहा है? मन मे आया कि कही भूत तो नही है? यह सोचते ही भूत तैयार खडा है। फिर सोचने लगा कि कही ऐसा न हो कि भूत मुझे खा जाए। तो वह भी तैयार। यह सोचते ही भूत ने आदमी को समाप्त कर दिया।

आदमी को जिसने पानी दिया, भोजन दिया, पलग तक दिया, जो चाहा

वह दिया, भूत भी दिया और उसने मार भी दिया। बुद्धि भी उस कल्पवृक्ष के समान है जिससे आप चाहे तो पानी, रोटी या पलग ले सकते है और चाहे तो भूत और मौत भी ले सकते हैं। दोनो बातें ले सकते है।

दुनिया के विकास मे या समाज के विकास मे हमारी बुद्धि का जितना योग है, उससे अधिक योग है हमारे अन्त करण के ज्ञान का। आज तक जितना विकास हुआ है, हम सोचते है कि बुद्धि के द्वारा हुआ है, किन्तु मैं इस बात मे विश्वास नही करता। बुद्धि के द्वारा विकास नही होता, ऐसा मैं नही कहना चाहता। बुद्धि के द्वारा विकास होता है। किन्तु यदि आप थोडा गहरे मे जाएगे तो आपको पता चलेगा कि जितना हमारा नया ज्ञान बढा है, वैज्ञानिक आविष्कार हुए है, वे आन्तरिक ज्ञान के द्वारा हुए है। उन क्षणो मे हुए हैं, जब आदमी ने बुद्धि का उपयोग नहीं किया। आतरिक ज्ञान की जो शक्ति है, उन क्षणो मे, जब हम तनाव मे नही होते। हम तनाव से घिरे रहते हैं और तनाव मे बुद्धि कभी अच्छा काम नही कर सकती। जो हमारे विश्राम के क्षण होते हैं, शान्ति के क्षण होते है, एकान्त के क्षण होते हैं और हम अन्तर् की गहराइयो मे जाते हैं, अध्यात्म मे डुबकिया लगाते हैं तो उस अध्यात्म मे ऐसी नयी स्फुरणा, नया उन्मेष और नयी रश्मिया हमारे सामने आती हैं तो दुनिया के मच पर कोई बडी बात आ जाती है। दुनिया मे जितने भी वैज्ञानिक हुए हैं, उन व्यक्तियो ने जब-जब प्रयत्न किया है, वे कोई नयी बात नही पा सके है। जैसे ही प्रयत्न छोडा है, शान्ति मे रहे है, उस समय एक नयी स्फुरणा प्राप्त हो गयी है। आप स्वय अनुभव करेंगे कि कभी-कभी बहुत सोचने पर भी कुछ नही मिलता है, प्रयत्न को छोड दिया तो अपने आप ही समाधान हो गया। या सोते-सोते अकस्मात् कोई घटना घटित हुई और समाधान निकल आता है। अकस्मात् का अर्थ क्या ? यही तो है कि जो आपके अन्त करण मे शक्तिया थी, वे काम कर रही थी और अकस्मात् एक विस्फोट जैसा हो गया। मैं स्वय अपने अनुभव की बात जानता हू। जब कोई बडा प्रश्न आता है, थोडा-सा भी बुद्धि पर दबाव देने का अवसर आता है, तत्काल उस विषय को छोड देता हू। दो-चार दिन उस विषय पर कोई चिन्तन नही करता। ध्यान ही नही देता। पाच-दस दिनो बाद ऐसा लगता है कि मानो प्रश्न तो बहुत साधारण था। किन्तु अनावश्यक ही उलझ गए थे। वास्तव मे हमारी शक्ति का मूल स्रोत बुद्धि नही है। हमारी शक्ति का मूल स्रोत है हमारा अन्तःकरण, अध्यात्म—आत्मा की शक्ति और चैतन्य की शक्ति जो बुद्धि से भी परे है। जो बुद्धि से परे की बात है, उसे हम बुद्धि से जोडना चाहते हैं तो वहा हमारी भूल होती है। दो बातें हमारे सामने स्पष्ट हैं—एक बुद्धि और एक बुद्धि से परे का ज्ञान। समाज के विकास मे और समाज के निर्माण मे, उन लोगो ने अधिक योग दिया है जो बुद्धिमान नही थे। अबुद्धिमान

होना एक बात है, बुद्धिमान होना दूसरी बात है और बुद्धि से अतीत होना तीसरी बात है। इस प्रकार तीन कक्षाएं हो जाती हैं।

आचार्य भिक्षु, जो तेरापथ के प्रथम आचार्य हुए हैं, बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे और शायद स्कूल तो गए ही नहीं थे। किन्तु उन्होंने अपने आन्तरिक ज्ञान से इतना दिया कि आज हमारे बौद्धिक वातावरण में हम जितना अधिक उन्हें पढ़ते हैं, उतना ही वे नये-नये-से लगते हैं। उन्होंने किस आधार पर दिया ? आन्तरिक चेतना के विकास के आधार पर उन्होंने इतना दिया। भिक्षु स्वामी के सम्बन्ध में विस्तार से जानने के बाद नालन्दा महाविद्यालय के डायरेक्टर सतकौड़ि मुखर्जी ने एक बार कहा था, 'भिक्षु स्वामी मारवाड़ मे जन्मे, इसलिए वे पीछे रह गए। यदि उन्होंने जर्मनी मे जन्म लिया होता तो आज काण्ट से भी ज्यादा उनका महत्त्व होता। साध्य और साधन पर जितना भिक्षु स्वामी ने विचार किया है, उतना शायद ही किसी भारतीय या विदेशी दार्शनिक ने विचार किया हो।'

यह सारा कहा से आता है ? यह आता है आन्तरिक ज्ञान से। समाज के निर्माण मे जितना हाथ आध्यात्मिक शक्ति का है, उतना शायद ही किसी और का हो। यह एक ऐसा पक्ष है जिसमे दो बातें नही हैं। यानी निर्माण है किन्तु विघटन नही है। आप देखेंगे कि अध्यात्म ने व्यक्ति को जोडा ही जोडा है, कही तोडा नहीं है। यह तोडने की बात तो बुद्धि के द्वारा की जाती है। बुद्धि का कार्य हमेशा जोडने का होता है तो साथ-साथ तोडने का भी होता है। जितने बुद्धिमान लोग होते हैं वे एक प्रकार की बात करते हैं आपके सामने और पीछे जाकर दूसरे प्रकार की भी कर सकते हैं। अगर बुद्धि के बल पर सारी बात होगी तो कर सकते हैं। क्योंकि बुद्धि को दोनो बातें मान्य हैं। बुद्धि सामने चेहरा भी देखना जानती है और पीछे पीठ देखना भी जानती है। वह चेहरा देखकर उसके अनुसार बात करना भी जानती है और पीठ को देखकर उसके पीछे जो कहना चाहिए, वह भी जानती है। किन्तु अध्यात्म ऐसा नहीं जानता। वह एक जैसा होता है। हमारी आन्तरिक चेतना एक-जैसी होती है। इसीलिए कहा गया है, 'चाहे दिन हो, चाहे रात हो, चाहे अकेला हो, चाहे परिषद् के बीच मे हो, चाहे सोता हो और चाहे जागता हो, आन्तरिक चेतना मे कोई परिवर्तन नही आता। कोई द्वैध नही आता। उसके टुकडे नही होते। उसे तोडा नहीं जा सकता। उसे बाटा नही जा सकता।'

महासती सीता जब अग्निकुण्ड के सामने आकर खडी होती हैं तो उस समय वह कहती हैं, 'अग्नि ! यदि मन मे, वचन मे और काया मे, सोते हुए और जागते हुए, राम के सिवाय अन्य किसी पुरुष के प्रति मेरे मन मे भाव आया हो तो मुझे जला देना, क्योंकि विकृति और सुकृति दोनो की तुम साक्षी हो।'

आदमी सोने की बात कैसे कह सकता है ? वह कह सकता है कि मैंने जागते हुए यह कार्य नही किया। पर मैंने भूल मे भी नहीं किया, नीद मे भी नही किया,

यह कोई दावा नही कर सकता। किन्तु हमारी आतरिक चेतना यह दावा कर सकती है कि हमने सोचते हुए भी यह काम नही किया। बुद्धि यह दावा नही कर सकती, क्योकि बुद्धि का यह काम नही है। यह आन्तरिक चेतना का ही काम है, अध्यात्म का काम है और धर्म का काम है। धर्म ही ऐसा दावा कर सकता है, दूसरा नही कर सकता। नैतिकता भी नही कर सकती। नैतिकता अध्यात्मिक चेतना और बौद्धिक चेतना के बीच मे झूलनेवाली चीज है। नैतिकता उतनी गहरी नही होती है, जितना कि अध्यात्म। वास्तव मे नैतिकता अध्यात्म का एक फल मात्र है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। किन्तु आन्तरिक चेतना जहा व्यक्ति की जागृत होती है, वहा सब कुछ होता है।

धर्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? यह हमारी आन्तरिक चेतना का जागरण है। आज धर्म की व्याख्या भी बुद्धि के द्वारा की जाती है। धर्म की चर्चाए भी बौद्धिक स्तर पर की जा रही हैं। वह धर्म सम्प्रदाय तो खडा कर देता है किन्तु धर्म को कभी नही खडा करता। आज यह साम्प्रदायिक मतभेद क्यो है ? बौद्धिक आधार पर मतभेद चल रहे है एक ही बुद्धि के द्वारा एक बात का समर्थन किया जा रहा है तो दूसरी बुद्धि के द्वारा उस बात का खण्डन किया जा रहा है। यह समर्थन और खण्डन, यह स्थापना और उत्थापना, यह निर्माण और विघटन—ये सारे इसी आधार पर चल रहे हैं तो उधर भी बुद्धि ने अपना एक अखाडा जमा रखा है। धर्म मे ऐसा नही होता और होना भी नही चाहिए।

बुद्धि के क्षेत्र मे बहुत सावधान रहने की जरूरत है, जहा हम निर्माण की बात सोचते है। यह सुख-सुविधा की जितनी भी सामग्री और उपकरण बने हैं, किसी बुद्धिहीन आदमी ने नही बनाए है। किन्तु उस बुद्धि के पीछे भी एक तत्त्व काम कर रहा है—अन्तर्ज्ञान का। जिसने मत्र दिया, रहस्य दिया, वह बुद्धि से भी परे रहा है और कोई आत्मज्ञानी रहा है। इस दृष्टि से देखें तो बुद्धिहीनता अच्छी बात नही है, बुरी बात है। बुद्धिमान होना अच्छा भी है। किन्तु उससे भी परे की बात है बुद्धि से अतीत होना। यह हमारे धर्म की बात है। आप लोग धर्म की बात सुनने के लिए बैठे हैं। बुद्धि की चर्चा के और भी क्षेत्र हैं। मैंने बुद्धि से परे की बात बुद्धि के सन्दर्भ मे की। मैं बोल रहा हू तो इसमे भी बुद्धि का योग तो है ही। कुछ तो है ही। अगर वह नही होता तो मैं शायद नही बोल पाता। किन्तु अगर कोरा बुद्धि का ही योग हो तो मैं भी आपको वही बात कहूगा, जो आपको तोडने वाली भी होगी, जो आपको आगे से अच्छी भी लगती, किन्तु पीछे से कैंची का काम करती। किन्तु यदि हम बुद्धि को अच्छी तरह समझ लें और एक सेविका या दासी के रूप मे काम मे लें तो वह हमारे लिए खतरनाक नही बनेगी, कल्याणकारी बन जाएगी।"[1]

---

१ १२ अगस्त, १९७३ को हिसार में दिया गया वक्तव्य।

हमारा जीवन और समस्याएं

हम ऐसे जगत् मे जी रहे हैं जहा नानात्व है, कोई एक नही है। समस्या का अर्थ है—अनेक होना और अनेक होने का अर्थ है—समस्या। यदि एक ही होना तो कोई समस्या नहीं होती। 'छिन्नहस्तो विहस्तस्य कथवध्नाति कंकणम्'—कोई आदमी दूसरे आदमी के हाथ पर ककण बाधना चाहता है तो दो हाथ होने जरूरी हैं। जिसका हाथ कटा हुआ है, वह उस आदमी के ककण वाधना चाहता है, जिसके हाथ हैं ही नही, यह असभव है। वाधने वाले के भी हाथ होना चाहिए और जिसके बाधा जा रहा है उसके भी हाथ होना चाहिए। दोनो ओर हाथ होते हैं तो ककण वाधा जा सकता है। समस्या के लिए भी दो का होना जरूरी है। इसीलिए द्वन्द्व शब्द का चुनाव हुआ है। द्वन्द्व के दो अर्थ हैं—दो और युद्ध। दो हुए विना युद्ध नही हो सकता, लडाई नही हो सकती, सघर्ष नही हो सकता, समस्या भी नही हो सकती। हमारे जगत् मे द्वैत है, नानात्व है, अनेकता है। जहा यह है, वहा समस्या का होना अनिवार्य है। इसलिए हम यह कल्पना नही कर सकते कि हमारी इस दुनिया मे समस्या न हो। यह असभव है। इस स्थिति मे हम समस्या को जानें, समझें और उसका समाधान खोजें। समस्या न हो—इस दिवास्वप्न मे हम न रहें।

हमारा सबसे पहला काम है—समस्या को जानना। भगवान् महावीर ने कहा—

> जहा सुई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सई।
> तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सई॥

—धागा पिरोई हुई सुई गुम हो जाने पर भी मिल जाती है, क्योंकि धागा उसके साथ है। वैसे ही ज्ञान के धागे से जुडा हुआ व्यक्ति ससार मे विनष्ट नही होता, कहीं-कही स्खलित होता है, तत्काल सभल जाता है, गिरता नही। ज्ञान का यह सूत्र वना रहे, यह वाछनीय है। हम समस्या के स्वरूप को समझने मे सक्षम रहे, जागरूक रहे और समस्या का सही मूल्याकन करें। यदि हमारी समझने की

शक्ति ठीक रहती है तो समस्या से घवराने की कोई जरूरत नही होती। समस्या से वे लोग घवराते हैं जो कायर होते हैं। जो है उसे जानना, समझना, उसका सामना करना, यह समझदारी का काम है। जिनमे पराक्रम है, समझ है, पौरुप है, वे समस्या से भी नही घवराते। वे उसे अप्रिय नही समझते, उसको साथ लिये चलते हैं। वे यह मानते हैं कि समस्या तो परिचित है, हमारा साथी है। हम रहेगे, समस्याए भी रहेगी। समस्याए रहेगी, हम भी रहेगे। हम दोनो साथ-साथ रहेगे। एक कोई नही होगा। केवल समस्या नही होगी या केवल हम नही होगे। दोनो साथ-साथ चलेंगे। यदि हम यह मानकर चलते हैं, वहा हमारा दृष्टिकोण सम्यक् होता है और हम ठीक कोण से देखने लग जाते हैं। देखने का हमारा दृष्टिकोण भी सही होना चाहिए। वहुत सारी कठिनाइया इसलिए पैदा होती हैं कि हमारा दर्शन का कोण सही नही होता। अगर वह सही हो, सत्य से जुडा हुआ हो तो कोई उलझन पैदा नही होती।

एक राजा था। उसने वहुत वडा प्रासाद वनवाया। वह भव्य, रमणीय और सुविधाजनक था। सव लोग आते, देखते और प्रशसा करते। राजा उस प्रशसा से तृप्त नही हुआ। प्रशसा का मूल्य है किन्तु उससे भी अधिक मूल्य इस वात का है कि प्रशसक कौन है? साधारण व्यक्ति की प्रशसा का उतना मूल्य नही होता, जितना कि उस व्यक्ति का होता है, जो वस्तुत प्रशसा करने मे कृपण होता है या जिसकी प्रशसा सहज निकलती नही। उस नगर मे एक तत्त्वज्ञानी मनुष्य रहता था। राजा ने सोचा, 'जव तक वह प्रशसा नही करेगा तव तक दूसरो की प्रशसा का वहुत मूल्य नही होगा।' राजा ने उसे निमन्त्रित किया। वह आ गया। राजा ने कहा, 'देखो, कितना सुन्दर प्रासाद है। कितना भव्य! कितना सुविधाजनक! क्या आप इसमे कोई कमी देखते हैं?' वह मुस्कराया। उसने धीमे स्वर मे कहा, 'इस दुनिया मे ऐसी कोई वस्तु नही होती, जिसमे कोई कमी न हो। कुछ भी पूर्ण हो नही सकता। हमारी अपूर्णता की दुनिया मे कुछ भी पूर्ण नही होता। आप मुझे फिर क्यो पूछते हैं?' राजा ने आग्रह किया। तव तत्त्वज्ञानी ने कहा, 'यदि आप जानना ही चाहते हैं तो मैं वताऊगा। मुझे इसमे दो कमिया दिखायी देती हैं। एक कमी तो यह है कि एक दिन यह प्रासाद नष्ट हो जाएगा और दूसरी कमी यह है कि इसको वनाने वाला भी नष्ट हो जाएगा।'

हमारे दर्शन का कोण सम्यक् होता है तो हम केवल आकार-प्रकार मे ही सीमित नही हो जाते, केवल सुविधा और उपयोगिता तक ही सीमित नही हो जाते किन्तु सत्य के साथ भी जुडे रहते है और सोचते हैं कि अन्तिम सत्य क्या है? वास्तविकता क्या है? समस्या के आकार-प्रकार को हम समझ ले, समस्या की प्रतिक्रिया को भी हम जान लें, किन्तु यदि हम अन्तिम सत्य को न जानें कि इसका अतिम परिणाम क्या हो सकता है, तो सभव है हमारी सारी प्रक्रिया अधूरी रह

जायेगी। हम जानें और देखें। केवल विचार तक ही सीमित न रहें। आज विचार को महत्त्व दिया जा रहा है। किन्तु मैं समझता हू कि विचार बहुत अधूरी प्रक्रिया है, परिस्थिति-जनित एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका स्थायी मूल्य नही होता। एक क्षण मे उसका मूल्य दिखायी देता है, परिस्थिति बदली कि उसका मूल्य भी बदल जाता है। एक छोटी-सी कहानी है। एक बूढा आदमी जा रहा था। उसके सिर पर एक गट्ठर था। बोझ अधिक था, बूढा परेशान था, वह थक गया। उसने सोचा, 'देखो, मौत भी नही आती। यमराज मुझे भूल ही गया। कितना अच्छा हो, यदि अभी मौत आकर मुझे उठा ले। यमराज आकर मुझे ले जाए।' योग ऐसा मिला कि यम स्वय आ गया। इधर बूढे का एक सहायक भी आ पहुचा। उसने आते ही गट्ठर उठाकर अपने सिर पर रख लिया। यम ने पूछा, 'बोलो, मुझे क्यो याद किया?' अब बूढे का विचार बदल गया था। वह हल्का हो गया था। कष्ट मे जो विचार था वह जैसे ही आराम मिला, सुख मिला, बदल गया। यम ने कहा, 'जल्दी बताओ, तुमने मुझे क्यो याद किया है?' बूढे ने कहा, 'क्षमा करें, मैं गट्ठर के भार से दबा जा रहा था। उसे उठाने के लिए आपको याद किया था। अब मेरा सहयोगी आ गया है। उसने गट्ठर उठा लिया है। अब आप चले जाइए। आपकी आवश्यकता नही है।'

विचारो का ऐसा स्वरूप है कि एक परिस्थिति मे जो विचार उत्पन्न होता है, वह परिस्थिति के बदलने पर बदल जाता है। हम विचारो को बहुत मूल्य न दें। उन्हे स्वय जानें, देखें और अनुभव करें। यह अनुभव की प्रक्रिया विचार-दर्शन की प्रक्रिया है, उसे जानने की प्रक्रिया है। इसके सहारे हम यथार्थ को देख सकते हैं और उसके साथ-साथ चल सकते हैं।

अब मैं समस्याओ के दर्शन की कुछ चर्चा प्रस्तुत करना चाहूगा। हमारी समस्याए क्या है? हम उन्हे किस दृष्टिकोण से देखें? ये चर्चनीय प्रश्न हैं। हम हैं। हमारा अस्तित्व है। 'हम हैं'—इसका अर्थ होता है कि शरीर है। सबसे पहले जो हमारे सामने आता है, वह है शरीर। उसके पश्चात् आता है मन और फिर आता है विचार। इस वैयक्तिकता के बाद आता है परिवार, सपदा अर्थात् बाह्य जीवन के सहयोगी साधन। दो चीजें हमारे सामने आती हैं—एक वैयक्तिक और एक सामाजिक।

सबसे पहले आता है शरीर। शरीर से ही हमारी यात्रा प्रारम्भ होती है, इसलिए मैं सबसे पहले शारीरिक समस्याओ की चर्चा करूगा। शरीर हमारे लिए सब कुछ है। एक दृष्टि से देखें तो शरीर ही सब कुछ है। क्योकि सारा प्रारम्भ शरीर से ही होता है। दार्शनिको ने दो अस्तित्वो की चर्चा की है—शरीर और शरीर से भिन्न आत्मा। कुछ लोग मानते हैं कि शरीर से भिन्न कोई चेतना नही है। चेतना शरीर की ही एक उपज है, उसकी ही एक निष्पत्ति है। कुछ लोग

मानते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। कुछ लोगो ने शरीर को बहुत गालिया दी, उसे बहुत कोसा। उन्होने कहा कि शरीर के कारण ही इतनी विकृतिया हुई है, हो रही हैं। कुछ लोगो ने कहा, 'आख के कारण विकृति होती है, अत आख को फोड डालो। कान के कारण विकृति होती है, अत कान के पर्दे को फाड डालो।' ऐसे व्यक्तियो ने शरीर पर काफी आक्रोश प्रकट किया। कुछ समझदार लोगो ने यह भी कहा कि शरीर एक साधन है, माध्यम है। उसे हम किधर ले जाते हैं, यह हमारी इच्छा पर निर्भर है। शरीर का इसमे दोष ही क्या है? एक ओर शरीर को अनित्य बतलाया तो दूसरी ओर उसकी उपयोगिता भी बतलाई। भगवान् महावीर ने कहा

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो॥

—शरीर नौका है। जीव नाविक है। ससार समुद्र है। महर्षि इस नौका से समुद्र का पार पा लेते हैं।

ससार अर्थात् समस्या। इस समस्या के चक्र को यदि पार करना है तो इस शरीर-रूपी नौका के द्वारा पार किया जा सकता है। नदी पार करने वाले एक यात्री के लिए नौका का जितना मूल्य है, उतना ही मूल्य है शरीर का। यह निर्मूल नही है। इसका यह मूल्य प्रदर्शित भी है। इतना होने पर भी हम इस बात को अस्वीकार नही कर सकते हैं कि शरीर की भी अपनी कुछ समस्याए हैं। उन समस्याओ को भी हमे ध्यान मे रखना चाहिए, वस्तुस्थिति को आखो से ओझल नही करना चाहिए।

शरीर की पहली समस्या है—अनित्यता। यह शरीर अनित्य है, नश्वर है। इसकी सबसे बडी कमी यही है। यदि यह नश्वर नही होता, शाश्वत होता तो शायद कुछ और बातें होती। किन्तु शरीर अनित्य है, यह एक समस्या है।

शरीर की दूसरी समस्या है—रोग। रोग होता है। शरीर स्वस्थ नही रहता। बीमारिया होती रहती है। वे चाहे ऋतुजनित हो, चाहे कर्मज हो, चाहे दोषज हो, चाहे आगन्तुक हो। यह एक व्यापक समस्या है। इतना वैज्ञानिक विकास होने पर भी आज भी ऐसी बीमारिया हैं, जिन पर नियत्रण नही हो पाया है।

शरीर की तीसरी समस्या है—बुढापा। हमारे शरीर की कोशिकाए बनती हैं, बिगडती हैं। उनका उपचय होता है, अपचय होता है। इस क्रम मे एक क्षण ऐसा आता है कि सारी कोशिकाए क्षीण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं। अनेक वैज्ञानिक इस ओर प्रयत्नशील हैं कि बुढापे को रोका जाए। आदमी कभी बूढा न हो। प्रयत्न चालू है, परन्तु अभी तक ऐसा कोई फार्मूला विकसित नही हो पाया जिससे कि आदमी बूढा न हो और यह बुढापे की बाढ रुक जाए। यह भी व्यापक

समस्या है।

इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ समस्याएं और हैं। भूख और प्यास भी एक समस्या है। भूख भी लगती है और प्यास भी लगती है। सर्दी और गर्मी भी एक समस्या है। सर्दी भी लगती है और गर्मी भी लगती है। इन सब शारीरिक समस्याओं से संकुल होकर आदमी अनेक कठिनाइयों का सामना करता है।

विश्व का सबसे बड़ी समस्या है—भूख की, रोटी की। इतना प्रयत्न होने पर भी इसका अभी तक समाधान नहीं हुआ है। समस्याएं और भी हैं किन्तु रोटी की समस्या जीवन की सबसे पहली समस्या बनी हुई है। शरीर पहली समस्या है और शरीर की पहली समस्या है रोटी। ये शारीरिक समस्याएं हमारे सामने हैं। केवल ये ही नहीं, दूसरी समस्याएं और भी हैं।

हमारी एक समस्या है—मानसिक। शरीर के बाद हम थोड़े सूक्ष्म में जाते हैं, स्थूल से सूक्ष्म की ओर पैर बढाते हैं तो हमारे सामने आता है एक उभरता हुआ चेतना का चित्र, जिसका हम स्थूल नाम रखते हैं मन। उस मन की भी कुछ समस्याएं हैं। वे भी हमें कम आक्रान्त नहीं करतीं, शारीरिक समस्याओं से अधिक आक्रान्त करती हैं। मन की समस्याएं क्या हैं—इसे भी हमें जान लेना है। मन की सबसे पहली समस्या है कि वह चंचल है। यह चंचलता स्वयं में एक समस्या है। उस चंचलता के कारण ही अशान्ति की समस्या उत्पन्न होती है। तनाव और अशान्ति का अर्थ है चंचलता। जितने विकल्प मन में उत्पन्न होते हैं, वे भी अशान्ति को उत्पन्न करते हैं। अशान्ति बाहर से आने वाली वस्तु नहीं है। अशांति न अभाव से उत्पन्न होती है और न घटना, वातावरण या परिस्थिति से उत्पन्न होती है। हमारे मन की चंचलता है, या मन में निरन्तर उत्पन्न होने वाले विकल्पों की धारा है, सातत्य है, कन्टिन्यूटि है, वही वास्तव में अशान्ति है। कुछ भी घटित हो रहा है, कैसी ही परिस्थिति है, कैसा ही वातावरण है, किन्तु यदि हमारे मन में विकल्प नहीं है तो कोई अशान्ति नहीं। अशान्ति उसी क्षण उत्पन्न होती है, जब हमारा मन विकल्पों से भर जाता है। एक के बाद एक विकल्प उठता रहता है। उसकी लंबी शृंखला का नाम है—अशान्ति। अशान्ति न वस्तुजनित है और न घटनाजनित है। वह है विकल्पजनित। इस प्रकार चंचलता बहुत बड़ी समस्या है।

दूसरी मानसिक समस्या यह है कि हमारा मन बहुत प्रभावित होता है। मन व्यक्ति से प्रभावित होता है, वस्तु से प्रभावित होता है, घटना से प्रभावित होता है। मन जाने-अनजाने अनेक चीजों से प्रभावित होता है। वह दूसरे लोकों, ग्रहों या सौर-मण्डल के हमारे साथियों से आने वाली रश्मियों से प्रभावित होता है। वह और भी अनेक तत्त्वों से प्रभावित होता है। प्रभावित होने के साथ-साथ उसमें प्रतिक्रिया भी होती है। हम एक बात सुनते हैं, बहुत प्रसन्न हो जाते हैं। एक बात

सुनते है, वहुत क्रुद्ध हो जाते है। कोई प्रशसा करता है, हम फूल जाते है। कोई अप्रिय वात कहता है, हम सूख जाते हैं, मुरझा जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के मन मे हजारों-हजारों प्रतिक्रियाए पैदा होती है। उसका स्वतत्र अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है और वह मदारी के वन्दर जैसा वन जाता है। उसे जैसा वनाना चाहो, वह नाच लेता है, मानो कि उसका कोई अस्तित्व ही न हो। हम सव केवल प्रतिक्रिया का जीवन जी रहे हैं। हम दूसरो के आधार पर वनते-विगडते रहते है। हमारा हर्ष और हमारा शोक, हमारी प्रसन्नता और हमारी नाराजगी—सव कुछ दूसरो के हाथो मे होती है और वे जिस प्रकार हमे वनाना चाहें, उसी प्रकार हम वन जाते हैं। प्रतिक्रिया का होना वहुत वडी समस्या है।

इस प्रतिक्रिया के नीचे छिपी हुई एक समस्या और है, जिस पर अध्यात्म के आचार्यों ने वहुत गहराई से मनन किया है। वह है—ज्ञेय के साथ एकत्व, दृश्य के साथ एकत्व। हम ज्ञाता हैं। हमारा ज्ञान जानना है। जिसे हम जानते हैं, वह ज्ञेय है। हम द्रष्टा हैं। हम दर्शन की शक्ति के द्वारा देखते हैं। जिसे हम देखते हैं, वह दृश्य है। हमारा काम तो इतना-सा है कि ज्ञेय ज्ञेय के स्थान पर रहे और ज्ञाता ज्ञाता के स्थान पर रहे, द्रष्टा द्रष्टा के स्थान पर रहे और दृश्य दृश्य के स्थान पर रहे। किन्तु हम केवल इतना ही नही करते। हम कुछ आगे वढ जाते हैं। हम ज्ञेय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। हम दृश्य के साथ एकत्व स्थापित कर लेते हैं। इस प्रक्रिया से हम ज्ञेयमय और दृश्यमय वन जाते हैं। ज्ञेयमय और दृश्यमय होने का अर्थ है—प्रतिक्रियाओ को नियत्रित करना। यदि हम ज्ञेयमय और दृश्यमय न हो तो प्रतिक्रिया उत्पन्न नही हो सकती। ज्ञाता का काम है जानना और द्रष्टा का काम है देखना। जानने के वाद ज्ञेय के साथ तादात्म्य स्थापित करना या देखने के वाद दृश्य के साथ तादात्म्य स्थापित करना ज्ञाता या द्रष्टा का काम नही है। किन्तु व्यक्ति एक कदम आगे वढता है और ज्ञेय तथा दृश्य के साथ अभिन्न हो जाता है। इसका परिणाम होता है कि ज्ञेय की या दृश्य की सारी प्रक्रिया मन मे प्रारम्भ हो जाती है। ज्ञेय या दृश्य के द्वारा जो होना था, वह हममे हो जाता है। ज्ञेय और दृश्य के साथ एकत्व की जो स्थापना होती है, एकत्व का जो अनुभव होता है, वही हमारी सारी प्रतिक्रियाए पैदा करता है। यह गहरे मे होने वाली समस्या है। यदि हमारे समूचे जीवन का लेखा-जोखा किया जाए तो उसमे क्रिया का भाग, क्रिया का जीवन जो कि हमारा स्वतन्त्र जीवन होता है, वह वहुत कम होता है, पाच प्रतिशत मात्र होता है, शेष पिचानवे प्रतिशत जीवन प्रतिक्रिया का जीवन होता है।

कोई पूछे कि तुमने गाली क्यो दी ? उत्तर मिलेगा कि उसने मुझे गाली दी, मैंने भी उसे गाली दे दी।

तुमने यह काम क्यो किया ? उत्तर मिलेगा—उसने पहले मेरा यह काम

किया था, इतना उपकार किया था तो भला मैं क्यो नही करता ! कहने का तात्पर्य यह है कि कोई अच्छा करता है या बुरा करता है, वह करता है प्रतिक्रिया के आधार पर। यह मेरा धर्म है कर्तव्य है—इस आधार पर सोचने वाले, करने वाले लोग बहुत ही कम होंगे और जो होंगे वे भी बहुत ही कम क्षणो मे ऐसा काम करते होंगे। शेष सारे लोग और सारे क्षण केवल प्रतिक्रिया मे बीतते हैं।

एक छोटा बच्चा था। वह घर आया। भाई ने पूछा, 'आज तुम्हारे मित्र ने तुम्हे क्या कहा था ?' उसने कहा, 'मित्र मुझे गधा कह रहा था।' 'तुमने फिर क्या कहा ?' 'मैं मौन रहा।' 'अरे मौन क्यो रहे ?' 'मैं मौन नही रहता तो सचमुच गधा हो जाता। उसकी बात सही हो जाती। मैं मौन रहा तो उसकी बात झूठी हो गई।'

यह है क्रिया का जीवन। जब हम क्रिया का जीवन जीते हैं, तब अपनी बुद्धि से सोच समझकर स्वतन्त्र भावना से काम करते हैं। दूसरे के आधार पर काम नही करते। कर्त्ता किसे कहा जाए ? सस्कृत व्याकरण का सूत्र है—'स्वतन्त्र कर्त्ता'—कर्त्ता वह होता है, जो स्वतन्त्र होता है। कर्म स्वतन्त्र नही होता। कर्त्ता जो करना चाहता है, वह कर्म होता है। कर्म कर्त्ता से बधा हुआ होता है। कर्त्ता किसी से बधा हुआ नहीं होता, और जो किसी से बधा हुआ होता है वह कर्ता नही होता। किसी के आधार पर कोई व्यवहार, वर्ताव या आचरण न करना, स्वतन्त्र रूप से कुछ करना—यह है क्रिया का जीवन। हम क्रिया का जीवन बहुत कम जीते हैं, प्रतिक्रिया का जीवन अधिक जीते हैं। यह हमारे मन की बहुत बडी समस्या है। आज मैं विशेषत उन्ही समस्याओ की चर्चा कर रहा हू, जिनका सम्बन्ध हमारे जीवन के साथ है और जिनका सम्बन्ध धर्म की धारणाओ के साथ है। धर्म की धारणाओ के साथ अर्थात् अध्यात्म और धर्म ने मनुष्य को जिन समस्याओ के प्रति सावधान किया था और जिन समस्याओ को समझने के लिए उद्दीप्त किया था, जागृत किया था, उन्ही समस्याओ की मुख्यत मैं चर्चा कर रहा हू। उनमे प्रतिक्रिया भी एक बहुत बडी समस्या है।

तीसरी समस्या है—सकल्प का स्खलन। यह भी बहुत बडी मानसिक समस्या है। हम सकल्प करते हैं और वह टूट जाता है। फिर सकल्प करते है और वह फिर टूट जाता है। शायद ही ऐसा कोई आदमी होगा जो यह कह सके कि मैंने सकल्प किया और वह कभी नही टूटा। मनसा, वाचा, कर्मणा वह कभी टूटा ही नही। आदमी सकल्प करते हैं, प्रतिज्ञा करते है, दृढ निश्चय करते हैं, आत्म-विश्वास प्रकट करते हैं, किन्तु थोडा-सा समय बीतता है, थोडी-सी परिस्थिति बदलती है, सकल्प बदल जाता है और सकल्प बदलने के कारण परेशानिया और कठिनाइया भी होती हैं। कठिनाइया स्वय को भी होती हैं और दूसरो को भी होती हैं। इन मानसिक समस्याओ को हम अस्वीकार नही कर सकते।

एक मानसिक समस्या है—प्रियता और अप्रियता की अनुभूति। हम कही आसक्त होते है और कही विरक्त होते हैं। हम कही अनुरक्ति प्रदर्शित करते है हम कही अनुरक्ति करते हैं और कही घृणा करते है, अप्रीति पैदा करते हैं। सचमुच यह वहुत वडी समस्या हैं और इस समस्या के कारण ही तनाव हैं। क्योकि हमारा प्रेम न तो इतना व्यापक है कि जिसमे सव समा सके और हमारी घृणा भी इतनी व्यापक नही हैं कि जिसमे सव समा सके। अगर हमारी घृणा व्यापक होती तो शायद वह अन्तिम विन्दु पर पहुचकर प्रेम मे वदल जाती। किन्तु और कही विरक्ति प्रदर्शित करते है। हम कुछ लोगो से घृणा करते हैं और कुछ लोगो से प्रेम करते हैं। कुछ वस्तुओ से प्रेम करते हैं। कुछ वस्तुओ से घृणा करते हैं। यह जो खण्डित व्यक्तित्व हैं, मन की खण्डित धारा है, वह हमे किसी भी वस्तु तक नही पहुचाती। कितना ही अप्रिय प्रसग हो, किन्तु यदि वह व्यापक होता हैं तो अन्तिम विन्दु पर पहुचकर प्रियता पैदा कर देता है। किन्तु प्रियता और अप्रियता का साथ-साथ चलना हमारी वहुत वडी मानसिक समस्या हैं। एक विषय का उल्लेख किए विना हम मानसिक समस्या के विषय को पूरा नही कर सकते।

मन आवेगो का एक अच्छा वाहक है, माध्यम है, मीडियम है। हमारे जितने आवेग हैं, वे सभी मन पर उतरते हैं। कोई क्रोध करता है तो मन मे तनाव होता है। किसी के साथ प्रेम करते हैं तो मन मे तनाव आ जाता है। कोई उत्सुकता, घृणा या अह आता है तो मन तनाव से भर जाता है। प्रत्येक आवेग तनाव पैदा करता है। आवेग मन के रथ पर उतरकर ही अपनी यात्रा प्रारभ करते हैं। हमारे जितने मूल आवेग या भय, क्रोध, शोक, घृणा आदि उप-आवेग हैं—ये सारे मन के माध्यम से प्रकट होते हैं और मन ही उन्हे आगे ढकेलता है। यह प्रियता और अप्रियता तथा आवेगो की अनुभूति वहुत वडी मानसिक समस्या है।

एक समस्या ऐसी भी है, जो न केवल शारीरिक ही है और न केवल मानसिक ही। उसका वाचक शव्द है—शरीर-मानस समस्या। सेक्स की समस्या न केवल शारीरिक है और न केवल मानसिक। वह शरीर-मानस की सयुक्त समस्या है। भगवान् महावीर ने तीन प्रकार की वेदनाए वतलायी हैं—शारीरिक वेदना, मानसिक वेदना और शारीरिक-मानसिक वेदना। दु ख भी तीन प्रकार के होते हैं—शारीरिक दु ख, मानसिक दु ख और शारीरिक-मानसिक दु ख। सेक्स तीसरे प्रकार की वेदना या अनुभूति है। यह शरीर-मानस समस्या है। इसमे शरीर और मन दोनो का योग होता है। दोनो साथ-साथ चलते हैं। हमारी इच्छाओ का, वासनाओ का, उत्तेजनाओ का चक्र इनके आसपास घूमता है।

शारीरिक और मानसिक समस्या के वाद जव हम इनसे सूक्ष्म मे चलते है तव तीसरी समस्या सामने आती है। वह है वैचारिक समस्या। विचारो की भी एक

समस्या है। मन की क्रिया है विचार। वह भी वहुत वडी समस्या है। विचार स्वय मे समस्या है। आज की अशान्ति का सवसे वडा कारण है विचारो का चक्र। वर्तमान की दुनिया मे वहुत सारी समस्याओ और उलझनो के मूल मे विचारो की ही समस्या काम कर रही है। इसका एक कारण तो यह वना कि हमने बुद्धि और विचारो को इतनी प्रधानता दे दी कि हमारी जो देखने और जानने की शक्ति थी, विचाररहित अवस्था मे भी देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, यह जो शक्ति थी, वह लुप्त हो गयी। हम यह मानकर वैठ गए कि जो कुछ देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, वह सव विचारो के द्वारा ही हो सकता है। निर्विचारता की स्थिति मे कुछ भी नही हो सकता। यह सचाई नही है। सचाई यह है कि विचार केवल यात्रिक क्रिया है। वे मस्तिष्क मे उत्पन्न होते है। मस्तिष्क एक यत्र है और विचार उस यत्र के द्वारा होने वाली क्रिया है। कप्यूटर की क्रिया मे और मस्तिष्क की क्रिया मे वहुत वडा अन्तर नही है। क्योकि हमारा मस्तिष्क स्मृति का कोष है। उसमे स्मृति के अकन होते रहते हैं। एक प्रवृत्ति होती है, घटना घटती है, या हम कुछ पढते है, वह सव मस्तिष्क मे अकित हो जाता है। हमारे मस्तिष्क मे इतने अकन भरे पडे हैं कि यदि उन सव अकनो को फिर से उभारा जाए तो यह दुनिया छोटी पडेगी उनको समाने के लिए। उन स्मृतियो के आधार पर हम कुछ सोचते हैं, विचार करते हैं। इसका अर्थ होता है कि हम केवल अतीत मे चले जाते हैं, वर्तमान से कट जाते हैं। समस्या है वर्तमान की और हम समाधान ढूढते हैं विचारो के द्वारा जो अतीत की स्मृति मात्र है। सगति कैसे होगी ? वर्तमान की समस्या का समाधान हम अतीत मे कैसे पाएगे ? विचारो को प्रधानता देने की, दूसरो के अनुभवो को दोहराने की या शास्त्रो की दुहाइया देने की वात हमारे मस्तिष्क मे ऐसी जम गयी कि हम प्रत्येक समस्या को शास्त्रो के माध्यम से समाहित करना चाहते है। शास्त्रो मे, आगमो मे, त्रिपिटको मे हर समस्या का समाधान ढूढेंगे। समाधान नही कर पाएगे। समस्या वढेगी। यह विचारो की आसक्ति समस्या इसलिए वन गयी कि हम स्वय जानने, देखने और अनुभव करने की वात को गौण कर गए और दूसरे क्या कह गए हैं, दूसरो के विचार क्या हैं, उसी के आधार पर हमने अपना चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। हमने विचारो को अतिरिक्त महत्त्व दे डाला। देखने और जानने की स्वय की क्षमता को हमने नकार दिया। हमने इस सत्य को भुला दिया कि विचारातीत अवस्था मे भी चेतना सक्रिय रहती है और उस समय जो जाना जाता है, देखा जाता है, वह विचारो की उपस्थिति मे नही जाना जा सकता, नही देखा जा सकता। इस वात को भुलाने का परिणाम हुआ नाना मतवादो की उत्पत्ति और नाना विवादो का जन्म। जहा अपना अनुभव और अपना ज्ञान नही होता, वहा दूसरो के विचारो को महत्त्व देना ही पडता है।

कोई मुझे एक वात कहता है, दूसरे को दूसरी वात कहता है, तीसरे को तीसरी वात कहता है। मुझे किसी की वात अच्छी लगती है, दूसरे को किसी और की वात अच्छी लगती है और इस प्रकार नाना मतवाद खडे हो जाते हैं।

अनेकान्त के पुरस्कर्ता आचार्यों ने यहा तक कहा है, **'जावइया वयणपहा तावइया हुंति नयवाया'**—जितने वोलने के प्रकार हैं, उतने ही वाद हैं। स्याद्वाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद—हम कितने नाम गिनाए ? जितने वोलने के प्रकार हैं, उतने ही वाद हैं। जहा वाद असीम हो जाते हैं, वहा विवाद हुए बिना कैसे रहेगा ? आदमी विवाद करेगा कि तुम्हारा वाद सही नही है, मेरा वाद सही है, इसका वाद सही नही है, इसका वाद सही है। फिर तो वाद के सही और गलत ठहराने मे शक्ति लगेगी और विवाद खडे हो जाएगे। वाद के वाद विवाद होगा। वाद और विवाद के आधार पर समूचे तर्कशास्त्र और न्यायशास्त्र का विकास हुआ है। आश्चर्य है कि सव कुछ नकारने वाला नास्तिक भी इस चक्र से वच नही सकता।

नास्तिक मान्यता का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है—तत्वोपप्लवसिंह। इनमे सभी वादो का खण्डन ही खण्डन मिलेगा। खण्डन-मण्डन न्यायशास्त्र और तर्कशास्त्र का आधार है। आज तर्कशास्त्र नही चल रहा है, इसका मतलव है कि उसमे अपने पैरो से चलने की क्षमता नही है, दूसरे के आधार पर चलने की क्षमता है, वैसाखी के सहारे चलने की क्षमता है। सारा विकास वाद और विवाद के क्षेत्र मे हुआ। यह हमारी वैचारिक समस्या है।

एक वैचारिक समस्या और है। वह है स्मृति की प्रतिवद्धता। हम स्मृति से इतने प्रतिवद्ध हैं कि जो याद किया हुआ है, उसे ही ज्ञान मानते चले जा रहे हैं। वह विचार तो हो सकता है। विचार का अर्थ ही होता है—चलना, चलने की क्रिया। हमने ज्ञान और विचार को एक मान लिया। किन्तु विचार है स्मृतियो के आधार पर वनने वाली एक प्रक्रिया और ज्ञान है अपनी स्वतन्त्र चेतना। ज्ञान है विचार-निरपेक्ष चेतना, अपना सचेतन वोध, जिसको किसी यन्त्र या मस्तिष्क की आवश्यकता नही होती। किन्तु हम स्मृति से इतने प्रतिवद्ध हैं कि उसी के आसपास हमारा जीवन चलता है। तीन क्षण हैं—एक अतीत का, एक वर्तमान का और एक भविष्य का। वर्तमान का क्षण वहुत छोटा होता है। अतीत वहुत वडा है, भविष्य वहुत वडा है, अनन्त है। अतीत और अनागत—ये दो आयाम वहुत विस्तृत हैं। वर्तमान वहुत सीमित है। हमारा वर्तमान या तो स्मृति से प्रतिवद्ध है या कल्पना से प्रतिवद्ध है। इसीलिए हम वर्तमान की समस्याओ को खोजने मे वहुत कम ध्यान देते हैं और स्वतन्त्र चिन्तन इसलिए नही कर पाते कि या तो हम अतीत के सन्दर्भ मे सोचते हैं या भविष्य के सन्दर्भ मे सोचते हैं। यह जो स्मृति की प्रतिवद्धता है वह अपने आप मे वहुत वडी समस्या है। मैं यह नही कहना चाहता कि स्मृति और

कल्पना से मुक्त होकर अपना व्यवहार चला सकते है। किन्तु इनकी इतनी प्रतिवद्धता हो गयी कि हमारे सामने स्मृति और कल्पना को छोडकर केवल वर्तमान को देखने-जानने का कोई माध्यम ही नही रहा, यह एक वहुत वडी समस्या है।

शारीरिक समस्या, मानसिक समम्या और वैचारिक समस्या—ये तीन समस्याए वैयक्तिक समस्याओ की परिधि मे आती है। ये समस्याए प्रत्येक के साथ जुडी हुई हैं। अव मैं थोडा विस्तार की ओर चलता हू, जहा कि व्यक्ति व्यक्ति नही रहता किन्तु समाज वन जाता है। विस्तार के प्रारम्भ का सवसे पहला पटाव है—परिवार। परिवार से विस्तार प्रारम्भ होता है। उसमे दो वातें फलित होती है—व्यक्ति की सीमा टूट जाती है और व्यापक सीमाए छोटी हो जाती हैं। परिवार मे सारे स्वार्थ केन्द्रित हो जाते है। आदमी अपने लिए, अपने शरीर के लिए—इस सीमा से ऊपर उठकर मा के लिए, पिता के लिए, पत्नी के लिए, पुत्र के लिए सोचने लगता है। उसकी सीमा थोडी व्यापक हो जाती है, फिर भी इतनी छोटी सीमा वनी रहती है और स्वार्थ उसमे इतने सघन और केन्द्रित हो जाते है कि परिवार से परे जो है, उसके प्रति उसके मन मे दायित्व की भावना निर्मित नही होती। परिवार की सवसे वडी समस्या है—आदमी को एक घेरे मे वाध देना। परिवार विराट् प्रेम की शक्ति को सीमित कर देता है। भगवान् महावीर ने कहा, 'किसी प्राणी को मत मारो।' कोई भी अहिंसा का सूत्रधार यह कहकर नही चला कि अपने परिवार वालो का हित करो या अपने परिवार वालो को मत सताओ, मत मारो, कष्ट मत दो। क्योकि उनकी दृष्टि मे कोई परिवार था ही नही। वे परिवार की सीमा से ऊपर उठ गए थे। मैं मानता हू कि परिवार की अपनी उपयोगिता है और उपयोगिता के कारण ही परिवार वना है। यह एक शाश्वत सत्य है कि एक चीज वनती है तो उसके साथ एक समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। हर निर्मिति एक समस्या को उत्पन्न करती है। परिवार के साथ भी समस्या है क्योकि व्यक्ति की सारी ममता अपने परिवार मे केन्द्रित हो गयी। स्व की सीमा परिवार मे सीमित हो गयी। जहा स्व से इतर आ गया तो उसके लिए सव कुछ करणीय है जो यथार्थ मे अकरणीय है। इसलिए परिवार की सवसे वडी समस्या है—स्वत्व की सीमा। यहा स्वत्व सीमित हो जाता है, सिमट जाता है। अपनत्व, ममत्व या प्रेम इतना विराट् नही रह पाता, सवके प्रति नही रह पाता, किन्तु वह परिवार-केन्द्रित हो जाता है। यह एक वहुत वडी समस्या है।

परिवारगत भी एक समस्या है। वह है नाना रुचि। सव आदमी समान रुचि वाले नही होते। भगवान् महावीर ने कहा, 'अणेग छदा इह माणवेहिं'—सव मनुष्य भिन्न-भिन्न छन्द या रुचि वाले होते हैं। छन्द का अर्थ है—सोचने का प्रकार, चिन्तन का प्रकार, इच्छा, रुचि या विचार। ये सारे अनेक है, एक नही

है। पाच मनुष्य पाच बातें सोचेंगे, एक ही बात नहीं सोचते। जहा अनेकता होती हैं वहा सघर्ष भी होता है। जहा अनेकता होती हैं, वहा पारिवारिक कलह भी होते है। एक ओर तो परिवार के स्वत्व को सीमित कर दिया, विराट् प्रेम को एक सीमा मे बाध दिया और दूसरी ओर नाना रुचि तथा नाना विचारो के कारण सघर्ष भी पैदा कर दिया। बडा अन्तर्विरोध है। ममत्व और सघर्ष—दोनो साथ-साथ चलते है।

इस प्रकार नाना रुचित्व, सघर्ष और स्वत्व का सीमाकरण—ये परिवार के सदर्भ मे सामने आने वाली उलझनें हैं।

पाचवी समस्या है—आर्थिक। इसका सम्बन्ध शरीर, मन, विचार और परिवार—सबके साथ है। यह व्यापक समस्या है। जिस मनीषी ने यह कहा कि अर्थ के आधार पर समाज का ढाचा बनता-बिगडता है, उसमे कुछ भी सचाई नही है, यह मैं नही मानता। सचाई है, सापेक्ष सचाई है। निरपेक्ष सचाई किसी विचार मे हो नही सकती। विचार स्वय अपूर्ण है और वह हमे पूर्णता का बोध करा दे, निरपेक्ष सत्य बन जाए—यह कभी नही हो सकता। विचार जब स्वय अपूर्ण है, समग्र सत्य का एक खण्ड है, उसमे यदि हम अखण्ड को खोजे तो वह हमारी आत्म-भ्रान्ति होगी, आत्म-ग्लानि होगी। अर्थ के आधार पर बहुत कुछ बनता-बिगडता है, इसमे सचाई है। इसलिए भारत के महान् अर्थशास्त्री कौटिल्य ने कहा, 'अर्थमूलं हि धर्मकामौ'—धर्म और काम दोनो अर्थमूलक हैं। अर्थ के आधार पर दोनो चलते है। धर्म की व्याख्या दूसरी हो सकती है, किन्तु समाज की व्यवस्था, समाज का विधि-विधान और काम—ये दोनो अर्थ के आधार पर चलते हैं। आर्थिक समस्या के जो अर्थशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय पहलू हैं, उनकी विस्तार से चर्चा करना मुझे अभीष्ट नही है। मैं आर्थिक समस्या का धर्म के सदर्भ मे तथा मनुष्य की मौलिक वृत्तियो के सदर्भ मे चर्चा करना चाहूगा।

आर्थिक समस्या का एक पहलू है—वस्तुओ की सीमा, सीमित साधन और असीम इच्छा। यह आर्थिक समस्या का बहुत बडा पहलू है। हमारी इच्छाए असीम हैं। एक व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए साधनो को बटोरते-बटोरते कभी विश्राम ही नही ले पाता। उसे तृप्ति नही होती। वह यह नही मानता कि अब पर्याप्त हो गया। ऐसा व्यक्ति मिलना असम्भव है जो पर्याप्त का अनुभव करता हो। जिसे जरूरत है, वह तो पर्याप्त का अनुभव नही करता और जिसे जरूरत नही है, यानी हमारे मन को पर्याप्ति का अनुभव नही है। यह स्वय मे बहुत बडी उलझन है। मन कभी यह अनुभव नही करता कि बस, बहुत हो चुका। इच्छा की असीमता, अनन्तता बहुत बडी समस्या है।

अर्थशास्त्र को जानने वाले कुछ लोग सोच सकते हैं कि इच्छाओ का विकास नही होगा तो उत्पादन नही बढेगा। उत्पादन नही बढेगा तो समाज समृद्ध नही

होगा। इसलिए इच्छाओ को वढाना जरूरी है। मैं इस तथ्य को सर्वथा नही नकारना चाहता। मैं यह मानता हू कि सामाजिक प्राणी इच्छा और महत्त्वाकाक्षा को छोडकर विकास नही कर सकता। इस सिद्धान्त को स्वीकृति देते हुए भी, इस वात को कहे विना नही रह सकता कि अपरिमित इच्छाओ का होना आर्थिक समस्याओ को वढावा देना है। वर्ग-सघर्ष और वर्ग-भेद का सिद्धान्त इसी आधार पर पनपा है। एक ओर शक्तिशाली, वुद्धिशाली और साधन-सम्पन्न समाज था। उसने पदार्थों का इतना सग्रह कर लिया कि साधनविहीन, कमजोर और अनपढ समाज के पास कुछ रहा ही नही। जव इतना तारतम्य चलता है तव वर्ग-सघर्ष के कारण सारी समस्याए उत्पन्न होती हैं। वर्गभेद इसीलिए नही हुआ कि एक वर्ग ने साधन अधिक जुटा लिये और दूसरे वर्ग के पास कम साधन रह गए। हमें इससे आगे भी सोचना होगा कि एक वर्ग ने साधन अधिक क्यो जुटाए? क्या केवल वुद्धि के आधार पर जुटाए? नही, अगर वुद्धि के आधार पर जुटाते तो इतने नहीं जुटा पाते। वुद्धि के आधार पर ही नही, किन्तु वुद्धि को विकृत वनाने वाली, विवेक को ढांकने वाली तृष्णा के आधार पर उन्होने इतना सग्रह किया। इस सन्दर्भ मे महावीर ने कितना सुन्दर कहा है—**'कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं'**—ससार मे जितने दुःख हैं, वे सारे काम की आसक्ति के कारण उत्पन्न हुए हैं। दुःखो की जननी हैं—इच्छाए, वासनाए और कामनाए।

'लोहो हओ जस्स न किंचणाई'—जिसने लोभ को समाप्त कर डाला, उसने सभी दुःखो को समाप्त कर डाला। उसने सारी समस्याओ को समाहित कर दिया। सारी समस्याओ की जड मे है—इच्छा, कामना, लोभ। हम यह कैसे स्वीकार करें कि जिन्होंने अपार सपत्ति का सग्रह किया, अमित धनराशि और सम्पदा का सचय किया, उन लोगो मे केवल वुद्धि और विवेक ही काम कर रहा था। यदि हम उस वुद्धि को विभ्रान्त करने वाली, भ्रम मे डालने वाली, विकृत वनाने वाली, तृष्णा, इच्छा या मोह को अस्वीकार करते हैं तो वास्तव मे वहुत वडे सत्य को ढाकने का प्रयत्न करते हैं। तृष्णा ने अनेक आर्थिक समस्याओ को उत्पन्न किया है। एक ओर साधनो की अति और दूसरी ओर साधनो की न्यूनता—ये वस्तु-जगत् की घटनाए हैं, वस्तु-जगत् की समस्याए हैं, आर्थिक समस्याए हैं।

हम आर्थिक समस्या के एक मूल पहलू को, जो सव समस्याओ की चर्चा के वाद भी अचर्चित रह जाता है, उसको अनावृत करने के लिए मैंने सक्षिप्त-सी चर्चा प्रस्तुत की है। मानवीय या सामाजिक जीवन की जो समस्याए हैं, उनकी ओर मैंने अगुलि-निर्देश किया है। हम इन समस्याओ को गहराई से देखें, समझें, जानें और अनुभव करें।

समस्याओं का आध्यात्मिक समाधान (१)

अज्ञानी के लिए यह सारा ससार दु खमय है, समस्याओ से भरा हुआ है। ज्ञानी के लिए यह ससार आनन्दमय है, समस्याओ से शून्य है। सव समस्याओ का समाधान है ज्ञानी होना, जानना और देखना। जो नही जानता, जो नही देखता, वह सदा समस्याओ से घिरा रहता है। जो जानता है, देखता है, वह समस्याओ का पार पा जाता है। सव समस्याओ का समाधान है जानना और देखना। यथार्थ मे जितनी समस्याए हैं, उतने ही समाधान हैं। कोई भी ऐसी समस्या नही है, जिसका समाधान न हो। समस्या नही है तो समाधान की कोई जरूरत ही नही है। प्रत्येक समस्या का समाधान है। किन्तु कोई समाधान ऐसा भी होता है, जो सव समस्याओ का समाधान होता है। सारी समस्याए उससे समाहित हो जाती हैं। वह एक समाधान है—जानना, देखना। इसका अर्थ है—चेतना को जागृत करना। ज्ञान चेतना को जागृत करता है। अज्ञान का अर्थ है—वासना का चेतना पर हावी हो जाना। जव चेतना वासना से आक्रान्त होती है, तव वह घुमाती है, पहुचाती नही। जव चेतना जागृत होती हैं, शुद्ध होती है, तव वह स्वय एक मार्ग वन जाती है, जो लक्ष्य तक पहुचा देती है।

एक होता है गोल चक्कर और एक होता है मार्ग। मार्ग पहुचाता है। गोल चक्कर घुमाता है, किन्तु पहुचाता नही।

प्राणी-वैज्ञानिक डॉ० फेवरी ने कुछ कीडो को थाली मे रखा। वह थाली गोल थी। कीडे ऐसी जाति के थे जो अपने नेता के पीछे-पीछे चलते थे। नेता आगे चलने लगा। कीडे पीछे-पीछे घूमने लगे। चक्कर लगाना प्रारम्भ हुआ। थाली गोल थी। सभी कीडे गोलाकार घूमने लगे। वे तव तक घूमते रहे जव तक कि वे सव थककर गिर नही गए, मर नही गए। वे खूव चले पर पहुचे कही नही, क्योकि गोल चक्कर घुमाता है, पहुचाता नही, भटकाता है, पहुचाता नही। केवल घूमना हुआ, पहुचना नही हुआ।

यह वासना का मार्ग गोलाकार मार्ग है। वह घुमाता है, पहुचाता नही। समस्या का कोई पार नही आता, समस्या के पार तक नही पहुचाता।

चेतना का एक मार्ग है। मार्ग निश्चित ही पहुचा देता है। हो सकता है कि दो दिन की जगह चार दिन लग जाए फिर भी एक दिन पहुचना हो जाना है। जो धीमी गति से चलता है, उसका मार्ग लम्बा हो सकता है, समय का क्रम बदल सकता है, किन्तु पहुच निश्चित हो जाती है, आदमी पहुच जाता है।

समस्याओ के समाधान का सबसे बडा मार्ग, सबसे पहला या सबसे अन्तिम मार्ग जो है, वह है चेतना का जागरण, चेतना की उद्‌बुद्धता, चेतना का विकास। हमारी चेतना दो प्रकार की होती है—एक शुद्ध चेतना और एक वासनाग्रस्त चेतना। जो चेतना राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता के भाव मे आक्रान्त होती है, वह वासना की चेतना है। वह शुद्ध चेतना नही होती, तटस्थ चेतना नहीं होती। उस चेतना से जो आचरण निकलता है, वह या तो प्रियता की ओर झुका हुआ होता है या अप्रियता की ओर झुका हुआ होता है। उसमे एक झुकाव होता है, एक पक्षपात होता है, राग होता है, या द्वेष होता है, प्रियता होती है या अप्रियता होती है किन्तु स्वतन्त्रता नही होती। वह प्रतिक्रियात्मक चेतना होती है। वह रिएक्शनरी चेतना होती है। उसमे रिएक्शन होता है, स्वतन्त्र भाव नही होता। जो चेतना शुद्ध है, वह क्रियात्मक होती है। उसमे कही भी झुकाव नही होता—न प्रियता की ओर होता है और न अप्रियता की ओर होता है। वहा पूर्ण तटस्थता होती है, पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जहा जो होना है, वही होता है। वह वास्तव मे एक मार्ग है। समस्याओ के समाधान का एकमात्र मार्ग है—शुद्ध चेतना का विकास।

जैन दर्शन ने तीन मार्ग बतलाए है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। देखो, जानो और करो। जब तक तुम देखते नही हो, जब तक तुम जानते नही हो, तब तक जो करते हो, वह पहुचाने वाला नही होता, समस्या का समाधान देने वाला नही होता, वह घुमाता है, भटकाता है। सबसे पहली बात है—देखो, जानो या जानो, देखो। जानो और उसका साक्षात् करो, स्वय अनुभव करो और फिर उसका आचरण करो। यह त्रिपुटी है, मार्ग है। इसे महावीर ने मार्ग कहा है, मोक्ष का मार्ग कहा है। यह मुक्ति का मार्ग है, बन्धन से परे होने का मार्ग है, समस्याओ के समाधान का मार्ग है। यह मार्ग है, कोई सम्प्रदाय नही है, कोई संस्थान नही है, कोई घेराव नही है, कोई बन्धन नही है। यह कोरा मार्ग है। मार्ग वह होता है, जिस पर किसी का अधिकार नही होता। जो सबका होता है, वह होता है मार्ग। उस पर किसी का प्रभुत्व नही होता। उसमे सब चल सकते है। किसी के लिए कोई बाधा नही होती। घेराव मे बाधा होती है। मार्ग मे बाधा नही होती। कोई भी चल सकता है इस मार्ग से और जो भी चलता है, वह पार पहुच जाता है। यह मार्ग है—चेतना के रूपान्तरण का। यह मार्ग है वासना की चेतना को शुद्ध चेतना मे बदलने का। यह मार्ग है दृष्टिकोण के बदलने का। यह केवल नाम

बदलने का मार्ग नही है। कुछ लोग नाम बदलने मे विश्वास करते है। नाम रख दिया, समाधान हो जाएगा। इससे समाधान सुलभ नही होता, प्राप्त नही होता। नामान्तरण हो जाता है, रूपान्तरण नही होता। होना चाहिए रूपान्तरण। एक छोटी-सी कहानी है। एक राजनेता ने कहा, 'आज से सब लोग श्रीखण्ड खाया करेंगे। कोई गरीब नही रहेगा। सबको श्रीखण्ड मिलेगा। किसी को छाछ पीने की जरूरत नही है।' उसके साथी ने कहा, 'बात तो ठीक है, इतना पैसा कहा है कि सब लोग श्रीखण्ड खरीद सकें। सरकार भी सबके लिए श्रीखण्ड सुलभ कर सके, यह भी कैसे सम्भव होगा ? आपका सुझाव ठीक है, पर उसकी क्रियान्विति कैसे हो पाएगी ?' राजनेता ने कहा, 'चिन्ता मत करो। तुम कल से राज्य मे यह घोषणा करवा दो कि कल से छाछ को श्रीखण्ड कहा जाएगा और श्रीखण्ड को छाछ कहा जाएगा।'

घोषणा भी हो सकती है, नाम भी बदला जा सकता है। और बदले हुए नाम से गरीब श्रीखण्ड खाया करेंगे और धनवान् छाछ पीया करेंगे। यह होता है किन्तु तात्पर्य मे कोई परिवर्तन नही आता। तात्पर्य कुछ भी नही बदलता, चाहे गरीब श्रीखण्ड के नाम से छाछ पीते हैं और अमीर छाछ के नाम से श्रीखण्ड खाते है। तात्पर्य मे कोई अन्तर नही हुआ, नाम का परिवर्तन मात्र हुआ। मैं नाम-परिवर्तन की बात नही कहता, चेतना के रूपान्तरण की बात कहता हू। चेतना का रूपातरण होना चाहिए, चेतना बदलनी चाहिए। जब चेतना बदल जाती है, तब समस्याओ मे से ही समाधान निकल आता है। भगवान् महावीर ने कहा, **'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।'** जो आस्रव है, समस्याए हैं, वे सब परिस्रव हैं, समाधान हैं, और जो परिस्रव हैं, समाधान हैं, वे सब आस्रव हैं, समस्याए हैं। बहुत मूल्यवान सूत्र है यह। इसी सूत्र के सन्दर्भ मे कुछ समाधान प्रस्तुत है।

समस्या की चर्चा करते समय मैंने शारीरिक समस्या की चर्चा की थी। शरीर की पहली समस्या है कि वह अनित्य है। अनित्यता एक समस्या है, किन्तु अनित्यता स्वय एक समाधान है। हमारा सबसे घनीभूत मोह होता है शरीर के प्रति। जितने मोह हैं, जितनी आसक्तिया हैं, उन सबकी जड मे है शरीर का मोह। यह जितना घनीभूत होता है, उतनी आसक्ति प्रबल होती है। हम जब तक इस मोह को नही तोड देते, तब तक आसक्तिया समाप्त नही होती। मोह से उत्पन्न होता है भय और भय से उत्पन्न होता है तनाव। यह एक क्रम है—मोह, भय और तनाव। हम तनाव को मिटाना चाहते है कि शरीर मे तनाव न रहे, टेंशन न रहे। वह कैसे मिट सकता है, जब भय विद्यमान है। हमे इतना भय है कि शरीर छूट न जाए। यह वासना निरन्तर काम करती रहती है कि शरीर कही छूट न जाए। हमने शरीर को इतना शाश्वत मान लिया और शाश्वत मानकर एक भय पैदा कर

लिया कि सोते-जागते वह भय काम करता रहता है। यह भय हमें निरन्तर तनाव-ग्रस्त रखता है। इसीलिए महावीर ने कहा, 'डरो मत। जब तक डरते हो, तब तक किसी भी धर्म का पालन नही हो सकता। न अहिंसा का पालन हो सकता है, न सत्य का पालन हो सकता है और न अपरिग्रह का पालन हो सकता है।' आदमी हिंसा इसीलिए करता है कि वह डरता है। वह झूठ इसीलिए बोलता है कि वह डरता है, और परिग्रह इसीलिए एकत्रित करता है कि वह डरता है। उसे भय है कि बूढा हो जाऊगा तो क्या होगा? बीमार हो जाऊगा तो क्या होगा? यह भय ही परिग्रह का मूल है। इसीलिए महावीर ने कहा, 'डरो मत।' मैं समझता हू कि तनाव को मिटाने का सबसे अच्छा सूत्र है—अभय, भय नही खाना, डरना नही।

यह भय कैसे मिट सकता है—यह एक प्रश्न है। महावीर ने कहा, 'भय को मिटाना है तो शरीर का विसर्जन कर दो। शरीर का त्याग कर दो यानी जीते हुए भी शरीर को छोड दो। आप जी रहे हैं, शरीर का त्याग किए हुए हैं। विरोधी-सी बात लगती है। हम जी रहे हैं, खा रहे हैं, पी रहे हैं, श्वास ले रहे हैं और साथ-साथ शरीर का त्याग किये हुए हैं—यह कैसे? यही तो एक मर्म है। इसे ही तो हमे समझना है। सब कुछ शरीर से कर रहे हैं और शरीर का उत्सर्ग और परित्याग किये हुए हैं। जब सब कुछ करते हुए भी शरीर को छोडने की बात हमारी समझ मे आ जाती है तो भय भी चला जाता है। शरीर का उत्सर्ग अर्थात् शरीर सब कुछ कर रहा है, पर हम शरीर से भिन्न हैं। जब हम अपने आप को शरीर से अभिन्न मान लेते हैं, तब एक प्रकार की क्रिया होती है, एक प्रकार का आचरण होता है और जब हम अपने आपको शरीर से भिन्न मान लेते हैं, तब दूसरे प्रकार की क्रिया होती है, दूसरे प्रकार का आचरण होता है। हमने शरीर के साथ इतनी अभिन्नता, इतना तादात्म्य स्थापित कर रखा है कि मानो शरीर के लिए हम हैं, हमारे लिए शरीर नही है। होना तो यह चाहिए था कि हमारे लिए शरीर है, हम शरीर के लिए नही हैं। शरीर के प्रति स्थापित अभिन्नता और तादात्म्य के कारण ही शाश्वत का भाव उपजा और उसमे से मोह का भाव निकला। महावीर ने कहा, 'शरीर के मोह को छोडो और वह भी विवेकपूर्वक, चेतना के जागरण के द्वारा, इस बोध के द्वारा कि शरीर पौद्गलिक है और मैं चेतन हू। चेतन और पुद्गल एक नहीं है। मैं पुद्गल से भिन्न हू। शरीर मुझसे भिन्न है, मैं शरीर से भिन्न हू। शरीर एक ऐसा घर है, आवास है, कि जहा मैं कुछ दिन के लिए ठहरा हू। यदि यह भिन्नता का बोध बना रहता है तो अनित्यता का बोध बना रहता है। जब अनित्यता का बोध बना रहता है तो शरीर के प्रति होने वाली मोह की ग्रन्थि सघन नही होती। जब मोह की ग्रन्थि सघन नहीं होती तो भय की ग्रन्थि भी सघन नही हो सकती। भय के अभाव मे तनाव भी नहीं हो सकता। जो अनित्यता का बोध आदमी को बेचैन किए रहता है, एक समस्या

वना रहता है यदि हम उस अनित्यता का इस रूप मे अनुभव करें तो वही अनित्यता हमारे लिए समाधान वन जाती है। तनाव-विसर्जन का यही यथार्थ समाधान है।

शरीर की दूसरी समस्या है—रोग। रोग वास्तव मे ही वडी समस्या है। यह सवसे वडा दु ख है। आदमी रोग के नाम से ही काप उठता है। किन्तु रोग जहा एक समस्या है, वहा वह एक समाधान भी है। यदि हम रोग को एक समाधान के रूप मे देखें और जानें तो वह स्वय समाधान वन जाता है। हम रोग की उत्पत्ति, कार्य और परिणाम पर विचार करें। वीमारी क्यो पैदा होती है? वहुत सारी अपनी ही भूलो और प्रमादो के कारण रोग पैदा होते है। परिस्थितिवश भी पैदा होते हैं, किन्तु अधिकाश रोग प्रमाद या भूल के कारण उत्पन्न होते है। हम यदि अपनी भूलो को देखें और उनके कारणो पर विचार करें, अप्रमत्त रहे तो हो सकता है कि इतने रोग न हो। हमारे पास, हमारे ही शरीर मे, इन रोगो के समाधान भी निहित हैं। उस पहलू पर भी हम विचार करें।

भारतीय साधको और योगियो ने कायोत्सर्ग को अनेक रोगो का समाधान माना है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर का शिथिलीकरण, शरीर का उत्सर्ग। कायोत्सर्ग मानसिक रोगो का वडा समाधान है तो शारीरिक रोगो का भी शामक है। आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ का असन्तुलन ही रोग है। उनकी विषमता ही रोग है। कायोत्सर्ग इनमे पूर्ण सन्तुलन स्थापित करता है। उसमे रक्त-सचार की पूरी प्रक्रिया सन्तुलित रूप से चलती है। कही भी अवरोध नही आता। कायोत्सर्ग मे सारा शरीर इतना शिथिल हो जाता है, वातवाहिनी नाडिया और शरीर के सारे यन्त्र इस प्रकार निर्वाध हो जाते हैं कि किसी प्रकार का अवरोध नही रहता। रक्त का ठीक सचार होने लगता है। जव रक्त का सचार उचित होता है, तव वीमारिया हो नही सकती। उत्पन्न वीमारिया अपने आप समाप्त हो जाती हैं। आसन, प्राणायाम, खाद्य-सयम आदि पर दो दृष्टियो से विचार किया गया—रोग उत्पन्न न हो और उत्पन्न रोग नष्ट हो जाए। आसन के द्वारा सम्भावित वीमारिया उत्पन्न नही होती और जो वीमारिया पहले से ही उत्पन्न है, वे भी धीरे-धीरे शान्त हो जाती हैं। प्राणायाम के भी ये परिणाम हैं। खाद्य के असयम से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। खाना जीवन के लिए जरूरी है। असन्तुलित भोजन रोग उत्पन्न करता है और सन्तुलित भोजन रोगो को शान्त करता है। सन्तुलित भोजन होने पर भी यदि मात्रा अधिक होती है तो वीमारिया वढती है। मोटापे की वीमारी अतिमात्र भोजन का परिणाम है। यह वीमारी अन्य अनेक वीमारियो की जननी है। क्योकि चर्वी का वढना ही वीमारियो का मूल कारण माना गया है। इस प्रकार वीमारियो के कारण हमारे शरीर मे ही निहित हैं और निवारण भी हमारे शरीर मे ही निहित हैं। वीमारिया हैं, लोग दवा लेते

हैं, बीमारिया मिट जाती है। किन्तु ऐसी भी बीमारिया है जो दवा से नही मिटती। उस स्थिति मे समस्या सुलझती नही। क्योंकि जो आदमी दस-बीस वर्षों से बीमार है, वह तो बीमारी से ही ग्रस्त रहेगा और बीमारी की भावना उसे ग्रस लेगी। वह चिन्ता मे ही डूबा रहेगा। उस स्थिति मे अध्यात्म ने एक समाधान दिया। वह है सहिष्णुता। विकास दो ओर से किया जा सकता है। एक भीतर के क्षेत्र मे विकास और एक बाहर के क्षेत्र मे विकास। एक आयाम है भीतर का और एक आयाम है बाहर का। बाहर के आयाम मे काफी विकास हुआ है। अर्थात् बीमारियो को मिटाने के लिए अनेक खोजें हुई हैं, हो रही हैं। औषधियो का विकास हुआ है। इतना विकास होने पर भी लगता है कि आदमी बीमारी से कम सतप्त नही है, कम दु खी नही है।

भीतर के आयाम मे कम विकास हुआ है। महावीर ने कहा, 'भीतर की शक्ति को जागृत करो। रोगो को सहो। सहिष्णुता को बढाओ। सहन करने की बात प्रथम बार मे बहुत ही अटपटी-सी लगती है। प्रश्न होता है कि क्या सहने की शक्ति का विकास किया जा सकता है? हा, सहिष्णुता का विकास किया जा सकता है। वह किया जा सकता है एक आधार पर। केवल सहिष्णुता का विकास करो—यह सुनने मात्र से उसका विकास नही हो जाता। किन्तु चेतना का आकर्षण यदि हम किसी एक बिन्दु पर विहित कर देते हैं जिसमे हमे इतना आकर्षण हो जाए तो सहिष्णुता की शक्ति विकसित हो जाए। यदि हमारा सारा ध्यान बीमारी पर केन्द्रित रहेगा तो सहिष्णुता की शक्ति समाप्त होती चली जाएगी। सहिष्णुता का विकास नही होगा। यदि हमारा ध्यान, हमारा मन ऐसे बिन्दु पर आकर्षित हो गया, केन्द्रित हो गया, जिसे प्राप्त करने पर दूसरी बातें गौण हो जाती हैं, तो बीमारी को सहने की शक्ति विकसित हो जाएगी। जिन लोगो ने अनगिन कष्ट सहे, बीमारिया सही, उनका सारा ध्यान अन्तर् मे किसी ऐसे तत्त्व पर केन्द्रित था, कि बाहरी स्थितिया, बीमारिया उनके लिए गौण हो गयी।

चेतना का प्रवाह बीमारी की ओर प्रवाहित हो गया तो बीमारी अधिक सताएगी। बीमारी की भावना बढ जाएगी। और तब उसे सहन करना मुश्किल हो जाएगा। यदि चेतना के प्रवाह को बीमारी से मोडकर किसी दूसरी दिशा मे प्रवाहित कर दे तो बीमारी दूर की बात बन जाएगी। फिर बीमारी के साथ आपका सीधा सम्बन्ध नही रहेगा। बीमारी एक ओर कही पडी रहेगी और आप कहीं एक ओर खडे रहेंगे। उस समय आपकी चेतना बदल जाएगी। इसका नाम है सहिष्णुता। सहिष्णुता एक प्रक्रिया है, एक अभ्यास है। यह प्राप्त होती है चेतना के स्थानान्तरण के द्वारा। आप यदि चेतना को स्थानान्तरित नही करते, बीमारी के केन्द्र मे ही उसे लगाए रखते हैं तो मान लीजिए कि आप बीमारी को कभी सहन नही कर पाएगे। चेतना को उस केन्द्र से हटा-

कर उसे ऐसे स्थान पर स्थापित कर लेते हैं जो कि आपके लिए अत्यन्त प्रिय और आकर्षण का केन्द्र है, तो वीमारी आपको सताएगी नही। वीमारी का अपना काम है और चेतना का अपना काम है। दोनो मे इतनी दूरी आ जाएगी कि आपके लिए कोई वाधा नही रहेगी। उस दूरी को निष्पन्न करने वाली क्रिया है सहिष्णुता। महावीर ने कहा, 'सहो, सहो। सदा सहन करते रहो।' यह वात तभी समझ मे आ सकती है, जव सहने के साथ-साथ इसका भी अभ्यास करें कि हम विशिष्ट स्थान पर चेतना को कैसे केंद्रित और नियोजित कर सकें ? जिस रोग को हम समस्या मानते हैं, वह हमारे लिए एक प्रयोग-भूमि वन जाता है। वह हमारे लिए एक प्रयोगशाला का काम करने लगता है। इस आध्यात्मिक प्रयोगशाला मे हम यह जान सकते हैं कि रोग किसके हैं ? रोग किसे वाधा पहुचा रहा है ? मैं कौन हू ? इन्हे अलग-अलग समझाने का मौका मिलता है। यह रहा रोग और यह रहा मैं। अन्यथा हम एक ही मान लेते हैं कि, 'मैं रोगी हू'। जव तक 'मैं रोगी हू', यह मानते रहेगे तव तक रोग सताएगा। जव हम यह मान लेते है कि 'मेरा रोग नही', 'मैं रोगी हू' तो हम रोग से अभिन्न हो गए। यदि 'मेरा रोग' यह मानते तो भी कुछ दूरी प्रतीत होती, किन्तु 'मैं रोगी' इसमे कोई दूरी नही, दोनो एक हो गए। इस अवस्था मे रोग सताएगा ही। जव हमने रोग के वीच इतनी दूरी कर दी कि मैं केवल द्रष्टा हू, ज्ञाता हू, जानता हू, देखता हू कि यह रोग रहा तो जानने-देखने वाला रोग से अलग हो गया। रोग अलग हो गया और द्रष्टा-ज्ञाता अलग हो गया। इस स्थिति मे रोग स्वय एक प्रयोगस्थल वन जाता है और उसमे से समाधान निकल आता है।

आत्मा को अरुज कहा गया है। अरुज का अर्थ है—रोगरहित। आत्मा के कभी रोग नही होता। चेतना कभी रुग्ण नही होती। आत्मा रोगग्रस्त कभी नही होती। रोगग्रस्त होता है शरीर। यह भेद जव आत्मगत हो जाता है, यह दूरी जव स्थापित हो जाती है, तव समस्या का समाधान हो जाता है।

वुढापा भी एक समस्या है। मैं मानता हू कि यह वहुत वडा समाधान भी है। हमारा एक सूत्र है—एकत्व की अनुभूति का। महावीर ने कहा, 'तुम अकेले हो, कोई तुम्हारा नही है। यह तथ्य हृदयगम नही होता। जव तक आदमी जवान होता है, परिवार के पालन-पोषण मे लगा रहता है, परिवार की ओर से उसे असीम प्यार मिलता है, स्नेह मिलता है और सभी उसे आशाभरी दृष्टि से देखते हैं, उसे सम्मान और आदर देते है, तव तक वह कभी अनुभव नही कर पाता कि वह अकेला है। यह अनुभव होता ही नही। वह कहता है, 'मैं कैसे मान लू कि मैं अकेला हू। यह मेरा परिवार मेरे विना एक क्षण भी जी नही सकता। मेरे माता-पिता, भाई-वहन, पत्नी-पुत्र

मेरे विना रह नही सकते, जी सकते। ऐसी स्थिति मे अकेलेपन का सूत्र उसे प्रतिकूल लगता है। किन्तु जव वह वूढा होता है, सवको उससे प्राप्त होने वाले स्वार्थ वन्द हो जाते हैं, किसी के लिए वह काम का आदमी नही रहता, निकम्मा हो जाता है, आकर्षण के सारे धागे टूट जाते हैं, कोई कहना नही मानता, कोई सम्मान नही देता, कोई परवाह नही करता, तव वह सोचता है—अरे! वडा विचित्र ससार है। यहा कोई किसी का नही है। प्रत्येक व्यक्ति अकेला है। मैं अकेला हू, मेरा कोई नही—यह अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि वह सोचता है—आज मेरा कोई सहायक नही रहा, पूछने वाला नही रहा। सव मेरी उपेक्षा करते हैं। सव मेरी वात टाल देते हैं। वास्तव मे मैं अकेला हू। प्रत्येक वूढे व्यक्ति के साथ ऐसा अधिक या न्यून मात्रा मे घटित होता है। अगर वूढा आदमी उस स्थिति को एक अवसर मान ले तो वहुत वडा काम हो सकता है। अन्यथा यह स्थिति उसे वहुत दु खी वना देती है। वुढापा वहुत वडी समस्या है और दु खी होने का वहुत वडा अवसर है। किन्तु वुढ़ापा सुख से कट सकता है। यदि वूढ़े व्यक्ति मे थोडी-सी आध्यात्मिक चेतना जागृत कर दी जाए और 'मैं अकेला हू'—यह भाव उसके आत्मगत हो जाए। इस सच्चाई को समझने का यह अनमोल अवसर है। वहुत वडा सत्य उसके लिए उद्घाटित हो जाता है कि वास्तव मे मनुष्य अकेला है। ये जोडने वाले जो धागे हैं, अभिन्नता का भ्रम पैदा करने वाली ये जो अपेक्षाए हैं, ये सव मोह के गर्त मे ढकेलने वाली हैं। इन्हें तोडने का यह अवसर है। इनके टूट जाने पर जो शुद्ध 'मैं' है वह वच जाता है। 'मैं अकेला हू' यह स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है। ऐसी स्थिति मे जो यथार्थ 'मैं' था, वह वच गया, शेष सारे विलीन हो गए।

यह वहुत वडा सत्य है कि आदमी जैसा है, वैसा अपने को माने और दिखाए। वह अपने को अन्यथा दिखाना चाहता है। ये सारे प्रसाधन इसीलिए काम मे लिये जाते हैं कि जो सुन्दर नही भी है, वह सुन्दर दीखे। यह कोई नही सोचता कि मैं जैसा हू, वैसा दीखू। भद्दे से भद्दा व्यक्ति भी अपने को सुन्दर दिखाने का प्रयास करता है। इसीलिए यह साजसज्जा और प्रसाधन की वात चली है। यह सत्य पर आवरण डालने की वात है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि दूसरा उसे अच्छा माने, फिर वह अपने आप मे कितना ही वुरा हो। यह सारी माया या छिपाव की वात इसलिए विकसित हुई है।

वुढापा एक अवसर है, इस तथ्य को अनुभव करने का कि आदमी जो है, वह वैसा ही दीखे। अकेलेपन के अनुभव का यह अनुपम अवसर है। यदि व्यक्ति इस सचाई पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देता है और इस वास्तविकता का अनुभव करने लग जाता है तो उपेक्षा का दु ख उसे कभी नही सता सकता।

हमारी चौथी शारीरिक समस्या है—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि। भूख

लगती है, प्यास लगती है, सर्दी लगती है, गर्मी लगती है। ये सारी परिस्थिति-जन्य वाधाए हैं। ये समस्याए है। क्या इनका समाधान हो पाएगा? क्या कभी भूख-प्यास नही लगेगी? क्या कभी सर्दी-गर्मी नही लगेगी? मैं समझता हू कि इस दिशा मे यदि हम समाधान ढूढने लगें तो वहुत कठिनाई मालूम देगी। क्योकि प्रकृति मे इतनी विचित्रता भरी पडी है कि आदमी एक पग आगे रखता है समाधान का, और नयी समस्याए सामने आ खड़ी होती है। आज विज्ञान की एक नयी शाखा इकोलॉजी विकसित हुई है। उसके अनुसार प्रकृति मे इतना समीकरण है कि यदि उसमे हस्तक्षेप किया जाता है, किसी तत्त्व को इधर-उधर किया जाता है तो अनेक समस्याए पैदा हो जाती हैं। इसलिए उचित यही है कि जो है, उसे उसी रूप मे स्वीकार करें। भूख और प्यास तथा सर्दी और गर्मी के कष्ट को दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न हुए हैं। किन्तु मैं समझता हू कि अध्यात्म की दृष्टि से हम सोचें तो किये गए प्रयत्न वहुत कारगर नही है। इनका कारगर समाधान यह है कि हम मानकर चलें कि भूख और प्यास शारीरिक क्रिया हैं। सर्दी और गर्मी यह मौसम के द्वारा आने वाला एक आघात है। इन्हे सहना ही सवसे अच्छा है। हम अपनी चेतना को इतना विकसित करें कि हम सर्दी को भी सह सकें, गर्मी को भी सह सकें, भूख और प्यास को भी सह सकें। मैं यह कहना नही चाहता कि हम इनके लिए कोई प्रयत्न न करें। किन्तु मैं यह कहना चाहता हू कि उपाय कर लेने पर भी इनकी वास्तविकता को समझकर हम इन्हे सहन करें। हम उपाय करते है और सर्दी नही लगती। हम दूसरा उपाय करते हैं और गर्मी नही लगती। किन्तु इन उपायो का भी एक परिणाम होता है।

रक्स चाइल्ड एक अमीर अमेरिकन था। वह निरतर वातानुकूल मे रहता। मकान, कार्यालय, कार—सव वातानुकूलित। वातानुकूलन के अतिरिक्त कोई विकल्प नही था। स्थिति यह हो गई कि वह वहुत नर्वस हो गया। नाडी-सस्थान वहुत कमजोर हो गया और वह वेचैन रहने लगा। डॉक्टर से परामर्श किया। डॉक्टर ने कहा, 'आप प्रतिदिन दो घटा गर्म पानी के टव मे वैठे रहे।' रक्स चाइल्ड ने वैसा ही किया। दो-चार दिन वीते। उसे यह विधि अच्छी लगी। उसने सोचा—'कितनी मूर्खतापूर्ण वात है। मैं पूरे दिन वातानुकूलित स्थिति मे रहता हू, और फिर वेचैनी मिटाने के लिए दो घटा गर्म पानी के टव मे वैठा रहता हू। इससे अच्छा तो यह है कि वेचैनी पैदा करने वाली वातानुकूलित स्थिति को ही छोड दू।' उसने अपना क्रम वदला। धीरे-धीरे प्रकृति मे आ गया। स्थिति वदल गई। अव उसके वेचैनी नही रही।

अध्यात्म का यह सूत्र नही है कि आप भौतिक साधनो का उपयोग न करें। किन्तु वह कहता है कि इतना उपयोग न करें जिससे आप अपनी चेतना शक्ति को खो दें। आप अपनी सहने की क्षमता को गवा दें। परिस्थिति का एक झटका

आपकी स्वतन्त्र चेतना को दवा दे, निरस्त कर दे, इतनी अधीनता न आए। अध्यात्म का सूत्र यह है कि आदमी चेतना की इतनी शक्ति तो अवश्य बनाए रखे कि आने वाली परिस्थिति या वातावरण के आघात-प्रत्याघात को वह सहर्ष सहन कर सके। ऐसा न हो कि वह आघातो के आगे घुटने टेक दे और परिस्थिति के अधीन हो जाए। यह है अन्तिम समाधान समस्या का। बीच के विकल्पो से गुजरते हुए भी हम इस अन्तिम समाधान को न भूलें। यही अध्यात्म की चेतावनी है। मैंने शारीरिक समस्याओ के कुछेक समाधान प्रस्तुत किए है, जिनका आलम्बन लेकर व्यक्ति अनेक समस्याओ का पार पा सकता है।

मानसिक समस्या—मन की पहली समस्या है—चचलता। मन चचल है। यह समस्या आज की नही, हजारो वर्ष पुरानी है। इसका समाधान भी हजारो वर्ष पूर्व किया जा चुका है। अध्यात्म ने कहा—मन चचल है। यह सचाई है। इसका समाधान है कि तुम मन को जानो और उसे देखो। तुम मन को नहीं जानते, नही देखते, तव वह चचल है। जानना शुरू करो, देखना शुरू करो, तुम स्वय कहोगे कि मन चचल नही है।

जुग वहुत विख्यात मनोचिकित्सक हुए हैं। एक वार वे वीमार हो गए। डॉक्टर के पास गए। डॉक्टर ने कहा—'लेट जाओ।' जुग लेट गए। डॉक्टर ने कहा, 'अव तुम अपने भीतर देखने का प्रयत्न करो। और अधिक गहराई मे देखो। उस समय जो विकल्प उत्पन्न हो, वे मुझे कहते रहो।' जुग ने वैसे ही किया। ज्यो-ज्यो भीतर की गहराई मे उतरते गए, विकल्प गायव होते गए। विकल्पो का उत्पन्न होना वन्द हो गया। जुग ने कहा, 'डॉक्टर! अन्दर देखने पर कोई विकल्प आता ही नही। मैं क्या वताऊ?'

विकल्प या विचार तव उत्पन्न होते हैं, जव हम वाहर ही वाहर देखते है। वाहर मे है एक दौड और भीतर मे है स्थिति। पछी जव आकाश मे उडेगा तो पख फडफडाएगा। आप चाहे कि वह स्थिर हो जाए, यह कैसे सभव है? वह गति कर रहा है, उड रहा है, दौड रहा है। वह स्थिर कैसे होगा? वह स्थिर होगा नीड मे आकर। जव वह घोसले मे आता है, तव स्थिर हो जाता है। तो प्रश्न उठता है कि पछी स्थिर है या चचल? आप कहेंगे कि पछी चचल है तो मैं नीड की ओर सकेत करते हुए कहूगा, 'वह चचल कहा है? वह एक छोटे से आश्रय मे स्थिर वैठा है। आप कहेगे कि वह स्थिर है तो मैं आकाश की ओर सकेत करते हुए पछी को लक्ष्य कर कहूगा कि वह चचल है। अनन्त आकाश का वह अवगाहन कर रहा है। वह स्थिर कहा है?

मन स्थिर भी है और मन चचल भी है। यदि आपने मन को दौड़ने के लिए खुला मैदान दे दिया, उडने के लिए अनन्त और असीम आकाश दे दिया तो मन दौडेगा, उडेगा। यह उसकी चचलता है। यह अवश्य होगा। इसे कोई रोक नही

सकता। यदि आपने उसे सीमित नीड दे दिया तो वह वेचारा उसी मे वैठा रहेगा, चुपचाप और शात। उसकी कोई गति नही होगी, कोई क्रिया नही होगी, चचलता नही होगी। वह पूर्ण रूप से स्थिर हो जाएगा। आप मत कहिए कि मन चचल है। आप मत कहिए कि मन स्थिर है। मन चचल भी है और मन स्थिर भी है। यह इस वात पर निर्भर है कि आप उसे उडने के लिए असीम आकाश देते हैं या ससीम नीड। आप उसे आकाश देंगे तो वह निश्चित ही चचल होगा। आप उसे नीड देंगे तो वह निश्चित ही स्थिर होगा। आप मन को भीतर के नीड मे ले जाइए। वह वहा शात, चुपचाप वैठ जाएगा, स्थिर हो जाएगा। आपको कभी नही सताएगा।

चचलता समस्या नही होती। वह समस्या तव वनती है, जव हम वाहर ही देखते हैं। जव हम भीतर की ओर देखना प्रारम्भ करते हैं, प्रेक्षा करते है, तव मन चचल नही रहता। केन्द्रित होने का अर्थ है मन का स्थिर होना। वाहर भी केंद्रित होकर देखते हैं तो मन की चचलता नही रहती। जव भीतर मे केन्द्रित होते हैं, तव मन की चचलता का प्रश्न ही नही उठता। चचलता समस्या है तो मन की गति को थोडा-सा वदल दो। जो वाहर दौड रहा है, उसे भीतर ले जाकर एक स्थान पर केन्द्रित कर दो। वह स्थिर हो जाएगा। यह दिशा का परिवर्तन है। जाने और आने के रास्ते दो नही होते। जो आने का मार्ग है, वही जाने का मार्ग है। और जो जाने का मार्ग है, वही आने का मार्ग है। केवल दिशा का परिर्वतन है। यदि मन की दिशा वाहर की ओर होती है, वाहरी आयाम मे उसे हम ले जाते हैं तो वह चचल वन जाता है। आयाम वदल दिया, दिशा वदल दी तो मन स्थिर वन जाता है।

मन अपने आप मे स्थिर है। वह चचल है ही नही। मन को जानना-देखना ही मानसिक समस्या का वहुत वडा समाधान है।

मन की दूसरी समस्या यह है कि मन मे प्रतिक्रिया वहुत होती है। मन खिलौना वन जाता है दूसरो के हाथो का। वह कभी नाराज होता है और कभी राजी। कभी कुछ होता है और कभी कुछ। वह प्रतिक्रिया से ग्रस्त हो जाता है। यह एक वहुत वडी समस्या है। अध्यात्म ने इसका समाधान दिया—सयम करो॥ यदि हम सयम करना सीखें तो प्रतिक्रियाओ से मुक्त हो सकते हैं। सयम अर्थात् आख का सयम, कान का सयम, विकल्प का सयम, रस का सयम। क्या यह सम्भव है ? क्या आख का सयम हो सकता है ? आख के सयम का यह अर्थ है कि हम आख को निरन्तर वन्द रखें या उसे फोड डालें ? दोनो वाते सम्भव नही है हमारे लम्वे जीवन मे। जीवन लम्वा है, दो-चार वर्षों का नही है और हम ऐसी दुनिया मे आ जीते है, जहा दिखने वाली चीजें वहुत हैं। ऐसी स्थिति मे आख का सयम कैसे होगा ? महावीर ने इस समस्या का सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा, 'आख मे आने वाले रूपो को रोका नही जा सकता। कान मे पडने वाले शव्दो को रोका नही जा सकता। रोकने की आवश्यकता भी नही है। किंतु

उसके प्रति राग द्वेष मत रखो। इसे और विस्तार से समझे। केवल आख को ही देखने दें। उसके साथ मन को न जोडें। राग-द्वेष नही होगा। राग-द्वेष तव होता है, जव हम दृश्य के साथ मन को जोड देते हैं। आख के सामने कोई रूप आया, हमने देखा। कान मे कोई शब्द पडा, हमने सुना। इतने मात्र से कोई प्रतिक्रिया नही होती। प्रतिक्रिया तव होती है जव स्मृति उसके साथ जुडती है, मन उसके साथ जुडता है। आख और कान का काम पूरा हो जाता है। स्मृति और मन सक्रिय हो जाते हैं। अव राग-द्वेष पूर्ण विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं। प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। हमारा सयम तव टूटता है, जव हम स्मृति और मन से काम लेते हैं। केवल सुनो, मन और स्मृति को मत जोडो, प्रतिक्रिया नही होगी। केवल देखो, मन और स्मृति को मत जोडो, प्रतिक्रिया नही होगी। किन्तु हम सुनने और देखने के साथ मन और स्मृति को जोड देते हैं। उसे एकमेक कर देते हैं। अव केवल सुनने और देखने की वात गौण हो जाती है, दूसरे चित्र उभरने लग जाते हैं। प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है।

यह जो सूत्र था कि आख से केवल देखो, कान से केवल सुनो, जीभ से केवल चखो—यह प्रतिक्रिया को मिटाने का सुन्दरतम उपाय था। प्रश्न होता है कि क्या यह सम्भव है? क्या हमारा व्यवहार इस प्रकार चल सकता है कि हम हम केवल सुनें, हम केवल देखें, हम केवल चखें? व्यवहार को निभाने के लिए हमे मन को, स्मृति को उनसे जोडना पडता है। किसी ने कहा कि भूकम्प आएगा, नगर मे मत रहो। आध्यात्मिक व्यक्ति यदि यह सोचे कि मुझे केवल कान से सुनना है, मन को उसके साथ नही जोडना है तो वह नगर को नही छोड पाएगा और उस स्थिति मे उसे भूकम्प का दारुण परिणाम भोगना पडेगा। यह भी एक समस्या हो जाएगी। किन्तु हमारा जीवन ऐकान्तिक नही है। हमे व्यवहार को भी निभाना है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक घटना के साथ यदि हम मन और स्मृति को नही जोडते हैं तो प्रियता और अप्रियता का भाव उसके साथ नही जुडेगा। वस हम इतना-सा करें कि प्रियता और अप्रियता को लाने वाले मन को न जोडे। व्यवहार निभाने वाले मन को जोडे विना हम व्यवहार मे जी नही सकते। किसी से वात करनी है, किसी को निमन्त्रण देना है, अतिथि वनाना है तो मन को जोडे विना यह सव व्यवहार कैसे निभेगा? इसमे मन को जोडना होगा। किन्तु जो प्रियता और अप्रियता का घटक मन है, उसे न जोड़े। इसी सन्दर्भ मे महावीर ने कहा, 'कानो मे पडने वाले शब्द को नही रोका जा सकता, आखो के सामने आने वाले रूपो को नही रोका जा सकता, किन्तु उनके प्रति होने वाले राग और द्वेष को रोका जा सकता है। प्रियता और अप्रियता उत्पन्न करने वाले मन को रोका जा सकता है।' इसका अभ्यास हमे प्रतिक्रियाओ से मुक्त कर देता है। प्रतिक्रिया का जीवन समाप्त हो जाता है।

मन की तीसरी समस्या है—आवेग। मन मे अनेक आवेग उठते हैं। वे मन को सताते हैं। अप्रमाद से उनको रोका जा सकता है। अप्रमाद इस समस्या का समाधान है। अप्रमाद का अर्थ है—जागरूक रहना, जागृत रहना। सारे आवेग उत्पन्न होते है, जब हम नशे मे रहते हैं, प्रमाद मे रहते हैं, क्रोध, भय, लालच, वासना, कपाय आदि जितने भी इमोशन्स(Emotions) हैं, वे सब नशे की अवस्था मे पैदा होते हैं। जागृत अवस्था मे कोई आवेग नही आता। आप सोचेंगे कि क्या हम क्रोध करते समय नशे मे होते है। हा नशे मे होते है? नशे मे चूर हुए विना क्रोध नही आ सकता। क्रोध आने से पूर्व यह देख लेता है कि आदमी नशे मे है या नही? आदमी यदि जागृत है, नशे मे नही है तो क्रोध डरकर भाग जाता है। उसके पास नही आता। यदि वह निश्चित कर लेता है कि आदमी नशे मे धुत है तो मन पर उतर आता है, पूरी सुरक्षा के साथ। उसे भी खतरा है। अप्रमत्त आदमी के पास जाने मे आवेग को खतरा होता है। वह वहा नही जाता। वह जो नशे मे होता है, उनके पास जाता है या किसी को नशे मे डालकर उसके पास जाता है।

मन पर क्रोध के उतरते ही नाडी की गति वढ जाती है। नाडी की जो नॉर्मल गति थी, सामान्य स्थिति थी, उसमे अन्तर आ जाता है। आवेग मे श्वास की गति तीव्र हो जाती वह आवेग चाहे क्रोध का हो या काम-वासना का हो। प्रत्येक आवेग मे श्वास तीव्र होता है। यह एक लक्षण है। इससे जाना जा सकता है कि आदमी नशे मे है। आवेग के आते ही नाडी की गति वढ जाती है, हृदय की धडकन वढ जाती है, रक्त-सचार मे परिवर्तन आ जाता है, शरीर-यत्र अस्त-व्यस्त हो जाता है, कई प्रकार के विप पैदा होते है शरीर मे। कभी-कभी तो इतने तीव्र विष पैदा हो जाते हैं कि आवेग की स्थिति में स्तनपान कराने वाली माता का लाडला वच्चा दूध पीते ही मृत्यु की गोद मे चला जाता है। ऐसी अनगिन घटनाए घटित होती रहती है। क्या यह नशे की स्थिति नही है? स्वाभाविक स्थिति मे आवेग नही आ सकता। इसलिए आवेग की समस्या का समाधान है—निरन्तर जागरूक रहने का अभ्यास करना। महावीर ने कहा, 'गौतम! क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो। निरन्तर जागते रहो। सतत अप्रमत्त रहो।' सतत जागृत रहना आवेग की समस्या से छुटकारा पाना है। जो जागता है, उसमे आवेग नही आ सकता। वह कभी आवेग मे आक्रान्त नही होगा। प्रश्न होता है कि अप्रमत्त रहने की साधना क्या है? जो व्यक्ति वर्तमान मे जीता है, वह अप्रमत्त रहता है। हम या तो अतीत मे जीते हैं या भविष्य मे जीते है। महावीर का सूत्र है—**खण जाणाहि पडिए**—क्षण को जानो। वर्तमान का जो क्षण वीत रहा है, उसे देखो, उसे जानो, यह है वर्तमान मे जीना। जो वर्तमान मे जीता है, वह स्मृति और कल्पना से प्रताडित नही होता। स्मृति और कल्पना का नशा उस पर नही चढता। वह अप्रमत्त रह सकता है।

समस्याओं का आध्यात्मिक समाधान (२)

हम उस दुनिया मे जीते है, जहा अनेक व्यक्ति हैं। अनेक व्यक्तियो का होना अनेक विचारो का होना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वतत्र विचार रखता है, इसीलिए वैचारिक स्वतत्रता है। जहा अनेक विचार है, वहा नाना वादो का होना अनिवार्य है। नानावाद स्वय मे एक समस्या है। विचार-भेद या मत-भेद की जो समस्या है, उसे कभी मिटाया नही जा सकता। नानात्व को कभी मिटाया नही जा सकता। नाना प्रकार के विचार रहेगे। वे न रहे, यह नही हो सकता। यह वास्तविकता है। प्रश्न होता है कि फिर इस समस्या का समाधान कैसे हो सकता है? इस विषय पर अहिंसा की दृष्टि से विचार किया गया और इस दृष्टि के चिन्तको या द्रष्टाओ मे महावीर का स्थान प्रथम है। उन्होने कहा, 'व्यक्ति नाना है, यह सचाई है। विचार नाना है, यह सचाई है।' फिर जब विचार और व्यक्ति अनेक हैं, नाना हैं तो हम एक विचार और व्यक्ति की बात नही कर सकते। किन्तु इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। सामजस्य के द्वारा विचार-भेद रहते हुए भी विचार-भेद से उत्पन्न होने वाले सघर्ष को मिटाया जा सकता है। विचार-भेद से उठने वाले स्फुलिगो को [शान्त किया जा सकता है। अनेक व्यक्ति रहे, अनेक विचार रहे। और उनके रहते हुए भी विचारों की टकराहट न हो, स्फुलिग न उछले, सघर्षण न हो—यह सभव हो सकता है। इस दर्शन के आधार पर महावीर ने एक सूत्र दिया—सहअस्तित्व का। इसका तात्पर्य है कि विरोधी व्यक्तियो, विरोधी विचारो और विरोधी धर्मो का सह-अस्तित्व हो सकता है। वे एक साथ रह सकते हैं। सामान्य धारणा यह है कि दो विरोधी धर्म एक साथ नही रह सकते। भगवान् महावीर ने कहा, 'दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं।' दार्शनिक भाषा मे नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष—ये एक साथ रहते हैं। नित्य अनित्य का और अनित्य नित्य का विरोधी है, सामान्य विशेष का और विशेष सामान्य का विरोधी है—पर एक साथ रहते हैं। अस्ति और नास्ति, होना और न होना दोनों साथ-साथ रहते हैं। दोनो विरोधी हैं, पर उनका सह-अस्तित्व है। अस्ति और नास्ति, नित्य और अनित्य, सामान्य और विशेष—इनका सह-

अस्तित्व प्रतिपादित किया गया वहा यह समझाया गया कि जिन्हे हम विरोधी मानते हैं, वे वस्तुत विरोधी नही हैं। इस जगत् मे एक भी तत्त्व ऐसा नही है, जिसे हम कह सकें कि यह इसका सर्वथा विरोधी है और जिसे अविरोधी मानते हैं, वह भी विरोधी है। दोनो धर्म एक साथ चलते है। दोनो का सह-अस्तित्व है।

व्यवहार के धरातल पर उन्होने सह-अस्तित्व का प्रतिपादन किया और कहा, 'एक साथ रहा जा सकता है।' हम जानते हैं कि जहा सर्दी है, वहा गर्मी नही है और जहा गर्मी है, वहा सर्दी नही है, किन्तु यह सचाई नही है। सर्दी और गर्मी मे मात्र डिग्री का अन्तर है, मात्रा का भेद है। जब शरीर का तापमान ९८ डिग्री होता है, तब हम कह देते हैं कि तापमान सामान्य है, ज्वर नही है। जब वह बढकर सौ डिग्री हो जाता है, तब हम कह देते है कि ज्वर हो गया। गरम-ठडा, अच्छा-बुरा—ये सब हमारी अपेक्षाए हैं और इनका निर्णय सापेक्षता के आधार पर ही होता है। यदि हम सापेक्षता को न देखें और निरपेक्ष विचार करें तो किसी को गरम या ठडा, अच्छा या बुरा नही कह सकते। सब एक अपेक्षा से जुडे हुए हैं। और उस अपेक्षा के आधार पर ही हम ये सारे विश्लेषण करते हैं और कहते हैं—अब गरम है, अब ठडा है। यह बुरा है, यह अच्छा है।

अग्नि को ठडा भी कहा जा सकता है और बर्फ को गरम भी कहा जा सकता है। ये जितने सापेक्ष धर्म है, उन्हे हम किसी एक दृष्टिकोण से नही देख सकते। महावीर ने कहा, 'सापेक्षता के बिना हम सत्य का प्रतिपादन नही कर सकते। जहा सापेक्षता से हम सत्य का प्रतिपादन करते हैं, उसका फलित होता है सह-अस्तित्व।'

वर्तमान मे राजनीति के मच से सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हुई है। सयुक्त राष्ट्रसघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मच से सह-अस्तित्व की चर्चा सुनाई देती है। किन्तु यदि हम यह जानना चाहें कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले किसने किया तो भगवान् महावीर का नाम सबसे पहले स्मृति-पटल पर उभरेगा। सह-अस्तित्व का विस्तार के साथ यदि कही प्रतिपादन मिलता है, तो वह स्याद्वाद् मे, अनेकान्तवाद मे, सापेक्षवाद मे। भगवान् महावीर ने सत्य की व्याख्या इन तीनो के आधार पर की। उस समय धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे सभी अपने-अपने अभ्युपगम, अपने-अपने कन्सेप्ट्स और अपनी-अपनी स्वीकृतियो को ही सत्य मानकर शेष को असत्य घोषित कर रहे थे। उस स्थिति मे भगवान् महावीर ने कहा, 'तुम्हारा अभ्युपगम और स्वीकृति जो है, वह सत्य है किन्तु उसका यह अर्थ नही कि उसके अतिरिक्त सारा का सारा असत्य है। जो वस्तु के एक धर्म को स्वीकार कर शेष अनन्त धर्मो को अस्वीकार कर देता है, वह सचमुच सत्य से परे हो जाता है। एकान्तवाद पूर्ण सत्य नही होता। सापेक्षता नाना वादो की समस्याओ को सुलझाने का उत्तम मार्ग है। हमारा यह जगत् अनन्त का जगत् है—अनन्त

आकाश, अनन्त पदार्थ, अनन्त पर्याय। अनन्त ही अनन्त। एक भी कम नही किया जा सकता और एक भी नही बढाया जा सकता। अनन्त मे है अनन्त। हम सब अनन्त मे चल रहे है, जी रहे हैं। जहा अनन्त है, वहा हम एक पदार्थ या एक पर्याय के आधार पर समग्र सत्य की व्याख्या करने लगते हैं, तब उलझ जाते हैं। खडन-मडन होने लगता है। सत्य हमारे हाथ नही आता। असत्य को पकडकर चलने का प्रयत्न करते है। ऐसी स्थिति मे नाना वादो और नाना विचारो से उत्पन्न समस्या का एकमात्र सुलझाव है सापेक्षवाद। अनन्त दृष्टियो से देखना, अनन्त अपेक्षाओ मे पदार्थ के स्वरूप को समझना और अपेक्षा के साथ ही उसका प्रतिपादन करना—यह सत्याग्रही दृष्टि है।

हमारी सबसे पहली कठिनाई है—ज्ञान की सीमा और दूसरी कठिनाई है—भाषा की सीमा। हमारा ज्ञान सीमित है। हम अनन्त पदार्थों, अनन्त पर्यायो को नही जान पाते। हमारी भाषा इतनी अपर्याप्त है कि हम एक भी पर्याय का, पदार्थ का पूर्ण प्रतिपादन नही कर सकते। जिस क्षण हम एक बात कहते है, दूसरी सारी बातें छूट जाती है। हमे सुनने वाला एक बात सुनता है और शेष बातो के प्रति उसका ध्यान नही जाता। एक बात के प्रति उसका झुकाव बढ जाता है और शेष के प्रति वह उपेक्षित हो जाता है।

राजा की सभा मे ज्योतिषी आया। राजा ने अपना भविष्य जानना चाहा। ज्योतिषी ने देखा और उदास हो गया। राजा ने कहा, 'उदास क्यो? बोलो, जो जैसा है, वैसा बताओ।' ज्योतिषी ने कहा, 'राजन्! बात अशोभनीय है। परन्तु आप जानना चाहते हैं तो मुझे बताना होगा। राजन्! आपके देखते-देखते आपका सारा परिवार काल-कवलित हो जायेगा।' राजा ने सुना। वह अत्यन्त कुपित हो गया। उसने ज्योतिषी को देश से बाहर निकाल दिया।

कुछ दिनो के बाद एक दूसरा ज्योतिषी आया। राजा ने उसे भविष्य बताने के लिए कहा। उसने कहा, 'राजन्! आप बडे सौभाग्यशाली है। आप लम्बे समय तक जीयेंगे। आप चिरायु होंगे। आपके समूचे परिवार मे आप दीर्घायु होंगे।' यह सुनकर राजा प्रफुल्लित हो उठा। ज्योतिषी को बहुत बडा इनाम देकर विदा किया।

दोनो ज्योतिषियो के तथ्य मे कोई अन्तर नही है। कहने का प्रकार भिन्न है। बात एक ही थी किन्तु कहने के प्रकार मे भिन्नता थी। राजा ने दोनो की बातें दो प्रकार से समझी। भाषा की यह प्रकृति है। विश्व मे जितने मतवाद है, वे भाषा की इस कठिनाई के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। कोई व्यक्ति किसी तथ्य पर बल देता है और कोई व्यक्ति किसी तथ्य पर। सुननेवाला भटक जाता है। मतवाद उत्पन्न हो जाते है। भाषा की यह प्रकृति है कि एक शब्द के द्वारा हम एक बात कह पाते है, दूसरी नही। सारी बातें एक साथ नही कही जा सकती। दो धर्मों या

दो पर्यायो का एक साथ प्रतिपादन नही किया जा सकता। जितना जाना जाता है, उतना भाषा के द्वारा नही कहा जा सकता। जितना है, उतना आदमी जान नही पाता। आदमी जितना जानता है, उतना कह नही पाता। ये भाषागत कठिनाइया हैं, इन्हे भी हम समझें। हमारी भाषा मे मौलिक शब्द होगे—दो-तीन लाख। अधिक नही होगे। परमाणु मे अनन्त पर्याय होते है। इन अनन्त पर्यायो को हम कैसे कहे ? कोई साधन नही है। कोई कह नही सकता। जो जानता है वह भी नही कह सकता। क्योकि आयु की भी एक सीमा है। पदार्थ की कोई सीमा नही है। किन्तु भाषा और आयु की सीमा है। ये ससीम हैं। पदार्थ असीम हैं। वे अनन्त हैं। केवली या सर्वज्ञ उन्हे जान सकते हैं पर बता नही सकते। जितना जानते है, उसका अनन्तवा भाग भी नही बता सकते। उस स्थिति मे सारा का सारा निरूपण है सापेक्ष। किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ को पूर्ण नही कहा जा सकता। यह नही कहा जा सकता कि अमुक शास्त्र पूर्ण सत्य का प्रतिपादन करता है या वस्तु के सभी अनन्त पर्यायो को अभिव्यक्त करता है। इस स्थिति मे आग्रह करने की बात बहुत कम रह जाती है। भगवान महावीर ने दो सूत्र दिए—सह-अस्तित्व और समन्वय। उन्होने कहा, 'आग्रह मत करो।' पदार्थ को पूर्णता से कोई नही जानता। इस स्थिति मे दो ही उपाय बचते हैं—सह-अस्तित्व और समन्वय। समन्वय करो, अर्थात् मैं जो समझ रहा हू, मैं जो कह रहा हू और मैं जिसे सत्य मान रहा हू, वह सत्य है। किन्तु दूसरा जो समझ रहा है, कह रहा है या जिसे सत्य मान रहा है, वह भी सत्य होना चाहिए। उसकी अपेक्षा को मुझे समझना चाहिए। सापेक्षता के द्वारा समन्वय फलित होता है। जहा समन्वय है, वहा सह-अस्तित्व आ ही जाता है। उस स्थिति मे न कोई सर्वथा विरोधी रहता है और न कोई सर्वथा अविरोधी। न कोई सर्वथा समान रहता है और न कोई सर्वथा असमान। जिमे हम समान मानते हैं, उसमे भी असमानता विद्यमान है और जिसे हम असमान मानते हैं, उसमे भी समानता विद्यमान है। सर्वथा सदृश या सर्वथा असदृश कुछ भी नही होता। नाना विचारो और नाना वादो की समस्या को सुलझाने का यह है एक समाधान।

वैचारिक जगत् मे स्मृति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। वैसे तो विचार की प्रकृति है स्मृति। स्मृति-कोष जब उभरते हैं, तब विचार बनते हैं। स्मृति-कोषो मे जो बात नही होती, वह विचारो मे कहा से आ सकती है। स्मृति-कोष हमारे विचारो के उद्गम-स्थल हैं। स्मृति की जितनी प्रतिबद्धता होती है, उतने ही हम अतीत से बध जाते हैं और समाधान को अतीत मे ढूढने लगते हैं। हम वर्तमान की सचाई को नजर-अन्दाज कर देते हैं। महावीर ने कहा, 'वर्तमान मे रहो।' अतीत और भविष्य से कटकर हम वर्तमान मे रहना सीखें। व्यवहार मे यह कठिनाई हो सकती है कि केवल वर्तमान मे कैसे रहा जा सकता है ? हम यदि

अतीत की वातो को याद न करे और भविष्य की कल्पनाए न करें तो केवल वर्तमान मे कैसे जी सकते हैं ? वर्तमान वहुत छोटा होता है। एक क्षण का होता हैं। उसमे हम कैसे जीए ? किन्तु महावीर ने कहा, 'वर्तमान मे रहो।' महावीर द्वारा दिया हुआ कोई भी समाधान एकागी नही हो सकता। सचाई है—वर्तमान मे रहना। वर्तमान मे रहना, वर्तमान को जानना और वर्तमान को देखना—यह आवश्यक है। जो व्यक्ति वर्तमान मे नही रहता, केवल अतीत और केवल भविष्य मे उडान भरता है, वह सचमुच सत्य से दूर चला जाता है। वह अनेक समस्याए खडी कर देता है। उसे समाधान नहीं मिलता।

अतीत और भविष्य की समस्या सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु धार्मिक जगत् इस समस्या से अधिक आक्रान्त है। इसलिए धार्मिक सघर्ष हुए हैं। आज भी हम वर्तमान की समस्या का समाधान अतीत मे ढूढना चाहते हैं। हम उन ग्रन्थो मे समाधान ढूढते हैं जो दो-चार हजार वर्ष पूर्व रचे गए हैं। उनसे समाधान कैसे मिलेगा ? यह सच है कि विश्व मे ऐसा एक भी ग्रन्थ नही है, जो सब बातो पर प्रकाश डाल सके। प्रत्येक ग्रन्थ की अपनी सीमा है। जब उस ग्रन्थ मे समाधान नहीं मिलता, तब सघर्ष शुरु हो जाता है। येन केन प्रकारेण समाधान दिया जाता है। किसी को मान्य होता है और किसी को नही। सघर्ष होता है। हम सीधे मार्ग से उल्टे चले जाते हैं। समस्या है वर्तमान की और समाधान ढूढते है अतीत मे। वर्तमान की समस्या का समाधान वर्तमान के विवेक मे, वर्तमान के अनुभव मे ढूढना चाहिए। वहां हम समाधान नही ढूढते। ढूढते हैं अतीत मे। समस्या उलझ जाती है। दोनो मे हम उलझ जाते हैं। अतीत मे समाधान नही मिलता, यह एक कठिनाई है और वर्तमान मे जो मिलता है, उसे हम खोजने का प्रयत्न नही करते, उसे स्वीकार करने का प्रयत्न नही करते, यह हमारी दोहरी कठिनाई है। हम इसी मे उलझे रह जाते हैं। वैचारिक समस्या के समाधान के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्मृति की प्रतिवद्धता हममे न हो। स्मृति का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु हम स्मृति से इतने न वध जाए, अतीत से इतने न वध जाए कि जो अतीत मे नही था, वह आज हो ही नही सकता। इतने वध जाने पर सचमुच हम असत्य के साथ गठवन्धन कर लेते हैं। जो पहले नही था, हमारे पूर्वजो ने जो नही कहा था, वह आज नही हो सकता, वह आज नही कहा जा सकता। यह अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर अयथार्थ है। महावीर ने कहा था, 'जो पर्याय आज नही है, वह हजार वर्ष वाद प्रकट हो सकता है, असख्य और अनन्तकाल के वाद प्रकट हो सकता है। जो पर्याय वाद मे प्रकट होने वाले हैं, उनके लिए पुराने ग्रन्थो मे हम क्या ढूढेंगे और क्या खोजेंगे ? यदि यह तथ्य हमे समझ मे आ जाए तो वहुत वडा सकट टल सकता है।

चौथी समस्या है—दर्शन का अभाव। हम दर्शन का उपयोग नही करते,

विचार से काम लेते है। यह वैचारिक जगत् की बहुत बडी समस्या है। हमने विचार को अन्तिम सत्य मान लिया। विचार भी एक मध्य-विश्राम-स्थल है। यह अन्तिम सत्य नही है। तर्क, हेतु, रीजन—कोई भी अन्तिम सत्य नही है। ये सब मध्यकाल के उपयोग की वस्तुए है। हमारी चेतना का एक स्तर है—विचार। किन्तु उसके ऊपर चेतना के बहुत सारे स्तर है। उन स्तरो पर पहुचे बिना केवल विचार को यदि हम अन्तिम सत्य मान लेते है तो वहा सबसे बडी समस्या उत्पन्न हो जाती है। आज बौद्धिक जगत् मे बुद्धि के नाम पर जो अनेक समस्याए उत्पन्न हुई है, विचार के जगत् मे, चिंतन के क्षेत्र मे जो उलझनें आयी है, उनका मूल कारण है विचार को अन्तिम सत्य मान लेना। विचार सत्य तक पहुचने की एक पगडडी है, जो सत्य की ओर थोडी दूर तक हमे ले जाती है, फिर उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है, उसकी सीमा भी समाप्त हो जाती है। उसके आगे आता है दर्शन। दर्शन का अर्थ है—साक्षात् करना। महावीर ने स्थान-स्थान पर कहा है—'**मइमं पास**'—मतिमन् ! तू देख, देख। उन्होंने यह नही कहा, 'तू सोच।' उन्होंने कहा, 'तू देख।' विचार पर-निर्भर होता है, दर्शन स्व-निर्भर होता है। विचार परतत्र है, दर्शन स्वतत्र है। हम मान लेते हैं कि विचार स्वतन्त्र है। यह भ्रान्ति है। विचार स्वतत्र होता ही नही। वह अनेक तत्त्वो से मिश्रित होता है। वह शुद्ध नही होता। वह सस्करण है। अनेक पूर्ववर्ती चिन्तनो, परिस्थितियो और सामाजिक सन्दर्भों मे विचार बनते है, निर्मित होते हैं। विचार स्वतत्र नही होता। उसकी उत्पत्ति का हेतु भी स्वतत्र नही है। विचार पर-निर्भर होता है। चाहे वह परिस्थिति-निर्भर हो, व्यक्ति-निर्भर हो या देश-काल निर्भर हो। एक देश-काल के सन्दर्भ मे जो विचार पैदा हो सकता है, सम्भव है वह परिवर्तित देश-काल मे न हो।

दर्शन स्वतन्त्र है, स्व-निर्भर है। वह परिस्थिति के सदर्भ मे पैदा नही होता। दर्शन का अर्थ है—जो है उसे जानना। विचार के साथ कर्म का भाव जुडा होता है, क्योकि हमे एक काम करना है, तो उसके लिए विचार आवश्यक होगा। दर्शन के साथ कर्म का भाव जुडा नही होता। वहा केवल जो है, उसे जानना होता है। जो है, उसे देखना मात्र पर्याप्त होता है। हमने विचार को अन्तिम सत्य मानकर बहुत बडी भूल की है। अन्तिम सत्य है दर्शन। हम स्वय अनुभव करें, दूसरो पर निर्भर न रहे, यही इसका हार्द है। महावीर ने कहा, 'स्वय पर निर्भर रहो। तीर्थंकर या केवली पर निर्भर मत रहो।' स्वय देखो। स्वय जानो। स्वय करो। स्वय तीर्थंकर बनो, न कि तीर्थंकर के पीछे-पीछे चलो। स्वय केवली बनो, न कि केवली के पीछे-पीछे चलो। यह पूर्ण स्वतन्त्रता का सूत्र है। दर्शन पूर्ण स्वतन्त्रता है। तुम स्वय परिपूर्ण हो, अपूर्ण नही हो। दूसरे से कुछ भी लेने की आवश्यकता नही है। बाहर से लेने की जरूरत नही है। यह दर्शन का

सूत्र है। तुम परिपूर्ण हो, इसलिए स्वयं देखो, स्वय जानो और स्वय करो। अनेकांत का सूत्र वैचारिक समस्या का बहुत बड़ा समाधान है। आज की कठिनाई है कि लोग अहिंसा को जानते हैं, मानते हैं और सुनते हैं—विचार के धरातल पर। अहिंसा ही क्या, वे सारे सिद्धान्तो को विचार के स्तर पर जानते-मानते हैं किन्तु वे उनका साक्षात् नही करते। यही कारण है कि वे सिद्धान्त उनके आचरण मे नही आते। प्रश्न है—हम जानते हैं, फिर करते क्यो नही? महाभारत काल मे भी यह प्रश्न उठा था। व्यास ने लिखा—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति॥

—मै धर्म को जानता हू, पर उसमे प्रवृत्ति नही करता। मैं अधर्म को जानता हू, पर उससे निवृत्त नही होता। यह कैसी विडबना! यह प्रश्न सनातन है। इसका समाधान इसलिए नही होता कि हम विचार के स्तर पर इसका समाधान पाना चाहते है। यदि हम इस प्रश्न को दर्शन के स्तर पर समाहित करना चाहे तो यह प्रश्न मिट सकता है। दर्शन के स्तर पर हम देख लेते हैं, चेतना के स्तर पर हम देख लेते हैं, जान लेते हैं, वहा विचार और कर्म मे द्वैध नही रहता। दोनो एक हो जाते हैं। वहा ज्ञान और आचरण जैसे दो शब्द रहते ही नही। यह ज्ञान और यह आचरण—यह विचार के स्तर पर चलता है। जहा चेतना के स्तर पर ज्ञान हो जाता है, स्वय को देखना, स्वय को जानना फलित हो जाता है, वहा एक प्रकार का ज्ञान और एक प्रकार का आचरण—यह समाप्त हो जाता है। यह भूमिका समाप्त हो जाती है। वहा जो जानना है, वही आचरण है और जो आचरण है, वही जानना है। या ऐसा भी कहा जा सकता है कि वहा जानना ही सब कुछ हो जाता है। उसमे सब समा जाता है। जानना इतना व्यापक बन जाता है कि आचार कोई भिन्न अर्थ नही रखता, अपना अर्थ खो देता है। जैन दर्शन मे, महावीर की वाणी मे, वैचारिक समस्या का समाधान जो है, वह मैंने सक्षेप मे प्रस्तुत किया।

एक समस्या है—पारिवारिक। परिवार की पहली समस्या है नाना रुचिया। नाना रुचियो के कारण सघर्ष होता है, कलह होता है। जितने व्यक्ति, उतनी ही रुचिया। भिन्न रुचि सघर्ष पैदा कर सकती है। नाना रुचियो को नहीं मिटाया जा सकता। किन्तु इससे उत्पन्न होने वाले सघर्ष को मिटाया जा सकता है। हम कोई ऐसा यत्र नही बना सकते कि सबकी रुचियो का समीकरण हो जाए। यह सभव नही है। ऐसा नहीं किया जा सकता। सबकी रुचिया एक-सी नही हो सकती। हमे यह समझ लेना चाहिए कि रुचि और सघर्ष—ये दो हैं। उनके बीच एक ऐसा सूत्र दिया जा सकता है कि रुचियो की भिन्नता तो रहे पर सघर्ष न हो। वह सूत्र

है अहिंसा के प्रयोग का। हम परिवार को अहिंसा की प्रयोगभूमि बनाए। परिवार सचमुच ही अहिंसा का प्रयोगस्थल है। एक व्यक्ति मे अहिंसा का प्रयोग नही होता। अहिंसा का प्रयोग होता है समूह मे। जहा एक व्यक्ति हो, वहा हिंसा और अहिंसा का प्रश्न व्यवहार के धरातल पर उठता ही नही। अन्तर्जगत् मे हो सकता है, व्यवहार मे नही। व्यवहार के स्तर पर जहा दो होगे, वहा हिंसा-अहिंसा की बात उठेगी। परिवार एक छोटी-सी इकाई है। वह अहिंसा की सुन्दर प्रयोग-स्थली बन सकती है। यदि अहिंसा का भाव परिवार मे नही पनपता तो साथ रहने की बात ही नही आती। दस, बीस या पचास आदमी एक साथ रहते हैं, एक होकर रहते है, एक परिवार बनाकर रहते हैं, इसका अर्थ है कि उन्होंने अहिंसा का पहला प्रयोग सीख लिया। साथ मे रहने का मतलब है—सह-अस्तित्व का पहला चरण। यहा से सह-अस्तित्व की बात प्रारम्भ होती है। व्यवहार मे हमने साथ रहना सीख लिया।

महावीर ने दो दृष्टिकोणो का प्रतिपादन किया—निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय का अर्थ है—जो समग्रता से घटित होता है, उसे जानना। अर्थात् समग्रता से जानना निश्चय नय है। जो स्थूल है, व्यक्त है उसे जानना व्यवहार नय है। बीज को वृक्ष के रूप मे देखना निश्चय नय है। बीज को बीज के रूप मे जानना व्यवहार नय है। व्यवहार के धरातल पर बीज मे छिपी हुई सभावनाओ को हम नही जानते। निश्चय नय से देखने वाला यह देखता है कि यह छोटा-सा बरगद का बीज नही है। किन्तु इसमे एक विशाल बरगद छिपा हुआ है। विज्ञान ने इस दिशा मे बहुत स्पष्ट दृष्टिया दी हैं। हमारे शरीर मे बीमारी होती है। हम देखते हैं कि आज हाथ मे फोडा हुआ है, किन्तु यह फोडा दो-तीन महीने पहले सूक्ष्म-शरीर मे हो चुका था। स्थूल-शरीर मे यह आज अभिव्यक्त हुआ है। विज्ञान की एक शाखा ने यह घोषणा की है कि मृत्यु का फोटो लिया जा सकता है ओर यह कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति की मृत्यु कब होगी। यह भी कहा जा सकता है कि कौन-सी बीमारी कब होगी। महीनो बाद होनेवाली बीमारी पहले मे ही बतलाई जा सकती है। निश्चय के स्तर पर जो बातें पहले प्रकट हो जाती हैं, वे व्यवहार के स्तर पर बाद मे प्रकट होती हैं। हम व्यक्त को जानते हैं, अव्यक्त को नही जानते। निश्चय नय अव्यक्त को जानता है, व्यवहार नय व्यक्त को जानता है। व्यवहार नय स्थूल को जानता है, सूक्ष्म को नही।

यदि पारिवारिक जीवन मे इन दोनो दृष्टियो का उपयोग किया जाए तो सघर्ष की समस्या टल सकती है। निश्चय नय मे यह जाने कि व्यक्ति अकेला है। यह अतिम सचाई है। कोई किसी का नही है। किसी के साथ ऐसा कोई रजतसूत्र नही है कि हम कह सकें—हम दो एक है। प्रत्येक व्यक्ति एक इकाई है, स्वतत्र

है। यह वास्तविक मत्य है, निश्चय नय का मत्य है। व्यवहार नय का मत्य है—हम अनुभव करे कि दस-बीस लोग एक हैं। इमका परिणाम होगा कि परिवार मे होने वाले सघर्ष कम हो जाएगे। कठिनाई तब होती है, जब परिवार का एक सदस्य मोचता है कि मैंने यह कहा और उसने नही माना। वह कुपित हो जाता है। कलह प्रारम्भ होने का यह आदि-बिन्दु है। क्योंकि वह मान बैठा है कि इस परिवार का मैं सबसे बडा सदस्य हू। मेरी बात सबको माननी चाहिए। जब ऐसा नही होता, समस्या खडी हो जाती है। यदि यह सत्य उसके अनुभव मे रहे कि मैं उसे जितना मेरा मानता हू, उतना ही वह मेरे से भिन्न भी है। मैं भी उससे उतना ही भिन्न हू। मैं अकेला भी हू। वह मेरा नही भी है—यह बात यदि स्मृति-पटल पर बनी रहती है तो सतुलन नही बिगड़ता। कलह उत्पन्न नही होता। निश्चय और व्यवहार—दोनो दृष्टियो का यदि सतुलन बना रहता है तो पारिवारिक कलहो मे बहुत बडा अन्तर आ जाता है।

परिवार की दूसरी समस्या है—अनाश्वासन। भारतीय पारिवारिक व्यवस्था मे थोडा-बहुत आश्वासन है, किन्तु पाश्चात्य पारिवारिक व्यवस्था मे वह नही है। परिवार टूटे हुए हैं। पिता आश्वस्त नही है कि बुढापे मे उसका पुत्र सेवा-सुश्रूषा करेगा, पत्नी सेवा करेगी। भारत मे फिर भी कुछ सीमा तक यह आश्वासन प्राप्त है। पिता सोच भी सकता है कि वृद्धावस्था मे पुत्र-पत्नी उसकी सेवा करेंगे। मुझे लगता है कि जहा पारिवारिक व्यवस्था टूटी हुई है, सयुक्त परिवार नही हैं, वहा केवल पारिवारिक दृष्टि का ही खण्डन नही हुआ है, किन्तु सूक्ष्म पर्यवेक्षण से यह भी ज्ञात होता है कि वहा कृतज्ञता की दृष्टि भी खडित हुई है। आज पाश्चात्य देशो के बूढे लोग ज्यादा दु खी हैं। यह क्यो? उनके लिए सरकार की ओर से रहन-सहन, खान-पान, चिकित्सा आदि की पूरी व्यवस्था है, फिर भी वे दु खी हैं। बूढा आदमी चाहता है कि उसे प्रेम मिले, स्नेह मिले, सेवा-सुश्रूषा हो। जब उसे प्रेम और स्नेह नही मिलता, तब वह पागल जैसा हो जाता है। वह अनाश्वस्त हो जाता है। यही उसके दु खी होने का मूल कारण है।

अहिंसा की दृष्टि से विचार करें तो कृतज्ञता एक कर्तव्य है। महावीर ने कहा, 'तीन व्यक्तियो से उऋण होना दुष्कर है—गुरु, माता-पिता और स्वामी। शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु से उऋण हो। पुत्र का कर्तव्य है कि वह माता-पिता से उऋण हो। कर्मचारी का कर्तव्य है कि वह स्वामी से उऋण हो। यह अहिंसा के परिपार्श्व मे होने वाला एक विचार है। जहा करुणा की बात कम हो जाती है, अहिंसा की बात कम हो जाती है, वहा व्यवस्था टूट जाती है। यद्यपि समाज की व्यवस्था व्यवहार के धरातल पर बनती है, परन्तु उसके पीछे जो दर्शन है, जो चिन्तन है, उसके आधार पर व्यवस्था का निर्माण होता है। भारतीय व्यवस्था मे अहिंसा का विचार था, करुणा का विचार था। कोई भी अहिंसक व्यक्ति,

करुणाशील व्यक्ति व्यवहार के धरातल पर भी क्रूरता का प्रदर्शन नही कर सकता। वह अपने असहाय, अपग, शक्तिहीन वृद्ध माता-पिता की उपेक्षा कैसे कर सकता है ? कभी नही कर सकता। यह उसका प्रासगिक फलित है। इसमे सहज ही उन वूढो को आश्वासन मिलता है। किन्तु जहा ऐसी व्यवस्था नही है, वहा सचमुच ही समस्याए उभरती है। आज पाश्चात्य देशो मे पुन -पुन विचार किया जा रहा है कि इन समस्याओ का हल कैसे किया जा सकता है ? अहिसा और करुणा के परि-पार्श्व मे पनपने वाली आश्वासन की वात, कृतज्ञता का भाव कैसे विकसित हो सकता है—इस विपय मे चिन्तन किया जा रहा है। यह कृतज्ञता का भाव, अहिसा का आनुपगिक फल है, परिणाम है। जो अपने उपकारी के प्रति उपकार-भाव नही रखता, कृतज्ञ नही होता, वह सुखी नही हो सकता।

पाचवी ममस्या है—आर्थिक। यह सवसे जटिल समस्या है। यह जटिल इसलिए है कि समूचे समाज का ढाचा इससे वनता-विगडता है। आप यह न मानें कि आज ही यह विचार वना है कि अर्थ के आधार पर समाज वनता-विगडता है। यह वहुत पुराना विचार है। कौटिल्य ने माना कि अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष—इस पुरुपार्थ-चतुप्टयी मे अर्थ प्रधान है—'**अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्य**'। कौटिल्य ने अर्थ को प्रधान क्यो माना ? अर्थ के विना जीवन नही चलता, और वातें भी नही होती। अर्थ के अभाव से ग्रस्त गरीव समाज मे वहुत वडा व्यक्ति या प्रखर दार्शनिक पैदा नही होता। आज तक के इतिहास मे कोई भी वडा आदमी जगली जाति मे उत्पन्न नही हुआ। क्योकि उनकी सारी शक्ति रोटी जुटाने मे खप जाती है। वे सदा चिन्ता मे रहते हैं। दर्शन, कला आदि वातो पर चिन्तन करने का उन्हे अवकाश ही नही मिलता। उन्नत विचार उनमे पैदा नही होते। अर्थ की वहुत वडी समस्या है।

अध्यात्म या धर्म मे हम अर्थ की समस्या का समाधान ढूढें, यह युक्तियुक्त वात नही लगती। महावीर ने अपरिग्रह का महाव्रत और इच्छा-परिमाण का व्रत वतलाया। इससे क्या अर्थ की समस्या समाहित हो सकती है ? इससे क्या कोई उत्पादन वढ सकता है ? क्या पदार्थ का विकास हो सकता है ? ऐसा कुछ नही होता। किन्तु कोई भी अर्थशास्त्री यह नही मानता कि केवल उत्पादन ही आर्थिक समस्या का हल है। अर्थशास्त्र मे उत्पादन और वितरण—दो वातें साथ चलती हैं। अधिक उत्पादन और समीकृत वितरण। यदि उत्पादन अधिक है और वितरण की व्यवस्था ठीक नही है तो कोई समाधान नही होगा। दोनो साथ चलते हैं—उत्पादन और समीकृत वितरण। मैं उत्पादन की वात नही करूगा, किन्तु यह अवश्य कहूगा कि वितरण की वात के साथ अपरिग्रह का सिद्धान्त अवश्य जुडा हुआ है। महावीर ने इच्छा-परिमाण-व्रत की वात कही। इसका अर्थ यह नही है कि आदमी कुछ न करे, इच्छा का इतना सयम कर ले कि वह अपनी रोटी भी न

कमाए। यह असम्भव वात है।

आचार्यश्री तुलसी दिल्ली मे थे। एक अर्थशास्त्री ने वतलाया, 'अर्थशास्त्र का सिद्धान्त है कि काम करते जाओ, इच्छाओ को वढाते जाओ और काम न हो तो गढा खोदो और उसे पाटते जाओ। निकम्मे मत रहो। श्रम करते जाओ।' अर्थ-शास्त्र सीमित इच्छाओ को भी मान्य करता है। पूजीवाद जो विकसित हुआ है, वह इच्छा के सयम के अभाव मे विकसित हुआ है। सग्रह करने वाला यह नही देखता कि उसका परिणाम कितने लोगो को भुगतना पडेगा। इच्छा-परिमाण का अर्थ है कि अपनी इच्छा को उतना विकसित मत करो, जिससे हजारो-हजारो व्यक्तियो को उसका दुष्परिणाम भोगना पडे। महावीर ने नही कहा कि व्यापार मत करो। उन्होने कहा, 'दो वातो का ध्यान रखो। अर्थोपार्जन के साधन शुद्ध हो, व्यक्तिगत भोगो का सयम हो।' साधन दूमरो के लिए घातक और अप्रामाणिक न हो। व्यक्तिगत सयम रखो। महावीर ने नही कहा कि इतना मत कमाओ। लाख मत कमाओ, करोड मत कमाओ। उन्होने कहा, 'साधन-शुद्धि और व्यक्तिगत सयम का ध्यान रखो।' इससे यह फलित हुआ कि अप्रामाणिक वृत्ति घटी और पदार्थ के उपयोग की लालसा न्यून हो गयी। आनन्द श्रावक इसका उदाहरण है। उसके पास सव कुछ था फिर भी उसका व्यक्तिगत सयम इतना प्रखर था कि वह कभी विलासिता मे नही फसा।

आज आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। यदि उन प्रयत्नो के साथ-साथ शुद्धि और व्यक्तिगत उपभोग का सयम—ये दो वातें और जोड दी जाए तो निश्चित ही इस समस्या के समाधान मे अध्यात्म का वहुत वडा योग होगा।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज—ये दो वास्तविकताए हैं। व्यक्तिवादी दार्शनिको का सिद्धात यह है—'मनुष्य समाज से बाहर का एक प्राणी है अथवा रह सकता है।' इस मान्यता मे यह विचार निहित है कि मनुष्य समाज मे प्रवेश करने से पूर्व व्यक्ति विशेष है। वे अपनी सपत्ति, अधिकार, जीवन की सुरक्षा अथवा अन्य किसी इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते है।

समाजवादी दार्शनिको का सिद्धान्त यह है—व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। मानव-विकास के इतिहास मे व्यक्ति और समाज दोनो का समान रूप से प्राधान्य है।

अनेकान्तवाद व्यक्ति और समाज की सापेक्ष व्याख्या करता है। व्यक्ति मे वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनो के मूल तत्त्व सन्निहित होते हैं। क्षमताओ का होना व्यक्ति की वैयक्तिकता है। उनका अभिव्यक्त होना व्यक्ति की सामाजिकता है। इसलिए व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्ति की वैयक्तिकता कभी खडित नही होती। उसका कभी विनिमय नही होता। व्यक्ति समाज का अभिन्न अग बनकर भी व्यक्ति ही रहता है। इस अर्थ मे व्यक्ति समाज से भिन्न भी है। व्यक्ति अपनी आकाक्षा, अपेक्षा और कर्म का विस्तार करता है, विनिमय और परस्परता का सम्बन्ध स्थापित करता है, इस अर्थ मे वह समाज से अभिन्न भी है। व्यक्ति की सीमा सवेदन है। एक व्यक्ति को प्रेम, हर्ष, भय और शोक का सवेदन होता है, वह नितान्त वैयक्तिक है। वह सवेदन साधारण नही है। उसका विनिमय नही होता। वह दूसरो को दिया नही जा सकता। विनिमय व्यक्ति और समाज के बीच का सेतु है। उसके इस ओर व्यक्ति है और उस ओर समाज। व्यक्ति का मूल आधार है सवेदन और समाज का मूल आधार है विनिमय। वस्तु सामाजिक है, क्योकि उसका विनिमय किया जा सकता है। सवेदन वैयक्तिक है, क्योकि उसका विनिमय नही किया जा सकता।

समाजशास्त्री मेकाइवर के अनुसार, 'समाज सामाजिक सम्बन्धो का जाल

है।' 'समाज सामाजिक सम्बन्धो की एक पद्धति है, जिसके द्वारा हम जीते है।' समाजशास्त्री ग्रीन के अनुसार, 'समाज एक बडा समूह है जिससे हर व्यक्ति सबद्ध है।' इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सम्बन्ध स्थापित होता है और जीने के लिए हर व्यक्ति के लिए सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। सवेदन न स्थापित होता है और न वह जीने के लिए आधारभूत है। वह स्वाभाविक है। सवेदना की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक है और जीवन-यापन की अपेक्षा मे समाज वास्तविक है। इन दोनो की वास्तविकता मे कोई विरोध नही है। व्यक्ति समाज को वास्तविक मानकर ही सुखपूर्वक जी सकता है और समाज व्यक्ति की वास्तविकता को ध्यान मे रखकर सामाजिक मूल्यो की सुरक्षा कर सकता है।

समाज-व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व दो हैं—काम और अर्थ। काम की सम्पूर्ति के लिए सामाजिक सम्बन्धो का विस्तार होता है। अर्थ काम-सपूर्ति का साधन बनता है। धर्म (विधि-विज्ञान) के द्वारा समाज की व्यवस्था का सचालन होता है। प्राचीन समाजशास्त्रियो मे से कुछेक ने काम को मुख्य माना और कुछेक ने धर्म को। महामात्य कौटिल्य ने अर्थ को मुख्य माना। उन्होंने कहा, 'काम और धर्म का मूल अर्थ है। इसलिए इस त्रिवर्ग मे अर्थ ही प्रधान है।' आधुनिक समाजवादी समाज-व्यवस्था मे भी अर्थ की प्रधानता है। वह अर्थ पर ही आधारित है। अर्थाधारित समाज-व्यवस्था मे व्यक्ति का स्वतन्त्र मूल्य नहीं हो सकता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नियन्त्रित किए बिना समाजवादी व्यवस्था फलित नही हो सकती। व्यक्ति अपने सवेदनो को जितना मूल्य देता है, उतना दूसरे के सवेदनो को नही देता। इसलिए व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था मे दो स्थितिया निर्मित हुई—स्वार्थ की अपेक्षा और परार्थ की उपेक्षा। फलत उस व्यवस्था मे अप्रामाणिकता, अनैतिकता, शोषण और भ्रष्टाचार जैसी बुराइया पनपी। इन बुराइयो से सत्रस्त समाज ने समाजवादी व्यवस्था के द्वारा स्वार्थ और परार्थ की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। व्यक्ति को व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था जितना स्वतन्त्र मूल्य दिए जाने पर उस खाई को पाटा नहीं जा सकता। इसलिए इस व्यवस्था मे व्यक्ति को समाज के एक पुर्जे का स्थान देना पडा।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था मे सामाजिक विषमता फलित होती है। उसमे कुछ लोग सम्पन्न होते हैं और जन-साधारण विपन्न रहता है। सम्पन्न लोग भोग-विलास मे आसक्त रहते हैं। वे अपनी सुख-सुविधा की ही चिन्ता करते है, दूसरो के हितो की चिन्ता नही करते। उनकी इन्द्रियपरक आवश्यकताए बढ जाती हैं। वे भोग से हटकर अन्य विषयो पर विचार के लिए समय ही नही निकाल पाते। विपन्न लोगो को इन्द्रियपरक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अत्यन्त श्रम करना होता है। उन्हे विचार का अवसर ही नही मिलता। इस इन्द्रियपरक समाज-रचना मे सामाजिक विषमता चलती रहती है। राजतन्त्र का इतिहास

इस बात का साक्षी है। विचारपरक समाज-रचना का श्रीगणेश उन लोगो ने किया जो भोग मे लिप्त नही थे। उस विचारपरक समाज-रचना ने ही समाजवादी समाज-व्यवस्था को जन्म दिया। महावीर ने न समाज की व्यवस्था की और न समाज-व्यवस्था का दर्शन दिया। उन्होने धर्म की व्याख्या की और धर्म का दर्शन दिया। वह धर्म-दर्शन न व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। वह आत्मवादी है। व्यक्ति का मानदण्ड सवेदन है और समाज का मानदण्ड विनिमय। धर्म का मानदण्ड इन दोनो से भिन्न है। उसका मानदण्ड सवेदनातीत चेतना और अकर्म है।

जैन दर्शन समाज-व्यवस्था का सूत्र नही देता, काम और अर्थ का दिशा-निर्देश नही देता, जीवन की समग्रता का दर्शन नही देता, इसलिए वह अपूर्ण है। यह तर्क उपस्थित किया जाता है और यह तथ्य से परे भी नही है। जैन दर्शन मे मोक्ष की मीमासा प्रधान है। मोक्षवादी दर्शन का मुख्य कार्य धर्म की मीमासा करना होता है। इस सन्दर्भ मे धर्म का अर्थ भी बदल जाता है। काम और अर्थ के सन्दर्भ मे धर्म का अर्थ समाज-व्यवस्था के सचालन का विधि-विधान होता है। मोक्ष के सन्दर्भ मे उसका अर्थ होता है—चेतना का शोधन। महावीर ने जितने निर्देश दिए, वे सब चेतना की शुद्धि के लिए दिये। उन निर्देशो से अर्थ और काम प्रभावित होते हैं, स्वार्थ पर नियत्रण और समाजवादी समाज-व्यवस्था को आधार प्राप्त होता है, किन्तु इनके लिए महावीर ने कुछ किया, ऐसा नही कहा जा सकता। क्या मोक्षवादी दर्शन ऐसा कर सकता है?

हिंसा और परिग्रह को सर्वथा समाज-व्यवस्था से पृथक् नही किया जा सकता। मोक्ष-धर्म का मौलिक आधार है—अहिंसा और अपरिग्रह। अत समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म को एक आधार नही दिया जा सकता। मोक्ष-धर्म समाज-व्यवस्था को हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण का दिशा-निर्देश देता है। यह समाजवादी समाज-व्यवस्था के हित पक्ष मे है, इसलिए इस बिन्दु पर इन दोनो का मिलन हो सकता है। किन्तु दोनो का मौलिक आधार एक नही है।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था स्वार्थशासित थी, इसलिए उसमे व्यक्तिगत सग्रह पर कोई अकुश नही था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ क्रूरता के लिए भी पूरा अवकाश था। समाजवादी समाज-व्यवस्था राज्य-सत्ता से शासित है, इसलिए इसमे सम्पत्ति पर समाज का प्रभुत्व है। इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। मोक्ष-धर्म से प्रभावित समाज-व्यवस्था करुणाशासित होती है। इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सग्रह पर अकुश—दोनो फलित हो सकते हैं। किन्तु इसके लिए सामाजिक चरित्र को और अधिक उदात्त करने की अपेक्षा है।

क्या अनेकान्त के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नही की जा सकती? क्या हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह मे अविरोध

स्थापित नही किया जा सकता ? अनेकान्तवाद समन्वय और सापेक्षता के द्वारा विरोध मे अविरोध की व्याख्या करता है, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु हम इस तत्त्व की उपेक्षा कर अनेकान्त को नही समझ सकते कि जिस गुण की अपेक्षा से विरोध होता है, उसी गुण की अपेक्षा से अविरोध नही होता। पदार्थ मे नित्य और अनित्य—दोनो गुण अविरोधी है। किन्तु जिस गुण की अपेक्षा पदार्थ नित्य है, उसी गुण की अपेक्षा वह अनित्य नहीं है, और जिस गुण की अपेक्षा वह अनित्य है, उसी गुण की अपेक्षा वह नित्य नही है। किन्तु नित्य और अनित्य—दोनो गुण एक ही पदार्थ में अविरोधी भाव से रहते है। इसलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक होता है और उस पदार्थ की सापेक्षदृष्टि से सामजस्यपूर्ण व्याख्या की जा सकती है। समाज-व्यवस्था मे हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह दोनो तत्त्व अविरोधाभाव से रहते हैं। अनेकान्त के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नही की जा सकती। हिंसा और अहिंसा तथा परिग्रह और अपरिग्रह मे अविरोध स्थापित नही किया जा सकता किन्तु समाज-व्यवस्था के साथ उनके सहावस्थान की व्याख्या की जा सकती है। हिंसा और परिग्रह को समाज-व्यवस्था से पृथक् नही किया जा सकता, इस अपेक्षा से समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म मे एकता नही है। समाज-व्यवस्था मे हिंसा और परिग्रह की अल्पता की जा सकती है, इस अपेक्षा से समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म मे एकता है।

धर्म सवेदनातीत होने के कारण वैयक्तिक नही है, आत्मिक है। किन्तु वह व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक भी है। नैतिकता व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक है, किन्तु वह दूसरे के प्रति होती है, इसलिए सामाजिक भी है। वह सामाजिक है किन्तु सामाजिक आचार-सहिता से अभिन्न नहीं है। समाज की आचार-सहिता देश-काल के भेद से भिन्न-भिन्न, परिवर्तनशील और समाज की उपयोगिता के आधार पर निर्मित होती है। नैतिकता देश और काल की धारा मे एकरूप, अपरिवर्तनशील और धर्म से प्रभावित होती है। धर्म और नैतिकता को शाश्वत सत्य की श्रेणी मे रखा जा सकता है, समाज की आचार-सहिता को उस श्रेणी मे नही रखा जा सकता। वे दोनो व्यक्ति की आन्तरिक अवस्थाए हैं। समाज की आचार-सहिता समाज का बाहरी नियमन है। यह शुद्ध अर्थ मे सामाजिक है। नैतिकता उद्गम मे वैयक्तिक और व्यवहार मे सामाजिक है। धर्म शुद्ध अर्थ मे आत्मिक और व्यवहार मे वैयक्तिक है।

त्रिवर्ग मे अर्थ और काम के साथ जिस धर्म का उल्लेख है वह सामाजिक आचार-सहिता ही है। इसीलिए महावीर ने काम, अर्थ और धर्म को लौकिक व्यवसाय कहा है। स्मृतियो मे इसी धर्म की व्याख्या अधिक मात्रा मे हुई है।

सहस्राव्दियों से भारत की वहुसख्यक जनता ने इसी को शाश्वत सत्य के रूप मे स्वीकार किया है। इसी के आधार पर उसमे अनेक वाछनीय तत्त्व विकसित हुए, जिनका आज के समाजशास्त्री धर्म की इन कुसेवा के रूप मे वर्णन करते हैं—

१ रूढिवादिता—धर्म ने रूढिवादिता को जन्म दिया। उसके नाम पर जनता परम्परा और रीति-रिवाज को तोडने का साहस नही कर सकी।

२ शोपण—धर्म के नाम पर स्त्रियो का अत्यधिक शोषण होता रहा है। कर्मवाद के सिद्धात ने गरीवो को शोषण के विरुद्ध क्रान्ति करने से रोका है।

३ आलस्य और भाग्यवादिता—धर्म ने भाग्यवाद को प्रचारित किया। फलत जनता आलसी और अकर्मण्य हो गई।

४ हिंसा और युद्ध—मानव इतिहास के पृष्ठ धर्म के नाम पर किये गए नर-सहार और जिहादो से भरे पडे हैं।

५ घृणा—समाज मे जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत के लिए धर्म उत्तरदायी है।

समाजशास्त्रीय साहित्य मे धर्म और नैतिकता का अन्तर इस आधार पर प्रतिपादित किया गया है कि कुछ वातें नैतिकता की दृष्टि से गलत किन्तु धर्म की दृष्टि से सही होती हैं। कभी-कभी धर्म समाजहित के विरोधी आचरण का विधान करता है। धर्म ने छुआछूत का विधान किया। नैतिकता की दृष्टि से यह गलत है। एक पत्नी अपने क्रूर और दुष्ट पति को नही छोड सकती—धर्म की दृष्टि से यह सही है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से गलत है। सचाई यह है कि नैतिकता मनुष्य को आगे ले जाती है और धर्म मनुष्य के विकास को अवरुद्ध कर देता है।

इस समूची समाजशास्त्रीय समालोचना का आधार वह स्मृतियो मे प्रतिपादित धर्म या त्रिवर्ग का धर्म है। जैन, वौद्ध, साख्य और वेदान्त ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है उसके विषय मे इस प्रकार की समालोचना नही की जा सकती। इनके द्वारा प्रतिपादित धर्म शाश्वत सत्य की व्याख्या है। उसका परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था मे कोई हस्तक्षेप नही है। धर्म के नाम पर समाज-व्यवस्था का प्रतिपादन नही किया जा सकता। परिवर्तनशील तत्व को अपरिवर्तनशील तत्त्व के नाम से प्रचारित करने पर रूढिवादिता पैदा होती है। स्मृतिकारो ने परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था का विधान किया। यदि उसका प्रस्तुतीकरण शाश्वत सत्य के रूप मे नही होता तो धर्म का रूढिवादी रूप हमारे सामने नही होता। स्त्रियो की हीनता का प्रतिपादन भी स्मार्त धर्म की समाज-व्यवस्था का अग है। शाश्वत धर्म से उसका कोई सम्वन्ध नही है।

महावीर ने कर्मवाद की सबसे अधिक व्याख्या की है। उनका कर्मवाद इस

बात का समर्थन नही करता कि गरीब गरीब ही रहेगा और उसे अपना कर्मफल भोगने के लिए अमीरो के द्वारा किये गए शोषण को सहन करना पडेगा। गरीबी और अमीरी समाजिक अवस्थाए हैं। इनका सम्बन्ध समाज की व्यवस्था से है, कर्मवाद से नही है।

महावीर ने पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया। उनके धर्म मे आलस्य और अकर्मण्यता को कोई स्थान नही है। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म के परिणामो मे भारी परिवर्तन किया जा सकता है।

महावीर ने अहिंसा को सर्वोच्च धार्मिक मूल्य दिया। उनका सूत्र है—अहिंसा धर्म है, धर्म के लिए हिंसा नही की जा सकती। धर्म की रक्षा अहिंसा से होती है, धर्म की रक्षा के लिए हिंसा नही की जा सकती।

महावीर ने घोषणा की—मनुष्य जाति एक है। जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत—ये हिंसा के तत्त्व हैं। अहिंसा धर्म मे इनके लिए कोई अवकाश नही है।

महावीर ने धर्म के तीन लक्षण बतलाए—अहिंसा, सयम और तप। ये तीनो आत्मिक और वैयक्तिक है। इनसे फलित होने वाला चरित्र नैतिक होता है। राग-द्वेपमुक्त चेतना अहिंसा है। यह धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप है। जीव की हिंसा नही करना, झूठ नही बोलना, चोरी नही करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, परिग्रह नही रखना—यह धर्म का नैतिक स्वरूप है। राग-द्वेषमुक्त चेतना आत्मिक स्वरूप ही है। वह किसी दूसरे के प्रति नही है और उसका सबध किसी दूसरे से नही है। जीव की हिंसा नही करना—यह दूसरो के प्रति आचरण है। इसलिए यह नैतिक है। नैतिक नियम धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप से ही फलित होता है। इसका उद्‌गम धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप ही है। इसलिए यह धर्म से भिन्न नही हो सकता। हर्बर्ट स्पेन्सर और थॉमस हक्सले तथा आधुनिक प्रकृतिवादी और मानवतावादी चिन्तको ने धर्म और नैतिकता को पृथक् स्थापित किया है। यह सगत नही है। जो आचरण धर्म की दृष्टि से सही है, वह नैतिकता की दृष्टि से गलत नही हो सकता। धर्म अपने मे और नैतिकता दूसरो के प्रति—इन दोनो मे यही अन्तर है। किन्तु इनमे इतनी दूरी नही है, जिससे एक ही आचरण को धर्म का समर्थन और नैतिकता का विरोध प्राप्त हो। समाज-शास्त्रियों ने धर्म और नैतिकता के भेद का निष्कर्ष स्मृति-धर्म के आधार पर निकाला। उस धर्म को सामने रखकर धर्म और नैतिकता मे दूरी प्रदर्शित की जा सकती है, धर्म के द्वारा समर्थित आचरण को नैतिकता का विरोध प्राप्त हो सकता है। वह धर्म रूढिवाद का समर्थक होकर समाज की गतिशीलता का अवरोध बन सकता है।

धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप आत्म-केन्द्रित और उसका नैतिक स्वरूप समाजव्यापी है। इस प्रकार धर्म दो आयामो मे फैला हुआ है। इस धर्म के दोनों

रूप शाश्वत सत्य पर आधारित होने के कारण अपरिवर्तनीय हैं। स्मृति-धर्म (समाज की आचार-संहिता) देश-काल की उपयोगिता पर आधारित है। इसलिए यह परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील धर्म की अपरिवर्तनशील धर्म के रूप मे स्थापना और स्वीकृति होने के कारण ही धर्म के नाम पर समाज मे वे बुराइया उत्पन्न हुई जिनकी चर्चा समाज-शास्त्रियो ने की है।

स्मृति-धर्म ने अर्थ के अर्जन और भोग का दिशा-निर्देश दिया है, काम-सेवन की दिशाए भी प्रदर्शित की है। यह दिशा-निर्देश करना स्मृति-धर्म का ही काम है। शाश्वत धर्म का यह काम नही है। उसके द्वारा यदि काम और अर्थ की परिवर्तनशील व्यवस्था का दिशा-निर्देश हो तो वह शाश्वत का रूप लेकर समाज की भावी व्यवस्थाओ मे गतिरोध पैदा कर देता है, जैसाकि आज हो रहा है। स्मृति-धर्म द्वारा प्रतिपादित काम और अर्थ की व्यवस्था मे शाश्वत धर्म का सहयोग हो सकता है। महावीर ने यह सहयोग किया था। उन्होंने गृहस्थो की धर्म-संहिता (या नैतिक-संहिता) मे जो नियम निश्चित किए, उनसे समाज-व्यवस्था को भी बहुत सहारा मिला। उदाहरणस्वरूप इन नियमो का निर्देश किया जा सकता है—

१ अपने कर्मकरो की आजीविका का विच्छेद न करना।
२ पशुओ पर अधिक भार न लादना।
३ झूठी साक्षी न देना।
४ अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त किसी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन न करना।
५ संग्रह की एक निश्चित सीमा करना। उस सीमा से अतिरिक्त संग्रह न करना।
६ धन-संग्रह और भोगवृद्धि के लिए दूसरे देशो मे न जाना, आदि-आदि।

महावीर ने अर्थार्जन और काम-सेवन मे होने वाली आसक्ति को कम करने का विधान किया। किन्तु उनके उपभोग का विधान नही किया। उन्होंने धर्माचार्य की सीमा का काम किया, किन्तु समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और कामशास्त्री की सीमा का काम नही किया। इस अर्थ मे यदि कोई उनके दर्शन को अपूर्ण माने तो माना जा सकता है। उनके अनुयायी को दूसरी व्यवस्थाओ पर निर्भर होना पडता है—यदि कोई यह आरोप लगाए तो लगाया जा सकता है। शाश्वत धर्म की यह अपूर्णता और पर-निर्भरता न हो तो स्मृति-धर्म शाश्वत धर्म के स्वरूप को ही धुंधला कर देगा। पूर्णता और आत्म-निर्भरता सापेक्ष ही हो सकती है। धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक हो सकता है, किन्तु अर्थ और काम की अपेक्षा से वह वास्तविक नही है। अर्थ और काम की अपेक्षा से समाज वास्तविक हो सकता है। किन्तु धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से वह

वास्तविक नही है। व्यक्ति वास्तविक और समाज अवास्तविक—व्यक्तिवादी दार्शनिको की इस स्वीकृति ने व्यक्ति को अर्थ-सग्रह की असीमित स्वतन्त्रता देकर शोषण की समस्या को जन्म दिया। समाज वास्तविक और व्यक्ति अवास्तविक—समाजवादी दार्शनिको की इस स्वीकृति ने व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता को राज्य-प्रतिवद्ध कर मानव के यत्रीकरण की समस्या को जन्म दिया। व्यक्ति और समाज की सापेक्ष वास्तविकता की स्वीकृति ही इन समस्याओ से समाज को मुक्ति दे सकती है।

व्यक्ति का समाजीकरण और समाज का व्यक्तीकरण

मुझे इसका गर्व है कि मैंने महावीर की परम नास्तिकता को समझने का प्रयत्न किया है। मैं नही समझता कि जो परम नास्तिक नही होता, वह आस्तिक कैसे होगा? जिन लोगो ने अस्ति और नास्ति को तोडकर देखा हे, वे किसी को आस्तिक मानते हैं और किसी को नास्तिक। महावीर सवको जोडकर देखते थे। उनके दृष्टिकोण मे नास्तित्व से शून्य अस्तित्व और अस्तित्व मे शून्य नास्तित्व होता ही नही। एक वार उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने पूछा, 'भते! आपका अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत हो रहा है, क्या यह सच है? आपका नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत हो रहा है, क्या यह सच है?' महावीर ने कहा, 'यह सत्य है कि मेरा अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत हो रहा है और यह भी सत्य है कि मेरा नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत हो रहा है। अस्तित्व के विना किसी की सत्ता स्थापित नही होती और नास्तित्व के विना कोई स्वतन्त्र नही होता, कोई व्यक्ति नही वन पाता। अस्तित्व समाज है और नास्तित्व व्यक्ति। अस्तित्व और नास्तित्व को तोडा नही जा सकता तव समाज और व्यक्ति को कैसे विभक्त किया जा सकता है?' समाज के सन्दर्भ मे व्यक्ति और व्यक्ति के सन्दर्भ मे समाज का मूल्याकन किया जा सकता है।

समाजीकरण का सिद्धान्त

समाजवाद ने व्यक्ति का समाजीकरण किया है। समाज एक वृहद् यत्र है और व्यक्ति उसका एक अग। अत समाज-सरचना के पक्ष मे व्यक्ति सीमित हो जाता है। सापेक्ष अर्थ मे व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही रहता। जिन हाथो मे समाज-व्यवस्था की वागडोर होती है, वे चाहे तो वच्चो को माता-पिता से अलग रख सकते हैं और अनुपयोगी वूढो को अरण्यवास दे सकते हैं या समाप्त कर सकते हैं। वे चाहे तो जनता को सपत्ति का स्वामित्व दे सकते हैं और चाहे तो उसे छीन सकते हैं। समाज का प्रभुत्व भौतिक सम्पदा पर होता है और उसका क्षेत्र

इतना सीमित है कि किसी को भी सार्वभौम स्वतन्त्रता नही दी जाती।

व्यक्तीकरण का सिद्धान्त

महावीर ने समाज का व्यक्तीकरण किया। उन्होने कहा, 'व्यक्ति समाज मे जन्म लेता है, समाज मे रहता है और समाज की सुविधाओ का उपयोग करता है, फिर भी वह व्यक्ति है। उसका अस्तित्व समाज है और व्यक्तित्व उसका नास्तित्व है। वह अकेला आता है और अकेला चला जाता है। अकेला कर्म करता है और अकेला उसका फल भोगता है। अपना-अपना ज्ञान होता है और अपना-अपना सवेदन। कही कोई साझेदारी नही है। माता मेरी नही है, पिता मेरा नही है, सन्तान मेरी नही है और सपदा मेरी नही है। इस ममकार को नकारते चले जाओ, अहकार की ग्रन्थि खुल जाएगी और शेष जो बचेगा, वह है व्यक्ति का अपना चैतन्य, जो उससे कभी विभक्त नही होता। यह नास्तिकता का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता असीम हो जाती है।

जितना परिग्रह उतना अभिमान, जितना अभिमान उतना ही स्वतन्त्रता का परिसीमन। महावीर ने कहा, 'जैसे-जैसे परिग्रह और अभिमान कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे नास्तिता की परिधि विस्तृत होती जाती है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता बढती जाती है। जैसे-जैसे परिग्रह और अभिमान अधिक होते जाते हैं, वैसे-वैसे नास्तिता की सीमा सकुचित होती जाती है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता घटती जाती है।

व्यक्तीकरण का फलित

जिसे नास्तिता का सम्यक् बोध होता है, वही अपरिग्रही हो सकता है। महावीर ने कहा, 'व्यक्ति मे दूसरो के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की नास्तिता है, इसीलिए उसकी अस्तिता है। इसलिए यह उसका सहज धर्म है कि वह दूसरो के स्वत्व पर अपना अधिकार न करे।

जो अपरिग्रही होता है, वही अहिंसक हो सकता है। अपरिग्रह निषेधात्मक है। अहिंसा भी निषेधात्मक है। अपने मे दूसरो की निषेधात्मकता ही अपना व्यक्तित्व है। इसका अनुभव हुए बिना कोई व्यक्ति न अपरिग्रही हो सकता है और न अहिंसक, न समाजवादी हो सकता है और न समानतावादी।

समाज और व्यक्ति की सापेक्षता

महावीर जनतन्त्र के व्याख्याता नही थे पर उन्होंने अस्ति-नास्ति की सापेक्षता के उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो जनतन्त्र का सर्वाधिक शक्तिशाली आधार है। उन्होने कहा, 'आत्मा अनेक हैं। उनमे कोई हीन नही है और कोई

अतिरिक्त नही है। कोई सर्वशक्तिमान् नही है और कोई शक्तिशून्य नही है। सव स्वतन्त्र है। वे स्वतन्त्र होते हुए भी जीवन-सचालन के लिए परस्पर सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही व्यक्ति को सामाजिक वनाती है। समाज-व्यवस्था का प्रयोजन व्यक्ति को परतन्त्र करना नही, किन्तु सापेक्षता की पूर्ति है।

महावीर समाजवाद के व्याख्याता नही थे, पर उन्होने एक और अनेक की सापेक्षता के उस सिद्धान्त की व्याख्या की जो समाजवाद का सशक्त आधार है। उन्होंने कहा, 'जो एक को जानता है, वह सवको जनता है। जो सवको जानता है, वह एक को जानता है।' व्यवहार की भाषा मे उन्होंने कहा, 'जो एक व्यक्ति की अवज्ञा करता हैं, वह समूचे ममाज की अवज्ञा करता है। जो एक व्यक्ति की पूजा करता है वह समूचे समाज की पूजा करता है।' एक के अवज्ञात होने पर समूचा समाज अवज्ञात हो जाता है और एक के पूजित होने पर समूचा समाज पूजित हो जाता है। इस व्याख्या मे व्यक्ति ममाज से अभिन्न है।

महावीर ने कहा, 'एक साधु का प्राणहरण करने वाला अनन्त जीवो का प्राणहरण करता है।' शिष्य ने पूछा, 'भते! यह कैंमे हो सकता है?' महावीर ने कहा, 'साधु अहिंसक है। उसके अन्त करण मे अनन्त जीवो का हित प्रतिविंवित है। अहिंमा मव जीवो के लिए कल्याणकारी है। अत एक अहिंसक की क्षति सव जीवो की क्षति है।'

महावीर ने व्यक्ति और समाज को विभक्त कर नही देखा। जहा व्यक्ति को विशिप्टता दी, वहा समाज को उसकी पृष्ठभूमि मे रखा और जहा समाज को विशिप्टता दी, वहा व्यक्ति को उसकी पृप्ठभूमि मे रखा। व्यक्ति-निरपेक्ष समाज और समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की परिकल्पना नही की। उन्होने कहा, 'सत्य को स्वय खोजो।' सत्य की खोज व्यक्ति की अपनी विशिप्टता है। जो व्यक्ति केवल दूसरो द्वारा खोजे हुए सत्यो पर विश्वास करता है, वह अध-विश्वासी हो जाता है। वह अपने मे छिपी हुई प्रकाश की शक्ति का कभी उपयोग नही कर पाता। सत्य अपने ही श्रम से खोजा जा सकता है, वह वाजार मे नही मिलता। मिट्टी से घडा वनता है। कोरी मिट्टी से घडा नही वनता। पानी, चाक, कुम्हार के हाथ—यह सारी सामग्री मिलती है, तव घडा वनता है। पर हम इस तथ्य को न भूलें कि घडे का उपादान मिट्टी ही है। शेष सव निमित्त हैं। वे उपादान के होने पर सहकारी वनते हैं और मिट्टी को नया आकार मिल जाता है।

समाज के वातावरण से दूर रहने वाले व्यक्ति मे भाषा, विचार और व्यवहार का विकास नही होता, उसे एक सभ्य मनुष्य का आकार नही मिलता फिर भी हमे उस सत्य की विस्मृति नही होनी चाहिए कि व्यक्ति के विकास का उपादान उसका चैतन्य ही है। समाज एक निमित्त है, जो उपादान को एक नये आकार मे प्रस्तुत कर देता है। मिट्टी को घडे का रूप मिलने मे निमित्तो का कितना वडा

योग है, इसे समझने वाला व्यक्ति के विकास में समाज के महत्त्वपूर्ण योग को अस्वीकार नही करेगा और समाजवादी व्यवस्था का मूल्य कम नहीं आंकेगा।

घडे के निर्माण मे मिट्टी का क्या स्थान है, इसे जानने वाला इस तत्त्व को अस्वीकृति नही देगा कि व्यवस्था की सफलता का सूत्र व्यक्ति-व्यक्ति का हार्दिक समर्थन ही है। उपादान की शक्ति को व्यवस्थित किए बिना निमित्तो की गति व्यवस्थित नही हो सकती।

महावीर ने व्यक्ति को समाज की पृष्ठभूमि पर रखा पर उसके उपादान को कभी विस्मृत नही होने दिया। उन्होने कहा, 'सत्य की खोज स्वय करने पर उसकी परिणति समाज मे करो। सबके साथ मैत्री का व्यवहार करो।'

एक मुनि महावीर के पास आकर बोला, 'भंते ! मै मैत्री के लिए अमुक मुनि से क्षमा-याचना कर रहा हू पर वह मुझे क्षमा नही कर रहा है। भंते ! जब वह मुझे क्षमा नही कर रहा है, अपना आक्रोश प्रकट कर रहा है, तब मुझे उससे क्षमा क्यो मागनी चाहिए ?'

महावीर ने कहा, 'जो क्रोध को उपशान्त करता है, वह अपने लक्ष्य मे सफल होता है और जो क्रोध को उपशान्त नही करता, वह अपने लक्ष्य से भटक जाता है। इसलिए तुम अपने लिए क्रोध को उपशान्त करो। तुमने शान्ति का व्रत स्वीकार किया है। उसका सार है क्रोध को शान्त करना।' समाज-व्यवस्था मे व्यवहार या उपचार प्रधान होता है, सत्य गौण होता है। अध्यात्म की भूमिका मे सत्य प्रधान होता है, व्यवहार गौण होता है। समाज सत्य से विमुख नही हो सकता और अध्यात्म व्यवहार मे। इस वास्तविकता के दर्पण मे समाजवाद और दर्शन अपनी-अपनी कमियो को देख सकते है।

सापेक्षता का फलित

भौतिक सपदा से वचित व्यक्ति दु ख भोगता है, जठराग्नि की ज्वाला को बुझा नही पाता। आध्यात्मिक सपदा से शून्य व्यक्ति क्लेश का अनुभव करता है, मानसिक उलझनो को सुलझा नही पाता। सुखी होने के लिए मनुष्य सपदा को खोजता है। जिसने भौतिक सपदा की खोज की, उसने समाज को अभाव से मुक्ति दिला दी। जिसने अध्यात्म की खोज की, उसने समाज को मानसिक क्लेशो से मुक्ति दिला दी, अन्त करण को आलोक से भर दिया।

महावीर ने समाज के सन्दर्भ मे कहा, 'शस्त्रो का निर्माण मत करो, उनका व्यवसाय मत करो, उनको सज्जित मत करो, उनका दान मत करो।'

व्यक्ति के सन्दर्भ मे कहा, 'उस चित्त को बदलो, जो शस्त्रो का निर्माण करता है। उस चित्त को बदलो, जो जजीरो का निर्माण करता है।'

सापेक्षता : एक अनिवार्यता

द्वन्द्व के जगत् मे रहने वाले हम सब इस बात को न भूलें कि पक्ष की स्वीकृति मे प्रतिपक्ष की स्वीकृति समाहित होती है। नास्तिकता का मर्म समझे बिना हम कहते हैं कि कोई भी मनुष्य दु ख नही चाहता पर सुख चाहने वाला दु ख नही चाहता, यह हम कैसे कह सकते है ? दु ख और सुख का जोडा है। इनमे से किसी एक को चाहने वाला जाने-अनजाने दूसरे को चाहता ही है।

हम कहते हैं कि कोई भी मनुष्य मरना नही चाहता, पर जीने की इच्छा करने वाला मरना नही चाहता, यह हम कैसे कह सकते हैं ? जीवन और मरण एक द्वन्द्व है। इसमे से किसी एक को चाहने वाला जाने-अनजाने दूसरे को चाहता ही है। उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है, 'आत्मा नामक धर्म को अस्वीकार करने वाले चार्वाक दर्शन को हम नास्तिक कहते हैं। पर वस्तु के अनन्त धर्मों को निरपेक्ष मानने वाला कौन ऐसा व्यक्ति या दार्शनिक है, जो नास्तिक नही है। आस्तिकता और नास्तिकता को सापेक्ष मानने वाला ही परमार्थ और व्यवहार को समझ सकता है और उन दोनो भूमिकाओ मे सफल हो सकता है।'

बदलती हुई परिस्थितियां : टूटता हुआ समाज

विचार और विचार, दोनो का समीकरण कभी नही हो सकता। ऐसा कोई भी विज्ञान का फार्मूला अभी सामने नही आया जो विचारो का समीकरण करे। विचारो मे हमेशा तोड और जोड रहता है। यह तोड और जोड की वात सारे विश्व के सचालन की वात है। आचार्य उमास्वामी ने एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र लिखा है—'सघातभेदेभ्यस्तदुत्पत्ति ।' यह सारी सृष्टि न केवल समुदाय से सचालित होती है और न केवल भेद से सचालित होती है। सघात और भेद—ये दोनो साथ-साथ चलते है। हम कहते है, टूटता जा रहा है, विखराव हो रहा है, यह हमारा एक दृष्टिकोण है। कुछ नही विखर रहा है। इस अनत आकाश मे हम जहा जन्मे थे, पचास वर्ष हो गए, क्या यह पृथ्वी वही है? वहुत आगे सरक गई है। हमे पता नही चलता है किंतु वहुत आगे सरक गई है। समय का सारा सौरमण्डल आगे सरकता चला जा रहा है। ये नीहारिकाए आगे सरकती चली जा रही हैं। हम अनत आकाश मे जहा थे, वहा कल नहीं होगे। और जहा कल थे, वहा परसो नही होगे। आगे-से-आगे अनत की ओर वढते चले जा रहे हैं। यह पुरानी धारणा थी और आज यह विज्ञान-सम्मत धारणा भी हो चुकी है।

आगम कहते हैं, 'एक केवली है। उसने अपनी अगुली किसी स्थान पर रखी, क्या दूसरी वार वह अगुली वहा रख सकता है?' नही रख सकता। चाहे वह सर्वज्ञ है किंतु उन्ही आकाश-प्रदेशो मे अपनी अगुली को नही रख सकता। अपने पैर को नही रख सकता। आज विज्ञान ने इस वात की घोषणा कर दी कि हमारी पृथ्वी जहा थी, कल वहा नही रहेगी। परसो वहा नही रहेगी। एक समय मे जो वस्तु जहा थी, वहा रह ही नही सकती। अनन्त और असीम मे वह आगे-से-आगे वढती और चलती जाती है। यह विखराव आखिर एक समुदाय मे होगा। तो यह समुदाय और अलगाव—दोनो वातें साथ-साथ चलती रहेगी।

हजारो वर्षों से आत्मा के अस्वीकार की, मोक्ष, परमात्मा और धर्म के अस्वीकार की उद्घोपणा हिन्दुस्तान मे होती आ रही है। हमारे यहा अनेक आचार्य हुए हैं। आपने वृहस्पति का नाम सुना होगा। वे चार्वाक दर्शन के वहुत वडे विद्वान

आचार्य हुए है। एक ओर श्रामणिक और वैदिक उपनिपदो का उद्घोष हो रहा था तो दूसरी ओर वृहस्पति का भी घोष हो रहा था। वे कुछ स्थापनाए कर रहे थे तो वृहस्पति उनकी उत्थापना कर रहे थे। दोनो धारणाए साथ-साथ चलती थी। मैं समझता हू कि यह सारा दृष्टिकोणो का अन्तर है। यह भूमिकाओ का अन्तर है। यदि कोई भी व्यक्ति वात्स्यायन होगा और कामशास्त्र लिखेगा तो वह कामशास्त्र की स्थापना को मुख्यता देगा, धर्म की सारी धारणाए उसके सामने गौण होगी। कोई कौटिल्य होगा तो अर्थशास्त्र या राजनीतिशास्त्र लिखेगा और वह अपनी वात को मुख्यता से प्रतिपादित करेगा, दूसरी वातें उसके सामने गौण होगी। कौटिल्य यह वात सुझा सकता है कि शत्रु की विशाल सेना को यदि परास्त करना हो तो इस प्रकार के विषैले पदार्थो का समायोजन किया जाए कि जिससे हजारो-लाखो सैनिक एक साथ हतप्रभ हो जाए या मर जाए। कौटिल्य यह सुझा सकता है, क्योंकि यह उसकी भूमिका है। एक समाजशास्त्री यदि अपनी वात कहेगा तो उसके सामने मुख्य दृष्टिकोण यही रखेगा कि जहा धर्म से समाज का विघटन होता हो, वहा धर्म को हमे तिलाजलि दे देनी चाहिए।

एक समाजशास्त्री की भूमिका है, एक राजनीतिशास्त्री की भूमिका है और एक कामशास्त्री की भूमिका है। एक वैज्ञानिक की भूमिका है और एक धर्माचार्य की भूमिका है। अपनी-अपनी भूमिका से सारे लोग वात करते हैं। इसमे कोई उलझन नही है। यह ससार नाना रुचियो, नाना धारणाओ और नाना विचारो का एक पिण्ड है। सव ठीक है। अपने-अपने दृष्टिकोण से सव ठीक हैं। भूमिकाओ के जो भेद हैं, उन्हे हम ठीक से नही समझेंगे तो वहुत उलझन मे पड जाएगे।

धर्म शव्द इतना जटिल वन गया है कि वह आज हमे वडी उलझन मे डाल देता है। वह धर्म है—हमारे समाज की धारणा। जो समाज की धारणा के लिए धर्म है, उसका मूल 'अर्थ' होगा। वहा अगर अर्थ की उपेक्षा की जाएगी, अर्थ को गौण किया जाएगा तो धर्म नष्ट होगा, समाज नष्ट होगा और जाति नष्ट हो जाएगी। किन्तु इस धर्म का कानून से अधिक कोई मूल्य नही है। मनुजी ने जो लिखा वह धर्मशास्त्र है। वृहस्पति ने जो लिखा वह भी धर्मशास्त्र है, नारद ने लिखा वह भी धर्मशास्त्र है, कौटिल्य ने लिखा वह भी धर्मशास्त्र है। यह है अर्थमूलक धर्म की धारणा। विचार के स्तर पर जो भी चिन्तन हुआ है, लिखा गया है, वह सारा-का-सारा कानून का शास्त्र है, विधि-विधान है। सविधान को वदला जा सकता है, धर्म की धारणाओ को भी वदला जा सकता है, कोई कठिनाई नही है। और मैं तो यह मानता हू कि जो भी मनुष्य ने कहा, वह वाणी के द्वारा कहा गया, वाणी के विना कोई प्रतिपादन नही किया जा सकता और वाणी के द्वारा कहा, वह कुछ भी अपरिवर्तनीय नही होता। जो वात चाहे महावीर ने कही, वुद्ध ने कही, कृष्ण ने कही, ईसा ने कही, या दुनिया के किसी भी महापुरुष ने कही, और अपनी

वाणी के द्वारा कही, वह कभी अपरिवर्तनीय नही होती। कोई भी शास्त्र अपरिवर्तनीय नही हो सकता। तर्कशास्त्र का यह नियम है कि जो-जो कृत होता है—किया जाता है, वह अनित्य होता है, जैसे कि घडा। घडा कभी नित्य नही हो सकता। क्यो नही हो सकता ? इसका तर्कशास्त्र ने उत्तर दिया—जो-जो मनुष्य के द्वारा कृत है, वह अनित्य होता है। कृतक कभी नित्य नही हो सकता, जैसे कि घडा, जैसे कि कपडा और जैसे कि शास्त्र। कोई अन्तर नही है। मनुष्य का किया हुआ अनित्य होगा। किन्तु क्या हम इस बात को अस्वीकार करें कि इस सृष्टि मे कुछ ऐसा भी है, जो कृत नही है। आकाश अकृत है। वह किया हुआ नही है। किसी ने आकाश को बनाया नही है और जो बनाया नही गया है, वह नित्य होगा। उसमे कोई परिवर्तन नही कर सकता।

आप धर्म की धारणाओ को दो भागो मे बांट दीजिए, दो दृष्टिकोणो से देखिए। एक धर्म की धारणा वह है जो नियमबद्ध, व्यवस्थाबद्ध है और संगठनबद्ध चलती है। उसका निर्माण मनुष्य ने किया है। वह कभी शाश्वत नही हो सकती। आचार्यश्री तुलसी जो बार-बार धर्मक्रान्ति की बात कहते हैं, उनका यदि आप आशय समझें, हृदय समझें तो यह समझें कि हम धार्मिको ने यह मान लिया कि जो नियम एक बार बन गया, वह लोह की लकीर हो गया। यह कभी सत्य नही हो सकता। नियम बनाने वाला व्यक्ति है, फिर चाहे भगवान् महावीर हो, चाहे आचार्य भिक्षु हो और फिर चाहे आचार्य तुलसी हो, कोई भी हो, बनाने वाले आदमी हैं, व्यक्ति हैं और व्यक्ति जो बनाता है, वह कभी त्रैकालिक नही हो सकता, शाश्वत नही हो सकता। वह हमेशा परिवर्तनशील होगा।

किन्तु एक बात और है। वह है अकृत की, जिसे मनुष्य ने नही बनाया है, जिसका निर्माण मनुष्य ने नही किया है। सही अर्थ मे धर्म की धारणा वही उत्पन्न होती है। जिस धर्म को मोक्ष से सम्बद्ध मानते हैं-उनकी धारणा शाश्वत मे ही होती है। जिस धर्म को समाज से सम्बद्ध मानते हैं, उसमे बहुत कुछ बदलाव होगा, मनुष्य के जीवन मे बहुत बदलाव होगा। और मनुष्य के किये हुए मे जहा परिवर्तन नहीं होता है, वहा दुनिया के सन्दर्भ का इतिहास भी नही होता है।

धर्म के नाम पर भी बहुत कठिनाइया हैं। आत्मा, परमात्मा, धर्म और ईश्वर के नाम पर भी दुनिया में कम कठिनाइया उत्पन्न नहीं हुई हैं। बहुत हुई हैं। धर्म ने शायद इतने अनर्थ दुनिया मे किए हैं, जितने अधर्म के नाम पर शायद हुए हो या नहीं हुए हो। धर्म ने ये सारी कठिनाइया पैदा की हैं। वह क्यो की ? इसलिए कि हमारा आग्रह असत्य की ओर चला गया। हम धर्म के नाम पर असत्य को पोषण देते रहे। जो परिवर्तनशील थे उन्हे शाश्वत का रूप देते रहे।

एडीसन ने लिखा है कि उनके मित्र सर रोजर, जो चर्च मे जाते थे, एक बार आगे चले। बच्चे ही थे। सर रोजर ने लोगो से पूछा, 'सेन्ट मेरी लेन का रास्ता

कौन-सा है?' वे थे रोमन कैथोलिक और सामने मिल गया कोई प्रोटेस्टेंट। उसने कहा, 'ओ छोकरे! पोप के कुत्ते के वच्चे! मेरी को किसने सेंट वनाया? वह कव से सेंट वन गयी?' रोजर वेचारा डर गया। उसने सोचा, क्या मुसीवत आ गयी? मैंने तो पूछा था रास्ता और मिल रही हैं गालिया। आगे चला। थोडी दूर जाने के वाद फिर पूछा, 'मेरी लेन जाने का रास्ता कौन-सा है?' सामने वाला मिल गया रोमन कैथोलिक। उसने कहा, 'वेवकूफ कही के! तुम्हारे जन्म से पहले मेरी सेंट हो गयी थी और तुम्हारे मरने के वाद भी वह सेंट रहेगी। क्या तुम्हे सेंट कहते हुए सकोच होता है?' रोजर ने सोचा, वडी मुसीवत आ गयी। अव क्या पूछे? अव पूछते हैं कि भई! इस गली का नाम क्या है? और इस प्रकार पूछते-पूछते वे गन्तव्य स्थान तक पहुचे।

सेंट मेरी कहते है तव भी मुसीवत और सेंट मेरी नही कहते है तव भी मुसीवत। आखिर इस गली का नाम क्या है? इस गली का नाम क्या है? यह पूछना पडता है। यह उन्माद किसका था? यह था धर्म के सगठन का। धर्म का सगठन होता है उसकी व्यवस्था का सचालन करने के लिए किन्तु धर्म की धारणा उसी मे जमा हो जाती है, उसी मे निहित हो जाती है और कठिनाइया पैदा हो जाती हैं। मैं इस वात का समर्थन भी करना चाहता हू कि जो धर्म की धारणा समाज के स्तर पर चल रही है, वह सचमुच आज के युवक को भटकाने वाली है। मैं यह कहना भी चाहूगा कि जहा सामाजिक विकास का प्रश्न, वहा धर्म, आत्मा, परमात्मा की वात मुख्य हो जायेगी तो समाज का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। किन्तु यह एक दृष्टिकोण है। जहा इस दुनिया मे वस्तु के अनन्त धर्मों पर विचार करने वाले अनन्त दृष्टिकोणो का सगम होता है, वहां एक को मानकर चलेंगे तो भी उलझन आ जाएगी। कठिनाई आएगी। रूस ने जव धर्म की अस्वीकृति की घोषणा की तव एक अमरीकन भविष्यवक्ता वहा गए। वहा का अध्ययन किया और अध्ययन करने के वाद उन्होने कहा, 'जो रूस आज धर्म की अस्वीकृति की घोषणा कर रहा है, चालीस वर्ष के वाद यही से वैज्ञानिक धर्म का उदय होगा।' आज मुझे लगता है कि जिस प्रकार वहा सूक्ष्म रहस्यो की खोज की जा रही है, शायद उपनिषद् उसके साथ नही चल पाएगे, आगम उसके साथ नही चल पाएगे। इतनी सूक्ष्म वातो पर प्रकाश डाला जा रहा है कि स्वय हम लोगो को आश्चर्य होता है।

क्या हम अनन्त धर्मों का प्रतिपादन कर सकते हैं? कभी नही कर सकते। हम जो कुछ भी करते हैं, एक भूमिका से, एक दृष्टि से करते हैं, एक दृष्टिकोण को आप एक दृष्टिकोण ही मानें, उसे सर्वांग न मानें। हमारे जीवन मे अगर कोई सुलझाव लायेगी तो यही वात ला सकती है। क्राति की वात सुनते है तो हम क्राति की वात करने लग जाते हैं। हमे यह पता नही कि क्राति कैसे होती है? और क्राति के पीछे फिर क्या-क्या चाहिए? कुछ लोग एक वात को पकड लेते हैं और उसके

पीछे चलते जाते हैं। धर्म मे जाते हैं तो फिर यह चिन्ता नही रहती कि कमाने की आवश्यकता है या नही ? पुरुषार्थ को भी भुला देते हैं। हमे स्याद्वाद की दृष्टि से सोचना चाहिए। हमने काल को ही महत्त्व नही दिया, क्षेत्र को भी महत्त्व दिया है, कर्म को भी महत्त्व दिया है, आत्मा और परमात्मा को भी महत्त्व दिया है। दूसरी ओर से चलें तो हमने मबको अस्वीकार किया है। काल का कोई महत्त्व नही, आत्मा का कोई महत्त्व नही, धर्म का भी कोई महत्त्व नही है, अगर भूमिका-भेद मे न मोचें तो। हम दोनो दृष्टियो से चलें, एक ओर स्वीकार की भाषा मे चलें तो दूसरी ओर अस्वीकार की भाषा मे चलें। हम मोक्ष की बात को भी अस्वीकार कर मकते हैं, कोई कठिनाई नही है।

आचार्यश्री के पास जोधपुर मे एक व्यक्ति आया और बोला, 'महाराज ! मेरा लडका गुम हो गया है। क्या करू ?' आचार्यश्री ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की, 'कितने वर्ष का था, कब गुम हुआ, कैसे हुआ ?' दो क्षण रुकने के बाद वह व्यक्ति बोला, 'महाराज ! लडका गुम हो गया। अब उसे खोजू तो पुण्य होगा या पाप होगा ?' आचार्यश्री ने समझ लिया कि इमका लडका गुम नही हुआ है बल्कि दूसरी बात है। दो क्षण रुकने के बाद आचार्यश्री ने पूछा—'तुमने पैदा करते ममय तो मुझसे नही पूछा था कि इसमे पुण्य होगा या पाप होगा ? अब पूछने आए हो कि लडका गुम हो गया, उसके खोजने मे पुण्य होगा या पाप होगा ?'

आज के समग्र धार्मिक दृष्टिकोण को इस छोटी-सी घटना से समझ मकते हैं। आज आत्मा, परमात्मा और धर्म के अस्वीकार की बात क्यो आ रही है ? आज के धार्मिक पर इतनी राख आ गयी है कि एक बार बिना क्रांति के उस राख को हटाया नही जा सकता। हमारे निकट के श्रावको ने भी कभी-कभी हमे नास्तिक और साम्यवादी कहा है। एक दृष्टिकोण से इसे मैं शुभ मानता हूं परन्तु परिपूर्ण नही मानता। अध्यात्म की भूमिका का तिरस्कार नही किया जा सकता। सूक्ष्म रहस्यो को कभी भी मिटाया और भुलाया नही जा सकता।

धर्म और विज्ञान

एक पक्षी कुए की मेड पर आकर वैठा। कुए मे मेढक था। मेढक ने उस पक्षी को देखा और पूछा, 'कहा से आया है।' पक्षी ने उत्तर दिया, 'मानसरोवर से।' 'कितना वडा है तुम्हारा मानसरोवर'—मेढक का अगला प्रश्न था। एक छलाग भरी—'इतना वडा ?' 'नही और वडा।' फिर कूदा—'क्या इतना वडा ?' नही—और वहुत वडा।' पूरे कुए का चक्कर लगाया। 'क्या इतना वडा ?' नही—'और वहुत वडा।' मेढक वोला, 'झूठ वोलता है। मेरे घर से वडा तुम्हारा मानसरोवर नही हो सकता।' पक्षी ने सोचा—जव मूर्ख से पाला पडे तो भाग जाना ही अच्छा है। वह उड गया। कवि कहता है, 'जो नीचे रहने वाला होता है, जिसने कुए के वाहर जाकर इस दुनिया को नही देखा, जिसने अपनी सीमा को तोडकर विराट् सत्य को नही देखा, वह इतना अहकारी वन जाता है कि वह समझता है जो मेरी रेखा है वही सत्य है। उसके सिवाय दुनिया मे कोई सत्य नही।'

हर आदमी जो अल्पज्ञ होता है, वह यही सीमा वना लेता है कि जो मैंने जाना, वही सत्य है। अगर यह न हो तो कोई साम्प्रदायिक विवाद ही नही हो सकता। सारे साम्प्रदायिक विवाद इसी कारण चलते हैं कि अपने सम्प्रदाय मे जितना सत्य जाना उसी को अन्तिम सत्य मान लिया। यह मान लिया कि उसके आगे कोई सत्य हो ही नहीं सकता। यह सवसे वडा अज्ञान है। एक वार सुकरात के पास कुछ लोग आए और वोले, 'आकाशवाणी हो रही है कि सुकरात आज की दुनिया का सवसे वडा विद्वान् है।' सुकरात ने कहा, 'यह वाणी झूठी है। तुम कह दो यह गलत है।' लेकिन फिर आकाशवाणी हुई कि नही, सुकरात ही आज का सवसे वडा विद्वान् है। तीन वार लौटा दिया लेकिन नही माने। सुकरात ने अन्त मे कहा, 'अच्छी वात है, मैं मानता हू। मुझे मेरे अज्ञान का पता है। सवसे वडा ज्ञानी वह होता है जिसे अपने अज्ञान का पता है। जिसे अपने अज्ञान का पता नही होता और जो अपने आपको सवसे वडा ज्ञानी मान लेता है, वह शायद सवसे वडा मूर्ख होता है।'

लोग मान वैठे है कि यह कलिकाल है। कलिकाल मे तो वुराइया हैं। मैं सवसे पहले इसका खण्डन किया करता हू। हम अपनी वुराइयो को काल पर मढ देते

हैं और अपने आपको बचा लेते हैं। कितनी बड़ी भ्राति है। कौन-सा कलिकाल! कौन-सा सतयुग! जो बुराइया आज हैं वे सतयुग मे भी थी, शायद सतयुग मे इनसे ज्यादा बुराइया थी। दो हजार, चार हजार वर्ष पुराने किसी भी ग्रथ को उठाकर देख लें। मुझे तो लगता है पुराने जमाने मे आदमी जितना क्रूर था, उतना क्रूर शायद आज नही रह पाया है। उस जमाने मे भी मिलावट होती थी खाने की वस्तुओ मे, क्रूर व्यवहार होता था मानव से, पशुओ से। अगर हम इतिहास को जाने, अगर हम प्राचीन साहित्य का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि जिसको हम सतयुग मानते हैं, वह शायद हमारे कलिकाल मे भी बुरा था।

आज कुछ भी ऐसा नही है जो नही हो सके। पर हम निराश पहले ही हो जाते हैं। सबसे बुरी बात है। जब यह मानकर बैठ गए कि आज तो कलिकाल है, केवल नाम जपो, भक्ति करो इसके अलावा कुछ करने का अधिकार नही है तो फिर कुछ होने की सम्भावना भी नही है। हमने दरवाजे तो पहले ही बन्द कर दिए तो फिर कहा से कुछ होगा।

मैं यह मानता हू, आज प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है, अतीन्द्रिय ज्ञान भी हो सकता है। हमारी बहुत सारी सुप्त शक्तियो को भी हम जगा सकते हैं। हम दीन नही हैं, दरिद्र नही हैं जो मागते ही चलें। हम कर सकते हैं। पर सम्भावनाओ के दरवाजो को पहले खोलने की आवश्यकता है। यह मानकर न बैठ जाए कि आज कुछ नही हो सकता। अगर इतना आत्म-विश्वास जाग जाए तो कुछ भी असभव नहीं है।

मुझे धर्म बहुत प्रिय है किन्तु साथ मे विज्ञान भी उतना ही प्रिय है। मैं धर्म को एक वैज्ञानिक दृष्टि से देखता हू। विज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताए हैं—प्रयोग और परीक्षण। धर्म एक विज्ञान है। धर्म सत्य है और विज्ञान भी सत्य है। पहले प्रयोग और परीक्षण—दोनो धर्म के साथ जुड़े हुए थे। आज न प्रयोग है और न परीक्षण। आज का धार्मिक मानता है—अहिंसा अच्छी चीज है। किसी जैन से पूछा जाए कि अहिंसा क्यो अच्छी है, तो उत्तर मिलेगा महाराज कहते हैं, अमुक ग्रथ मे लिखा है। अरे, महाराज कहते हैं यह तो बहुत अच्छी बात है, पर तुम्हारा भी कुछ अनुभव कहता है? उत्तर मिलेगा—मेरा कोई अनुभव नही है। अनासक्ति योग बहुत अच्छा है। किसी गीता-प्रेमी से पूछा जाए कि अनासक्ति योग कैसे अच्छा है तो कहेगा कि गीता मे लिखा है। अरे, तुम्हे भी कोई अनुभव है? नही, गीता मे ही लिखा है। केवल मानकर चलने लगा है आज धर्म। इसीलिए धर्म की तेजस्विता खत्म हो गयी, धर्म की शक्ति क्षीण हो गयी और धर्म एक मान्यता का हो गया। इतनी मान्यताए हो गयी जिनका कोई अन्त नही है। जब तक कोई बात मान्यता पर चलती है तो शब्दो की पकड़ बन जाती है। मान्यता पर चलने वाला तत्त्व कभी एक वैज्ञानिक दृष्टि वाले व्यक्ति को आकर्षित

नही कर सकता। आज के वौद्धिक और वैज्ञानिक युग मे धर्म के प्रति जो एक अरुचि का भाव जगा है, आज के पढे-लिखे युवक के मन मे धर्म के प्रति आकर्षण नहीं, उसका कारण है कि धर्म कोरा मान्यता का ढेर वन गया है। और जव मानने की वात हो तो मानने तक रुक जाती है। अनुभव की वात को तर्क नही काट सकता।

एक नौकर था वेश्या के घर। एक वार कोई स्थिति आयी। रात का समय। काफी अधेरा हो गया। वेश्या ने नौकर से कहा, 'घी ले आओ वाजार से।' नौकर ने कहा, 'कैसे जाऊ, डर लगता है, वाहर वहुत अधेरा है। मुझे वहुत डर लगता है। मैं तो नही जा सकता।' वेश्या ने कहा, 'अरे, डर कुछ भी नही होता। तुम मान लो, डर कुछ भी नही होता इस दुनिया मे। तुझे डर नही लगेगा।' क्या करे वेचारा नौकर, विवश था। मालकिन का आदेश जो था। गया। दो-चार सीढिया ही उतरा होगा कि अधेरा आ गया, डर लगा और वापस दौड आया। मालकिन के पास आकर वोला, 'तुम कुछ भी कहो, मुझे तो डर लगता है, मैं तो नही जा सकता।' मालकिन ने फिर समझाया। कहा, 'तुम वहुत भोले हो। दुनिया मे डर नाम की कोई चीज नही होती, ऐसा मान लो।' वहुत दवाव दिया। आखिर नौकर था, फिर चला। पाच-दस कदम गया और फिर दौड आया। वेश्या ने फिर लम्वा उपदेश दिया। उसने एक ही सूत्र पकडा दिया कि तुम मान लो, दुनिया मे डर नाम की कोई चीज नही है। वेचारा वहुत परेशान था। नीचे गया और ५-७ मिनट मे वापस लौट आया। वर्तन भरा हुआ मालकिन के सामने रख दिया—लो तुम्हारा घी। उसने देखा और कहा कि इतनी जल्दी कहा से ले आए? नौकर ने जवाव दिया, 'इसमे तुम्हे क्या मतलव! ले आया, ले आया—देख लो। ढक्कन उठाकर देखा तो पीला-पीला रग। थोडा सूघा तो वदवू आयी। चखा तो कडवा। छी-छी, यह क्या ले आए? कुछ भी नही, घी है। यह घी नही है यह तो मूत्र लगता है। (वास्तव मे वह नीचे खडे एक गधे का मूत्र ही भरकर लाया था।) नौकर ने कहा, 'तुम मान लो यह घी है।' वेश्या ने कहा, 'जव घी नही है तो मैं कैसे मान लू कि यह घी है?' नौकर ने कहा, 'मुझे जव डर लगता है तो कैसे मान लू कि डर नही है?'

मानने की वात मानने से कट जाती है। हमारे जितने भी तर्क चलते हैं वे सारे मान्यता के आधार पर चलते हैं। यदि मान्यता की वात नही होती तो आज इतने तर्कों का जाल नही विछता।

जहा मानने की वात है वहा एक तर्क दूसरे तर्क को काट देता है। एक महिला वाजार गयी और वढिया साडी ले आयी। पति ने कहा कि मैंने कहा था कि वढिया साडी मत लाना। पत्नी ने कहा मैं जानती थी कि मुझे वढिया साडी नही लानी है लेकिन मैं क्या करू। अपनी पडोसिन साथ हो ली। उसकी आमदनी

हमसे बहुत कम है। जब उसने बढिया साडी खरीदी तो मुझे भी खरीदनी पडी।

तर्क का क्या! तर्क हर बात के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। आज तर्क सबसे बडा खतरा बन गया है। बुद्धि जो समस्या को सुलझाने के लिए थी सबसे बडा खतरा बन गयी। आदमी मानकर चलने लगा। मैं मानता हू, छोटे बच्चो को मानने की आवश्यकता होती है। अपनी बुद्धि जब तक पूर्ण विकसित न हो तब तक मानने की आवश्यकता है। पर बच्चा जब बडा हो जाए। ५०-६० वर्ष का हो जाए तब भी मानता चला जाए, यह बात समझ मे नही आती। आज जो व्यक्ति धर्म शुरू करता है और ग्रथ की बात मानकर चलता है, यह बात समझ मे आती है। लेकिन ५०-६० वर्ष हो जाए धर्म करते-करते और फिर भी मानता चला जाए, लगता है बचपन कभी छूटता ही नही। मैने अनुभव किया है कि जब तक धर्म के साथ विज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण बातें—प्रयोग और परीक्षण नही जुडेंगी तब तक धर्म का भला नही होगा। हम प्रयोग करें, परीक्षण करे। देखें तो सही। आज पचास वर्ष हो गए धर्म करते-करते, क्या परिवर्तन आया जीवन मे? क्या गुस्सा कम हुआ? आदत बदली? सस्कार बदला? नशे की आदत मे कोई परिवर्तन आया? काम-वासना मे कोई परिवर्तन आया? कुछ कम हुआ तो बहुत अच्छी बात है। अगर नही तो फिर क्या हुआ? मैं आपसे एक प्रश्न पूछू, 'क्या मन की चचलता कम हुई? चित्त स्थिर बना? प्रभु का नाम लेते हैं, भजन-चितन करते हैं, आराधना करते हैं, उपासना करते हैं। जो भी क्रिया-काण्ड करते हैं क्या मन उस पर टिकता है? एक विषय पर पाच मिनट तो टिकता होगा। अभी तक तो मुझे यही उत्तर मिलता है—पाच मिनट तो क्या पाच सेकेण्ड भी नही टिकता। दुकान पर बैठते हैं तो मन फिर भी टिक जाता है पर माला फेरने बैठते है तो मन इतना चचल हो जाता है कि जो बातें कभी याद नही आती वे याद आती हैं।

मेरा दूसरा प्रश्न होता है कि तो फिर धर्म कैसे हुआ? जब मन ही नही टिकता, चेतना ही नही टिकती तो फिर धर्म कौन करता है, शरीर या चेतना? ये अगुलिया धर्म करती है या चित्त? धर्म करने वाला है हमारा चित्त, हमारी चेतना। वे जब टिकते नहीं तो धर्म कौन करता है?

जब धार्मिक ने पहला पाठ नही पढा कि मन की चचलता कैसे कम करू तो धर्म क्या हुआ? हम लोग बहुत आगे की बात करते हैं—आत्मा, परमात्मा, सृष्टि, द्वैत, अद्वैत, स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, मोक्ष। किन्तु जिन चर्चाओ को समझने के लिए चित्त की स्थिरता चाहिए वह हमे प्राप्त नही होती। कुजी तो हमे प्राप्त ही नही है तो इतने बडे-बडे तालो को कैसे खोलेंगे।

आज धर्म के साथ प्रयोग जोडने की आवश्यकता है। यदि धर्म के साथ प्रयोग नही जुडा तो धर्म निर्जीव हो जाएगा। आज धर्म का गुरु अपने शिष्य को कहता है, 'गुस्सा मत करो, नशा मत करो, शराब छोडो, मास छोडो। पर अगर प्रश्न

आए कि कैसे छोड़ू तो वहुत वडी समस्या हो जाती है। एक भाई ने अपना अनुभव सुनाया। उसने कहा, 'मैं अपने गुरु के पास गया। मैंने कहा मुझे वहुत गुस्सा आता है। सारे परिवार का वातावरण दूषित हो जाता है। मैं अपने आपको सम्भाल नही पाता। फिर पश्चात्ताप भी वहुत करता हू। पर क्या करू, जव समय आता है तो अपना भान भूल जाता हू। आदत-सी पड गयी है। सारे परिवार मे कलह है, आप कोई उपाय वताए?' गुरु ने कहा, 'भाई! सूरज चाहे पूरव से पश्चिम मे उग जाए, लेकिन आदमी की आदत नही वदलती।' जव यह उत्तर मिला तो वेचारे निराश हो गए। जिस धर्म मे मानव की आदत न वदले, स्वभाव न वदले उस धर्म का भार ढोने की क्या आवश्यकता है? वह व्यक्ति पहले शिविर मे वीकानेर मे रहा। उसने अपने गुरु महाराज से जाकर कहा कि महाराज मेरा ५० प्रतिशत गुस्सा छूट गया। इस वार उसने कहा कि मेरा ९० प्रतिशत गुस्सा छूट गया है।

तर्कशास्त्र का एक नियम है कि कारण है तो कार्य होगा। यह नही हो सकता कि कारण हो और कार्य न हो। धर्म एक कारण है वुराइयो को छुडाने का, आदतो को वदलने का। जव धर्म है तो आदतें निश्चित वदलेंगी। अगर वुराइया नहीं छूटती, आदत नही वदलती तो यह समझ लेना चाहिए कि हम धर्म के नाम पर कुछ और ही कर रहे हैं। दवाई के नाम पर कुछ और ही खाया जा रहा है। या तो वह डॉक्टर अच्छा नहीं है, या दवाई मे कोई मिलावट है या लेने वाला पथ्य का सेवन नही करता है। तीनो मे एक वात तो होनी ही चाहिए। दवाई ले रहे है और वीमारी नही मिट रही है, यह नही हो सकता। साधन अपना काम ठीक करता है। जव साधन ही गलत हो तव कैसे काम हो।

एक तिव्वती कहानी है। आदमी शराव पीने मदिरालय मे गया। शराव पीने के वाद नशे मे चूर हो गया। चला। लालटेन लेकर आया था। लालटेन लेकर चला। अधेरी रात थी। रास्ता नही दिखाई दे रहा था। वोला, 'देखो कैसा घोर कलिकाल आ गया है कि लालटेन ने प्रकाश देना वन्द कर दिया है। थोडा आगे चला। गढा आया। गढे मे गिर गया। अधेरा और नशे मे चूर। लालटेन ने प्रकाश देना वद कर दिया था। और गालिया दी। लडखडाता हुआ घर पहुचा। सो गया। सुवह उठा। कुल्ला कर रहा था तव मदिरालय का वेरा आया। उसने एक चिट हाथो मे पकडा दी। उसमे लिखा था, 'महाशय! आज रात आप हमारे मदिरालय मे शराव पीने आए थे। आप जाने लगे तो अपनी लालटेन छोड गए एव हमारे तोते का पिंजडा ले गए। कृपया वह पिंजरा लौटा दीजिए। यह आपकी लालटेन सम्हाल लें।'

क्या तोते का पिंजडा भी प्रकाश करेगा? जो प्रकाश का साधन नही, वह प्रकाश कैसे करेगा? जो शुद्ध साधन नही, जो सचमुच धर्म नही वह कल्याण कैसे

करेगा ? अगर तोते का पिंजरा ही हाथ लग जाता है हमारी मूर्छा के कारण, मन की घोर चचलता के कारण तो फिर जीवन आलोकित कैसे होगा ? जीवन में प्रकाश की रश्मिया कैसे फूट पाएगी ? कैसे जीवन प्रकाशित होगा ? अगर वास्तव मे धर्म है तो जीवन सचमुच प्रकाशित होना चाहिए और आलोक मे भर जाना चाहिए।

मैंने धर्म को विज्ञान के सदर्भ मे इसलिए समझने का प्रयत्न किया है कि आज धर्म की जितनी अच्छी व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि से प्राप्त हो सकती है उतनी केवल मान्यताओ के आधार पर नही हो सकती। हमारे शरीर की इतनी व्यवस्थाए हैं, जितनी बुराइयो की, उतनी बुराइयो को मिटाने की। इतने अपार रहस्य हैं शरीर के। मुझे आज १०-१५ वर्ष हो गए पढते-पढते। अभी तक मैं नहीं कह सकता कि मैंने शरीर के पूरे रहस्यो को जान लिया है। मैं शुरु से ही दर्शन का विद्यार्थी रहा हू। दर्शनो को खूब पढा है। सारे भारत के दर्शनो को पढा। किन्तु जबसे मैंने अपने दर्शन को पढा बिल्कुल नया आयाम मिला। नयी दिशा का उद्घाटन हुआ। व्यक्ति जब तक अपने शरीर के रहस्यो को नही जानता, वह धर्म की ग्रथियो को नही सुलझा सकता। एक डॉक्टर के लिए शरीर को समझना जितना जरूरी है, एक धार्मिक के लिए भी उतना ही जरूरी है। आज अनाटोमी, साइकोलॉजी एव फिजियोलॉजी, जो शरीर विज्ञान की तीन शाखाए हैं उन्हे जब तक धार्मिक नहीं समझेगा वह सच्चा धार्मिक नही बन पाएगा।

धार्मिक लोग कहते हैं कि विज्ञान ने धर्म का सत्यानाश कर दिया और आजकल के युवक धर्मविमुख हो गए हैं। पता नही क्यो ? मेरे पास भिवानी का एक भाई आया और बोला, 'महाराज ! मेरा लडका धर्म नहीं करता। आप जरा समझाइये।' मैंने कहा, 'आएगा तो समझाऊगा।' साय को लडका आया। मैंने पूछा, 'धर्म को क्यो नही मानते ? यहा क्यो नही आते ?' उस लडके ने कहा, 'मैं एकान्त मे बताऊगा।' पिता उठकर बाहर चला गया तब उस लडके ने बताया कि मेरे माता-पिता दिन मे आठ बार महाराज के जाते है फिर भी दिन भर लडाई करते रहते है। अगर लडाइया ही करनी हैं तो महाराज के आने की क्या आवश्यकता। जिस धर्म से मेरे माता-पिता ने कुछ नही पाया, कुछ नहीं सीखा, वैसे धर्म से मतलब क्या है ? मैं समझता हू आज प्रत्येक युवक के मन मे यह प्रश्न है। वह घर के वातावरण को देखता है। वह देखता है कि धार्मिक के जीवन मे क्या परिवर्तन आया। अगर परिवर्तन आता है तो एक धार्मिक की प्रतिमा इतनी सुन्दर बनती है कि देखने वाले का मन स्वय आकर्पित हो जाता है कि मुझे भी धार्मिक बनना चाहिए। अगर धार्मिक की प्रतिमा इतनी सुन्दर नही होती तो देखने वाले के मन मे कोई आकर्पण नही होता।

धर्म करने पर भी सफलता नही मिलती तो तर्कशास्त्र का एक नियम है कि

जिसके करने और न करने से कोई अन्तर न आए तो वह क्रिया हमारे काम की नही। जहर खाने पर भी आदमी न मरे और न खाने से भी न मरे तो उसे छोडने की जरूरत नही। अगर आपका लडका पहले वर्ष फेल हो जाए तो कहेगे निकम्मा है। अगर दूसरी, तीसरी और वीसवी वार भी फेल हो जाए तो क्या उसे आप स्कूल भेजेंगे ? आज का धार्मिक स्वय का निरीक्षण करे और देखे कि वह कौन-सी श्रेणी मे है—पहली मे ही है या दूसरी-तीसरी मे आ गया ? क्या कभी निरीक्षण किया कि जव धर्म करना शुरू किया तव क्या थे और आज क्या हो गए ? वहुत सारे धार्मिक तो यह सोचने का कष्ट भी नही करते होंगे। उन्होने तो एक ही घूटी पी रखी है कि धर्म से परलोक सुधर जाएगा। मुडकर देखने की जरूरत ही क्या है ? क्योकि धर्म ने तो परलोक सुधरना है। धर्म के साथ जव तक यह अवैज्ञानिक दृष्टि जुडी रहेगी, कोरी मान्यता और अन्धकार मे धर्म चलता रहेगा, धर्म तेजस्वी नही होगा।

आज धार्मिको के सामने वडी चुनौती है, वडा प्रश्न है कि धर्म से समाज को क्या मिला ? क्या वदला ? व्यक्ति मे क्या परिवर्तन आया ? सचमुच ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका हम उत्तर नहीं दे सकते।

धर्म के तीन रूप है—१ उपासना और भक्ति, २ नैतिकता एव व्रत—सकल्प-शक्ति, ३ अध्यात्म चेतना का जागरण। धर्म का पहला रूप है नैतिकता, ईमानदारी एव व्रत—सकल्प शक्ति। प्रामाणिक व्यक्ति अगर उपासना करता है, नाम जपता है तो वात समझ मे आती है। किन्तु नैतिकता को विल्कुल तिलाजलि दे दे, अध्यात्म चेतना को छोड दे और कोरी उपासना का मार्ग पकड ले तो मुझे लगता है धर्म की हत्या हो जाती है। आज धर्म तो सारी बुराइयो को ढकने का साधन वन गया है। झूठ को पालने का साधन धर्म वन गया है। कव तक चलेगा ऐसा धर्म ? वहुत खतरा है। इसीलिए हम धर्म को वैज्ञानिक दृष्टि से देखें और देखने की दृष्टि यह हो सकती है कि किस प्रकार शरीरशास्त्रीय एव मानसशास्त्रीय दृष्टि से हम परिवर्तन ला सकते हैं।

तारानगर, १८ दिसम्बर', ७९

धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

एक वार स्वर्ण ने स्वर्णकार से कहा, 'तुम मुझे अग्नि मे डालते हो, इसका मुझे दु ख नही। लोहे से मुझे पीटते हो, इसका भी मुझे विशेप दु ख नही। लेकिन दु ख इस वात का है कि तुम मुझे चिरमियो के साथ तोलते हो। ठीक यही वेदना समझदार व्यक्ति के मन मे होती है। जव वह सुनता है कि धर्म अफीम की गोली है या निकम्मी चीज है। किन्तु मेरी यह मान्यता है कि व्यक्ति श्वास के विना जी सकता है (चाहे कुछ क्षण तक ही सही), लेकिन धर्म के विना दो क्षण भी जीवित नही रह सकता।

धर्म की परिभाषा समझने मे अनेक वार हमारे सामने कठिनाइया आ जाती हैं। दर्शन की भाषा मे धर्म की परिभाषा है—आत्मा की शुद्धि ही धर्म है। साहित्य की भाषा मे धर्म की परिभाषा है—जिसके द्वारा ज्ञान, आनन्द और शक्ति का विकास हो, वही धर्म है। मनोविज्ञान की भाषा मे धर्म की परिभापा है—समता।

प्रश्न है—मनोविज्ञान क्या है? दूसरे के मन के भावो को जानने का साधन ही मनोविज्ञान है। प्राचीन समय मे भारतवर्ष मे योगविद्या का वहुत वडा महत्त्व रहा है। पूर्वाचार्यो ने हजारो वर्षों तक अध्ययन करके अनेको उपलब्धिया प्राप्त की थी। लेकिन मनोविज्ञान एक नयी शाखा है। आज मनोविज्ञान अनेक प्रवृत्तियो मे वहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ है। शिक्षा, स्वास्थ्य एव अन्य अनेक प्रवृत्तियो मे इसकी उपयोगिता सर्वविदित है।

समता धर्म है और विषमता अधर्म। यह एक कसौटी है। एक जमाना था अर्थवाद का। लोग किसी भी चीज को वढा-चढाकर कहते थे। जैसे अगर तुम क्रोध करोगे तो काले हो जाओगे, किसी को पीटोगे तो हाथ मे काटे उग आएगे, पाप करोगे तो नरक मे जाओगे या अमुक काम करोगे तो स्वर्ग मे जाओगे आदि-आदि। लेकिन आज वह स्थिति नही रही। आज का बुद्धिवादी इन वातो का विश्वास नही करेगा। लोकमान्य तिलक को पुस्तको से वेहद प्यार था। उन्होने एक वार कहा था, 'अगर मैं नरक मे भी जाऊ और वहा मुझे पुस्तकें मिल जाए तो मैं स्वर्ग की कामना नही करूगा, वही मेरे लिए स्वर्ग वन जाएगा।' आज

व्यक्ति नरक से डरते नही हैं। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के व्यक्ति बताये हैं—मन्द, मध्यम और प्राज्ञ। तीनो को अलग-अलग तरीको से समझाया जाए। मन्द व्यक्ति को कहे—अगर तुम बुरा काम करोगे, पाप करोगे तो नरक मे जाओगे। मध्यम व्यक्ति को वस्तु-स्थिति समझायी जाए—यह काम बुरा है ऐसा करने से तुम्हारा अहित होगा। और प्राज्ञ व्यक्ति को तत्त्व क्या है, यह समझाने की आवश्यकता है। कौन-सा काम करने से किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी, यह समझ लेने पर प्राज्ञ व्यक्ति स्वत सही मार्ग अपना लेता है।

क्रोध का क्या असर होता है हमारे मन, वचन और शरीर पर? साधारण व्यक्ति स्वय इसका अनुमान नही लगा सकता, किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेपण करने पर हम देखेंगे कि क्रोधी व्यक्ति का रक्त विषमय वन जाता है। क्रोध मे डूवी हुई माता द्वारा वच्चे को स्तन-पान कराने पर कभी-कभी वच्चे की मृत्यु हो जाने के उदाहरण भी सामने आए हैं। घृणा से आतो मे छाले हो जाते हैं, दस्त लगने लगते है। ईर्ष्या से घाव व मुह मे छाले हो जाते हैं। यहा तक कि नव्वे प्रतिशत वीमारिया मानसिक अशुद्धि की उपज हैं और दस प्रतिशत शारीरिक। आयुर्वेद का मत है कि क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या व भय आदि से मन्दाग्नि हो जाती है। जो रस वनता है वह कभी कम और कभी अधिक वनने लगता है, इसके कारण पाचन पर भयकर प्रभाव पडता है। क्रोध, भय, लोभ आदि के दुर्गुणो के कारण अनेक वार मृत्यु तक को जाती है।

इन सव वुराइयो और दुर्गुणो का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक ढग से किया जाए, इसलिए हमे धर्म की ओर मुडना पडेगा। लेकिन केवल रूढि निभाना ही धर्म नही है। सामयिक का अर्थ समझे विना एक मुहूर्त्त तक मुखवस्त्रिका लगाकर वैठे रहना ही सामयिक नही है। सामयिक का अर्थ है समता। मन-रूपी घोडे पर लगाम लगाये विना, वडाई, निन्दा आदि विचारो व राग-द्वेष आदि भावो पर रोक लगाये विना शुद्ध सामयिक का फल भी कहा से प्राप्त होगा?

एक मनुष्य के मन की वात दूसरा मनुष्य ताड लेता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति को देखकर स्वत स्नेह पैदा होता है और कभी-कभी किसी को देखकर भय या दुर्भावना पैदा होती है। हम भावनाओ को चाहे कितना ही दवाए, परन्तु वे अपने आप दूसरे व्यक्ति मे प्रतिविम्वित हो ही जाती हैं। राजा सवारी पर वाजार से जा रहा था। एक वनिये को देखा। राजमहल मे जाकर राजा ने मत्री को वुलाया। आज्ञा दी, 'उस वनिये को देश-निकाला दे दो।' मत्री ने कहा, 'राजन्! विना कसूर किसी को दण्डित करने से प्रजा मे वदनामी फैल जाएगी।' राजा नही माना। मत्री वनिये के घर गया। पूछा, 'क्या काम कर रहे हो?' वनिये ने कहा, 'चन्दन का कारवार है।' मत्री ने वनिये से सारा चन्दन खरीद लिया। वनिया तो यही चाहता था, क्योकि अचानक चन्दन का भाव गिर गया था और आज

उसे मनचाहे दाम मिल गए। दूसरे दिन फिर सवारी निकली। राजा ने उस वनिये को फिर देखा, लेकिन आज उसके मन मे वनिये के प्रति दया के भाव उत्पन्न हुए। राजा ने मत्री से सारी वात कही। मत्री ने वनिये को वुलाया। तुम्हारे मन मे कल और आज जो भी भाव थे, मुझे स्पष्ट वता दो। पहले तो वह टरा, किन्तु अन्त मे उसने कहा, 'मेरे पास चन्दन था। कल आपको देखकर मेरे जी मे आया कि अगर राजा की मृत्यु हो जाए तो सारा चन्दन विक जाए। कल मेरा चन्दन खरीद लिया गया तो मैं निश्चिन्त हो गया। आज आपको देखकर भाव आया—आप चिरायु रहे।' इससे यह स्पष्ट होता है कि एक के मन की भावना दूसरे पर कितना असर करती है।

धर्मशास्त्रियो ने इसीलिए कहा है कि किसी के प्रति वुरा विचार मत लाओ, नही तो आत्मा का पतन हो जाएगा और अकारण उसके साथ शत्रुता हो जाएगी। मन मे जो भी वुरे भाव उठते हैं, तत्काल उनका दमन करो। मानसिक सकल्प-विकल्प के सम्वन्ध मे एक घटित घटना है। एक करोडपति परिवार की महिला अगुली मे हीरे की अगूठी पहने थी। अचानक मन मे एक दिन आया—इस अगूठी को खा जाऊ। आठ-दस दिन वाद सोकर जव उठी तो देखा—अगूठी नही है। खोज की गयी, लेकिन अगूठी नही मिली। अचानक उसे अपनी विगत भावना याद आयी। अपनी सास से सारी वात कही। उसका एक्स-रे करवाया गया। भीतर अगूठी मिल गयी। कहने का तात्पर्य है कि मन की अनेक विचित्र वातें हमारे सामने आती रहती हैं। आवश्यकता है अन्वेषण की कि ऐसा क्यो होता है?

धर्म क्या है? आज के युग मे उसकी परिभाषा सीमित शब्दो मे नही की जा सकती। मूल्य तत्त्व है कषाय-मुक्ति। जो व्यक्ति इससे मुक्त होता है, वही सही अर्थ मे धार्मिक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, हीनभावना की मनोवृत्ति आदि अधर्म हैं। धर्म उनके मन मे टिकता है, जो शक्तिशाली हैं, पवित्र हैं, भय-रहित हैं। अभय धर्म है, समता धर्म है, क्षमाशीलता धर्म है, दूसरो की उन्नति देखकर सवके विकास की इच्छा करना धर्म है, मित्रता की भावना का विकास करना धर्म है। क्रोध नही करना, ऋजुता, सरलता, सन्तोष धर्म है। दुनिया मे कौन समर्थन नही करेगा इस परिभाषा का?

जैन नवकार मत्र का पाठ करता है तो वैदिक गायत्री का। एक मुसलमान कुरान का पाठ करता है तो ईसाई वाइविल का। यह भेद आ सकता है, लेकिन उपर्युक्त वातो के लिए किसी मे अन्तर नही आएगा। ये वातें सम्प्रदायातीत हैं। धर्म हमारे लिए शरण देने वाला है, लेकिन लोग आज धर्म का उपयोग करना नही जानते।

'धार्मिक व्यक्ति वीमार नही हो सकता'—यह एक तथ्य है। तत्काल प्रश्न होता है—साधु-साध्विया वीमार क्यो होते हैं? सीधा-सा उत्तर है—वे सिद्ध तो

नही है। धर्म का पालन तो करते है, लेकिन पूर्णता तो नही आयी है। वे धर्म की ओर वढ रहे हैं। जिस दिन वीतराग की स्थिति पर पहुचेंगे उस दिन वीमारी न आएगी और न टिकेगी। मन की दुर्वलता के साथ वीमारिया आती है। थोडी-सी अव्यवस्था हुई, इन्जेक्शन व दवाइयो की भरमार शुरू हो जाएगी। आदमी उनसे अधमरा तो वैसे ही हो जाएगा। कितना जहर ठूस दिया जाता है वात-वात मे, चाहे वाद मे उसका कितना ही व किसी तरह का उल्टा असर (रिएक्शन) क्यो न हो। होमियोपैथिक के आविष्कारक हेनीमेन ने कहा था, 'मनुष्य की वीमारी उसके मन मे नही, उससे भी गहरी उसकी आत्मा मे है।'

धर्म का विश्लेपण सही दृष्टिकोण से किया जाए तो निश्चित रूप से आपको स्वस्थ व सुखी जीवन विताने का साधन मिल जाएगा। दार्शनिक, साहित्यिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम धर्म को समझें, विपमता को छोडें और समता को ज्यादा-से-ज्यादा ग्रहण करें।

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

"क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?' यह विषय जब सामने आता है तब सहज ही आचार्यश्री तुलसी की कृति का टाइटल सामने आ जाता है—'क्याधर्म बुद्धिगम्य है ?' इस पुस्तक को हिन्दुस्तान के अनेक विद्वानो ने, बुद्धिजीवियो ने, चिन्तको ने पढा है। यह प्रश्न प्राचीन भी है और तरोताजा भी है। सचमुच यह एक प्रश्न है क्योकि मनुष्य के पास जानने के साधन हैं—इन्द्रिय, मन और बुद्धि। गीता मे कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः पर मन.।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु स ।

—भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, 'यदि तू समझे कि इन्द्रियो को रोककर काम रूप वैरी को मारने की मेरी शक्ति नही है तो तेरी यह भूल है, क्योकि इस शरीर से इन्द्रिया परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) और इन्द्रियो से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है।

जिस लक्ष्य को प्राप्त करना होता है उसको प्राप्त करने के बाद अवकाश आ जाता है। जिस तरह उत्तरीय ध्रुव का छोर आगे देखा नही जा सकता है, क्योकि वह श्वेत बर्फ से ढका हुआ है, वहा पर व्यक्ति सर्दी से ठिठुर जाता है—ठीक उसी प्रकार सूक्ष्म सत्य की अभेद दीवार को चीरकर पार तक नही देखा जा सकता। क्या इस समस्या को बुद्धि के द्वारा हल किया जा सकता है ? हम बुद्धि के द्वारा ही बुद्धि का अतिक्रमण करते हैं। उससे आगे चले जाते हैं और बुद्धि का प्रामाण्य स्थापित करना चाहते हैं, बुद्धि को ही निर्णायक बनाना चाहते हैं। मैं मानता हू कि बुद्धि एक सशक्त साधन है किन्तु अनुभव उससे भी बडा है।

आज का युग वैज्ञानिक युग है। उसमे हरेक बात प्रयोगसिद्ध की जाती है। कसौटी पर सिद्ध होने पर ही उसको प्रामाणिक मानते हैं। हमने यह क्यो मान लिया कि बुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक है। जहा बुद्धि को अनुभव की कसौटी पर नही कसा जाता वहा अवश्य ही कठिनाई पैदा होती है। एक सत्य

घटना है—

एक इजीनियर अपने परिवार सहित गाव से शहर की ओर जा रहे थे। रास्ता कच्चा था। शहर और गाव के बीच मे एक बड़ी नदी पडती थी। नदी मे पानी का सतह गहरा था। सब रुक गए। इजीनियर ने सोचा कि मैं अभी देखता हू कि नदी मे चलकर उसको पार किया जा सकता है या नही ? घरवालो ने मना किया। किन्तु साहब ने किसी की बात नहीं सुनी। इजीनियर ने पहले पानी की गहराई को नापा और पश्चात् परिवार वालो की सख्या की गिनती की। गणित के हिसाब से अनुपात निकाला। अनुपात के अनुसार हल निकला कि नदी को पार किया जा सकता है। उसने पिता, माता और छोटी बहन से नदी को पार करने के लिए कहा। सबने आनाकानी की, परन्तु विशेप आग्रह पर नदी मे उतरने का तय किया। पिता, माता और बहन नदी मे उतर गए। नदी की धारा मे कुछ तेज बहाव आ गया और वे तीनो उसमे बह गए। अब वह घबराने लगा और उसने तत्काल हिसाब को देखा, किन्तु हिसाब ठीक था। वह गुनगुनाने लगा, 'हिसाब ज्यो का त्यो, कुनवा डूबा क्यो ?'

यह था बुद्धि का अतिक्रमण ! बुद्धि एक सशक्त साधन है, किन्तु अनुभव उससे बडा है। बुद्धि एक तेज धार के समान है, उसमे खतरा भी है। हमने बुद्धि को तो सर्वश्रेष्ठ मान लिया तथा अनुभव और प्रयोग को गौण कर दिया।

मन, बुद्धि और इन्द्रिया—ये परोक्षानुभूति की भूमिका मे हैं। हमने परोक्षानुभूति को तो प्रमुख मान लिया और प्रत्यक्षानुभूति को भुला दिया। जहा हमारा अनुभव नही होता वहा ज्ञान भी स्पष्ट नही होता। जहा सूक्ष्मता से नहीं देखा जाता वहा परोक्ष का क्षेत्र होता है। इन्द्रिया, मन और बुद्धि—ये सब परोक्ष ज्ञान की मर्यादा मे आते हैं। उसमे हमारा अनुभव नही रहता है। दु ख इसी बात का है कि हम भारतीयो ने स्वसवेदन और प्रातिभज्ञान को तो भुला दिया और केवल बौद्धिक ज्ञान को प्रमुखता दे दी। जब भी हम आगे पहुचने की कोशिश करते हैं तो बीच मे ही अटक जाते हैं, क्योकि हमारे पास आगे अवकाश नही है। हमे केवल बुद्धि ही इष्ट है, अनुभव, प्रत्यक्षानुभूति नही। आचार्य सिद्धसेन ने मीमासा करते हुए लिखा है—

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमे य आगमियो।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धतविराहओ अन्नो ॥

—'जो व्यक्ति आगम के क्षेत्र मे श्रद्धा से काम लेता है, तर्कवाद मे तर्क से काम लेता है वही सम्यग् निरूपण करने वाला होता है।'

ठीक उसी तरह मनुस्मृति मे भी लिखा है—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स वेदं वेद नेतर.।

—'जिसने तर्क के द्वारा जानना चाहा उसने जाना।'

यह तर्क, वुद्धि—सव परोक्ष की भूमिका मे चलते हैं। हमारे सामने प्रश्न है—'क्या धर्म वुद्धिगम्य है ?' क्यो नही ? सचमुच है। धर्म का उद्गम प्रत्यक्षानुभूति के अजस्र स्रोत से प्रवाहित हुआ है, किन्तु उससे विच्छिन्न होकर वह वुद्धि के सहारे भी चलता है।

प्रश्न होता है कि धर्म क्या है ? हमने इसको किस अर्थ मे स्वीकार किया है ? क्या यही धर्म है कि प्रात काल उठकर प्रार्थना करना, मध्याह्न मे क्रियाकाण्ड करना और रात्रि मे उपासना करना ! यह सव तो क्रियाकाण्डो का वर्गीकरण है, धर्म की चिनगारिया और प्रतिविम्व है। मैं आपसे पूछना चाहता हू कि क्या आपने इसी को ही धर्म मान लिया ? हमे मूल तक पहुचना है। हमने धर्म को समझा नही और केवल उसके नाम को पकड लिया है। 'धर्म क्या है ?' मेरी दृष्टि मे साहित्यिक शव्दो मे धर्म की यह परिभाषा उपयुक्त होगी—

- धर्म हमारे जीवन का वह आलोक है जो हमारी इन्द्रियो को, मन को और वुद्धि को आलोकित करता है, प्रकाश से भर देता है।
- धर्म वह है जो हमारे जीवन की अन्धकारमय सस्कारो की परतो को प्रकाशमय वना दे।
- धर्म वह है जो इन्द्रियो को, वुद्धि को और मन को निर्मल वनाता हो।
- धर्म वह है जो इन्द्रिय, वुद्धि और मन को शक्तिशाली वनाता हो।

कोई भी व्यक्ति अन्धकार की गुफा मे नही रहना चाहता, कोई भी व्यक्ति अज्ञानी रहना नही चाहता तथा कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति वीर्यहीन नही वनना चाहता। सव व्यक्ति प्रकाशी, ज्ञानी और वीर्यवान वनना चाहते हैं।

मनुष्य ने जो आविष्कार किए हैं, वे किसलिए ? आविष्कार इसलिए किए कि उसे सहायता मिले। आज विजली का अविष्कार हुआ—प्रकाशपूर्ति के लिए। डॉक्टरो ने टॉनिको का आविष्कार किया जिससे विभिन्न तत्त्वो की पूर्ति हुई। जो अविष्कार हुए हैं उनका कुछ न कुछ उपयोग तो है ही।

साधन और साध्य दो होते हैं। हमने साधन को धर्म मान लिया है। हम उसको अस्वीकार करते है जो धर्म के परिपार्श्व मे घटित नही होता। आज धर्म-ग्रन्थो की, धर्माचार्यों की, सन्यासियो की आलोचना होती है कि उस साधु ने यह खा लिया, उसने ऐसा पहन लिया, उसने ऐसा कर लिया। वस, इन्ही कारणो से उसकी अनास्था हो जाती है। क्या यही हमारा धर्म है ? क्या यही धर्म की समझ है ? क्या यही धर्म की अनुभूति है ? अगर इसी को ही धर्म मान लिया है तो आपने अभी तक अपने जीवन मे धर्म को सही रूप से समझा ही नही। आज धर्म को

समझने वाले 'आनुवशिक' ज्यादा होते हैं। हमे धर्म के द्वारा जो लाभ होना चाहिए वह नही मिल पाता। कारण स्पष्ट है कि हमने धर्म के सही स्वरूप को नही समझा। धर्म मे जो ऊर्जा, शक्ति है, उसका उपयोग नही किया, यही कारण है कि आज हमारे सामने फिर वही प्रश्न है—'क्या धर्म वुद्धिगम्य है ?'

आज का मनुष्य आवेगो से घिरा हुआ है। मानसिक आवेग उसे सत्य के पास पहुचने नही देते। वह ज्यो-ज्यो उनसे दूर जाना चाहता है, त्यो-त्यो वे उसको आ घेरते है। मानसिक आवेग अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं और उनसे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। होमियोपैथिक प्रवर्तक डॉ० हेनिमन ने अपनी प्रारभिक भूमिका मे लिखा है कि रोग कीटाणु से पैदा नही होते हैं। उन्होने वीमारी का मूल अवचेतन मन माना है। जव हमारा रोग अवचेतन मन तक पहुच जाता है तव वीमारी पैदा होती है। आज मनोविज्ञान ने भी यह प्रमाणित कर दिया है। यही चरक मे लिखा है कि—काम, क्रोध, लोभ आदि आवेगो से रोग पैदा होते हैं। व्यक्ति कोढी क्यो होता है ? इसलिए कि वह दूसरो से घृणा, ईर्ष्या करता है। यह सच है कि जहा ईर्ष्या की तीव्र भावना पैदा होती है वहा अवश्य ही छुआछूत का रोग होता है। मनोवैज्ञानिको ने तो यह सिद्ध भी कर दिया है कि पचास प्रतिशत वीमारिया मानसिक अपवित्रता के कारण होती हैं। सन्त तुलसीदासजी ने भी रामायण के अन्तिम भाग मे लिखा है कि—'मानसिक दोषो के कारण वीमारिया पैदा होती हैं।' यह भी तो सच है कि स्वभाव चिडचिडा होने के कारण क्रोध आता है और क्रोध आने के कारण आतो पर जोर पडता है। हम देखेंगे कि क्रोध के कारण मन के स्वभाव पर क्या असर पडता है तथा उसका निष्कर्ष क्या आता है ?

अभी अमेरिका मे 'येन' विश्वविद्यालय ने भय से मन के स्वभाव पर क्या असर पडता है, इसका अनुसन्धान किया है। उसके निष्कर्ष देखकर वहुत आश्चर्य हुआ। भय के द्वारा अनेक वीमारिया होती हैं। उसका प्रभाव मन पर गिरता है। यह वात तो सिद्ध हो गयी है कि जितनी वीमारिया कीटाणुओ से होती हैं उतनी क्रोध, काम, लोभ, ईर्ष्या, भय आदि आवेगो से होती हैं, जिनका सीधा प्रतिविम्व अवचेतन मन पर पडता है।

आज कीटाणुओ की वात तो भ्रान्तिमय सावित हो गयी है। आन्तरिक दोषो के कारण मन की अपवित्रता होती है। यह तो हमने भी प्रत्यक्ष देखा है कि एक व्यक्ति विल्कुल शान्त रहता है, किन्तु कभी क्रोध आ जाता है तो तत्काल हार्ट पर असर पडता है। कारण स्पष्ट है कि मानसिक आवेग शरीर को प्रभावित करते है तो मन पर उनका असर पडता है। हम लोग मन के आवेग पर नियन्त्रण करना नही जानते। अतीत काल मे तथा वर्तमान मे जो कलह, लडाइया, ईर्ष्या, झगडा होता है वह वास्तविकता को लेकर नही होता। केवल कल्पनाओ के

कारण और मानसिक आवेग के कारण होता है। अब यहा पर प्रश्न होता है—'धर्म क्या है ?' मानसिक आवेगो पर नियन्त्रित करने की जो शक्ति होती है वह ही धर्म है।

स्वास्थ्य पर मानसिक आवेग का बहुत खराब असर पडता है। मानसिक आवेग होने के कारण मन पर धर्म के आलोक का प्रतिबिम्ब नही पडता।

स्वय का अनुभव है कि धर्म इन्द्रियो तथा बुद्धि से परे कहाँ है ? सामाजिक जीवन मे, समुदाय मे, सगठन मे, सुव्यवस्था इत्यादि मे धर्म रहता है। बुद्धि भी अनिवार्य अग है, किन्तु आज लोग बौद्धिकता के चक्कर मे पडकर जीवन की सच्ची सफलता को प्राप्त नही कर सकते। कारण स्पष्ट है कि व्यक्तियो ने बुद्धि के छोर को पकड लिया है, किन्तु जीवन जीना नही सीखा है। व्यक्ति के जीवन मे आलोचना तो होती ही रहती है। आलोचना जीवन को सुदृढ बनाती है किन्तु अति आलोचना भी व्यर्थ है। यदि व्यक्ति जीवन मे धर्म की आलोचना करे तो वह आलोक, शक्ति तथा पवित्रता को प्राप्त करता है।

हम कम जानते है। यदि हम धर्म को जान पाए तो अवश्य ही उससे लाभान्वित हो सकते हैं। मन की अशान्ति, मन की कठिनाई, समस्याए, मानसिक आवेग, पागलपन—यह सब अधर्म के कारण ही पैदा होते हैं। इनकी जड है अधर्म। आज धर्म की मीमासा सही ढग से हो रही है तथा आज के मनोवैज्ञानिकों और कई चिकित्सको ने आलोचना के नये ढग निकाले है। उनसे सस्कार की जमी हुई परतें उखडती हैं और असम्भावित तथ्य प्रकट होते हैं। वह रोगी जब अपनी सारी बात कह चुकता है, तब उसकी ग्रन्थिया खुल जाती हैं और वह स्वस्थ होता चला जाता है। प्रायश्चित्त करना भी उसी शृखला की एक कडी है। भूल होती है, हम प्रायश्चित्त कर लेते हैं। इससे ग्रन्थि नही बनती और जो बन जाती है वह खुल जाती है। जैन प्रायश्चित्त-विधि का यही प्रयोजन था।

हम गहराई मे जाने का कष्ट करते हैं, किन्तु स्मरण रहे कि गहराई तक पहुचने के लिए किसी प्रकाश की जरूरत होती है। पुरानी कहानी है—जीवधर नामक कुमार की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। उनकी ख्याति सुनकर एक तपस्वी ने उनसे मिलना चाहा। जब तपस्वी उनके दरवाजे के पास पहुचा तो तपस्वी देखता है कि जीवधर भोजन प्रारम्भ करने के पूर्व रो रहा है। तपस्वी को आश्चर्य हुआ। तपस्वी जीवधर से पूछ बैठा, 'आप एक विद्वान् हैं और बालक की तरह रो रहे हैं—वह भी भोजन प्रारम्भ करने के पूर्व, यह मुझे समझ मे नही आ रहा है।' जीवधर तपस्वी से बोले, 'तपस्वीजी ! रोने से बहुत लाभ हैं—

१ आखो से मैल निकल जाता है।

२ आखें निर्मल व स्वच्छ हो जाती हैं।

३ आसुओ के गिरने मे गर्म भोजन ठडा हो जाता है।'

पूछने वाले तपस्वी को उत्तर से प्रकाश मिल गया।

आज तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि स्त्री को ज्यादा 'हार्ट अटेक' नही होता, क्योकि वह जल्दी ही रो जाती है और मनुष्य को इसलिए होता है कि उसे अह है कि मैं मनुष्य हू इसीलिए रोऊगा नही। अत जब हम धर्म को सही दृष्टि से प्राप्त करना चाहेंगे तो हमारे सामने प्रत्यक्षानुभूति का मार्ग खुलेगा। आज हमारी बुद्धि परोक्षानुभूति पर स्थिर हो रही है। चाहे हमारी बुद्धि प्रत्यक्षानुभूति कर सके या नही, गहराई तक पहुच सके या नही, किन्तु धर्म की पारिपार्श्विक भूमिका मे अवश्य चले।

धर्म : समस्या के संदर्भ में

सनार समस्या से व्याकुल है। इसमे वोलना भी समस्या है, सुनना भी समस्या है और न वोलना भी समस्या है। और शायद नही सुनना भी समस्या है। ऐसा कोई व्यक्ति नही होगा जो सोचता है, ममझता है और जिसके सामने समस्या नही है। यह सभव नही है। क्योकि हम कुछ व्यक्तिगत जीवन जीते हैं और कुछ मामाजिक जीवन जीते हैं। व्यक्ति का अपना मन है, अपनी चेतना है और अपना चितन। उसके साथ समस्याए जुडी हैं। सामूहिक चेतना समस्याओ का घर है। दो वना और समस्या को जन्म दे दिया। दो होने का मतलव ही समस्या है। दो होने के अतिरिक्त कोई समस्या नही है। चाहे अतीत को देखिए, चाहे वर्तमान को देखिए और चाहे भविष्य को, कोई भी काल ऐसा नही मिलेगा जो समस्या से मुक्त हो। समन्या हमारे जीवन का अभिन्न अग है, अनिवार्य अग है।

आप चाहे जगल मे चले जाइए, समस्याओ से मुक्ति नही पा सकते। एक आदमी जगल की ओर भागा जा रहा था। रास्ते मे कोई व्यक्ति मिला। समझदार था। उसने पूछा, 'भागे क्यो जा रहे हो? कहां जा रहे हो?' उसने कहा, 'जगल में जा रहा हूं। कुछ खोज रहा हू।' 'किसलिए खोज रहे हो?' 'शहर मे गदगी वहुत है। जगल मे शान्ति और शुद्धि है, गदगी नही है।' उस आदमी ने कहा, 'जव तक तुम नही जाते हो, तव तक शुद्धि है, सफाई है। तुम्हारे पहुचते ही वहा भी गदगी हो जाएगी।'

जहा मनुष्य पहुचा, वहां गदगी हो गयी। भूत मे थी, वर्तमान मे है और भविष्य मे होगी। जहा मनुष्य नही पहुचा, वहा कोई गदगी नही है। जहा मनुष्य पहुचा, वहा समस्या उत्पन्न हो गयी। तो फिर आज नयी वात क्या है? आज की समस्या नयी क्या है? मैं भी सोच रहा हू और आप भी सोचते होंगे? आज की सवसे वडी समस्या है—गरीवी। चुनाव चल रहा है। घोपणापत्रो मे मवमे पहली वात आती है कि यदि हमारी नरकार वन गयी तो हम गरीवी को मिटा देंगे।

क्या अतीत मे गरीवी नही रही है? क्या कोई भी अतीत ऐसा रहा है जव मनुष्य नमाज रहा हो और गरीवी न रही हो? ऐसा कोई भी ममय नही रहा।

जिसको हम स्वर्णयुग कहते हैं, उस युग मे भी गरीवी प्रचुर मात्रा मे रही है तो फिर आज नयी वात क्या है ? आज मकान की समस्या है तो पुराने जमाने मे भी मकानो की कमी रही है। पर आज एक नयी समस्या पैदा हो गयी है। आज समस्या के प्रति मनुष्य अधिक जागरूक हो गया है। यह सवसे वडी समस्या आज की है। मनुष्य पहले सजग नही था समस्याओ के प्रति। इतना जाग्रत नही था अपने अधिकारो के प्रति। मनुष्य इतना सोचता नही था अपने स्वामित्व के प्रति। एक युग था धारणाओ का। और वे धारणाए धर्म के नाम से चल रही थी। भगवान् ने जिस कुल मे पैदा कर दिया, जिस कुल मे पैदा है, वही काम करना है। गरीवी मिली है तो गरीवी को भोगना है और अमीरी मिली है तो अमीरी को भोगना है। वेचारा क्या कर सकता है ? यह अनुभूति थी। यह चिंतन और विचार था। इस चिंतन ने न जाने कितनी समस्याओ को अपने आप मे ग्रस लिया। समस्याए क्षीण हो गयी। मनुष्य ने एक नियति का अनुभव किया। एक परम सत्ता का अनुभव किया। परम सत्ता की इच्छा पर अपने आपको न्योछावर कर दिया। किन्तु आज का चिन्तन वहुत वदल गया है। आज का आदमी इस भाषा मे नही सोचता कि मेरे भाग्य मे गरीवी लिखी है और मैं गरीवी भोगने के लिए जन्मा हूं। मैं गरीव वना रहू और उसे भोगता चला जाऊ ? आज ऐसा वही आदमी सोच सकता है जिसका मस्तिष्क अविकसित है। जिसने वर्तमान युग को नही समझा, जिसने वर्तमान चेतना को नहीं समझा और जिसमे सत्य धर्म की या यथार्थ धर्म की चेतना जागृत नही हुई, वही आदमी ऐसा सोच सकता है।

आज कर्मवाद का अर्थ कितना वदल गया है, धर्म का अर्थ कितना वदल गया है और मनुष्य का अपना अर्थ भी कितना वदल गया है। आज कोई भी वडी समस्या हमारे सामने उभरकर आती है, सवका ध्यान उस ओर चला जाता है। वुद्धि का विकास हुआ है। वुद्धि का विकास होना वहुत वडी समस्या है।

पशु के लिए समस्या क्या है ? कोई भी समस्या नही है। जो समस्या होती है उसे भी वे नही जानते कि हमारे लिए कोई समस्या है। अनुभव भी नही करते। किन्तु मनुष्य के लिए समस्या है, क्योकि वह पशु नही है और पक्षी भी नही है। उसकी चेतना जागृत है। जागृत चेतना मे समस्या जव उभरकर आती है तो वहुत ही विकराल वन जाती है। मनुष्य मे वुद्धि का विकास है। वर्तमान शताव्दी मे वुद्धि का विकास हुआ, समस्या नग्न रूप मे मनुष्य के सामने प्रस्तुत हो गयी। समस्या का होना कोई वुरी वात नही। यदि समस्याए हमारे जीवन मे न हो तो शायद हमारा जीवन निकम्मा और निठल्ला हो जाएगा, किसी काम का ही नही रहेगा। जिस जीवन मे समस्या नही, वह जीवन ही कैसा ?

कल ही एक भाई सुना रहा था। आधी वहुत तेज आ रही थी। वगीचे मे छोटे-छोटे पौधे जो लगाये गए थे, काप रहे थे। भाई ने माली से कहा, 'पौधे काप

रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि उखड़ जाएं। तुम पौधों के साथ वांस को वांध दो जिससे कि वे उखड़ें नहीं।' माली ने सुना और हंस दिया। उसने पूछा, 'तुम हंसते क्यों हो?' माली ने कहा, 'कोई वात नहीं। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।' भाई ने पूछा, 'फिर भी तुम अपने हंसने का कारण तो वताओ।' माली वोला, 'वावूजी आप नहीं जानते हैं। जव तक हवा के झोंके नहीं लगेंगे, पौधों की जड़ें मजवूत नहीं होंगी, ताकत नहीं पकड़ेंगी। झोंके खाने से शायद दो-चार पौधे उखड़ेंगे और नहीं खाने से सारे के सारे पौधे उखड़ जाएंगे।'

जो व्यक्ति समस्या के झोंके नहीं खाता उसकी जड़ भी मजवूत नहीं होती। उसी व्यक्ति की जड़ मजवूत होती है जो समस्या के झोंकों को खाता रहता है। तो क्या व्यक्ति को यह कामना करनी चाहिए कि उसके जीवन में समस्या न आए? क्या कोई व्यक्ति यह कामना करे कि उसका जीवन समस्या से मुक्त हो जाए?

समस्याओं से मुक्त होना अपने हाथों और पैरों को निकम्मा करना है। कोई भी व्यक्ति अपने हाथों और पैरों को निकम्मा करना नहीं चाहता। हर व्यक्ति यही चाहता है कि उसका पुरुषार्थ वरावर वना रहे।

समस्याओं से कोई व्यक्ति मुक्त होता नहीं और होना चाहता भी नहीं। किन्तु वुद्धि हमारी वहुत तीक्ष्ण होती है, वहुत पैनी होती है। वह समस्या को इस प्रकार सामने ला देती है कि आदमी घवरा जाता है और दूसरी वात यह है कि वुद्धि समस्या को इतनी उग्र वना देती है कि वह अपने लिए ही नहीं, वहुत वार दूसरों के लिए भी खतरा वन जाती है। इस स्थिति में हमें जरा सोचना पड़ता है कि यह क्या है? क्या समस्याओं को ऐसे ही उभरने दें या उसके उफान पर छींटा डालें। दूध गर्म होता है तो उफनता है। उफनना उसका स्वभाव है और उफनकर वाहर आना भी उसका स्वभाव है। किन्तु कोई भी आदमी दूध का निकम्मा जाना पसन्द नहीं करता, वाहर जाना पसन्द नहीं करता। पानी के कुछ छींटे डाल देता है, दूध शान्त हो जाता है।

क्या हमारे पास भी समस्याओं में उफान पर छींटा देने के लिए कुछ है? वह है धर्म। यदि समस्याएं उभरती हैं और उनमें उफान आता है, उफान पर यदि थोड़े-से छींटे डाल दिए जाएं तो वह शान्त होकर रह जाता है। मिटाने की जरूरत नहीं है। दूध को कैसे मिटाना है? दूध को पीना है। दूध पुष्टि देता है। समस्याएं भी हमें पुष्टि देती हैं। उन्हें मिटाना नहीं है। मिटाने का अर्थ नहीं है। केवल जो उफान आता है, उस उफान पर थोड़े-से छींटे डाल देना है। वह है हमारे चित्त का निर्माण।

वुद्धि का जव कोरा निर्माण होता है, खतरा पैदा होता है, उसके साथ चित्त का निर्माण होता है, तव वह खतरा टल जाता है, और वह व्यापक वन जाता है। धर्म की शोध वुद्धि के खतरे से वचने के लिए व्यक्ति ने की थी। यदि वुद्धि का

खतरा नही होता तो शायद धर्म का शोध करने की कोई जरूरत नही होती। बुद्धि अपने विकराल रूप मे, भयकर रूप मे विस्फोट पैदा न करे, इस स्थिति से वचने के लिए धर्म की खोज की गयी, शोध की गयी, जिससे कि बुद्धि पर थोडा-थोडा अकुश वरावर वना रहे।

बुद्धि जितनी भयकर होती है उतना भयकर शायद दुनिया मे दूसरा और कोई नही होता। आप मानते हैं कि शस्त्र भयकर होते है, उद्‌जन वम भयकर होते हैं। किन्तु इनका निर्माण किसने किया? परमाणु वम का उत्पादक कौन है? अस्त्रो-शस्त्रो को उत्पन्न करने वाला कौन है? उसका निर्माता कौन है? निर्बुद्धि ने नही किया। मारी समस्याओ को उत्पन्न करने वाली है मानवीय बुद्धि। बुद्धि ने ही सव कुछ उत्पन्न किया है। तो फिर जिस बुद्धि ने शस्त्र का निर्माण किया, क्या वह बुद्धि शस्त्र को समाप्त कर सकती है?

आजकल नि शस्त्रीकरण की वात चलती है। जो बुद्धि शस्त्र का निर्माण करने वाली है, वह बुद्धि कभी शस्त्र का विध्वस नही कर सकती। वह कभी नि शस्त्रीकरण नही कर सकती। कोई और चीज यह कर सकती है। वह है हमारी चेतना का निर्माण, हमारे चित्त का निर्माण या हमारी धार्मिक चेतना का निर्माण। उसके आने पर ही बुद्धि का दोष मिट सकता है, वैसे ही नही मिट सकता। कलम का काम लिखना है। आदमी बुद्धि के साथ लिखता है, इसलिए वह कलम भी शस्त्र वन जाती है।

एक ग्रामीण जाट था। पढा-लिखा नही था। सेठजी की दूकान पर गया। माल वेचना था। सेठजी वैठे थे। उनके कान पर कलम थी, वह नीचे गिर गयी। किमान तत्काल वोला, 'सेठजी! आपकी छुरी नीचे गिर गयी।' सेठजी ने चौंक-कर कहा, 'कैसा मूर्ख है! मैं वनिया हू। अहिंसक हू। छुरी को छूता भी नही हू और तू कहता है कि छुरी नीचे गिर गयी। यह कैसे हो सकता है?' जाट वोला, 'सेठजी! यह पडी है।' सेठजी ने कहा, 'मूर्ख! जानता नही यह कलम है।' जाट ने कहा, 'सेठजी! आपके लिए यह कलम हो सकती है, हमारे लिए तो यह छुरी है, क्योकि हमारे गले पर तो यही चलती है।'

बुद्धि के साथ जुडकर कलम भी छुरी वन जाती है। बुद्धि का ससर्ग होता है, कुछ मे कुछ वन जाता है। लोग कहते हैं कि पारस का स्पर्श पाकर लोहा सोना वन जाता है। पता नही ऐमा होता है या नही परन्तु बुद्धि का स्पर्श पाकर तो हर चीज भयानक वन जाती है और साप की तरह हमारे सामने फुफकारने लग जाती है। बुद्धि के सामने यदि धार्मिक चेतना का निर्माण न हो तो बुद्धि भयकर वन जाती है। वर्तमान की समस्या है और समस्या हमेशा वर्तमान की ही होती है। अतीत की वीत जाती है, उससे हमारा कोई वास्ता नही। भविष्य की अनागत होती है, वह हमे सताती नही है। व्यक्ति को हमेशा वर्तमान की समस्या सताती

है। वर्तमान ही उबारता है और वर्तमान ही मारता है। हमारे लिए सारे उपायों का केन्द्र-बिन्दु वर्तमान होता है। वर्तमान की समस्या के सन्दर्भ मे यह बहुत सत्य बात है कि यदि हमारी धार्मिक चेतना का निर्माण नही होता है तो बुद्धि हमारे लिए बहुत खतरनाक बन जाती है। इसलिए धर्म को बदलना है। हमारे लिए एक कठिनाई है, और आज के भारत के धर्म की बहुत बडी कठिनाई यह है कि हम धर्म करते है, परन्तु समस्याओ को सुलझाने के लिए धर्म नही करते, मात्र प्रलोभन के लिए धर्म करते हैं। भय के कारण धर्म करते है। एक भय घुस गया नरक का। आदमी नरक मे बचना चाहता है और इसलिए वह धर्म करता है। एक प्रलोभन घुस गया स्वर्ग का, सुख का। अगले जन्म मे सुख पाने के लिए व्यक्ति धर्म करता है। अगर भय और प्रलोभन—ये दोनो मन से निकाल दें तो शायद यहा इतने लोग बैठे है, उपासना करने के लिए, पीछे कौन बचेगा, यह मैं नही कह सकता। बहुत अटपटी बात है।

थोडे दिन पहले मैंने एक व्यक्ति से पूछा, 'कुछ अध्ययन करते हो? धार्मिक साहित्य पढते हो?' उत्तर नकार मे मिला। मैंने फिर पूछा, 'क्या रुचि नही है?' वह बोला, 'रुचि तो है, पर पढता नही।' मैंने पूछा, 'न पढने का कोई कारण तो होगा?' उसने कहा, 'हमारे बडे-बूढे जो बहुत धर्म करते है, बहुत बातें सुनते है, उनके आचरणो और व्यवहारो को देखते हैं तो हमे ऐसा नही लगता कि उनके आचरण और व्यवहार बहुत अच्छे हो गए है।' जब यह नही लगता तब हम सोचते हैं कि धर्म हमे इससे आगे और क्या सिखाएगा? उनके आचरणो मे कोई अन्तर नही आया तो फिर क्या हमारे आचरणो मे अन्तर ला सकेगा? उनके व्यवहार में जब मधुरता नही आयी तो हमारे व्यवहार मे मधुरता कैसे ला देगा?

बात सचमुच बहुत टेढी है। किन्तु एक बात आप समझ सकते है, आज के व्यक्ति ने धर्म को इस रूप मे स्वीकार नही किया कि धर्म के द्वारा हमारी वैयक्तिक, सामाजिक या सामूहिक समस्याओ का निरसन हो सकता है, धर्म के द्वारा हमारा गुस्सा मिट सकता है, धर्म के द्वारा हमारी क्रूरता मिट सकती है, धर्म के द्वारा हमारी लडने की मनोवृत्ति मिट सकती है, धर्म के द्वारा दूसरो को नीचा मानने की भावना समाप्त हो सकती है। उसने धर्म को स्वीकार किया—उपासना, पूजा और क्रियाकाण्ड के रूप मे। जब समय आया, ब्रह्ममुहूर्त मे उठो! माला जपो। सूर्योदय हुआ, मदिर मे चले जाओ! साधुओ के पास चले जाओ। जहा जाना हो, वहा चले जाओ। समय आया, प्रार्थना कर लो। बस, हमारा धर्म समाप्त। यह है हमारे आज के धर्म का चित्रण, जो कि हर व्यक्ति के जीवन मे ऐसा ही घटित हो रहा है। धर्म के द्वारा हमारे जीवन मे जो परिवर्तन होना चाहिए, धर्म के द्वारा हमारी भावनाओ मे जो परिवर्तन आना चाहिए और वह धर्म जो हमारी समस्याओ का समाधान बनकर हमारे सामने प्रस्तुत हो, ऐसा धर्म

हमने छोड दिया। इमीलिए आज के युवक, आज की नयी पीढी मे धर्म के प्रति कोई वहुत वडा अनुराग और आस्था नही रही है। वह देख रहा है कि धर्म करने वाला व्यक्ति जैसा आचरण और व्यवहार करता है, वैसा आचरण और व्यवहार तो मैं विना धर्म स्वीकार किए भी कर सकता हू। तो फिर मुझे धर्म करने की जरूरत क्या है? यदि दवा लिये विना मैं स्वस्थ रह सकता हू तो फिर दवा लेने की जरूरत क्या है? कोई जरूरत नही है। दवा आदमी इसलिए लेता है कि कोई वीमारी है तो वह मिट जाए। तो अपनी वीमारी मैं विना धर्म किए मिटा सकता हू, और जो कि हमारे पुरखे हैं, वडे-वूढे लोग हैं, वे लेकर भी यदि वीमारी को नही मिटा रहे हैं तो ऐसे घाटे मे कम-से-कम मैं तो न रहू।

आज हमें इस वात पर विचार करना चाहिए कि समस्याओ को सुलझाने के लिए धर्म का किस रूप मे उपयोग करें, यानी धर्म को समस्या सुलझाने का साधन वनाए, न कि धर्म को स्वय समस्या बना दें। आज धर्म स्वय समस्या वन रहा है। भार-सा महसूस हो रहा है। समस्या के सदर्भ मे धर्म पर पुनर्विचार करें, धर्म के स्वरूप पर विचार करें, धर्म की वर्तमान पद्धति पर विचार करें, धर्म की चालू प्रक्रिया पर विचार करें, धर्म के अभ्यास पर विचार करें और धर्म को समस्या से निकालकर और समस्या के सामने एक ऐसे प्रकाशपुज के रूप मे खडा करें, जिससे कि समस्या का जो गहन अधकार है वह क्षीण हो और वह हमे ज्योति देता रहे, समस्याओ के सामने हमारा मार्ग प्रशस्त करता रहे।

धर्म और जीवन व्यवहार

सत्य विराट् होता है। जिसने इस विराट् सत्य का साक्षात् नही किया, जिसने अपने भीतर छिपे हुए सत्य को नही देखा, उसे पता नही होता कि दुनिया क्या है?

हम जिस विश्व से परिचित हैं, उसमे लगभग तीन अरब आदमी रहते हैं। आवादी वढ रही है। चार-पाच अरव आदमी हो जाएगे। इस दुनिया मे करोड़ो-करोडो पदार्थ हैं, हजारो-हजारो नगर और लाखो-करोडो गाव हैं। लगता है, दुनिया वहुत वडी है। किन्तु जो व्यक्ति आत्मा को नही, सूक्ष्मतम शरीर या सूक्ष्म शरीर को नही, केवल इस स्थूल को भी जान लेता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि इस शरीर की दुनिया के समक्ष यह विश्व छोटा है, नगण्य है। एक मस्तिष्क इतना विशाल है कि उसकी तुलना दृश्य जगत् की कोई खोज कर नही सकती।

धर्म की सवसे वडी निष्पत्ति है—अपने आपको जानना। ससार मे आस्तिक भी हैं और नास्तिक भी हैं। एक नास्तिक व्यक्ति अपने आपको नही जानता, इसमे कोई आश्चर्य नही होता, किन्तु एक आस्तिक व्यक्ति अपने आपको नही जानता, यह वहुत वडा आश्चर्य है।

कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक है—यह वहुत जटिल प्रश्न है। सामान्यत नास्तिक वह होता है जो आत्मा और परमात्मा को नही मानता, पूर्व-जन्म और पुनर्जन्म को नही मानता, कर्म और कर्मफल को नही मानता, कर्म को भुगते विना छुटकारा नही—इस वात को नही मानता, अच्छे कर्म का फल अच्छा और वुरे कर्म का फल वुरा—इसे भी नही मानता। आस्तिक वह होता है जो आत्मा और परमात्मा को मानता है, धर्म और कर्म को मानता है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मे विश्वास करता है, कर्म के फल को मानता है, कर्म को भोगना ही पडता है—इसमे विश्वास करता है। किन्तु जीवन के व्यवहार-क्षेत्र मे जहा आस्तिक और नास्तिक का भेद मालूम न पडे तो कहना चाहिए कि नास्तिक खुला नास्तिक है और आस्तिक प्रच्छन्न नास्तिक है, मानो कि खुले कुए पर चादर विछादी हो। किसी को पता भी नही चलता कि यहा कुआ है और उस चादर पर वैठने वाला सीधा कुए मे जा गिरता है। खुले कुए से उतना खतरा नही होता,

जितना ढके कुए से होता है। खुला नास्तिक इतना बुरा नही होता, जितना ढका आस्तिक होता है। दुनिया को खतरा उन्ही आस्तिको से है जो सिद्धान्तत आस्तिक हैं और व्यवहारत नास्तिक से भी दो कदम आगे हैं। वह एक ऐसा कुआ है जो जमीन के वरावर है, ऊपर एक कपडा ढका हुआ है।

लोग पूजा-उपासना करते हैं, भजन-कीर्तन करते हैं, सकल्प लेते हैं, जाप भी करते हैं। फिर भी उनका मन एक विपय पर एकाग्र नही होता। एकाग्रता के विना मारी उपासना व्यर्थ है। उपासना मे यदि चित्त ही नही रहता, चित्त कही और शरीर कही तो फिर लाभ ही क्या ?

ज्ञप्ति दो प्रकार की होती है—अन्वयज्ञप्ति और व्यतिरेकज्ञप्ति। जिसके होने पर जो होता है वह है अन्वयज्ञप्ति। जिसके न होने पर जो नही होता वह है व्यतिरेक ज्ञप्ति।

हमारा समूचा धर्म मन की एकाग्रता होने पर होता है। मन की एकाग्रता के विना धर्म का कोई अर्थ ही नही होता। जव हम मन की एकाग्रता को नही साध पाते तव धर्म कैसे करेंगे। धर्म के लिए अनिवार्य है मन की एकाग्रता।

मन वदर की तरह चचल है। वदर स्वभावत चचल होता है। उसने मदिरा पी ली। चचलता चढ गयी। इतने मे विच्छू ने डक मार दिया। चचलता और वढ गयी। कही से भूत उसके शरीर मे प्रविष्ट हो गया। अव उसकी चचलता का कहना ही क्या ? मन भी ऐसा ही है।

मन शात होता है तो दुनिया दूसरी होती है। मन चचल होता है तो दुनिया दूसरी होती है।

विश्व की समस्याओ का मूल है—चचलता। भारतीय दर्शन का सवसे वडा अनुदान है—मन की चचलता को समाप्त करना। आज प्रत्येक आदमी चचलता से पीडित है। एक अर्थ मे कहा जा सकता है कि प्रत्येक आदमी चचलता से ही सचालित हो रहा है।

धर्म रूपान्तरण की प्रक्रिया है। यदि रूपान्तरण घटित नही होता है तो मानना चाहिए कि उसकी उपासना गलत तरीके से हो रही है। आज धर्म चल रहा है। आदमी मे कोई रूपान्तरण नही हो रहा है। वह पहले दिन जहा था, आज भी वही है। फिर धर्म का प्रयोजन क्या ? क्या आज का धार्मिक एक कोल्हू के वैल जैसा ही नही है, जो जीवन भर चक्कर लगाता है, पर पहुचता कही नही है। आज का धार्मिक उपासना किए जा रहा है, पर कही पहुच नही पाता। जहा था, वही है।

मार्क्स ने लिखा था, 'भारतीय दर्शन और दार्शनिक सिद्धान्त की वातें वहुत करते हैं, किन्तु समाज को वदलना नही जानते।' मैं उनके विचारो से पूर्णत सहमत नही हू। भारतीय दर्शन ने वदलने की वात को प्राथमिकता दी थी किन्तु आज का

धर्म हमारे लिए तृप्ति का साधन बन गया, बदलने का साधन नहीं रहा—इस अर्थ मे मार्क्स का कथन असत्य नही है।

धर्म और बुराई—दोनो साथ-साथ नही चल सकते। दोनो चलते हैं तो मानना चाहिए कि धर्म का अवतरण नही हुआ है।

दूकान खुली थी। पिता ने पुत्र से कहा, 'आटे मे मिलावट कर ली ?' 'हा, पिताजी !' 'मिर्चो मे मिलावट कर दी ?' हा, पिताजी ! 'सारा काम संपन्न है।' 'अच्छा बेटे ! चलो, अब महाराज का व्याख्यान सुनने चलें।'

कैसी विडबना ! मिलावट करने मे आगे और व्याख्यान सुनने मे भी आगे। वैसे व्यक्ति सभी जगह मिलावट ही करेगे। धर्म सुनेंगे तो उसमे भी मिलावट करेंगे। जिनकी आदत ही पड गयी है मिलावट की, वे धर्म के क्षेत्र मे भी उनका प्रयोग करेंगे।

महाभारत की कथा हो रही थी। कथा पूरी हुई। पडितजी ने एक सेठ से पूछा, 'कथा का साराश आपने क्या समझा ?' सेठ ने कहा, 'इस कथानक मे मुझे दुर्योधन के चरित्र ने बहुत प्रभावित किया। कृष्ण के कहने पर भी दुर्योधन ने कहा, 'केशव ! आप पाडवो को पाच गाव देने के लिए कह रहे है। पर मैं युद्ध किये बिना उनको सूई की नोक पर टिके उतनी जमीन भी नही दूगा।' पडितजी ! मैंने भी यह निश्चय कर लिया है कि किसी को कुछ नही दूगा।

सचमुच जिनके जीवन मे कोई परिवर्तन नही होता, वे धर्म के क्षेत्र मे आकर भी मिलावट ही करते हैं और वही बात पकडते है जो स्वार्थ की हो। वे अच्छाई को नही पकडते, बुराई को पकडते हैं।

आज के धार्मिक धर्मगुरुओ को ही नही भगवान् को भी धोखा देते हैं।

दडीस्वामी महान् साधक थे। साधक वह होता है जो अपने आपको जीत लेता है। हर आदमी मन के चलाए चलता है। साधक वह होता है जो मन को अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है। हर आदमी बोलकर अपनी बात को प्रकट करना चाहता है, किन्तु साधक वह होता है जो बिना बोले ही अपने भावो को बिखेर देता है। गुरु का मौन व्याख्यान होता है और शिष्यो के सशय छिन्न हो जाते हैं। हर आदमी हलचल करके दुनिया मे अपना पुरुपार्थ दिखाना चाहता है। साधक वह होता है जो शात रहकर सारी प्रवृत्तियो का सचालन कर देता है।

आज लोग ऐसे साधको की पूजा करते हैं, अर्चना करते हैं, किन्तु उनके जीवन मे बदलाहट नही होती। वे समझते हैं—पूजा की, काम सम्पन्न हो गया। पाप सारे धुल गए। पूजा भी तन्मय होकर करते हैं और पाप भी तन्मय होकर करते हैं। होना तो यह चाहिए था कि महापुरुपो ने जो साधना की उसको जीवन मे उतारने का प्रयत्न करते, किन्तु मनुष्य साधना नही चाहते, तपना नही चाहते, खपना नही चाहते, उस मार्ग पर चलना नही चाहते। वे चाहते है—बडे साधको

का आशीर्वाद मिल जाए, छत्रछाया मिल जाए, वस फिर चाहे सो करें।

मैंने एक धार्मिक से पूछा, 'दो नवर का खाता क्यो रखते हो?' उत्तर था, 'महाराज! हम गृहस्थ है। हमे सब कुछ करना पडता है।' वडा अजीब उत्तर है। गृहस्थ हैं, इसलिए सब कुछ करना पडता है, यह आरोप है। धार्मिक होना और इतना झूठा होना, इतना झूठा व्यवहार करना—दोनो मे तालमेल नही है। जो दवाई मे या खाद्य पदार्थों मे मिलावट करते है क्या वे दूसरो के प्राणो के साथ खिलवाड नही करते? क्या दूसरो के प्राणो के साथ खेलना हिंसा नही है? क्या यह क्रूर कर्म नही है? धार्मिक वह होता है जिसमे दया है, अनुकपा है, करुणा है। जिसमे करुणा नही होती, वह किसी भी अर्थ मे धार्मिक नहीं हो सकता।

आज व्यवहार और धर्म के वीच मे इतनी वडी दरार पड गयी है कि उससे धार्मिक वहुत वदनाम हो रहा है। धर्म के प्रति लोगो मे अनास्था नही है, धार्मिको के व्यवहार के प्रति अनास्था है। धार्मिक धर्म करता जाता है और अधर्मयुक्त व्यवहार भी चलाता जाता है। आज आत्मालोचन करने की आवश्यकता है। हमे मुडकर देखना चाहिए कि जीवन मे धर्म से कोई रूपान्तरण आ रहा है या नही? यदि परिवर्तन आता है तो उसका प्रतिविम्व व्यवहार मे अवश्य आएगा। उसका व्यवहार धीरे-धीरे वदल जाएगा।

आज धार्मिक दुनिया इस विश्वास पर चलती है कि धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। इस सूत्र को वदलने की जरूरत है। आज का सूत्र हो—धर्म करो, वर्तमान का क्षण सुधरेगा। जीवन का क्षण सुधरेगा। जिस क्षण मे धर्म किया, उस क्षण मे यदि आनन्द नही मिला, चेतना नही जागी, शक्ति का जागरण नही हुआ तो समझना चाहिए कि धर्म नही किया, धर्म के नाम पर कुछ और ही कर दिया। धर्म का साक्षात् लाभ है—चेतना का जागरण। धर्म का लाभ है—शक्ति का जागरण। धर्म का लाभ है—आनन्द की उपलब्धि।

आज विपरीत क्रियाए चल रही है। जब तक यह विपर्यय नही मिटेगा, धर्म तेजस्वी नही वन सकेगा।

वुढिया सडक पर सुई ढूढ रही थी। एक जवान ने पूछा, 'मा! क्या ढूढ रही हो?' 'वेटा! सुई ढूढ रही हू।' 'मा! कहा गुम हुई थी।' 'वेटा! घर के कमरे मे।' 'तो मा! यहा क्यो ढूढ रही हो?' 'वेटा! घर मे अधेरा है सडक पर प्रकाश है।'

एक भट्टारक थे। उनके यहां एक-दूसरे भट्टारक आ गए। आगन्तुक ने देखा—पूजा-पाठ हो रहा है। सभी क्रियाकाडो मे लगे हुए है। पूछा, 'यह क्या हो रहा है?' स्थानीय भट्टारक ने कहा, 'यह परपरा है। यहा ऐसा ही क्रम चलता है।' दोनो भट्टारक वैठकर वातचीत करने लगे। इतने मे ही आगन्तुक भट्टारक का एक शिष्य दौडा-दौडा आकर वोला, 'गुरुदेव! गजव हो गया। गजमुक्ता, जो हार का सवसे वडा मोती था, गुम हो गया।' हमने उसे कमरे मे ही रखा था। गुरु

ने कहा, 'जाओ, खोजो।' पाच शिष्यो को बुलाकर एक से कहा, 'तुम नदी पर जाकर मोती खोजो।' दूसरे से कहा, 'तुम हवन करो और मोती प्राप्त करो।' तीसरे से कहा, 'जाओ, नगर की परिक्रमा करो।' चौथे से कहा, 'पहाड की तलहटी पर खोजो।' पाचवे से कहा, 'तुम कुड मे खोजो।' स्थानीय भट्टारक ने कहा, 'यह क्या कर रहे है ?' मोती गुम हुआ है कमरे मे और आपने शिष्यो को भेजा है नदी के किनारे, पहाड की तलहटी मे और नगर मे।' उन्होने उत्तर दिया, 'जहा की जैसी परपरा होती है, वैसा ही करना होता है। आत्मा हमारे भीतर है उसको पाने के लिए बाहर के कितने क्रियाकाड आप करवा रहे हैं। मैं क्या करू ?'

आज का आदमी आत्मा की खोज मे जुटा है। बहुत सारे क्रियाकाड कर रहा है। किन्तु जब तक वह मन, वाणी और शरीर का सयम नही करेगा, उन्हे स्थिर नही करेगा, तब तक आत्म-दर्शन नही होगा। जब तक यह सयम नही सधता तब तक जीवन मे परिवर्तन भी नही आता। जब तक दृष्टि नही बदलती तब तक सृष्टि नही बदलती।

आदमी विपर्यय के वात्याचक्र मे फसा हुआ है। वह सर्वत्र पाना चाहता है। व्यापार मे कुछ पाना चाहे, यह बात समझ मे आ जाती है। किन्तु वह धर्म-स्थान मे आकर भी कुछ पाना चाहता है, यह बात समझ मे नही आती। धर्म का मूल सूत्र है खोना। और आदमी चाहता है पाना। विपरीत बात है। यही समस्या का मूल है।

शिष्य ने गुरु से पूछा, 'इतने वर्ष हो गए आपको साधना करते, आपने क्या पाया ?' गुरु बोले, 'पाया कुछ भी नही। खोया बहुत है। सब कुछ खोता रहा हू। क्रोध और अभिमान को खोया, माया और लोभ को खोया, अहकार और ईर्ष्या को खोया। खोया ही खोया, पाया कुछ भी नही।'

आप खोए। पाना कुछ भी नही है। खोते-खोते जो शेष बचेगा वह 'सोऽहं' होगा। नेति नेति नेति कहते जाए, शेष जो बचेगा, वह अस्तित्व होगा।

धर्म है त्याग। त्याग की शक्ति असीम है। वह लोहे को सोना बनाने वाले पारस को भी ठुकरा सकती है। त्याग के सिवाय दुनिया मे कोई शक्ति ऐसी नही है जो धन को छोड सके। बडे मे बडा अरबपति और धनकुबेर आज धन के पीछे दौड रहे हैं। बडे-बडे सम्राट् धन के पीछे पागल होकर भटक रहे हैं। अरबपति और सम्राट् जितना बडा भिखारी होता है उतना बडा भिखारी कोई नही होता। यह लालच की आग बडे लोगो मे जितनी प्रज्ज्वलित होती है, उतनी छोटे लोगो मे नहीं होती। धन मे वह शक्ति नहीं है जो धन को ठुकरा सके। धन धन को नही छोड सकता। वह बाधता है। त्याग ही धन को धूल समझकर उसे छोड सकता है। धर्म-स्थान पर जाने का एकमात्र उद्देश्य है त्याग की शक्ति का सवर्धन हो। पर आज होता कुछ और है। लोग धर्म-स्थानो पर आशाओ की पूर्ति करने जाते हैं।

इस स्थिति मे हम कैसे आशा करें कि धर्म से जीवन व्यवहार सुधरेगा।

हम सयम की शक्ति को पहचाने। हम त्याग की शक्ति को पहचाने और अपने अस्तित्व को पहचानें। यदि इस उद्देश्य से कोई धर्म-स्थान मे जाता है या महात्माओ का सपर्क करता है तो उसका वैसा करना साथक होता है। यदि हम त्याग की शक्ति से अपरिचित रहकर धर्म-स्थान पर आशा और तृष्णा को लेकर जाते हैं, कुछ पाने के लिए जाते हैं, जिसे छोडने की वात कहता है धर्म, उसे पाने के लिए धर्म-स्थान पर जाते हैं तो हमने धर्म को मूलत गलत समझ लिया। ऐसी स्थिति मे धर्म से जीवन व्यवहार वदल जाए, यह कैसे सभव हो सकेगा।

हमारी दृष्टि का मोह मिटे, हमारी मूर्च्छा मिटे, हम जागें। जो जागता है वह जीता है और जो नही जागता वह नही जीता।

लोग धर्म को मानते है, अध्यात्म को भुला वैठे हैं। चित्त की एकाग्रता, अपने आपको देखना, अपने आपको जानना, यह सारा अध्यात्म है। आदमी इसे भुला वैठा है।

जिस व्यक्ति ने अपने आपको जानना-देखना सीख लिया, उसने धर्म को सीख लिया। जिस व्यक्ति ने अपने आपको जानना-देखना नही सीखा, वह न धर्म को जान सकता है और न साधक और साधना को जान सकता है। हम अध्यात्म को समझें, अनुभव करें। भीतर की अतल गहराइयो मे जाए और नयी दुनिया से परिचय करें। वह दुनिया इतनी सुन्दर और मोहक है कि उसके समक्ष यह वाहरी दुनिया कुछ भी नही है।

त्याग किया नही जाता, वह स्वय होता है। जो व्यक्ति अन्तर् के अनुभव के बिना त्याग करता है, वह उस त्याग के मर्म को नही पहचान पाता। वह परिस्थिति आने पर उससे च्युत हो जाता है। अनुभव से उद्भूत त्याग जीवन मे परिवर्तन ला देता है। हम आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करें। हमे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होगा जिसकी तुलना नही की जा सकेगी।

लुधियाना, १६-६-७६

धर्म से आजीविका · इच्छा-परिमाण

भगवान् महावीर ने कहा, 'इच्छा आकाश के समान अनन्त है।' यह धार्मिक दृष्टि से जितना सत्य है उतना ही अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सत्य है। अर्थशास्त्र के अनुसार माग मे आवश्यकता[1] का क्षेत्र वडा होता है। इच्छा[2] का क्षेत्र उससे भी वडा होता है। सभी इच्छाए आवश्कताए नही हो सकती, जवकि सभी आवश्यकताए इच्छाए अवश्य होती हैं। इच्छा से आवश्यकता का क्षेत्र सकुचित और माग का क्षेत्र उससे भी सकुचित होता है।

इच्छाए नैसर्गिक होती हैं। आवश्यकताए भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक रीति-रिवाज, शारीरिक अपेक्षा, आर्थिक परिस्थिति और धार्मिक भावना के द्वारा निर्धारित होती है।

१ आर्थिक परिस्थिति द्वारा आवश्यकता का निर्धारण—

गरीव व्यक्ति की आवश्यकताए सीमित तथा सादी होती हैं। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओ को ही पूर्ण कर पाता है। धनी व्यक्ति की आवश्यकताए उमसे अधिक होती हैं। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओ को ही पूर्ण नही करता, विलासितायुक्त आवश्यकताओ को भी पूर्ण करता है।

२ धार्मिक भावना के द्वारा आवश्यकता का निर्धारण—

धार्मिक व्यक्ति की आवश्यकताए नैतिक दृष्टि से प्रभावित होती है। वह जिन नैतिक आदर्शो को मानता है उन्ही के आधार पर अपनी आवश्यकताओ का निर्माण करता है। उसकी आवश्यकताए वहुत कम और सादी होती है। किन्तु भौतिक मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकताए उसकी तुलना मे वहुत अधिक और वहुत प्रकार की होती हैं।

आवश्यकता का गढा इतना गहरा है कि उसे कभी भरा नही जा सकता।

---

१ आवश्यकता—आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा को कहते हैं जिसको पूरा करने के लिए उसके पास पर्याप्त धन हो और साथ ही वह मनुष्य उस धन को खर्च करने के लिए तैयार भी हो।

२ माग—माग उस आवश्यकता को कहते हैं जिसकी सतुष्टि की जा चुकी है।

इम मत्य की स्वीकृति धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—दोनो ने की है। भगवान् महावीर ने कहा, 'लाभ से लोभ वढता है। जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ वढता जाता है।' एक आवश्यकता पूर्ण होती है तो दूसरी नयी आवश्यकता जन्म ले लेती है। आवश्यकता की इस विशेपता के आधार पर अशाति का नियम निश्चित किया गया। आवश्यकता की असीमितता के कारण मनुष्य की शाति भग होती है। अर्थशास्त्र मे भी आवश्यकता की अपूरणीयता प्रतिपादित है। डॉ० मार्शल ने लिखा है—'मनुष्य की आवश्यकताए और इच्छाए असख्य और अनेक प्रकार की होती है।'[1] यदि मनुष्य एक आवश्यकता को पूर्ण करता है तो दूसरी नई आवश्यकता मामने खडी हो जाती है। वह जीवन-पर्यन्त अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रयत्न करता रहे तो भी वह अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर नकता। अर्थशास्त्रियो ने आवश्यकता की इस विशेपता के आधार पर 'प्रगति का नियम' (Law of Progress) स्थापित किया। उनका मत है कि असीमित आवश्यकताओ के कारण ही नये-नये अविष्कार होते है। फलस्वरूप समाज की आर्थिक प्रगति होती है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार अर्थ है। इम दृष्टिकोण से आर्थिक प्रगति वहुत आवश्यक है। आवश्यकताओ के सीमित होने पर आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन नही मिलता। इसलिए आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यकताओ का विस्तार जरूरी है। इसी वस्तु-सत्य को ध्यान मे रखकर एक प्राचीन अर्थशास्त्री ने कहा था, 'असतुष्ट सन्यासी नष्ट हो जाता है और सतुष्ट राजा नष्ट हो जाता है।' सन्यासी के लिए आवश्यकताओ को कम करना गुण है और उनका विस्तार करना दोष है। सामाजिक व्यक्ति के लिए आवश्यकताओ को कम करना दोष है और उनका विस्तार करना गुण है।

'मनुष्य सामाजिक प्राणी है'—इस वास्तविकता के सदर्भ मे अर्थशास्त्र का आवश्यकताओ को असीमित करने का दृष्टिकोण गलत नही है। किन्तु मनुष्य क्या केवल सामाजिक प्राणी ही है? क्या वह व्यक्ति नही है? क्या उसमे सुख-दु ख का सवेदन नही है? क्या असीमित आवश्यकताओ का दवाव उसमे शारीरिक और मानसिक तनाव पैदा नही करता? क्या आवश्यकता के विस्तार के पीछे खडा हुआ इच्छा का दैत्य शारीरिक ग्रन्थियो के स्राव को अस्त-व्यस्त और मानसिक विक्षोभ उत्पन्न नही कर देता? इन ममस्याओ की ओर ध्यान न देकर ही हम आवश्यकताओ के विस्तार का ऐकान्तिक समर्थन कर सकते है। किन्तु जव मनुष्य को मानवीय पहलू से देखते है तव हम इच्छाओ की असीमितता का समर्थन नही कर सकते। इस मानवीय और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इच्छाओ को सीमित करना जरूरी है।

1 Principles Of Economics, p 73

अर्थशास्त्रीय और धार्मिक—ये दोनो दृष्टिकोण अपने-अपने विषय-क्षेत्र की दृष्टि मे ही सत्य हैं। धर्मशास्त्र कहता है—'आवश्यकताओ को कम करो।' तब हमे इस सत्य की ओर से आखें नही मूद लेनी चाहिए कि यह प्रतिपादन मानसिक अशाति की समस्या को सामने रखकर किया गया है। अर्थशास्त्र कहता है—'आवश्यकताओ का विस्तार करो।' तब हमे इस वास्तविकता से आखें नहीं मूद लेनी चाहिए कि इस सिद्धात का प्रतिपादन मनुष्य की सुख-सुविधाओं के विकास को ध्यान मे रखकर किया गया है। महावीर ने सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह की बात नही कही। वह मुनि के लिए सम्भव है। सामाजिक प्राणी के लिए उन्होने 'इच्छा-परिमाण' के सिद्धात का प्रतिपादन किया। सामाजिक मनुष्य इच्छाओ और आवश्यकताओ को समाप्त कर अपने जीवन को नही चला सकता और उनका विस्तार कर शान्तिपूर्ण जीवन नही जी सकता। इसलिए उन्होंने दोनो के मध्यवर्ती सिद्धात (इच्छा-परिमाण) का प्रतिपादन किया।

जीवन के प्रति धर्मशास्त्र का जो दृष्टिकोण है उससे अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न है। धर्मशास्त्र जीवन की व्याख्या आन्तरिक चेतना के विकास के पहलू से करता है। अर्थशास्त्र जीवन की व्याख्या आर्थिक क्रियाओं के माध्यम से करता है। दोनो व्याख्याओ की पृष्ठभूमि और दृष्टिकोण एक नही है। इसलिए धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र का और अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का समर्थन नही करता। किन्तु धर्म और धन—दोनो का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध होता है, इसलिए जीवन के कुछ बिन्दुओ पर उनका सगम होता है और वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा, 'इच्छाओ को सन्तोप से जीतो।' अग्नि मे ईंधन डालकर उसे बुझाया नही जा सकता, वैसे ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा इच्छाओ को सतुष्ट नही किया जा सकता। आवश्यकताओं की वृद्धि, वस्तुओ की वृद्धि, उत्पादन और श्रम की वृद्धि मे योग देती है। किन्तु सुख और शान्ति मे योग देती है—यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है। आवश्यकताओ की वृद्धि से जीवन का स्तर उन्नत होता है, किन्तु सुख और शान्ति का स्तर उन्नत होता है—यह नहीं माना जा सकता।

धार्मिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक होने के कारण वह अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओ को नही छोड़ पाता। महावीर ने गृहस्थ को उनके त्याग का निर्देश नही दिया। विलासिता कोटि की आवश्यकताए धार्मिक को छोडनी चाहिए—इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' की सीमा-रेखा खीची जा सकती है।

अनिवार्यता और सुविधा कोटि की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए विलासिता कोटि की आवश्यकताओ और इच्छाओ का सयम करना आवश्यक है। इसमे आर्थिक विकास और उन्नत जीवन-स्तर की सम्भावनाओ का द्वार बन्द भी

नही है तथा विलासिता के आधार पर होने वाली आर्थिक प्रगति और उन्नत जीवन-स्तर का द्वार खुला भी नही है ।

अर्थशास्त्र के अनुसार अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की सीमा इस प्रकार है, 'सुख-दु ख के आधार के अनुसार आवश्यकताओ का वर्गीकरण इस बात से निर्धारित होता है कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता से सुख मिलता है या उपभोग न करने से उसे दु ख होता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को थोडा-सा सुख मिलता है और उपभोग न करने से वहुत दु ख का अनुभव होता है तव ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेंगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परन्तु इसका उपभोग न करने से थोडा-सा दु ख होता है तव ऐसी वस्तु के उपभोग से अत्यन्त सुख अनुभव होता है तथा उसका उपभोग न करने से दु ख नही होता (सिवाय इसके कि जव मनुष्य उस वस्तु के उपभोग का आदी होता है) तव उसको विलासिता की वस्तु कहते हैं। यदि किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख मिलता है तथा उपभोग न करने से वहुत कष्ट होता है तव उसको धनोत्सर्गिक वस्तु कहते हैं।

सुख-दु ख के आधार पर आवश्यकताओ के इस वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मनुष्य के सुख-दु ख पर प्रभाव

वस्तुएं	वस्तु का उपभोग करने पर	वस्तु का उपभोग न करने पर
अनिवार्यताए	थोडा-सा सुख मिलता है।	वहुत दु ख होता है।
सुखदायक वस्तुए (सुविधाए)	कुछ अधिक सुख मिलता है।	थोडा दु ख होता है।
विलासिताए	वहुत सुख मिलता है	दु ख नहीं होता।[1]

अर्थशास्त्री की दृष्टि मे नैतिकता और शान्ति—ये सव गौण होते हैं। उसके सामने मुख्य प्रश्न आर्थिक प्रगति के द्वारा मानवीय कल्याण का होता है। इस आधार पर वह विलासिता का समर्थन करता है और आर्थिक प्रगति के लिए उसे आवश्यक मानता है। धर्म-गुरु की दृष्टि मे आर्थिक प्रगति का प्रश्न गौण होता है, नैतिकता और शान्ति का प्रश्न मुख्य होता है।

धर्म-गुरु सामाजिक व्यक्ति को धर्म मे दीक्षित करता है, इसलिए वह उसकी आर्थिक अपेक्षाओ की सर्वथा उपेक्षा कर उसके लिए अपरिग्रह के नियमो की सरचना नही कर सकता। इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' व्रत के परिपार्श्व मे

१ एम एल सेठ, आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ० ६०-६१।

महावीर ने इन नैतिक नियमो का निर्देश दिया—

१. झूठा तोल-माप न करना।

२ मिलावट न करना।

३ असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न वेचना।

समाज के सदर्भ मे इच्छा-परिमाण के नियामक तत्त्व दो हैं—प्रामाणिकता और करुणा। व्यक्ति के सदर्भ मे उसका नियामक तत्त्व हैं—सयम। झूठा तोल-माप आदि न करने के पीछे प्रामाणिकता और करुणा की प्रेरणा है। व्यक्तिगत उपभोग कम करने के पीछे सयम की प्रेरणा है। महावीर के व्रती श्रावक अर्थार्जन मे अप्रामाणिक साधनो का प्रयोग नही करते थे और व्यक्तिगत जीवन मे उपभोग की सीमा रखते थे। धन के अर्जन मे अप्रामाणिक साधनो का उपयोग न करना, सग्रह की निश्चित सीमा करना और व्यक्तिगत उपभोग का सयम करना—ये तीनो मिलकर 'इच्छा-परिमाण' व्रत का निर्माण करते हैं।

यह आर्थिक विपन्नता का व्रत नही है। धर्म और गरीवी मे कोई सम्वन्ध नही है। गरीव आदमी ही धार्मिक हो सकता है या धार्मिक को गरीव होना चाहिए—यह चिन्तन महावीर की दृष्टि मे त्रुटिपूर्ण है। धर्म की आराधना न गरीव कर सकता है और न अमीर कर सकता है। जिसके मन मे शान्ति की भावना जागृत हो जाती है वह धर्म की आराधना कर सकता है, फिर चाहे वह गरीव हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीवी और अमीरी—दोनो से दूर होकर त्यागी होता है। हमने धर्म को एक जाति का रूप दे दिया है। हमारे युग के धार्मिक जन्मना धार्मिक हैं। जो व्यक्ति जिस परम्परा मे जन्म लेता है, उस वश-परम्परा का धर्म उसका धर्म हो जाता है। जन्मना धार्मिक के लिए इच्छा-परिमाण का व्रत अर्थवान् नही है। यह उन लोगो के लिए अर्थवान् है जो कर्मणा धार्मिक होते हैं। ऐसे धार्मिक साधु-सन्यासियो जितने विरल नही, फिर भी जनसख्या की अपेक्षा विरल ही होते है। इसलिए उनके आधार पर न तो आर्थिक मान्यताए स्थापित होती हैं और न वे आर्थिक प्रगति मे अवरोध वनते हैं। अधिकाश धार्मिक जन्मना धर्म के अनुयायी होते है। वे आवश्यकताओ की कमी, अर्थ-सग्रह की कमी, विलासिता के सयम और नैतिक नियमो में विश्वास नही करते। उनका धर्म नैतिकताशून्य धर्म होता है। वे धार्मिक होने के साथ-साथ नैतिक होना आवश्यक नही मानते। वे धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं, पर उसका आचरण नही करते। ऐसे धार्मिको का धर्म आर्थिक प्रगति को प्रभावित नही करता।

अर्थशास्त्र मे आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकता वढाने का सिद्धात है। कुछ अर्थशास्त्री इसका मुक्त समर्थन करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री इसके मुक्त समर्थन के पक्ष मे नही हैं। आवश्यकताओ को वढाने के पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ आवश्कताओ की वृद्धि से मनुष्य को अधिकतम सुख या सतोष प्राप्त होता है।
२ आवश्यकताओ की वृद्धि सभ्यता के विकास और जीवन-स्तर की उन्नति मे सहायक होती है।
३ आवश्यकताओ की वृद्धि से धन के उत्पादन मे वृद्धि होती है।
४ आवश्यकताओ की वृद्धि से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ होती है, फलत वह राज्य सैनिक दृष्टिकोण से सशक्त और अपनी रक्षा मे आत्म-निर्भर हो जाता है।

आवश्यकता को वढाने के विपक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य दु ख-क्लेश का अनुभव करता है।
२ आवश्यकताओ की वृद्धि और फिर उनकी सतुष्टि के लिए निरन्तर प्रयत्न मनुष्य को भौतिकवादी वनाता है।
३ आवश्यकताओ की वृद्धि से समाज मे वर्ग-सघर्ष (Class Struggle) हो जाता है।
४ आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है और वह अधिक धन कमाने के लिए अप्रामाणिक साधनो का प्रयोग करता है।

अनेकान्त की दृष्टि से मीमासा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्याश दोनो के मध्य मे है। आवश्यकताओ की अत्यन्त कमी मे सामाजिक उन्नति नही होती—यह अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मिथ्या नही है तो आवश्यकताओ की अत्यन्त वृद्धि होने पर दु ख या क्लेश वढता है, यह दृष्टिकोण भी मिथ्या नही है। इस दूसरे दृष्टिकोण को धर्म का समर्थन भी प्राप्त है। अर्थशास्त्र का समर्थन इसलिए प्राप्त है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण का शास्त्र है और इसका मुख्य उद्देश्य मानवीय कल्याण मे वृद्धि करना है।[1] सीमित साधनो से असीमित आवश्यकताओ की सतुष्टि का पथ प्रदर्शित करना अर्थशास्त्र का कार्य है। किन्तु जिस अनुपात मे आवश्यकताओ की वृद्धि की जा सकती है उसी अनुपात मे उनकी सतुष्टि नही की जा सकती। सभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओ को सतुष्ट नही कर सकते। अधिकाश लोग अपनी तीव्र आवश्यकताओ (अनिवार्यताओ) की सतुष्टि कर पाते हैं। मध्यम आवश्यकताओ (सुविधाओ) की सतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते हैं। मन्द आवश्यकताओ (विलासिताओ) की सतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते है। इस क्रम के साथ महावीर के दृष्टिकोण—'लाभ से लोभ वढता है'—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओ की वृद्धि के क्रम मे कुछ आवश्यकताओ की सतुष्टि की जा सकती

---

१ अल्फ्रेड मार्शल, Principles of Economics, p I

है, किन्तु उनकी वृद्धि के साथ उभरने वाले मानसिक असतोष और अशान्ति की चिकित्सा नही की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शान्ति की आहुति नहीं दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य समाज को मानसिक तनाव, पागलपन, क्रूरता, शोपण, आक्रमण और उच्छृखल प्रवृत्तियो से बचाना इष्ट है तो यह अनिवार्यता और अधिक तीव्र हो जाती है। इस अनिवार्यता की अनुभूति करके ही महावीर ने समाज के सामने 'इच्छा-परिमाण' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस आदर्श मे अनिवार्यताओ और सुविधाओ को छोडने की शर्त नही है और विलासितापूर्ण आवश्यकताओ की परम्परा को चालू रखने की स्वीकृति भी नहीं है। 'इच्छा-परिमाण' के सिद्धान्त से मौलिक भिन्नता दो विपयो की है। पहली भिन्नता यह है—अर्थशास्त्र विलासिताओ के उपभोग का समर्थन करता है। उसके समर्थन मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ विलासिताओ के उपभोग से सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।
२ कर्मशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।
३ जीवन-स्तर ऊचा होता है।
४. धन-सग्रह होता है। सकट के समय वह (आभूपण आदि) सहायक सिद्ध होता है।
५ कला-कौशल, कारीगरी तथा उद्योग-धधो को प्रोत्साहन मिलता है।

सब अर्थशास्त्री इन विलासिताओ के उपभोग के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। उनका दृष्टिकोण यह है कि विलासिताओ के उपभोग से—

१. वर्ग-विपमता (Class inequality) बढती है।
२ उत्पादन-कार्यो के लिए पूजी की कमी हो जाती है।
३ निर्धन वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, द्वेप तथा घृणा की वृद्धि होती है।

विलासिता के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण से भिन्न नही है, किन्तु विलासिता के समर्थन का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है।

दूसरी भिन्नता यह है कि अर्थशास्त्र मे नैतिक नियमों की अनिवार्यता स्वीकृत नही है। नैतिक नियमो की अवहेलना उसका उद्देश्य नही है, किन्तु यह उसकी प्रकृति का प्रश्न है। उसकी प्रकृति उपयोगिता है। उपयोगिता का अर्थ है—आवश्यकता को सतुष्ट करने की क्षमता। नैतिक नियम के अनुसार शराब मनुष्य के लिए लाभदायी नही है, इसलिए वह उपयोगी भी नही है। वही वस्तु उपयोगी हो सकती है जो लाभदायी हो। जो प्रवृत्तिकाल और परिणाम-काल—दोनो मे सुखद न हो, वह लाभदायक नही हो सकती। और जो लाभदायक नही हो सकती

वह उपयोगी नही हो सकती। अर्थशास्त्र मे उपयोगिता की परिभाषा नैतिकता की परिभाषा से भिन्न है। उसमे उपयोगिता के साथ लाभदायिकता का अनुवन्ध नही है। आवश्यकता को सन्तुष्ट करने वाली वस्तु लाभदायी न होने पर भी उपयोगी हो सकती है। मद्यपान निश्चित रूप से हानिकारक है। किन्तु मद्य मे मद्यप के लिए एक उपयोगिता है। मद्यप मद्य की आवश्यकता का अनुभव करता है और मद्य उसकी आवश्यकता को सतुष्ट करती है। प्रो० रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र मे ऐसे अनेक विपयो का अध्ययन किया जाता है जिनका मानवीय कल्याण से दूर का भी सम्वन्ध नही होता। मद्य पीने से मनुष्य के कल्याण अथवा सुख मे किसी प्रकार की वृद्धि नही होती, प्रत्युत् कमी होने की सम्भावना है। फिर भी मद्य-उद्योग का अर्थशास्त्र मे अध्ययन होता है, क्योकि मद्य-निर्माण एक आर्थिक कार्य है और अनेक व्यक्ति इस उद्योग से अपनी आजीविका कमाते हैं।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण का यह अन्तर उनकी प्रकृति का अन्तर है। दोनो की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है—

१ नैतिक नियम मनुष्य के सामने जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। आर्थिक नियम मानवीय आचरण के आर्थिक पहलुओ का अध्ययन करते हैं।
२ नैतिक नियमो की अवहेलना करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि होती है। आर्थिक नियमो का अतिक्रमण करने पर आत्मग्लानि नही होती।
३ नैतिक नियमो का पालन करने पर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्थिक नियमो का पालन करने पर आर्थिक उन्नति होती है।

इस प्रकृति-भेद को समझ लेने पर धर्मशास्त्र के विधि-विधान की दूरी स्वय बुद्धिगम्य हो जाती है। अर्थशास्त्र मे नैतिकता के लिए सर्वथा अवकाश नही, ऐसी बात नही है। ईमानदारी, निष्कपटता आदि गुणो को कार्य-कुशलता का निर्धारण करने वाले तत्वो के रूप मे स्वीकार करने वाले अर्थशास्त्री नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र—ये दोनो समाजशास्त्र के ही अग हैं। इन दोनो मे मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र मे मानवीय व्यवहार के आर्थिक पहलू का और नीतिशास्त्र मे उसके आदर्शात्मक पहलू का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र आदर्श प्रस्तुत करता है। वह हमे वताता है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। नीतिशास्त्र उचित और अनुचित मे भेद करने का आदेश देता है और हमे वताता है कि क्या करना चाहिए। और क्या नही करना चाहिए। अर्थशास्त्री आर्थिक निर्णय सुनाते तथा व्यवस्था देते समय नीतिशास्त्र के निर्देशो की उपेक्षा नही कर सकते। उदाहरणार्थ, डॉ० मार्शल ने सदाचार के आधार पर अपनी 'उत्पादक श्रम' की धारणा से वेश्यावृत्ति

को बाहर निकाल दिया। जैसा कि प्रो० सैलिगमैन (Saligman) ने कहा है—'सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामत. सदाचारिक होनी चाहिए।' इस प्रकार अर्थ-शास्त्री आर्थिक नीति के निर्माण मे नीतिशास्त्र की उपेक्षा नही कर सकता।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर भी बहुत गहरा प्रभाव पडता है। आर्थिक परिस्थितिया मनुष्य के चरित्र तथा आचार-विचार पर गहरा प्रभाव डालती हैं। अमुक व्यक्ति का आचार कैसा होगा, इस बात से निश्चित होता है कि वह अपनी आजीविका कैसे कमाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध है।'[1]

महावीर ने कहा, 'इच्छा का परिमाण नही करने वाला मनुष्य अधर्म से आजीविका कमाता है और इच्छा का परिमाण करने वाला मनुष्य धर्म से आजी-विका कमाता है। अधर्म या धर्म से आजीविका कमाने मे आर्थिक परिस्थितिया निमित्त बनती हैं किन्तु उनका उपादान कारण आसक्ति और अनासक्ति तथा धर्मश्रद्धा का तारतम्य है।

'इच्छा-परिमाण' के निष्कर्ष सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

१ न गरीबी और न विलासिता का जीवन।

२ धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नही। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नही है।

३. आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए धन का अर्जन किन्तु दूसरो को हानि पहुचाकर अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न।

४ आवश्यकताओ, सुख-सुविधाओ और उनकी सन्तुष्टि के साधनभूत धन-सग्रह की सीमा का निर्धारण।

५ धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर सगृहीत धन मे अनासक्ति का विकास।

६ धन के सन्तुष्टि-गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिन्तन।

७ विसर्जन की क्षमता का विकास।

---

१ एम० एल० सेठ, आधुनिक अर्थशास्त्र, पृष्ठ ३३।

जीवन की सफलता के सूत्र

जीवन की सफलता का सवसे वडा सूत्र है—स्नेह। जिस व्यक्ति मे स्नेह होता है, जिस व्यक्ति मे स्नेह देने की क्षमता होती है, जिसका जीवन चिकना होता है, उसका जीवन सफल होता है। किन्तु स्नेह पहले ही प्राप्त नही हो जाता। स्नेह से पहले कुछ और प्राप्त होता है। अत मे, निष्पत्ति के रूप मे, जीवन की सफलता प्राप्त होती है।

जीवन का पहला सूत्र है—जिज्ञासा। पेड का कोरा तना भद्दा होता है। वह रात को भूत-सा लगता है। उसका नाम है—ठूठ। यह स्तब्धता का वाचक वन गया। यह अहकारी के लिए उपमा के रूप मे काम आने लगा।

ठूठ भद्दा लगता है, पेड सुन्दर लगता है। उसमे शाखाओ का विस्तार होता है। उसमे पत्ते होते है। वह छाया देता है। उसके फूल सौरभ विखेरते हैं। फल रस देते हैं। वह सौदर्य का प्रतीक है।

जीवन की सफलता के चार सूत्र हैं—विस्तार, छाया, सौरभ और सरसता। जिसके जीवन मे ये चार वातें होती हैं उसका जीवन सफल होता है, फलवान् होता है। जिसमे ये चार वातें नही होती उसका जीवन सफल नही होता, सरस नहीं होता। उसका जीवन विफल और नीरस होता है।

पहला सूत्र है—विस्तार। विस्तार कहा से होगा ? जिस व्यक्ति के जीवन मे जिज्ञासा होती है, उसमे विस्तार होता है। जिसमे जिज्ञासा नही होती, उसमे विस्तार नही होता। अनेक लोग कहते हैं, 'जानने की आवश्यकता क्या है ? जानते हैं वे भी मरते हैं और न जानने वाले भी मरते हैं। फिर जानने से लाभ ही क्या ? न पढने वाला अमर होता है और न अनपढ अमर होता है। दोनो मरते हैं। फिर पढने से लाभ ही क्या ?'

गुरु ने शिष्य से कहा, 'पढो।' शिष्य वोला, 'महाराज! मुझे पढने की क्या आवश्यकता है ? सवको पढने की क्याज रूरत है ? आप ज्ञानी हैं। मन मे प्रश्न उठेगा, आपसे पूछकर समाधान पा लूगा।' गुरु ने कहा, 'स्वय ज्ञान करो। वह ज्यादा कारगर होता है।' शिष्य वोला, 'सव आदमी डॉक्टर या वैद्य नही होते। आदमी

बीमार होता है, डॉक्टर के पास चला जाता है और दवा लेकर स्वस्थ हो जाता है। हर आदमी को डॉक्टर बनने की क्या जरूरत है ?'

बहुत लोग ऐसे ही होते हैं। उनमे जिज्ञासा नही होती। अपने आपको जानने की इच्छा ही नही होती। परमात्मा को जानने की या सत्य को जानने की जिज्ञासा को हम छोड दें, किन्तु वे स्वय को जानने की जिज्ञासा से शून्य होते हैं। बहुत कम लोगो मे स्वय को जानने की जिज्ञासा होती है। अपने आपको आदमी इसीलिए नही जान पाता कि उसके मन मे स्वय के प्रति जिज्ञासा का भाव ही नही जागता। उसके मन मे कभी यह प्रश्न खडा ही नही होता कि मैं कौन हू। आदमी देखता है—यह मेरा शरीर, ये मेरी आखें, ये मेरे हाथ और पैर। बस, यही मैं हू। इनसे परे भी मैं हू। यह भावना नही जागती। इन्द्रियो की सीमा से बाहर जाकर जानने का कोई प्रयत्न ही नही करता। जब जिज्ञासा ही नही है तो जानने का प्रयत्न भी कैसे हो सकता है ?

ज्ञान का सारा विस्तार, व्यक्तित्वरूपी वृक्ष की ये शाखाए, सारी जिज्ञासा के बाद पैदा होती हैं। जिज्ञासा के अभाव मे कोई विस्तार नही होता। ऋषि-मुनियो ने ज्ञान का जो विकास किया, उसका पहला सूत्र था—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। शिष्य आता है गुरु के पास और कहता है, 'सत्य जिज्ञासामि—सत्य को जानना चाहता हू।' जहा-जहा यह जिज्ञासा पैदा हुई है, वहा-वहा ज्ञान का विकास हुआ है।

जीवन विकास का दूसरा सूत्र है—चालना अर्थात् प्रेरणा। इसका शाब्दिक अर्थ है—हिलाना। मन मे जिज्ञासा जागी और यदि प्रेरणा नही हुई, चालना नही हुई, पुरुषार्थ नही किया तो जिज्ञासा अपने आप समाप्त हो जाती है। जिज्ञासा को चालना देनी पडती है।

एक आदमी रास्ते पर बैठा था। पास मे एक पुष्ट गाय थी। राही आते। गाय को देखकर प्रसन्न होते। खरीदने को जी ललचाता। एक पथिक ने पूछा, 'गाय बेचोगे ?' उसने कहा, 'हा। इसका मोल हजार रुपया है।' ग्राहक ने कहा, 'हजार रुपया दे दूगा। गाय को चलाकर दिखाओ। देखें कैसे चलती है।' उसने कहा, 'यह नही होगा। मैंने बैठी हुई गाय खरीदी थी, तो बैठी हुई ही बेचूगा। खडी नही करूगा।' ग्राहक ने कहा, 'तुमने बैठी गाय खरीदी होगी, मैं इतना मूर्ख नही हू कि बैठी को ही खरीद लू।' वह गाय लगडी थी।

जो बैठी गाय को खरीदता है वह धोखा खाता है।

कुछेक लोग जिज्ञासा करते हैं। वे तत्त्व जान लेते है, किन्तु अपने ज्ञान को संचालित नही करते, आगे नही बढाते। उस स्थिति मे जिज्ञासा बैठी रह जाती है, उपयोगी नही बनती। जिज्ञासा के बाद चालना होना चाहिए।

जीवन की सफलता का तीसरा सूत्र है—विनम्रता। जिज्ञासा जीवन-वृक्ष का

विस्तार है, चालना जीवन-वृक्ष के पत्ते हैं जो छाया देते हैं और विनम्रता जीवन-वृक्ष के कुसुम हैं, जो सौरभ देते हैं, सारे परिसर को सुरभित कर देते है ।

जिस व्यक्ति के जीवन मे विनम्रता नही होती, उसका जीवन सुरभिशून्य होता है । उसमे कोई सुगन्ध नही होती । जिसके जीवन मे विनम्रता होती है, अहकार नही होता, उस व्यक्ति का जीवन इतना सुरभित वन जाता है, उसमे इतनी सुगन्ध फैलती है कि आसपास मे रहने वाले लोग उस सुरभि से सुरभित हो जाते है । उसकी परिमल और महक इतनी तीव्र होती है कि सवके दिल और दिमाग तरोताजा वन जाते हैं ।

महारानी विक्टोरिया महल मे गयी । देखा, कमरे का दरवाजा वन्द है । भीतर पति था । दरवाजा खटखटाया । अन्दर से आवाज आयी, 'कौन है ?' महारानी विक्टोरिया ने कहा, 'मैं हू ।' दरवाजा नही खुला । फिर जोर से खटखटाया । अन्दर से पूछा, 'कौन है ?' 'मैं आपकी विक्टोरिया'—महारानी ने उत्तर दिया । तत्काल दरवाजा खुल गया । महारानी विक्टोरिया के लिए पति दरवाजा खोले । उसे इतना अहकार ! 'आपकी विक्टोरिया'—इन शब्दो मे अह का विसर्जन था और 'महारानी विक्टोरिया'—इनमे अह वोल रहा था ।

अहकार के कीचड से सने हुए पैर जहा टिकते हैं वहा गदगी फैल जाती है । जव अहकार का कीचड धुल जाता है, तव कोई गदगी नही रहती ।

जीवन की वहुत वडी समस्या है 'अहकार' । आदमी विनम्र नही होता । वह यह सोचता है—विनम्र होना छोटा होना है । कैसी भ्रान्ति ! वास्तव मे अहकारी व्यक्ति छोटा होता है, विनम्र व्यक्ति कभी छोटा नही होता । आज तक जितने वडे आदमी वने हैं, वे विनम्रता के शिखर का स्पर्श करके ही उस ऊचाई तक पहुचे हैं । जिनका व्यवहार विनम्रता से छलाछल भरा था, वे सवसे वडे वन गए । विनम्रता का वरदान मिले विना कोई वडा नही वन सकता । कोई भी व्यक्ति अहकार के वलवूते पर आगे वढा हो, वडा वना हो, ऐसा नही मिलता । अहकारी टूटकर विखर जाता है । वह वडा वन ही नही सकता ।

हमारे सघ के प्रखर वुद्धिमान् व्यक्ति थे मत्री मुनि मगनलालजी । एक दिन उन्होंने मुझे कहा, 'देखो, कितना ही ज्ञान कर लो, आचार्य के कृपापात्र वन जाओ, पर अहकार मत करना । न ज्ञान का अहकार और न कृपा का अहकार । याद रखना, साधु हो । साधुता और अहकार—दोनो दो दिशाओ मे चलने वाले पथिक हैं । दोनो का कोई सवध ही नही है । साधु मे अहकार किस वात का ! जो रोटी-पानी के लिए दूसरो के आगे हाथ फैलाए, उसमे कैसा अहकार !'

यह शिक्षापद मेरे जीवन का पाथेय वना । मैंने ज्ञान और प्रज्ञा को वढाया पर अहकार को पास मे आने ही नहीं दिया । मैंने गुरु-कृपा प्राप्त की, पर उसका अह मुझे कभी नही छू सका ।

विनम्रता की सौरभ अनोखी होती है। वह स्वय फैलती है। अन्यान्य सौरभ को हवा का सहारा अपेक्षित होता है। पर यह ऐसी सौरभ है जो बिना पवन के दिग्-दिगन्तो तक प्रसरित हो जाती है।

विनम्रता का अवतरण साधना-सापेक्ष होता है। जिस व्यक्ति ने अहकार को छोडना नही सीखा वह सचमुच परमानन्द से वचित हो जाता है। एक मार्मिक श्लोक है—

अहकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, नाऽह न त्वं न वै जगत्॥

अहकार ने बुद्धि से कहा, 'बहिन ! तुम अनुभव को जगाने का प्रयत्न मत करो।' बुद्धि ने पूछा, 'क्यो ?' अहकार बोला, 'देखो परमानन्द का अनुभव जागने के पश्चात् सबसे पहले तुम्हारी समाप्ति होगी। अनुभव के सामने बुद्धि टिक नहीं पाती। जब तक अनुभव नही जागता तब तक बुद्धि का साम्राज्य बना रहता है। वह तर्क पैदा करती है और अपनी सुरक्षा किए चलती है। जैसे ही अनुभव जागता है, वह बुद्धि पर प्रहार करता है। अनुभव बुद्धि से बडा होता है। तुम्हारी समाप्ति के बाद मेरी बारी आती है। मुझे भी वहा से हटना पडता है। मेरा अस्तित्व बुद्धि के कारण ही बना रहता है। बुद्धि के विनष्ट होने पर मेरा नाश अवश्यभावी है। अनुभव के समक्ष न बुद्धि का अस्तित्व रहता है और न अहकार का। औरो की बात छोड दू, जगत् भी नही टिक पाता। अनुभव के जागने पर यह ससार, यह नाम-रूप, यह आकार, सब समाप्त हो जाता है। इसलिए बहिन ! मेरी बात मानो, अनुभव को मत जगाओ।'

जब तक जीवन मे अनुभव नही जागता, भ्रान्तिया पलती रहती हैं। आदमी भ्रान्तियो का जीवन जीता रहता है। भ्रान्तियो के जीवन मे अहकार और ममकार का साम्राज्य चलता है। अहकार के कारण आदमी अपने को सब कुछ मानकर दूसरों को कुछ भी नही मानता। वह अपने सिवाय सबको नासमझ मानता है।

विनम्रता जीवन की सफलता का तीसरा सूत्र है। यह जीवन-वृक्ष का कुसुम है, सौरभ है।

जीवन की सफलता का चौथा सूत्र है—सरसता। मृदु व्यवहार जीवन की सरसता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नही हो सकता। वह स्वय भी सरस नही होता और दूसरो मे भी सरसता नही भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वय सरस होता है, दूसरो मे सरसता भरता है।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। मुनि भिक्षा लेकर आए। भिक्षा दिखाई। एक पात्र मे चने की दाल और मूग की दाल मिश्रित थी। आचार्य भिक्षु ने मुनि

से कहा, 'दोनो दालो को मिलाकर क्यो लाये ? अलग-अलग पात्र मे लाना चाहिए।' मुनि ने सहजभाव से उत्तर दिया, 'दाल-दाल होती है। क्या अन्तर आता है। साथ ले आया।' आचार्य भिक्षु ने कहा, 'चने की दाल वीमार को नही दी जा सकती। मूग की दाल दी जा सकती है। तुमने गलती की है।' भिक्षु ने उसे उलाहना दिया।

मुनि को वात खटक गयी। वे भोजन न कर सो गए। भिक्षु भोजन मडली मे वैठे। साधु को उपस्थित न देखकर पूछताछ की। पता लगा कि वे सो रहे है। भिक्षु व्यवहार-पटु थे। मनोवैज्ञानिक थे। उन्होने वात को जानते हुए पुकारा, 'अरे ! सोते-सोते दोष मेरा देख रहा है या अपना ?' इतना सुनते ही मुनि का गुस्सा शात हो गया। वे उठे, वाहर आए, भिक्षु को वदना कर वोले, 'दोष तो अपना ही देख रहा था।' वस, सारा वातावरण समाप्त।

आचार्य भिक्षु के शब्दो ने उसमे सरसता भर दी। मुनि सरसता से अभिभूत हो गए। सरसता वही भर सकता है जिसके जीवन-व्यवहार मे सरसता हो। रस-हीन व्यक्ति का व्यवहार मृदु नही हो सकता। वह कभी दूसरो को सरस नही वना सकता।

जीवन-विकास के सूत्रो की यह सक्षिप्त चर्चा है। जीवन को सफल वनाने के लिए हम जीवन को विस्तार दें, जीवन मे छाया उपलव्ध करें, सौरभ और सरसता को प्राप्त करें। ऐसा होने पर जीवन-वृक्ष ऐसा सरस वन जाएगा कि वह आसपास को सुरभिमय वना सकेगा और प्रत्येक व्यक्ति रस से आप्लावित हो सकेगा।

लुधियाना, २७-६-७६।

व्यक्तित्व निर्माण के तीन सूत्र

दुनिया मे ऐसे कार्य वहुत हैं जो कठिनता से सम्पन्न होते हैं। हिमालय के शिखर पर चढना, उफनती हुई वडी नदियो को पार करना, समुद्र के एक तट से दूसरे तट पर पहुचना—ये सव कठिन कार्य हैं। ऐसे और भी अनेक कार्य हैं, किन्तु व्यक्तित्व का निर्माण कठिनतम कार्य है। अन्यान्य कार्य अभ्यास से साधे जा सकते हैं, किन्तु व्यक्तित्व का निर्माण अत्यन्त दु साध्य कार्य है।

उदयपुर मे एक गोष्ठी का समायोजन था। आचार्यवर ने उसमे कहा था, 'वच्चो को जन्म देने वाले माता-पिता वहुत हैं, किन्तु वच्चो का निर्माण करने वाले माता-पिता विरले ही होते हैं। आचार्यश्री के सामने भी व्यक्तित्व-निर्माण का प्रश्न था। व्यक्तित्व निर्माण महानता का सूचक है।

एक वार एक साहित्यकार ने आचार्यश्री से कहा, 'आपने साहित्य की अजस्र धारा वहाई। नैतिक उत्थान का भगीरथ प्रयास किया। दार्शनिक क्षेत्र मे भी आपने वहुत वडा कार्य किया किन्तु इन सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य आपने यह किया कि आपने अनेक व्यक्तित्वो का निर्माण किया। यह आपका सवसे महत्त्वपूर्ण अनुदान है।'

जैन रामायण का एक प्रसग है। एक वार रावण ने इन्द्र पर आक्रमण किया। इन्द्र ने प्रवल शक्ति के साथ सामना किया, किन्तु रावण की प्रचण्ड शक्ति के समक्ष वह ठहर नही सका, लडखडा गया। भीतर जाकर घुस गया। रावण ने अपना दूत भेजा। दूत ने जाकर इन्द्र से कहा—

शक्ति-भक्ति दोय है, जीवतणी रखवारी।

ससार मे दो वस्तुए रक्षक होती हैं—शक्ति या भक्ति। यदि आप मे शक्ति शेष है तो आप वाहर आए और शस्त्र को उठाए। यदि शक्ति नही है तो भक्ति का सहारा लें। आप रावण की शरण मे चले जाए। उनके चरणो का आलवन लें और त्राण का अनुभव करें।

जहा युद्ध का प्रसग होता है, जय-पराजय का प्रश्न होता है वहा शक्ति और भक्ति को अलग-अलग कर दिया जाता है। किन्तु व्यक्तित्व के प्रसग मे इन दोनो

को पृथक् नही किया जा सकता।

व्यक्तित्व के दो पक्ष है—शक्ति और भक्ति। दोनो एक साथ होते है तो व्यक्तित्व का पछी उड सकता है, अन्यथा वह लडखडाकर नीचे आ गिरता है। व्यक्तित्व के निर्माण मे दोनो का योग होना चाहिए। यदि शक्ति न हो तो कोई युवक हो ही नही सकता। युवक और शक्ति—ये शब्द दो है पर पर्याय एक है। यदि शक्ति न हो तो १८, २०, २५ वर्ष का व्यक्ति युवक नही कहला सकता। उसे बूढा कहा जा सकता है। शक्तिहीन कभी युवक नही हो सकता।

शक्ति के साथ भक्ति का होना जरूरी है। भक्ति के विना शक्ति व्यर्थ है। वह उन्माद और पागलपन पैदा करती है। वह सघर्ष और कलह उत्पन्न करती है। यदि शक्ति के साथ भक्ति का योग होता है तो सतुलन वना रहता है।

तेरापथ मे जिसने जन्म लिया, जिसने आचार्य भिक्षु और आचार्य तुलसी को समझा, वह शक्तिशाली होकर भी भक्तिशून्य नहीं हो सकता। तेरापथ की परपरा मे सर्वाधिक शक्तिशाली पुरुष हुए हैं श्रीमज्जयाचार्य। वे तेरापथ के चौथे आचार्य थे। वे थे ज्योतिर्धर और महान् शक्तिशाली। वे थे महान् कर्तृत्व के धनी। वे जितने अशो मे शक्तिशाली थे उतने ही अशो मे भक्तिमान् भी थे। शक्ति और भक्ति उनकी अपूर्व थी। वे आचार्य भिक्षु के परम भक्त थे। एक प्रसंग में उन्होंने लिखा, 'मुझे जैन धर्म और जैन शासन मिला, महावीर की वाणी और अनुभव मिले। समन्वय, स्याद्वाद और अनेकात मिला, स्वाध्याय और दोहन के लिए विशाल आगम ग्रन्थ मिले, तेरापथ जैसा सुसगठित और अनुशासित संघ मिला। कलिकाल मे यह सव मिला। किसी न्यूनता का अनुभव नही हो रहा है। किन्तु एक अनुताप मुझे वार-वार सता रहा है कि आचार्य भिक्षु आज मेरे समक्ष नही हैं। वे मेरे से पूर्व चले गए। मैं उनका साक्षात्कार नही कर सका। वस, यही अनुताप मुझे दु ख दे रहा है।'

उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को इतने मार्मिक शब्दों मे प्रस्तुत किया है कि पढने वाला स्वय गद्‌गद् हुए विना नही रह सकता।

तेरापथ की परपरा में पलने वाला इस वात को नहीं भुला सकता कि जो सर्वाधिक शक्तिशाली होता है वह सर्वाधिक भक्तिमान् भी होता है। शक्ति और भक्ति की समन्विति ही धन्यता पैदा करती है। वह धन्य नही होता जो केवल शक्तिशाली हो, क्योकि उसकी शक्ति तोड-फोड और विध्वस मे अधिक लगती है, भक्ति मे नही लगती। हमे ऐसा युवक नही चाहिए जो केवल शक्तिशाली हो। वह कभी वरदान नही वन सकता। वह समाज के लिए अभिशाप वन सकता है।

व्यक्तित्व निर्माण का पहला सूत्र है—शक्ति और भक्ति का योग।

व्यक्तित्व निर्माण का दूसरा सूत्र है—विचार और निर्विचार का योग।

इस दुनिया मे विचारवान् लोगो की कमी नही है। विचारवान् वहुत हैं।

विचार अनेक समस्याओ को पैदा करता है। वह समस्याओं का जनक है। आज ससार मे जितनी समस्याए हैं, वे सब विचारो के कारण ही उत्पन्न हुई है। यदि विचार के साथ निर्विचार का योग नही होता है तो बहुत अनर्थ घटित हो जाता है। जो व्यक्ति विचार की सीमा को नही समझता, जो व्यक्ति विचार की सीमा का उल्लघन कर निर्विचार की सीमा मे प्रवेश करना नही जानता, जो अपने विचार का ही आग्रह करता है वह नयी-नयी समस्याओं को जन्म देता हैं।

तेरापथ परपरा मे एक विशिष्ट मुनि हुए है—वेणीरामजी। वे समर्थ मुनि थे। वे आचार्य भिक्षु के कृपापात्र थे। वे बुद्धिमान और कर्तृत्व वाले व्यक्ति थे। एक बार आचार्य भिक्षु ने पुकारा, 'वेणीराम आओ।' वे बोले नही। तीन बार पुकारा वे बोले नही। आचार्य भिक्षु के पास एक श्रावक बैठा था। आचार्य भिक्षु ने कहा, 'वेणीराम छूटतो दीसे है'—'लगता है आज मुनि वेणीराम गण से अलग होना चाहता है।' वह श्रावक तत्काल उठा। मुनि वेणीरामजी के पास जाकर आचार्य भिक्षु की बात कही। वे तत्काल उठे। आए और आचार्य भिक्षु के चरणो मे गिर पडे। विनम्रता से कहा, 'गुरुदेव! आपने क्या कह दिया?' आचार्य भिक्षु बोले, 'तीन बार बुलाया और तुम स्थान से उठे भी नही, कुछ बोले भी नहीं, यह कैसी उद्दडता? मैं इसे सहन नही कर सकता।' मुनि वेणीरामजी ने कहा, 'यह क्या कह रहे हैं? आप बुलाए और मैं न बोलू, यह कभी सभव नही है। मैंने सुना ही नही। मैं आपका भक्त हू। मैं इतना अविनय कैसे कर सकता हू।'

मुनि वेणीरामजी विचारशील थे। वे सोच सकते थे, 'अरे, मैं क्यो इतना अनुनय-विनय करू? मेरा अपराध ही क्या था? मैंने जान-बूझकर तो गल्ती नही की। इतना रोष प्रकट कर रहे हैं तो मुझे क्या! मैं भी समर्थ हू।' किन्तु मुनि वेणीरामजी ने ऐसा नही सोचा। उनके सारे विचार समाप्त, सारी तरगें और ऊर्मिया समाप्त। वे विचार को छोडकर निर्विचार की स्थिति मे चले गए। मन का समुद्र निस्तरग हो गया। उन्होंने विनय किया। आचार्य भिक्षु पसीज गए। उन्हे गले लगा लिया।

विचार से निर्विचार की ओर प्रस्थान करना व्यक्तित्व निर्माण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

मनुष्य मे सबसे बडा आग्रह होता है विचारो का, मान्यताओ का। वह सोचता है—जो मेरे विचार हैं, वे ही सच हैं, अतिम हैं। दूसरे जो सोचते हैं, वे मिथ्या हैं। यह आग्रह भयकर परिणामो को उत्पन्न करता है। अनेक समस्याए इसी आग्रह के कारण उत्पन्न होती हैं। यह विचार-क्रांति की बात सोचता है, सारे ससार मे आग लगा देने की बात सोचता है, पर स्वयं के निर्माण को भूल जाता है। एक तीखा व्यग्य है। एक कवि ने अपनी पत्नी से कहा, 'मेरी कविताए ऐसी है जिनसे सारे ससार मे आग लगा सकता हू।' पत्नी बोली, 'पतिदेव! धन्य

हैं आप। ससार मे आग लगे या न लगे, मेरे चूल्हे मे आग लगा दें। एक घटा से मैं प्रयत्न कर रही हू, वह जलता ही नही है।'

जिसे अपने विचारो का आग्रह होता है वह दूसरो मे आग लगाने का स्वप्न लेता है। वर्तमान के कुछेक भगवान् यही मानते हैं कि वे ज्ञान के अथाह समुद्र हैं। ज्ञान की सारी सरिताए उनसे उद्भूत हुई हैं। वे ही ज्ञान के आदि-स्रोत हैं। दूसरे जो कुछ कहते हैं, वह सब तोता-रटन है, चबाये हुए का पुन चर्वण है, मौलिक नही है। कितना पागलपन! कितना अज्ञान! कितना अह! क्या ज्ञान का एक ही स्रोत है? क्या ज्ञान का समुद्र सूख गया? क्या ज्ञान की सपदा समाप्त हो गयी? बडा आश्चर्य होता है। किन्तु जब व्यक्ति का अह जाग जाता है, विचार का अह उन्मुक्त हो जाता है तब व्यक्ति प्रमाद के गहरे अधकार मे चलने लगता है और सत्यो को झुठलाता जाता है और झूठ को प्रसारित करने मे लग जाता है।

व्यक्तित्व निर्माण का दूसरा सूत्र है—विचार के अभिनिवेश से मुक्ति, विचार और निर्विचार का सतुलन।

व्यक्तित्व निर्माण का तीसरा सूत्र है—तर्क और तर्कातीत का योग।

मनुष्य के जीवन मे बुद्धि का बहुत बड़ा स्थान है। मनुष्य को इतना विकसित और सशक्त नाडी-सस्थान तथा तत्रिका-तत्र प्राप्त हुआ है कि उसमे असीम क्षमताए हैं, जो ससार के किसी भी प्राणी मे नही हैं। न देवता मे हैं, न पशु मे हैं और न किसी अन्य प्राणी मे हैं। किसी मे भी नही है। इसलिए बुद्धि और तर्क का उपयोग करना हमारे लिए बहुत जरूरी है। उनके उपयोग की भी एक सीमा है। बुद्धि और तर्क के साथ-साथ अनुभव का भी उपयोग करना चाहिए, तर्कातीत सत्य का भी प्रयोग करना चाहिए।

सत्य तर्कातीत होता है। वह अनुभव के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। तर्कातीत सत्य की उपलब्धि बहुत जरूरी है। तर्क का बहुत दुरुपयोग होता है।

कोल्हू का बैल चल रहा था। एक अतिथि आया। वह कोल्हू के स्वामी के पास बैठा। उसने देखा कि स्वामी चुपचाप बैठा है और कोल्हू का बैल स्वत घूम रहा है। कुछ क्षणो के बाद वह बोला, 'बैल के गले मे फदा क्यो बाध रखा है?'

स्वामी बोला, 'कही भाग न जाए, इसलिए।'

'इसकी आखो पर पट्टी क्यो बाधी है?'

'इसे यह पता न चले कि मैं एक परिधि मे घूम रहा हू, अन्यथा यह रुक जाएगा।'

'इसके गले मे घटी क्यो है?'

'गले की घटी बजती है तो पता चल जाता है कि यह घूम रहा है। घटी बद होती है तो उसके रुकने का आभास हो जाता है।'

'अच्छा, किन्तु यह बैल खडा-खडा भी घटी बजा सकता है और तुमको भ्रम

मे डाल सकता हूँ।'

'नही, बैल आदमी जितना तर्कबाज नही है। उसने तर्क-शास्त्र नही पढा है।'

आदमी तर्क के लिए जितना सु-ख्यात है उतना ही कु-ख्यात भी है। तर्क की एक सीमा होनी चाहिए।

व्यक्तित्व निर्माण के ये तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। युवक को युवक बनना है और सही अर्थ मे युवक बनना है। अवस्था से युवक होना पर्याप्त नही है। जिसमे ज्ञान नही होता, कर्मजा-शक्ति नही होती, जो समाज के लिए अपने कर्तृत्व का उपयोग नही करता, वह वयस्क होते हुए भी समाज के लिए युवक नही होता और उसका युवकोचित कर्तृत्व भी नही होता।

आज बडा प्रश्न है युवक बनने का। आचार्यश्री युवक पैदा करना चाहते हैं। युवको का कर्तव्य है कि वे युवक बनने के लिए तैयार रहे। यह अधिवेशन आचार्यश्री के समक्ष भी एक कसौटी उपस्थित करता है और युवको के समक्ष भी एक कसौटी उपस्थित करता है। इस कसौटी-काल मे प्रतिवर्ष कसौटी होनी चाहिए। युवक को विमर्श करना चाहिए कि गत वर्ष जितना युवकत्व जागा, अगले वर्ष यह कितना वृद्धिगत हुआ। प्रतिवर्ष युवकत्व का विकास होता जाए और युवक उत्तरोत्तर अधिक से अधिक युवक बनता चला जाए।[1]

१ तेरापथ युवक परिषद् के तेरहवें वार्षिक अधिवेशन (दि० २२-९-७९) लुधियाना मे प्रदत्त प्रवचन से सकलित।

तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो

तुम केवल देह ही नही हो और भी कुछ हो। देह से आगे तुम्हारी इन्द्रिया हैं। उनसे आगे मन है। उससे आगे है आत्मा। तुम आत्मा को मानो या मत मानो यह तुम्हारी इच्छा है। क्योकि वह अरूपी है। तुम चचल हो। तुम स्थिर बनकर कहो कि आत्मा नही है तो शायद नही कह सकोगे।

क्या तुम जानते हो--तुम्हारे अन्तर् मे कितनी शक्ति है? नही जानते। यदि जानते तो तुम नही कहते कि आत्मा नही है। भले कहो आत्मा नही है, इसमे मुझे कोई आपत्ति नही। पर आत्मा नही है, इसे मानकर तुम्ही अनन्त आनन्द से वचित रहते हो। प्रो० ल्योनिद वासिलियेव का कहना है कि मस्तिष्क शोध-सस्थान तथा दूसरे सस्थानो मे किये गए परीक्षणो के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि मानव-मस्तिष्क मे शक्ति का अक्षय और अनन्त स्रोत है। वह कोसो दूर बैठकर दूसरो को सम्मोहित कर सकता है। मानव-मस्तिष्क की यह शक्ति चुम्बकीय तरगें नही हैं। उनसे भिन्न हैं। इसके बारे मे अभी कोई पता नही चल सका है।

तुम चेतन मन के चगुल मे फसे हुए हो। इसीलिए तुम अपनी असीम क्षमताओ से अनजान हो। तुम अवचेतन मन को अवसर दो फिर देखो कि तुम्हारी क्षमताए किस प्रकार प्रकट होती हैं और तुम कितने शक्तिशाली बनते हो। तुम एक मनोवैज्ञानिक से पूछो—चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन कितना शक्तिशाली है? भारतीय धर्मविदो ने ध्यान को सर्वोपरि क्यो माना? इसीलिए कि चेतन मन को एकाग्र किए बिना अचेतन मन क्रियाशील नही बनता। उसके क्रियाशील बने बिना शक्तिया प्रकट नही होती।

तुम प्रवृत्ति की रट लगाते-लगाते सत्य से बहुत दूर जा बैठे। प्रवृत्ति यानी चचलता। यह तुम्हारे जीवन का नियम हो सकती है पर सत्य तुम्हारे जीवन का नियम नही है। वह अस्तित्व का नियम है। उसे तुम निवृत्ति के द्वारा ही पा सकते हो। निवृत्ति यानी स्थिरता। तुम स्थिर काच मे ही अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हो, चचल मे नही। तुम सत्य की शोध करना चाहते हो तो और कुछ मत करो।

केवल ध्यान करो। चेतन मन को एकाग्र करो। अवचेतन मन को अपनी शक्ति के प्रदर्शन का अवसर दो।

ध्यान करो—यह वहुत सरल वात है। इसे समझने मे कोई कठिनाई नही। पर वहुधा ऐसा होता है कि शब्दो की सरलता मे छिपी हुई भावो की गहराई को नापना सरल नही होता। ध्यान के लिए या चित्त की एकाग्रता के लिए वहुत खपना पडता है और इतना खपना पडता है कि शायद अन्य किसी कार्य के लिए उतना नही खपना पडता। क्योकि हमारे चारो ओर प्रवृत्ति का वातावरण है। हमारा शरीर चचल है। हमारी इन्द्रिया चचल हैं। हमारा मन चचल है। भूख लगती है, इन्द्रिया चचल हो जाती हैं, मन चचल हो जाता है, देह प्रकम्पित हो उठती है। प्रवृत्ति प्रवृत्ति को जन्म देती है। भूख मिटाने को रोटी आवश्यक होती है। उसके लिए पैसा आवश्यक होता है। उसके लिए व्यापार और व्यापार के लिए और वहुत कुछ। इस प्रकार एक प्रवृत्ति के लिए हजार प्रवृत्तिया आवश्यक होती हैं, एक प्रवृत्ति मे से हजार प्रवृत्तिया जन्म लेती हैं।

क्रोध आता है। इन्द्रिय, मन और देह सारे काप उठते हैं। उनकी शान्ति के लिए तुम क्रोध के कारण का निवारण चाहते हो। इस शृखला मे भी तुम्हारी प्रवृत्तियो की कडी टूट नही पाती। तुम चाहते हो वैर से वैर मिटे, हिंसा से हिंसा परास्त हो और शस्त्र से शस्त्र का नाश हो। पर यह कव हुआ है? यदि होता तो प्रस्तर-युग ही होता अणु-अस्त्रो का युग कैसे आता?

तुम सच मानो आज निवृत्ति की वहुत वडी आवश्यकता है। इसे पलायनवाद कहकर उपेक्षित करते रहोगे तो एक दिन यह ससार मानसिक रोगियो का कारा-गृह वन जाएगा।

आज के यान्त्रिक युग मे मानव-मन पर जितना भावनात्मक दवाव पड रहा है, जितनी वैचारिक क्रान्ति वढ रही है, जितना नाडी-सस्थान का तनाव वढ रहा है, उतना पहले नही था। अधिकाश रोगो का कारण यह तनाव वन रहा है। क्या शिथिलीकरण से अधिक लाभप्रद इसकी और कोई चिकित्सा है? अनुभव कहता है, नही है। हठयोग मे जो शवासन, भगवान् महावीर की भाषा मे जो कायोत्सर्ग है और भगवान् वुद्ध की भाषा मे जो अनापानस्मृति है, वही इसकी सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है। यह शिथिलीकरण क्या है? निवृत्ति। शरीर-चेष्टा की निवृत्ति, भाषा की निवृत्ति और मन की निवृत्ति। जो मन को खाली करना नही जानता, वह उसे भर नही सकता। तुम्हारी प्रवृत्ति इसीलिए प्रवल नही वनती है कि तुम निवृत्ति को भुलाकर प्रवृत्ति करते हो।

काम के वाद आराम और आराम के वाद काम जो करता है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक काम कर सकता है जो निरन्तर काम ही काम करता है, विश्राम नहीं करता। जागरण के वाद नीद और नीद के वाद जागरण—यह क्या

है ? प्रवृत्ति और निवृति का सन्तुलन। निवृत्ति की मेरी परिभाषा है, सबसे बडी प्रवृत्ति। निवृत्ति का अर्थ है दूसरे की प्रवृत्ति मे पहले की निवृत्ति। प्रवृत्ति सत् का लक्षण है। जिसका अस्तित्व है, उसमे प्रवृत्ति है, सक्रियता है। जिसमे प्रवृत्ति नही है, वह असत् है। तर्कशास्त्र की भाषा मे कहा जाता है—जो अर्थ क्रियाकारी है, वह सत् है। पूर्ण निवृत्ति कभी नही होती, किसी मे भी नही होती। निवृत्ति का अर्थ ही है प्रवृत्ति का रूपान्तर। एक वैज्ञानिक व्यापार से निवृत्त होता है और शोध-कार्य मे प्रवृत्त। एक किसान शोध-कार्य से निवृत्त होता है और कृषि-कार्य मे प्रवृत्त। एक भोगी आत्म-साधना से निवृत्त होता है और व्यवहार मे प्रवृत्त। एक योगी व्यवहार मे निवृत्त होता है और आत्म साधना मे प्रवृत्त। सब मे अपने-अपने प्रकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति होती हैं। सब प्रकार की प्रवृत्तियां और सब प्रकार की निवृत्तिया किसी एक मे कभी नही होती।

तुम निवृत्ति के नाम से घबराओ मत। उसके निकट जाओ। उसकी आराधना करो। यह एक बहुत ही ऋजु मार्ग है। इसमे चलो। तुम्हारा अनन्त-शक्ति का स्रोत जो सिमटा हुआ है, प्रकाश मे आ जाएगा।

तुम आत्मा हो। आत्मा मे अनन्त-शक्ति, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-आनन्द है। तुम जिन वस्तुओ को पाने के लिए भटक रहे हो, वे आत्मा मे नही है। किन्तु उसके पास वह वस्तु है, जिसे पाकर तुम उन्हे पाने के लिए नही भटकोगे। जो अपने-आप को नही पहचानता, वह बाहर का बहुत-कुछ पाकर भी दरिद्र होता है और जो अपने आप को पहचान लेता है, वह बाहर से अकिंचन होकर भी समृद्ध होता है। दरिद्र कोई है ही नही। पर मनुष्य दरिद्र बनता है और इसलिए बनता है कि वह नही जानता कि मैं दरिद्र नही हू। आन्तरिक विश्वास प्रबल हो तो समृद्धि ही समृद्धि है। वह दुर्बल हो तो दरिद्रता ही दरिद्रता है। समृद्धि और दरिद्रता तुम्हारे अपने विश्वास की परिधि मे ही है।

तुम्हारे ज्ञानचक्षु पर आवरण है, तुम्हारे मन मे वासनाए है, तुम्हारी इन्द्रिया चचल हैं इसलिए तुम दरिद्र हो। तुम्हारा शक्ति-स्रोत सूखा हुआ है। आवरण को दूर कर वासनाओ से मुक्त बनो, इन्द्रियो पर अपना नियन्त्रण स्थापित करो, फिर देखो तुम कितने समृद्ध हो। तुमने मान लिया ऐसा करना योगी का काम है, हमारा नही। मुझे लगता है, तुमने जो माना है, वह सच नही है। सचाई यह है कि योगी बने बिना कोई शान्ति का जीवन जी नही सकता। तुम पूछोगे, फिर इस दुनिया का क्या होगा ? होगा कुछ भी नही। दुनिया चली आयी है और चलेगी। तुम योगी बनकर जीओगे तो तुम्हे शान्ति मिलेगी अन्यथा तुम्हारा मन अशान्त होगा, तुम जीते-जी मरते रहोगे। तुम्हारा स्नायु-सस्थान तुम्हे कुरेदता रहेगा और विचारो की शृखला छिन्न-विच्छिन्न हो जाएगी।

योगी का नाम सुनकर चौको मत। मैं फिर कहता हू कि हर व्यक्ति को

योगी बनना चाहिए। इन्द्रियो और मन को इतना समाधान अवश्य देना चाहिए, जितना मानसिक सन्तुलन के लिए आवश्यक हो।

तुम्हारे आवेग, तुम्हारे विक्षेप और तुम्हारे सकल्प-विकल्प तुम्हे शक्तिहीन किये हुए है। तुम अपनी शक्ति के अजस्र स्रोत को प्रवाहित करना चाहते हो तो आवेगो पर विजय प्राप्त करो। विक्षेपो को मिटाओ, संकल्प-विकल्पों पर शासन करो। तुम योगी बनकर ही ऐसा कर सकोगे। तुम निरे भोगी बनकर सेवक ही रहोगे, स्वामी नही बनोगे। सेवक को रोटी मिल सकती है पर समाधान नही मिलता। योगी वह होता है जिसके लिए समाधान पाना शेष नही रहता। समस्या तुम भी नही चाहते, समाधान चाहते हो। तुम्हारी दैहिक आवश्यकताओ का समाधान बाहर है पर तुम्हारी आन्तरिक समस्याओ का समाधान कही बाहर नही है। वह तुम्हारे भीतर ही है, तुम्हारे मन मे है, तुम्हारी आत्मा मे है। मन को जलाओ, उसके आलोक मे अपने आप को ढूढो। तुम स्वय देख पाओगे कि तुम अनन्त-शक्ति के स्रोत हो।

तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथ में

मैंने वडे सहज भाव से कह दिया कि मन को जलाओ पर उसे जलाना क्या इतना सरल है, जितना शब्दो मे दीखता है ? तुम जव-जव उसे जलाने का प्रयत्न करोगे तव-तव इन्द्रियो का तूफान आएगा। तुम उससे नही निपट पाओगे। मन का दिया बुझा का बुझा रह जाएगा।

मैंने वडे सहज भाव से कह दिया कि मन को खाली कर डालो। पर उसे खाली करना क्या इतना सरल है, जितना शब्दो मे दीखता है? तुम जव-जव उसे खाली करने का यत्न करोगे तव-तव विकल्पो का तूफान आएगा। तुम उससे नही निपट पाओगे। मन भरा का भरा रह जाएगा। तुम मानते हो कि स्मृति मनुष्य के लिए वरदान है। मैं भी मानता हू कि वह वरदान है। पर तुम क्यो नही मानते कि वह अभिशाप भी है। विस्मृति को तुम अभिशाप मानते हो। मैं भी मानता हू कि वह अभिशाप है। पर तुम क्यो नही मानते कि वह वरदान भी है। कोरी स्मृति और कोरी विस्मृति दोनो अभिशाप है। क्वचित् स्मृति और क्वचित् विस्मृति दोनो वरदान हैं।

कोई भी विचार मन मे उठता है, वह अपना सस्कार छोड जाता है। विचार अच्छा भी होता है, बुरा भी होता है। अच्छा सस्कार तुम्हे ऊपर उठाता है तो वुरा सस्कार तुम्हे नीचे ले जाता है। विस्मृति की कला यदि तुम्हारे हाथ मे नही है तो सुन्दर भविष्य तुम्हारे हाथ मे नही है। तुम प्रयत्न करो कि कोई भी वुरा विचार तुम्हारे मन मे न घुस पाये। यदि कोई घुस जाए तो विस्मृति का सहारा लो। उसे इस प्रकार भुला दो जैसे वह तुम्हारे मस्तिष्क का स्पर्श भी न कर पाया हो। विस्मृति का प्रयत्न करोगे तो उस की स्मृति प्रवल होकर उभर आएगी। उसका उपाय यह है कि तुम अच्छे सस्कार की स्मृति को इतना प्रवल करो कि बुरे की विस्मृति अपने आप हो जाए। प्रेम या उपशम को पुष्ट करो, क्रोध नष्ट हो जाएगा। मृदुता को पुष्ट करो, अभिमान क्षीण हो जाएगा। ऋजुता का ध्यान करो, कपट पराजित हो जायेगा। सन्तोष का वार-वार चिन्तन करो, लोभ विलीन हो जाएगा। क्रोध, अभिमान, माया और

लोभ—ये तुम्हारे भाग्य को क्षत-विक्षत करने वाले कीटाणु हैं। इनका प्रतिरोध करके ही तुम अपने भाग्य की सृष्टि कर सकते हो। भाग्य और क्या है? पवित्र विचारो की सृष्टि भाग्य की सृष्टि है और अपवित्र विचारो की सृष्टि ही दुर्भाग्य की सृष्टि है। तुम स्वतन्त्र स्रष्टा हो अपने भाग्य के और दुर्भाग्य के। तुम चाहो तो अपवित्र विचारो को विलीन कर पवित्र विचारो का सृजन कर सकते हो। आज तुम अपने मन पर, अपने सूक्ष्म शरीर पर जो अकित करते हो, वही कल तुम्हारा भाग्य बन जाता है। वर्तमान का प्रयत्न पुरुषार्थ कहलाता है और अतीत का प्रयत्न भाग्य। कृत कार्य का विचार अव्यक्त होता है तब वह सस्कार कहलाता है और वही जब व्यक्त होता है तब भाग्य कहलाता है।

मैं नही जानता तुम आस्तिक हो या नास्तिक? मैं नही जानता तुम भाग्य मे विश्वास करते हो या नही? यह जानकर मैं क्या नयी बात जान पाऊगा? मैं जानता हू कि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। इस शाश्वत सत्य को तुम भी अस्वीकार कैसे करोगे? एक बार जो देखा है, सुना है और अनुभव किया है, वह स्मृति बनकर तुम्हारे सामने आता है—एक बार ही नही हजारो बार। वह तुम्हे प्रभावित करता है। उससे तुम कभी तुष्ट होते हो, कभी रुष्ट। कभी आनन्द की चोटी पर चले जाते हो और कभी शोक की अतल गहराई मे डूब जाते हो। सस्कार उद्‌बुद्ध होता है, स्मृति हो आती है, वैसे ही कोई सूक्ष्म सस्कार उद्‌बुद्ध होता है, तुम्हारी बुद्धि उचित चिन्ता मे लग जाती है और कोई सूक्ष्म सस्कार जागृत होता है, तुम्हारी बुद्धि अनुचित चिन्ता मे लग जाती है।

मस्तिष्क तुम्हारे स्थूल शरीर का एक भाग है। उसमे असख्य प्रकोष्ठ हैं। प्रत्येक प्रकोष्ठ मे असख्य सस्कार सिमटे हुए है। उन्हे तुम फैला सको तो तुम्हे ऐसे सैकडो भू-भागो की सृष्टि करनी पडे। इस स्थूल शरीर का मूल कारण सूक्ष्म शरीर है। कृत की प्रतिक्रिया का मूल हेतु सूक्ष्म शरीर है और उसी का स्थूल रूप है, दृश्य शरीर। तुम अदृश्य को नही मानते, इसमे तुम्हारा क्या अपराध है? इन्द्रिया दृश्य से आगे नही जाती। मन अदृश्य तक पहुचता है। पर सहारे के बिना नही। उसे सहारा तो देते हैं—इन्द्रिया और शब्द। इन्द्रिया उसे अदृश्य तक नही ले जा सकती। क्योकि अदृश्य उनका विषय नही है। शब्द मे तुम्हारी आस्था नही। तुम्हारे पास यह प्रमाण भी नहीं है कि जिसका यह शब्द है, वह अदृश्य-दर्शी था। तुम किसी के शब्द को प्रमाण नही मानते, उसके लिए तुम्हारा यही तो तर्क है पर तर्क कही प्रतिहत नही होता, उसके लिए तुम्हारे पास क्या तर्क है? अदृश्य-दर्शी तुम भी नहीं हो। अनन्त अतीत मे जो हुआ है, उसके लिए तुम कल्पना ही दे सकते हो, प्रमाण नही। प्रमाण तो तुम अदृश्य-दर्शी होकर ही प्रस्तुत कर सकते हो। दृश्य-दर्शी होकर तो तुम इतना ही कहने का अधिकार पा सकते हो कि मैं इनके आगे नहीं दे पाता। इनका मैं कब विरोध करता हू। मै दृष्टि की क्षमता को

जानता हू और उसकी सीमा से भलीभाति परिचित हू, इसलिए मैं तुम्हारी क्षमता को चुनौती नही देता। पर तुम अपनी सीमित दृष्टि को भुलाकर अनन्त को चुनौती देते हो, इसे मैं तुम्हारी अनधिकार चेष्टा मानता हू और मानता हू इसे तुम्हारी प्रगति मे वाधा। हमारा हर कम्पन अपना अस्तित्व छोड जाता है। इस आकाश-मण्डल मे ऐसे अनन्त अस्तित्व हैं। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र नही थे तव वे अदृश्य थे। आज उनसे मनुष्य परिचित हो गया है। हर पदार्थ का प्रतिविम्व और हर ध्वनि की प्रतिध्वनि आकाश मे अव्यक्त होकर फिर फिर व्यक्त हो जाती है—एक की अभिव्यक्ति का साधन टेलेविज़न है और दूसरी की अभिव्यक्ति का रेडियो। आज हम अदृश्य से दृश्य की ओर आगे खडे हैं। किसी युग मे जो आत्मस्थ योगी के लिए दृश्य था, वह आज जन-साधारण के लिए दृश्य वन गया है। सत्य का रहस्योद्घाटन होता जा रहा है। वह अनन्त है, इसलिए वह पूर्णत अनावृत नही होता। फिर भी हम प्रयत्नवान् हो तो उतना सत्य अनावृत कर सकते हैं, जितना हमारी गति और स्थिति को आलोकित कर सके।

हम पुरुषार्थ की गाथा गाते समय भाग्य को भूल जाते है। इसका अर्थ है कि हम सत्य से आख-मिचौनी खेलना चाहते हैं। भाग्य मे जो अविश्वास है, वह पुरुषार्थ को झुठलाने की प्रक्रिया है। पुरुषार्थ कभी विफल नही होता—यह शाश्वत सत्य है। भाग्य इसी की एक व्याख्या है। पुरुषार्थ का जो दृश्य और तात्कालिक परिणाम है, वह तुम्हारी सफलता है। उसका जो अदृश्य और दूरगामी परिणाम है, वही तुम्हारा भाग्य है। पुरुषार्थ को तुम इसलिए महत्त्व देते हो कि उससे कृत मे परिवर्तन हो सकता है। अच्छा पुरुषार्थ प्रवल हो तो अशुभ कृत को शुभ मे वदला जा सकता है और वुरा पुरुषार्थ प्रवल हो तो शुभ कृत अशुभ मे वदला जा सकता है। यह पुरुषार्थ की महिमा है पर भाग्य भी तो उसी की अभिन्न शृखला है। आज की जागरूकता का परिणाम आज भी अच्छा हो सकता है और वीस वर्ष तक वह उसी रूप मे चल सकता है। आज के प्रमाद का परिणाम आज भी भय-कर हो सकता है और दस वर्ष तक वह वैसा फल दे सकता है। यह हमारे जीवन की सहज किन्तु वहुत जटिल प्रक्रिया है। हमारा हर पुरुषार्थ अणुओ का एक वर्ग हमारे साथ जोड जाता है। वे ही अणु अपनी स्थिति के, क्रम से हमे प्रभावित करते रहते हैं। हम उनकी अटूट कडी को तोडना नही जानते।

हर आदमी विप और अमृत खाने मे जितना स्वतन्त्र है उतना उसका परि-णाम भुगतने मे स्वतन्त्र नही है। पेड पर चढने मे हर आदमी स्वतन्त्र है पर उतरने मे परतन्त्र। खाने में हर आदमी स्वतन्त्र है पर पचाने मे परतन्त्र। इन नियमो के आलोक में तुम उस नियम को पढो कि हर आदमी पुरुषार्थ करने मे स्वतन्त्र है पर उसका फल भोगने मे परतन्त्र। अव तुम समझ गये कि तुम्हारा भाग्य तुम्हारा पुरुषार्थ ही गढना है और तुम जान गये कि तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथ मे है।

तुम भविष्य की चिन्ता कर सकते हो पर वर्तमान को शक्तिशाली बनाये बिना तुम्हे भविष्य की चिन्ता करने का अधिकार नही। तुम्हारा वर्तमान समर्थ और पवित्र होगा तो अतीत तुम्हे अन्धकार मे नही ले जायेगा और भविष्य घोर अमा वन तुम्हे नहीं भटकायेगा ? तुम भाग्य की ओर मत झाको, तुम झाको उस पुरुषार्थ की ओर जो तुम्हारे भाग्य की रचना करता है। तुम दुर्भाग्य मे भय मत खाओ, तुम भय खाओ उस बुरे पुरुषार्थ से जो तुम्हारे दुर्भाग्य की सृष्टि करता है। तुम सुन्दर, सुखद और समुज्ज्वल भविष्य का निर्माण चाहते हो तो विचारो पर अधिकार पाना सीखो। तुम विचार करते हो पर विचारो पर अधिकार पाने का विचार शायद नही करते। इसीलिए तुम बहुत बार सुन्दर भविष्य की निर्माण-सामग्री से वचित रह जाते हो।

जो विचार एक बार मस्तिष्क मे उपजता है, वह अपना परिणाम छोड जाता है। इसे जानकर तुम नही चाहोगे कि मन मे कोई बुरा विचार आये। कोई भी आदमी अपने लिए बुरा विचार नही करता। यह स्थूल सत्य है। मूल सत्य है कि अपने लिए बुरा विचार किये बिना कोई आदमी दूसरे के लिए बुरा विचार कर ही नही सकता। दूसरे की हिंसा करने वाला पहले अपनी आत्मा की हिंसा करता है। दूसरे का अहित सोचने वाला अपना अहित सोचता है—ये चिर सत्य हैं। इनका आधार स्पष्ट है कि मन मे बुरा विचार लाकर तुम अपना अहित निश्चित रूप मे करते हो। दूसरो का अहित तो उससे हो भी सकता है और नही भी।

इस असीम आकाश मे प्रसन्नता भी है और विषाद भी है, सामर्थ्य भी है और क्लीवता भी है, ज्ञान भी है और जडता भी है—वह सब कुछ है जो तुम चाहते हो और वह भी सब है जो तुम नही चाहते। तुम जो चाहते उसे तब तक नही पा सकते जब तक तुम यह न सीख लो कि तुम्हे अपने और दूसरो के लिए वही विचार मन मे लाना चाहिए जो तुम पाना चाहते हो। तुम विकास चाहते हो तो निश्चित मानो कि दूसरे के विनाश का विचार मन मे भर कर तुम विकास नही कर सकते। विकास ही विकास का विचार मन मे भरो, वह स्वय तुम्हारी ओर खिचा-खिचा आयेगा। तुम शान्ति चाहते हो तो, निश्चित मानो कि जलन का विचार मन मे प्रज्वलित कर तुम शान्ति नही पा सकते। शान्ति ही शान्ति के विचार से मन को अभिषिक्त करो, वह स्वय तुम्हारा वरण करेगी।

मन को जलाना और खाली करना योगी के लिए सरल है पर सबके लिए नही। किन्तु इतनी साधना तो सब की होनी चाहिए कि अमा की अधियारी मे भी पथ मिल जाये और इष्ट अनिष्ट के ऊपर आ जाये।

शक्ति की उपासना

ससार मे दो प्रकार के पदार्थ है—चेतन और अचेतन। चेतन भी शक्ति-सपन्न होता है और अचेतन भी शक्ति-सपन्न होता है। शक्तिहीन एक भी पदार्थ नही है। जव तक वीर्य है, शक्ति है तव तक उसका उपयोग है और जव शक्ति चुक जाती है तव वह पदार्थ व्यर्थ वन जाता है।

एक प्रश्न है। जव ससार का कण-कण शक्ति-सपन्न है तो फिर शक्ति की उपासना क्यो जरूरी है? यह प्रश्न सहज होता है। यह सचाई है कि सव शक्ति-सपन्न हैं पर शक्ति का जागरण सवमे नही होता। कुछ व्यक्ति अपनी शक्ति को जगा पाते हैं और कुछ व्यक्तियो की शक्ति सुषुप्त ही रह जाती है। इतना-सा अन्तर होता है कि एक व्यक्ति अपनी शक्ति को जगाकर उसका लाभ उठा लेता है और एक व्यक्ति की सारी शक्ति निकम्मी चली जाती है। शक्ति की उपासना इसलिए जरूरी है कि शक्ति जागे। शक्ति की अनेक धाराए है, शाखाए हैं। सव को जगा पाना हर व्यक्ति के लिए सभव नही है, किन्तु यदि कोई आदमी एक-दो शक्तियो को भी जगा पाता है तो वह विशिष्ट आदमी वन सकता है और अपने जीवन मे अभूतपूर्व कार्य कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति मे चार प्रकार के वल होते है—औरस्यवल, मनोवल, वचन-वल और प्राणापान वल। यदि कोई व्यक्ति अभ्यास के द्वारा इन सवको या इनमे से किसी एक को भी पूर्णरूप से जगा पाता है तो वह व्यक्ति वहुत समर्थ और शक्तिशाली हो जाता है।

औरस्यवल शारीरिक शक्ति है। इसके अद्भुत चमत्कारो से हम अवगत हैं। प्राणापान शक्ति के सहारे अनेक कार्य प्रदर्शित किए जाते हैं। लोहे की मजवूत साकल को तोडना, छाती के ऊपर से जीप को निकालना, छाती पर हथोडो से पत्थर को तुडवाना—ये सव प्राणापान के प्रयोग हैं। जिसका प्राणवल दृढ हो जाता है वह असाधारण कार्य करने मे सक्षम हो जाता है।

वचनवल को भी विकसित किया जा सकता है। उसमे अनन्त वीर्य होता है। एक घटना है। राजा ने अपने गुरु से कहा, 'गुरुदेव! एक दिन आपने कहा था कि

देवता बहुत लम्बा जीते हैं। हमारे हजारों-लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जाते हैं। क्या वे बैठे-बैठे थक नहीं जाते ? उनके लम्बे आयुष्य की बात बुद्धिगम्य नहीं होती।'

आचार्य वाग्बली थे। उन्हें वचोलब्धि उपलब्ध थी। वे क्षीरास्रवलब्धि के धनी थे। इस लब्धि के योग से उनकी वाणी का मिठास बहुत बढ़ गया था। वे बोले, 'राजन् ! मैं तुम्हारे प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करूंगा। पहले तुम कुछ समय के लिए प्रवचन सुनो।' आचार्य ने प्रवचन प्रारम्भ किया। सारी सभा तन्मय होकर प्रवचन सुनने लगी। समय बीतता गया। किसी को पता नहीं चला। आचार्य की वाणी से मानो मिठास झर रहा था। सभी उसके पान में निमग्न थे। एक प्रहर काल बीता। आचार्य ने प्रवचन संपन्न किया। आचार्य ने पूछा, 'राजन् ! कितनी देर से प्रवचन सुन रहे हो ? बहुत विलम्ब हो गया है।' राजा बोला, 'गुरुदेव ! यह क्या ? अभी दो क्षण पूर्व ही तो आपने प्रवचन प्रारम्भ किया था, विलम्ब कहां हुआ है ? आपने प्रवचन को इतना जल्दी कैसे संपन्न कर डाला ?' आचार्य बोले, 'राजन् ! मैंने एक प्रहर तक प्रवचन दिया है, किन्तु उसमें तुमको इतना रस आ गया कि तीन घंटा का काल दो क्षण जितना लगा। इसी प्रकार देवता इतने आनन्द में रहते हैं कि उन्हें हजारों-लाखों वर्षों के बीतने का पता ही नहीं लगता।' राजा को बात समझ में आ गयी।

मंत्र, तंत्र और यंत्र की शक्तियों से हम परिचित हैं। उनके चमत्कारों को हम जानते हैं। हमारी प्राण-विद्युत् भी बहुत शक्तिशाली है। हम उसके चमत्कारों को नहीं जानते।

एक शिष्य भिक्षा के लिए गया। एक बहिन ने पूछा, 'महाराज ! आज तिथि क्या है ?' शिष्य भोला था। उसने कहा, 'आज पूर्णिमा है।' बहिन बोली, 'महाराज ! आज तो अमावस्या होनी चाहिए, पूर्णिमा कैसे ?' शिष्य बोला, 'कुछ भी हो। आज पूनम ही है।' वह स्थान पर आया। गुरु से बोला, 'आज है तो अमावस्या, पर मैंने कह दिया कि आज पूर्णिमा है। अब मेरी लाज आपके हाथ में है। मैं झूठा न पड़ जाऊं।' आचार्य बोले, 'ऐसी गल्ती नहीं करनी चाहिए। अच्छा, जाओ कह दो कि आज पूर्णिमा है और रात को आकाश में पूरा चांद दिखेगा।' आचार्य ने मंत्र-बल से अमावस्या की घोर अंधेरी रात में भी चांद उगा दिया। यह शक्ति-जागरण का परिणाम है।

हमारी भीतरी शक्तियों का कुछ अंश भी जाग जाता है तो बड़े आश्चर्यकारी कार्य संपन्न हो सकते हैं। जो संघ और समाज शक्ति-सम्पन्न होता है, उसका कोई विरोध भी नहीं कर सकता। सारे विरोध समाप्त हो जाते हैं। शक्तिहीन का विरोध होता है और प्रतिविरोध में उसकी शक्ति और अधिक क्षीण हो जाती है। अपने आप में शक्ति का संचय करो, विरोध समाप्त हो जाएगा। विरोध का सामना शक्ति-संवर्धन से ही किया जा सकता है।

एक विद्वान् ने तेरापथ की कटु आलोचना करते हुए एक लेख लिखा। प्रत्युत्तर मे लेख लिखा जा सकता था, पर यह सोचा गया कि वह विरोध को खत्म नही कर पाएगा। स्वय की शक्ति का सवर्धन किया और एक दिन हमने देखा कि आलोचना मे लिखने वाले विद्वान् पूर्ण समर्थन मे लिखने लगे और यह लोहा मानने लगे कि यदि कोई कार्य सपन्न हो सकता है तो वह इस शक्ति-सपन्न तेरापथ सघ से ही हो सकता है।

दुनिया मे सदा शक्ति की पूजा होती रही है। वासुदेव कृष्ण शक्ति-सपन्न व्यक्ति थे। उनके गणराज्य मे कुरु, अन्धकवृष्णि, वृष्णि आदि थे। वे पीछे से वासुदेव पर तीखे प्रहार करते थे। श्रीकृष्ण चिन्तित हो गए। एक वार नारद ने चिन्ता का कारण पूछा। कृष्ण ने सारी वात वताई और नारद से समस्या का समाधान मागा। नारद ने कहा—

अनायसेन शस्त्रेण, मृदुना हृदयच्छिदा।
जिह्वामुद्धर सर्वेषा, परिमृज्यानुमृज्य च ॥

'—'अनायसेन शस्त्रेण'—शस्त्र जो लोहे से वना हुआ न हो, मृदु और हृदय को वीधने वाला हो—ऐसे शस्त्र से तुम उनको मौत के घाट उतार दो। यही एकमात्र उपाय है।' श्रीकृष्ण ने पूछा, 'महर्षे ! वह अनायास शस्त्र क्या है ?' नारद ने कहा, 'वह शस्त्र यह है कि यथाशक्ति सारी प्रजा को जीविका उपलव्ध कराना।'

कितना वडा सूत्र दिया था उस जमाने मे। जव प्रजा को जीविका सुलभ नही होती तव सघर्ष और कलह होते हैं और जव रोटी सुलभ हो जाती है तव सघर्ष का मौका कम मिलता है। वर्ग-सघर्ष या अन्यान्य कलह रोटी के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जव रोटी मिल जाती है तव आदमी सोचता है, 'हमे क्या ! कोई सत्ता पर रहे, कोई राज्य करे—अपने को तो कोई कठिनाई नही है।' इस चिन्तन से वर्ग-सघर्ष टल जाता है।

दूसरा शस्त्र है—सहन करना। जो सहन नही करता वह गणराज्य नही चला सकता। वह दूसरो को साथलेकर नही चल सकता। सहन करने के साथ-साथ नेता को सरलता से काम लेना चाहिए। उसके व्यवहार मे कही भी कुटिलता नही होनी चाहिए।

तीसरा शस्त्र है—जिसको जितना सम्मान देना चाहिए उसको उतना सम्मान अवश्य ही देना चाहिए।

ये सारे शस्त्र हैं, पर लोहे से वने हुए नही हैं। ये अनायस—अलौह-शस्त्र हैं। नारद ने श्रीकृष्ण से कहा, 'इन शस्त्रो से तुम अपने विरोधियो को जीत लोगे। जो पीछे से तुम पर वाण चलाते हैं, प्रहार करते हैं, वे सव तुम्हारे वशवर्ती हो जाएगे।' महर्षि नारद ने आगे कहा, 'जो आत्मवान् है वही धुरा को वहन कर

-सकता है। अनात्मवान् व्यक्ति धुरा को वहन नही कर सकता।'

ये कुछेक शक्ति-सूत्र हैं। शक्ति की अनेक शाखाए है। ज्ञान-शक्ति, दर्शन-शक्ति और चरित्र-शक्ति—ये तीनो शक्तिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रश्न आता है कि शक्ति को कैसे जगाया जाए? विना शक्ति के शक्ति जाग नही सकती। शक्ति का अर्जन कैसे किया जाए? प्रेक्षाध्यान शक्ति जगाने का एक साधन है। जैसे लुहार धौंकनी से अग्नि को प्रज्वलित करता है वैसे ही हम श्वास के माध्यम से अपने तैजस को प्रज्वलित कर सकते हैं। श्वास की शक्ति बहुत वडी शक्ति है। इसकी महत्ता इससे आकी जा सकती है कि वडे-से-वडा आदमी भी मन को स्थिर कर पाने मे कठिनाई का अनुभव करता है, किन्तु श्वास को पकडने वाला साधक इस कठिनाई को सहजतया पार कर जाता है।

श्वास को जगाने के हजारो प्रयोग हैं। इन प्रयोगो के द्वारा हम श्वास की शक्ति को जगा सकते हैं। यह शक्ति की उपासना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

मत्र की साधना के साथ-साथ श्वास की साधना भी अनिवार्य होती है। लोग कहते है, 'मत्र का जाप करते है, पर परिणाम नही आता। नवकार मत्र बहुत शक्तिशाली है, विघ्नो का निवारण करने वाला, शक्तियो को जगाने वाला मत्र है। पर जव तक इसका जाप लयवद्ध और तालवद्ध श्वास के साथ नही किया जाता तव तक यह वैसा परिणाम नही दे सकता, जैसा उसे देना चाहिए। इसके जाप मे जिस प्रकार की ध्वनि-तरगें पैदा होनी चाहिए और जिस प्रकार की भावना के द्वारा शक्ति का जागरण होना चाहिए वह नही होता है तो उस जाप का परिणाम नगण्य-सा होता है। शक्ति को जगाने के लिए श्वास की लयवद्धता और तालवद्धता अपेक्षित होती है। यह नही होना चाहिए कि कभी एक मिनट मे दस श्वास ले लिये और कभी एक मिनट मे पाच श्वास ही लिये। एक क्रम से श्वास लेने चाहिए। दीर्घ श्वास बहुत लाभदायक होता है। छोटा श्वास लेने वाला कभी शक्ति को जगा नही सकता। वह श्वास शक्ति-केन्द्र तक पहुचता ही नही।

हमारे शरीर मे प्रधानरूप से तीन शक्ति-केन्द्र हैं—गुदा, नाभि और फेफडा। जो व्यक्ति इन शक्ति-केन्द्रो को नही जगा सकता वह शक्तिशाली नही हो सकता। फेफडा बहुत शक्तिशाली है। उसमे करोडो सेल्स हैं। वे जितने अवरुद्ध रहते हैं, उतनी शक्ति की कमी होती है। छोटे श्वास से वे नही खुलते। वे दीर्घश्वास से ही खुलते हैं। फेफडो मे स्वचालित व्यवस्था है। जव श्वास गहरा होता है तव सारे सेल्स खुल जाते है। छोटे श्वास से पाच-दस प्रतिशत सेल्स खुलते होंगे और शेष ९०-९५ प्रतिशत वद ही पडे रहते हैं। ऐसी स्थिति मे शक्ति का सचार कैसे हो? जव श्वास की क्रिया ठीक से समझ मे आ जाती है तव धर्म, शक्ति और चेतना को समझने मे सुविधा होती है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप है—चेतनामय, आनन्दमय और

शक्तिमय। जब ज्ञान और दर्शन का आवरण हटता है तब चेतना अनावृत होती है। जब मोह का विलय होता है तब आनन्द का जागरण होता है और जब अन्तराय का आवरण टूटता है तब शक्ति जागती है। शक्ति के जागरण के अभाव मे न चेतना काम करती है और न आनन्द काम करता है। शक्ति है तो सबका उपयोग है और यदि शक्ति नही है तो किसी का उपयोग नही है। इसलिए हम इस तथ्य को गहराई से समझें कि शक्ति की उपासना करने से पूर्व हम श्वास को पकड़ें। उसकी शक्ति को जगाए। यदि यह चाबी हमारे हाथ आ जाती है तो शक्ति की उपासना का बहुत बड़ा रहस्य हमे उपलब्ध हो जाता है।

लुधियाना, २२ सितबर, ७९

तीसरी आंख खुल जाए

आज का मनुष्य टूटता जा रहा है। इसका कारण है कि उसके जीवन मे धर्म का मूल्याकन नही है। धर्म का मूल्याकन ही जीवन का मूल्याकन है।

मनुष्य मे मूर्खता भी होती है और मूढता भी होती है। मूर्खता और मूढता शब्दकोशो मे एकार्थक माने जाते हैं, किन्तु वास्तव मे ये दोनो भिन्न अर्थ के अवबोधक है। मूर्ख होना अच्छा नही है तो इतना बुरा भी नही है। मूढता बहुत बुरी होती है। विद्यालयो का काम है मूर्खता को मिटाना और धर्म का काम है मूढता को मिटाना।

दुनिया मे आदमी समय-समय पर मूर्ख होता ही है। यदि मनुष्य जीवन मे कभी मूर्ख न हो तो उसे जीवन का आनन्द भी नही आता। इस दुनिया मे वही आदमी सुख से जी सकता है जिसमे थोडी बहुत मूर्खता होती है। जो शत-प्रतिशत समझदार होता है उसके लिए चिन्ता करना और दो सूखी रोटी पचाने के लिए भी दवाई लेते रहना—बस यही जीवन होता है। दुनिया मे मूर्ख आदमी ही सुख से जी सकता है।

एक सस्कृत कवि ने कहा, 'मुझे मूर्खता बहुत प्रिय है क्योकि मूर्ख आदमी मे आठ गुण अवश्य होते हैं। वे ये हैं—निश्चिन्तता, अति भोजन करने की वृत्ति, लज्जारहितता, रात-दिन सोने की वृत्ति, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के प्रति अध और बधिर, मान और अपमान मे समभाव, अरोग, शरीर का हट्टाकट्टापन।'

इस दृष्टि से कभी-कभी मूर्खता को चाह लेना इतनी बुराई नही है। मूढता बहुत बुरी है।

धर्म मूढता को मिटाता है। मूढता मिटे, जागृति आए। जीवन का सबसे बडा मूल्य है—जागृति। इस दुनिया मे उन्हीं लोगो ने लाभ उठाया है जिन्होंने जागना सीखा है। जो जागना नही जानते, जिन्होने जागने का मूल्य नही समझा, जो जीवन मे जाग नही सके, उन्हे जागने का लाभ कभी नही मिला। जो जागता नहीं, वह धर्म को नही समझ सकता। धर्म का मूल मंत्र है—जागो। जीता वही है जो जागता है। जो सोता है वह जीता नही। जिसने जागना नही सीखा, जिसने

अपने जीवन का मथन नही किया, जिसने चेतना के स्तर पर जीना नही सीखा, वह न धर्म को जानता है और न यथार्थ मे कर्म को ही जानता है।

धर्म क्या है? चेतना के स्तर पर जागना ही तो धर्म है। जो व्यक्ति चेतना के स्तर पर नही जागता वह चाहे कितने ही क्रियाकाड करे, उपासना करे, किसी भी सप्रदाय या वेश में रहे, वह धर्म से लाभान्वित नही हो सकता। नीव मजवूत हो तो कितना ही वडा मकान वनाया जा सकता है। जो चेतना के स्तर पर नही जागता उसके धर्म की नीव मजवूत नही होती।

आज सभी स्थानो पर धार्मिक से यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि धर्म की लवे समय तक उपासना करने पर भी जीवन मे अन्तर क्यो नही आता? वहुत वडा प्रश्न है। एक चुनौती है धार्मिक के सामने। धार्मिक उपदेष्टा कहते है—धर्म करते रहो। पूछा जाए कि धर्म के द्वारा क्या मिलेगा? कव मिलेगा? सीधा उत्तर होगा—तुम्हारा परलोक सुधर जाएगा। वहा प्रचुर ऐश्वर्य प्राप्त होगा। अरे, वर्तमान का क्षण तो सुधरता ही नही, परलोक कैसे सुधर जाएगा? वर्तमान मे विद्यमान अशाति, मानसिक तनाव, आवेग और आवेश तो मिटते ही नही, परलोक कैसे सुधर जाएगा? यह सव झूठा आश्वासन है। भुलावे मे डालने का आश्वासन है। जिसके आचरण से इहलोक तो सुखमय वनता ही नही, उससे पर-लोक सुखमय कैसे वन जाएगा? धर्म की यह विडवना इसलिए है कि हमने धर्म को अध्यात्म चेतना के जागरण के स्तर पर नही समझा। हमारी आन्तरिक चेतना नही जागती, कषाय कम नही होते, वृत्तियो मे परिवर्तन नही आता, इसका कारण क्या है? ऐसा क्यो नही होता? इसका एकमात्र कारण है कि धर्म हमारे जीवन के ऊपर-ऊपर रह जाता है, अन्तर्तल को नही छूता।

एक शिष्य ने गुरु से पूछा, 'धर्म से जीवन वदलता क्यो नही?' गुरु ने शिष्य से कहा, 'एक घडा मदिरा ले आओ।' शिष्य ले आया। गुरु ने कहा, 'मदिरा के कुल्ले कर थूकते रहो। ध्यान रखना, एक भी वूद गले के नीचे न चली जाए।' शिष्य ने वैसे ही किया। वह मदिरा का घूट लेता और थूक देता। सारा घडा खाली हो गया। वह गुरु के पास आया। गुरु ने पूछा, 'मदिरा का नशा आया या नही?' शिष्य ने कहा, 'नशा तव आता जव मैं उसे गले के नीचे उतारता।' गुरु ने कहा, 'धर्म भी तभी प्रभावक होता है जव वह गले के नीचे उतरता है। लोग धर्म को कुल्ला करके थूकते जा रहे हैं।

प्रश्न है कि धर्म गले से नीचे उतरे, चेतना पर जाए। जव धर्म का चेतना के साथ सवध ही नही होता तव उसका प्रभाव कैसे होगा? हमारी सवसे वडी समस्या है—चेतना को जगाना। प्रश्न है कि कैसे जगाए? चेतना को जगाना कठिन कर्म नही है। वस, एक सकल्प की जरूरत है। हम मन मे सकल्प करें कि चेतना को जगाना है, निष्कषाय चेतना को जगाना है। सोते समय इस सकल्प को दोहराते

रहे। कुछ समय तक यह क्रम चले। चेतना में जागरण होने लगेगा।

आदमी के पास दो आखें हैं। एक है प्रियता की आख और दूसरी है अप्रियता की आख। इन दोनो के रहते चेतना नही जागती। तीसरी आख है—समता की। वह खुल जाए तो चेतना जाग जाती है। यदि प्रतिदिन समभाव का अभ्यास किया जाए तो वह पुष्ट हो सकती है। तब न किसी पदार्थ के प्रति प्रियता और न किसी पदार्थ के प्रति अप्रियता, केवल समता, ममता और समता ही शेष रह जाती है। प्रतिदिन के अभ्यास से समता की आख उद्घाटित होती है और तब पदार्थ को देखने की दृष्टि बदल जाती है। बिना प्रयोग किए, यह कभी सभव नही है। यह भी योगी बनने का ही एक प्रयोग है।

आज प्रत्येक व्यक्ति को योगी बनना है क्योकि आज का मानव मानसिक तनाव, उलझन और भय से सत्रस्त है। सभी क्षेत्रो के आदमी भयभीत हैं।

हम जागृति का विकास करना सीखें। प्रियता और अप्रियता की दृष्टि को बदलना सीखें। प्रियता और अप्रियता की दृष्टि सचाई को सामने नही आने देती। पदार्थ की सचाई को समझने के लिए समता की दृष्टि बहुत आवश्यक है। प्रयोग की दृष्टि को विकसित करना बहुत आवश्यक है। हम धर्म के द्वारा ऐसी बाते सीखें जो दूसरे किसी के द्वारा नहीं मिलती। धर्म के द्वारा हमे जीवन का वह मूल्य उपलब्ध होगा जो दूसरी वस्तु के द्वारा कभी उपलब्ध नही हो सकता।

सरदारशहर, २६-१२-७६

चार अभ्यर्थनाएं

सत्वेसु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ! ।।

अध्यात्म के महान् आचार्य ने भगवान् से प्रार्थना की है। प्रार्थना नही, आत्मनिवेदन किया है। प्रार्थना मे याचना होती है और आत्मनिवेदन मे आत्म-जागरण की भावना होती है। आचार्य कहते हैं, 'प्रभो ! आपका सान्निध्य मिले और मेरे जीवन मे चार घटनाए घटित हो।

मेरे मन मे प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव जाग जाए। कोई भी मेरा शत्रु न रहे। मैं किसी को अपना शत्रु न मानू। वहुत वडी वात है। यदि हमारे मन से शत्रुता का भाव निकल जाए तो आनन्द का स्रोत फूट पडता है। किन्तु आदमी पग-पग पर शत्रु वना लेता है। जिसको वह शत्रु और विरोधी मानता है, उसका तो कुछ भी नही विगडता, किन्तु अपने ऊपर वह वहुत वडा वोझ लाद देता है। वहुत वोझिल हो जाता है। जव शत्रु को देखता है तो आखो से खून वरसने लग जाता है, त्यौरिया चढ जाती हैं, आन्तरिक सुख वदल जाता है, जीवन की सारी प्रक्रिया वदल जाती है। आदमी अपने अज्ञान के कारण दूसरो को शत्रु वना लेता है, मान लेता है।

भगवान् महावीर ने मैत्री का वहुत वडा सूत्र दिया। एक पादरी ने आचार्यश्री से कहा, 'प्रभु ईशु ने कितनी वडी वात कही है कि अपने शत्रु के साथ भी मैत्री करो। कितनी वडी वात है? क्या इससे वडी कोई वात हो सकती है?' आचार्यश्री ने कहा, 'वडी वात है किन्तु भगवान् महावीर ने इससे आगे की वात कही है कि किसी को शत्रु मानो ही मत। पहले शत्रु मानें और फिर मैत्री करें, इससे तो अच्छा है कि किसी को शत्रु माने ही नही।' पादरी अवाक् रह गया। उसके अहं पर अव्यक्त चोट हो गयी। उसने रहस्य समझ लिया।

राष्ट्रपति लिकन प्रवुद्ध व्यक्ति थे, आध्यात्मिक व्यक्ति थे। वे घूमने जाते। सामने मिलने वाले अभिवादन करते तो वे भी अपना टोप उतारकर अभिवादन का उत्तर देते। सामने वाला कोई भी क्यो न हो, गोरा हो या काला, उनके लिए

सव वरावर थे। कुछ लोगों ने कहा, 'आप अमेरिका के राष्ट्रपति हैं और इस प्रकार सामान्य व्यक्तियो का अभिवादन करते हैं, यह पद के लिए गौरव की वात नही है।' राष्ट्रपति ने कहा, 'मैं शिष्टता के मामले मे किसी से पीछे रहना नही चाहता।' यह वात एक आध्यात्मिक व्यक्ति ही कह सकता है।

कुछ व्यक्तियो ने लिंकन मे कहा, 'आपके शत्रु वहुत हैं। अभी आप सत्ता मे हैं। उनको कुचल क्यो नही देते ?' लिंकन ने कहा, 'उन्हे समाप्त कर रहा हू।' लोगो ने कहा, 'अभी तक किसी को जेल मे नही डाला, फासी नही दी, देश से नहीं निकाला। फिर कैसे समाप्त कर रहे हैं ?' लिंकन वोले, 'शिष्ट व्यवहार से सवको जीत रहा हू। कुछ ही समय मे वे मेरे मित्र वन जाएगे। कोई शत्रु नहीं रहेगा। सव समाप्त हो जाएगे।'

यह मैत्री का महान् सूत्र है। इसके समक्ष शत्रु कोई रहता ही नही। मैत्री की भावना जागने पर अनेक समस्याए समाहित हो जाती है। प्रतिदिन हमारे मन पर अनेक मल जमा होते जा रहे हैं। उनमे सवसे क्लिप्ट मैल है शत्रुता का, द्वेप का। इस दुनिया का यह अटल नियम है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा होता नही है। इस ससार मे रुचि और चिन्तन का भेद है, व्यवहार और व्यवस्था का भेद है, रहन-सहन और खान-पान का भेद है, रीति-रिवाजो का भेद है—ये सव भेद न रहे, यह कभी सभव नही है। रुचि की भिन्नता है तव तक भेद समाप्त नहीं हो सकते। इन भेदो के कारण हमारे मन मे शत्रुता और द्वेप का भाव पनपता है, यह अवाछनीय है। भगवान् ने कहा, 'दूसरे के साथ वुरा व्यवहार करने मे यह देखो कि तुम्हारा स्वय का अहित हो रहा है।' दूसरे का अहित हो या न हो, यह विकल्प है, निश्चित नही है, किन्तु तुम्हारा अहित निश्चित है, उसमे कोई विकल्प नही है। दूसरे के प्रति तुम्हारे मन मे वुरा विचार आया, चाहे उसका पता किसी को भी न लगे, पर इसका अकन तुम्हारे मस्तिप्कीय कोशो मे हो जाएगा। उसका वुरा परिणाम तुम्हे अवश्य ही भोगना पडेगा। 'दूसरे का अनिष्ट करने मे स्वय का अनिष्ट है'—जो इस सूत्र को पकड लेता है वह कभी दूसरे का अनिष्ट नही कर सकता। 'मैं दूसरे का अनिष्ट कर रहा हू'—यह सोचना मूर्च्छा है। वह नही जानता कि पर्दे के पीछे क्या हो रहा है ? भीतर क्या हो रहा है ? जिसके मन मे मैत्री की भावना का जागरण होता है वह कभी किसी का अहित नही कर सकता।

दूसरी अभ्यर्थना आचार्य ने की, 'प्रभो ! गुणी मनुष्यो के प्रति मेरी प्रमोद भावना जागृत हो। जो मुझसे ज्यादा गुणवान् हैं, जो मुझसे ज्यादा क्षमतावान् हैं, उनके प्रति मन मे प्रमोद जागे, ईर्ष्या की भावना न आए।

ईर्ष्या वहुत वडी वीमारी है। यह व्यापक रोग है। साधु-सत भी इससे अछूते नही हैं। जव एक साधु का यश वढता है, महत्त्व और शोभा वढती है, उस समय प्रमोद या हर्ष प्रदर्शित करना वहुत कठिन हो जाता है। दूसरे के मन मे तत्काल

यह भावना जागती है कि किन उपायो से इसके यश को और महत्त्व को धूलिसात् करू। बहुत भयकर रोग है ईर्ष्या का। इससे विरले ही बच पाते हैं। ईर्ष्या की चिकित्सा अध्यात्म से ही हो सकती है। जो सचमुच आध्यात्मिक रस मे ओत-प्रोत है वे गुणवान् व्यक्ति के प्रति प्रमोद प्रदर्शित कर अपनी आत्मा का जागरण करते हैं। गुणी के गुणो का नि स्वार्थ भाव से मूल्याकन करना, दूसरो के समक्ष उन्हे अभिव्यक्ति देना साधना-लभ्य उपलब्धि है। हर व्यक्ति ऐसा कर नही सकता।

अभी कुछ ही समय पूर्व मुझे युवाचार्य पद पर मनोनीत किया गया। अनेक ऊहापोह हुए। मेरे सहपाठी और साथी मुनि बुद्धमलजी ने जिस भाव-भाषा मे प्रमोद भावना व्यक्त की, उससे आचार्यश्री और स्वय मैं—दोनो गद्‌गद् थे। इनके भावो को सुनकर आचार्यश्री को बडा हर्ष हुआ और मुझे भी बडी प्रसन्नता हुई। ऐसी भावना वही व्यक्ति प्रदर्शित कर सकता है जिसमे कुछ गभीरता होती है, साधना की ऊचाई होती है। अन्यथा ऐसे भाव निकलते नही। जानते सब हैं कि हमारे सघ की एक सुनिश्चित व्यवस्था है कि आचार्य ने जिस मुनि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया, भावी आचार्य घोषित कर दिया, फिर कोई राजी हो या नाराज, उसे स्वीकार करना ही पडता है। मर्यादा को जानना सरल है पर प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन की मर्यादा कुछ और ही होती है। वह अपनी-अपनी वृत्ति पर निर्भर होती है।

ईर्ष्या जटिलतम मानसिक उलझनो मे से एक है। आदमी अकारण ही दु खी बन जाता है। ईर्ष्या से मानसिक तनाव बढता है। आदमी अनेक दु ख मोल ले लेता है।

आचार्य का दूसरा आत्म-निवेदन है, 'प्रभो ! गुणी जनो के प्रति मेरे मन मे आदर की भावना जागे, प्रमोद की भावना जागे और मैं यह सोच सकू कि इन्होंने पुरुषार्थ कर अपनी क्षमताए अर्जित की है, अपना विकास किया है। मैं भी ऐसा प्रयत्न कर इन क्षमताओ को अर्जित करू।'

आचार्य की तीसरी अभ्यर्थना है, 'प्रभो ! दु ख पाने वाले प्राणियो के प्रति मेरे मन मे करुणा की भावना जागे। आदमी मे क्रूरता होती है, निर्दयता होती है। उसमे दूसरो के प्रति सहानुभूति की भावना नही रहती। मुझे आश्चर्य होता है जब मैं देखता हू कि आदमी धार्मिक भी और क्रूर भी है। धार्मिकता और क्रूरता दोनो साथ-साथ नही चल सकते। अनेक धार्मिक कहलाने वालो को इतना क्रूर देखा है कि उनको धार्मिक कहने मे हिचक होती है। वे छोटो के साथ क्रूर व्यवहार करने मे ही अपना बडप्पन मानते हैं।'

बैंक खुला ही था। कर्मचारी आ रहे थे। मैनेजर आया। उसने अपने टेबल पर एक तार पडा देखा। उसमे लिखा था, 'मा मर गयी, जल्दी आओ।' मैनेजर ने तत्काल नौकर से कहा, 'मुझे अभी जाना है। तैयारी करो।' दूसरे ही क्षण

चौकीदार उदासी लिये मैनेजर के सामने आकर बोला, 'मुझे पाच दिन की छुट्टी चाहिए। मैनेजर ने तडकते हुए कहा, 'क्यो ? रोज-रोज छुट्टी नही मिला करती।' उसने कहा, 'मा मर गयी है। मैं आपकी टेवल पर तार रखकर गया था।' यह सुनते ही मैनेजर अवाक् रह गया। वह बोला, 'अरे ! मा तेरी मरी है या मेरी ? तेरी मरी है। मरना-जीना ससार का चक्र है। छुट्टी नही मिलेगी।'

यह घटित घटना है। मनुष्य मे इतनी क्रूरता होती है कि वह दूसरे को हीन और घृणा की दृष्टि से ही देखता रहता है। उसके मन मे उनके प्रति कोई सहानुभूति नही होती। सहानुभूति रखना मम्यग्दृष्टि का एक लक्षण है, धार्मिक की एक कसौटी है।

आचार्य की चौथी अभ्यर्थना है—प्रभो ! जो मेरी निंदा करते हैं, अवज्ञा करते हैं, मुझसे विपरीत व्यवहार करते हैं, मेरी वात नही मानते, उन सवके प्रति मेरे मन मे मध्यस्थता का भाव जागे। मैं उनके इन विपरीत आचरणो के प्रति उदासीन रहू। उनके प्रति अन्यथा भाव न आए। मैं यही सोचू कि मैंने अपना काम कर लिया। वे सव अपना काम करते हैं, मुझे क्या !

आचार्य ने ये चार अभ्यर्थनाए की हैं। मानसिक तनाव के इस युग मे ये चार परम औषधिया हैं। आचार्य अन्त मे कहते हैं, 'प्रभो ! मेरी आत्मा इन चारो वृत्तियो को जागृत करे। ये चारो वृत्तिया मेरे मे अभिव्यक्त हो।

जिस व्यक्ति मे ये चार वृत्तिया जाग जाती हैं वह महान् धार्मिक, अपने आप मे शान्ति और सुख का अनुभव करने वाला और आनन्दमय जीवन जीने वाला होता है।

सरदारशहर, २७-१२-७६

अध्यात्म और नैतिकता

नैतिकता का आधार—अध्यात्म

नैतिकता का दर्शन पारस्परिक सबधो मे होता है । यदि एक ही आदमी हो तो नैतिकता की कोई आवश्यकता नही होती । दो है और उन दोनो के बीच मे सबध है और वह सबध कैसा होना चाहिए, यह नैतिकता का मूल आधार है । यह संबध-विज्ञान नैतिकता का विज्ञान है । दो व्यक्तियो के बीच परस्पर सबध अच्छा होता है । उसके कई आधार हो सकते हैं । एक आधार होता है पारस्परिक हितो का । हित की चेतना जागती है तो व्यक्ति अनुभव करता है कि दूसरे का अहित करने मे मेरा अपना भी हित नही है । यही नैतिकता का बीज अकुरित होता है । जितने सगठन बने हैं, उन सगठनो मे व्यक्तियो का हित समाहित होता है । एक सस्था, एक परिवार, एक समाज, एक राष्ट्र जितने ये युनिट्स हैं, जितनी इकाइया है, उनमे भी हित का सबध जुडा हुआ है । हर व्यक्ति सोचता है दूसरे का अहित करना । दूसरे को नुकशान पहुचाना अपने समाज को नुकशान पहुचाना है, अपने राष्ट्र को नुकशान पहुचाना है । समाज या राष्ट्र का नुकशान मेरा भी नुकशान है । जहाँ हित के सबध जुड जाते हैं, वहा नैतिकता पल्लवित होती है । राष्ट्रीय प्रेम, समाज का प्रेम, जाति का प्रेम ये सारे नैतिकता को प्रोत्साहन देते है । और इनके आधार पर नैतिकता विकसित भी होती है । इसे मैं अस्वीकार नही करता । इतना होने पर भी एक बात कहना चाहता हू और वह मूल बात है । हितो के आधार पर जो नैतिकता होती है, वह तब तक नैतिकता रहती है, जब तक हितो का सबध है । जिनके साथ हित का सबध नही है, वहा अनैतिक व्यवहार करने मे भी सकोच नही होता ।

एक राष्ट्र के नागरिक का अपने राष्ट्र के प्रति नैतिक व्यवहार करने मे हित होता है । राष्ट्र के प्रति प्रेम होता है । वह अपने राष्ट्र के प्रति अनैतिक व्यवहार नही करता । किन्तु दूसरे राष्ट्र से उसका हित सबध जुडा हुआ नही है, इसलिए दूसरे राष्ट्र के प्रति अनैतिक व्यवहार करने मे उसे तनिक भी सकोच नही होता ।

नैतिकता का सार्वभौम आधार केवल आध्यात्मिकता ही बन सकती है। अध्यात्म हितो का सबध नही है, अध्यात्म स्वार्थो का सबध नही है। वह मानवीय चेतना की उदात्तता, पवित्रता, परमार्थ चेतना का जागरण है। जहा अति चेतना जाग जाती है, परमार्थ की चेतना जाग जाती है, वहा किसी भी व्यक्ति को, किसी भी प्राणी को नुकशान पहुचाना अपनी आत्मा को नुकशान पहुचाना है। इतनी विराट् चेतना होती है, जिसमे 'पर' जैसे शब्द का प्रयोग ही नही होता। उसके लिए कोई अवकाश ही नही होता। यह उदात्त चेतना, अध्यात्म चेतना ही हो सकती है और नैतिक आधार वही अध्यात्म की चेतना ही बनती है। जहा कोई परिवार का भेद नही होता। समाज का भेद नही होता। जाति का भेद नही होता। राष्ट्रीय सीमाओ का भेद नही होता। न भौगोलिक ही, न चिन्तन की धारा का ही, न मान्यताओ का ही, न जीवन की प्रणालियो का ही। किन्तु एक अभेदानुभूति जाग जाती है। इस आधार पर जो व्यवहार फलित होता है, वह अनैतिक कभी हो ही नही सकता और नैतिकता का व्यवहार वास्तव मे अध्यात्म के धरातल पर ही हो सकता है। इसमे यह नही होता कि अमुक का हित और अमुक का अहित। अमुक के प्रति अच्छा व्यवहार और अमुक के प्रति बुरा व्यवहार। यह भेद समाप्त हो जाता है। अध्यात्म चेतना नही जागती तो सबके प्रति बुरा व्यवहार हो जाता है। अध्यात्म चेतना जाग जाती है, तो किसी के प्रति भी बुरा व्यवहार नही होता है।

बहुत से लोग राष्ट्रीय चेतना को नैतिकता का आधार मानते हैं। मुझे कोई आपत्ति नही, मानें, हो भी सकता है। किन्तु वह सार्वभौम आधार नही है। वह स्थायी आधार नही है। देश-कालातीत आधार नही है। यह अपेक्षाओ से जुडा हुआ और सकीर्ण सीमाओ से जुडा हुआ आधार है। आज है, कल नही भी हो सकता है। किन्तु आध्यात्मिकता की भित्ति एक ऐसा आधार नैतिकता को प्रदान करती है, एक बार उस चेतना के जाग जाने पर फिर अनैतिक आचार और व्यवहार सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं।

धर्म ने, सम्प्रदायो ने अध्यात्म की चेतना को जगाने का प्रयत्न नही किया, जितना करना चाहिए था। अध्यात्म की चेतना जागे बिना धर्म भी शून्य है, अध्यात्म की चेतना जागे बिना सम्प्रदाय की चेतना भी निष्प्राण है। उन दोनो मे प्राण प्रतिष्ठा करने वाला अध्यात्म है। कोरा बल्व है, करेंट नही है तो बल्व से क्या होगा? प्रकाश नही दे सकेगा। प्रकाश जो है, वह सारा अध्यात्म का है। वह हमारी एक विराट् चेतना का है।

हम प्रयत्न करते हैं कि नैतिक जागरण हो, नैतिकता का विकास हो। बहुत अच्छी बात है। किन्तु मूल बात को समझे बिना वह सभव नही होगा। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। नैतिकता की आचार-सहिता

प्रस्तुत की। प्रारम्भ मे वहुत चर्चाए होती रही आधार की। एक-दो वर्ष मे यह चिन्तन वहुत स्पष्ट हो गया कि हमारे अणुव्रत आन्दोलन का आधार है—आध्यात्मिकता। इसकी भित्ति पर ही नैतिकता को सभव वनाया जा सकता है। दूसरी सारी भित्तिया कमजोर भित्तिया हैं। किन्तु यह इतनी सुस्थिर, सुदृढ और मजवूत भित्ति है, जो किसी प्रकम्पन या भूचाल से भी इधर-उधर नही होती। हिमालय की भाति अडोल भित्ति है। यह स्पष्ट घोपणा आचार्यश्री ने की।

अणुव्रत आन्दोलन नैतिक चेतना के जागरण का अभियान है। उसकी मूल भित्ति है आध्यात्मिकता। नैतिकता के साथ आध्यात्मिकता का विकास करना होगा। दैनिक हिन्दुस्तान के भूतपूर्व सपादक श्री रतनलाल जोशी ने दिल्ली मे आचार्यश्री को वताया कि मैं अमेरिका गया था। एक जगह अणुव्रत आन्दोलन की चर्चा हुई तो अमेरिकन लोगो ने पूछा कि आचार सहिता तो अच्छी है। किन्तु उसकी साधना क्या है? उसके साथ योग क्या है? वे योग को जानना चाहते थे, साधना को जानना चाहते थे। जोशीजी ने कहा कि मुझे इस वारे मे पूरी जानकारी नही थी, इसलिए पूरा समाधान नही कर सका। उनका प्रश्न अधूरा रह गया।

हमने वताया कि अणुव्रत के साथ प्रेक्षा-ध्यान की साधना है। अणुव्रत के साथ जुडा हुआ है प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास। उन्होने कहा कि मुझे पता नही था। अगर पता होता तो मैं वहुत सतुष्ट कर सकता था।

नैतिकता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उसका विकास होते-होते, चिन्तन होते-होते एक सुस्थिर धारणा वन गई कि अणुव्रत का कार्यक्रम आध्यात्मिकता के आधार पर पल्लवित हो सकता है, सुस्थिर वन सकता है और उसका आधार है प्रेक्षा-ध्यान। अणुव्रत और प्रेक्षा-ध्यान दोनो एक ही रेखा पर चल रहे हैं। आधार भी हमारे सामने स्पष्ट है। उसकी आचार सहिता और कार्यक्रम भी स्पष्ट है। मैं फिर इस वात को दुहराना चाहता हू कि हम और अधिक भ्रान्तियो को न पालें, वहुत स्पष्ट रहे और यह मानकर चलें कि नैतिकता का स्थायी विकास आध्यात्मिकता के आधार पर ही सभव हो सकता है।

नैतिक शिक्षा का विकास कैसे ?

न्यायाधीश ने एक पक्ष के व्यक्ति से पूछा, 'तुम दुर्घटनाग्रस्त हुए, पर क्या तुम दुर्घटना होने के वाद चल सकते हो या नही?' व्यक्ति वोला, 'मैं चल भी सकता हू और नही भी चल सकता। डॉक्टर कहता है कि तुम चल सकते हो, किन्तु मेरा वकील कहता है कि तुम चल नही सकते।' यह एक निर्णयात्मक उत्तर नही है।

यही वात नैतिक शिक्षा के वारे मे भी लागू होती है। स्कूलो और कालेजो मे मनुष्य की शास्त्रीय-चेतना जागृत होती है। वहा कुछ विपयो की पुस्तकीय शिक्षा दी जाती है। लोग उसे पढते है। दूसरी शिक्षा समाज के व्यवहार से जागृत होती है। एक से शास्त्र-चेतना जागृत होती है और दूसरे से व्यवहार-चेतना जागृत होती है। शास्त्र और व्यवहार के सहारे नैतिकता आ जाए, ऐसा सभव कम लगता है। जो देश अत्यधिक विकसित है, वहा पर भी जव करोडो डालर की चोरी उच्च-स्तरीय पदाधिकारी कर लेते हैं तो हम कैसे कह सकते है कि सामाजिक व्यवहार मे नैतिकता का विकास हो जायगा ?

इन दोनो के अतिरिक्त एक तीसरा आयाम है—धर्म। धर्म के द्वारा नैतिक-चेतना का विकास हो सकता है। इसके माध्यम से अध्यात्म-चेतना जागृत हो सकती है। किन्तु कठिनाई यह है कि धर्म के क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता अपना स्थान वना लेती है। साम्प्रदायिकता को लोग धर्म मान लेते है। इसका अभिप्राय यह होता है कि वे धर्म से कोसो दूर हट जाते हैं। लोग समझने लगे हैं कि धर्म और पढे-लिखे लोगो का तो कोई सवध ही नही है। धर्म तो रूढिवादी लोगो के लिए है। यह धारणा आजकल के पढे-लिखे लोगो मे वन गई है। धर्म की वात करने मे भी ऐसे लोग संकोच करने लगे है। किन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हू कि धर्म और साम्प्रदायिकता का कोई संवध नही है।

विद्यालयो मे पाठ्य-पुस्तको की सख्या भी वहुत अधिक है। विद्यार्थी जव पुस्तकें लेकर चलता है तो कभी-कभी यह सदेह होने लगता है कि वच्चे का वजन ज्यादा है या उसकी पाठ्य-पुस्तको का ? नैतिकता पढाई नही जा सकती, पाठ पढाया जा सकता है। किन्तु अध्यात्म की वात पाठ्य-पुस्तको के साथ अवश्य जुडनी चाहिए। उसके माध्यम से वच्चे का विकास होगा, एक दिशा तो मिलेगी ही। शिविरो का सचालन भी इसके लिए आवश्यक है। शिविर के माध्यम से भी नैतिक शिक्षा का विकास वच्चो मे हो सकता है। अध्यात्म-चेतना जागृत होने पर नैतिकता अपने आप फलित होगी।

सम्राट् श्रेणिक ने आदेश दिया कि इस मुर्गे को लडाकू वनाना है, किन्तु दूसरा मुर्गा सामने नही होना चाहिए। आप सोचिए कि जव तक दूसरा मुर्गा नही होगा, तव तक मुर्गा लडाकू कैसे वनेगा ? वह लडाई किससे लडेगा ? श्रेणिक ने यह आदेश परीक्षा करने के उद्देश्य से दिया था। एक वहुत ही वुद्धिमान विद्यार्थी था। उसने कहा कि ठीक है, चिन्ता की कोई वात नही। मुर्गा मुझे सभला दीजिए। मुर्गा उसके पास लाया गया। उसने तत्काल मुर्गे के पास एक काच लगा दिया। अव दूसरे मुर्गे की जरूरत नहीं थी। मुर्गा अपने-आप ही लडाकू वन गया।

इसीलिए यदि नैतिक शिक्षा को विकसित करना है तो आपको काच की आवश्यकता होगी। विद्यार्थी के सामने काच उपस्थित करना होगा। एकाग्रता का

अभ्यास, सकल्प-शक्ति का अभ्यास, इनके माध्यम से नैतिक शिक्षा का विकास किया जा सकता है। मनुष्य मे अनन्त शक्ति मौजूद है। किन्तु अपनी शक्ति से कौन परिचित होता है? आवश्यकता इस बात की है कि लोगो को उनकी शक्ति से परिचित कराया जाए। इसके लिए अध्यात्म-चेतना को जागृत करना होगा।

शिक्षागोष्ठी, सरदारशहर, सितबर, ७६

चरित्र और नैतिकता की आवश्यकता क्यों ?

वैज्ञानिक युग मे अवैज्ञानिक वात मान्य नही हो सकती। आज के विश्वविद्यालय के परिसर मे भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि विज्ञान की अनेक शाखाए प्रचलित हैं। इन अनेक शाखाओ की उपस्थिति मे भी तथा विज्ञान की इतनी प्रगति हो जाने पर भी एक अवैज्ञानिक वात चल रही है। गगोत्री सूखी पडी है और उसकी धारा प्रवाहित हो गई, यह अवैज्ञानिक वात है। उद्गम सूखा पडा है और उसमे से धारा प्रवाहित हो रही है, यह महान् आश्चर्यकारी वात है।

जीवन के विषय मे हमारी कोई वैज्ञानिक दृष्टि नही है। शेष सभी विषयों के प्रति हमारी दृष्टि वहुत वैज्ञानिक है और उत्तरोत्तर वैज्ञानिक वनती जा रही है। आज का मनुष्य इसलिए अशान्त है कि वह अपनेआप मे शून्य है और शेष शून्यता को भरता जा रहा है या भरने का प्रयत्न करता जा रहा है। जव तक स्वय की शून्यता नही भरेगी तव तक मनुष्य की दृष्टि वैज्ञानिक होकर भी अवैज्ञानिक ही रहेगी। आज का मनुष्य जीवन-विज्ञान के विषय मे कुछ भी नही जानता। वह सास लेना भी नहीं जानता, अपने आपको भी नही जानता और अपने भीतर घटित होने वाले परिवर्तनो, परिणमनो और पर्यायो को भी नही जानता। शेप सवको सूक्ष्मता से जानने का वह प्रयत्न कर रहा हैं किन्तु अपने-आपको जानने के प्रति उदासीन है। यह स्वय की शून्यता और अपना अपरिचय अन्त करण की रिक्तता को भर सके, यह कभी सभव नही है।

ज्ञान वहुत आवश्यक है। जितना चेतना का ज्ञान आवश्यक है उतना ही पदार्थ का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु कोरा ज्ञान पर्याप्त नही है। ज्ञान के वाद दृष्टि होनी चाहिए और दृष्टि के वाद चारित्र। चारित्र नही है तो दृष्टि की सार्थकना नहीं होती। यदि दृष्टि नही है तो ज्ञान सार्थक नही होता। विकास का एक क्रम है। अज्ञान मे ज्ञान का विकास, ज्ञान से दृष्टि का विकास, दृष्टि से चारित्र का विकास और चारित्र से चैतन्य का विकास, अपने अस्तित्व मे रमण, सार्वत्रिक और सार्वदिक् अशान्ति का विसर्जन। यह एक क्रम है। यदि यह क्रम

पूरा नहीं होता है तो जो वनना चाहिए वह नही वनता। जव ज्ञान का विकास होता है तव चारित्र का विकास और अनिवार्य हो जाता है। अज्ञानी मनुष्य चारित्र का विकास न करे तो उतना खतरनाक नही होता। किन्तु ज्ञानी मनुष्य यदि चारित्र का विकास नही करता है तो वह ज्ञान वहुत अधिक खतरनाक वन जाता है।

आज समूचे संसार पर एक भयकर खतरा मडरा रहा है। युद्ध की विभीषिका, अणु-अस्त्रो के प्रयोग से होने वाला प्रतिफलन इतना व्यापक है कि कोई राष्ट्र या मनुष्य आश्वस्त नही है। वह आश्वस्त रह नही सकता। उसमे प्रतिपल यह आशका वनी रहती है कि कव क्या घटित हो जाए। इतना व्यापक खतरा और भय अतीत मे कभी नही था। क्योकि अस्त्रो के विषय मे जितना ज्ञान आज है उतना ज्ञान अतीत मे नही रहा होगा। और निकट अतीत मे तो था ही नही। जव मनुष्य ने पदार्थों के सूक्ष्म रहस्यो को जान लिया तव उसने भयकर अणु-अस्त्रो का निर्माण किया। ज्ञान तो वहुत वढ गया। किन्तु आज का मनुष्य दृष्टि और चारित्र—दोनो दृष्टियो से दरिद्र है। दृष्टि और चारित्र से शून्य ज्ञान समूची मानव जाति को भयकर विनाश की ओर ले जा सकता है।

प्रश्न पूछा जाता है कि आज के युग मे चारित्र और नैतिकता की क्या आवश्यकता है ? मैं मानता हूं कि चारित्र और नैतिकता की आवश्यकता हर युग मे है। जहा व्यक्ति है वहा चारित्र की अनिवार्यता होती है। जहा समाज है वहा नैतिकता अनिवार्य है। ये दोनो अनिवार्यताए सदा होती हैं। इन्हे सामयिक नही कहा जा सकता। ये देश-कालातीत हैं। मैं अनुभव करता हू कि इनकी जितनी आवश्यकता आज है, उतनी आवश्यकता पहले नही रही होगी। आवश्यकता पर सदा सदर्भ के परिप्रेक्ष्य मे विचार किया जाता है। वैज्ञानिक युग के सदर्भ मे चारित्र और नैतिकता का प्रश्न वहुत ज्वलत प्रश्न है। मैत्री, सहिष्णुता, अहिंसा—ये चरित्र के मुख्य अग हैं। जव मैत्री की भावना नही होती है, तव सहिष्णुता का विकास नहीं हो सकता। सहिष्णुता नही होती है, तो मैत्री का विकास नही हो सकता। दोनो परस्पर जुडे हुए हैं। मैत्री और सहिष्णुता नही होती है तो अहिंसा का विकास नही हो सकता। अहिंसा मैत्री और सहिष्णुता पर निर्भर है। यदि समाज मे अहिंसा का विकास नही होता तो यह समाज मनुष्यो का समाज नही रहता, पशुओ का समूह वन जाता। जिस समाज मे समता का आचरण नही होता, समानता की प्रतिष्ठापना नही होती, वह मानव समाज कैसे हो सकता है।

चारित्र का महत्त्वपूर्ण अग है—समता। जव-जव विषमता वढती है तव-तव समाज मे उच्छृखलता पनपती है, क्रातिया होती हैं। प्रत्येक क्राति के पीछे विषमता का स्वर मुखर है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दूसरे को हीन देखने मे अधिक रस लेता है। यह प्रकृति का स्वभाव है कि जव-जव मनुष्य दूसरे को हीन

मानने लगता है तब चक्र उल्टा चलने लगता है। हीन मानने वाला नीचे चला जाता है और जिन्हें हीन माना जाता है वे ऊपर आ जाते हैं।

आज का युग क्रान्तियो का युग है। इसमे राजनैतिक क्रान्ति, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति होती रही है। इस युग मे समानता की सर्वाधिक आवश्यकता है। समानता की अनुभूति चारित्र का मुख्य अग है। जातिभेद, वर्णभेद, रगभेद, वर्गभेद—ये सारी विषमताए है। ये विषमताए मनुष्य जाति को निगलती जा रही हैं। इसे हम मानें या न मानें, जानें या न जाने, यह वस्तुस्थिति है। यह एक ऐसा राहुग्रास है जिसने उजली चादनी पर आकर समूचे ससार मे अधकार फैला रखा है। इसे दूर किए विना मनुष्य जाति अपनी निर्मलता के साथ जी नही सकती। आज चारित्र की बहुत आवश्यकता है। अतीत मे भी यह आवश्यकता रही है। भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए एक आचार-सहिता प्रस्तुत की थी। मुझे लगता है, चारित्र की इतनी व्यवस्थित आचार-सहिता अन्यत्र दुर्लभ है। यह केवल सैद्धान्तिक ही नही, पूर्ण व्यावहारिक है। समाज मे रहने वाला व्यक्ति सामाजिक लोगो के प्रति किस प्रकार प्रामाणिक और समभावी रह सकता है, इसका पूरा रूप उसमे परिलक्षित है। मिलावट न करना, असली दिखाकर नकली न देना, धरोहर न हडपना, बन्धक वस्तु पर अपना स्वामित्व न जताना, दूसरे का अधिकार न हडपना आदि-आदि जितनी अपेक्षित बातें हैं, वे सारी उस आचार-सहिता मे निहित हैं।

नैतिकता चारित्र से पृथक् नही है। वह चारित्र का ही एक अग है। यदि हम दोनो मे कोई भेद करना चाहे तो यह भेदरेखा खीची जा सकती है कि चारित्र का सम्बन्ध व्यक्ति से है और नैतिकता के लिए व्यवहार चाहिए, दो व्यक्ति चाहिए, परस्परता चाहिए। एक व्यक्ति दूसरे के प्रति जो व्यवहार करता है, उसके साथ नैतिकता जुडी हुई होती है। चारित्र अकेले मे भी हो सकता है। मैत्री और अहिसा का भाव, राग-द्वेष मुक्त चेतना का भाव अकेले मे भी हो सकता है। नैतिकता के लिए कम से कम दो व्यक्ति चाहिए। चारित्र और नैतिकता दोनों परस्पर जुडे हुए हैं। चारित्रहीन व्यक्ति अपने आप मे असतुष्ट होता है। और नैतिकताविहीन व्यक्ति स्वय मे उतने असतोष का अनुभव न भी करे किन्तु समाज के लिए असतोष पैदा करता है।

धर्म सार्वभौम तत्त्व है। आज के मनुष्य ने पारलौकिक धर्म को अस्वीकार-सा कर रखा है। वर्तमान जीवन के प्रति उसकी जितनी आस्था है उतनी पारलौकिकता के प्रति नही है। जो नही है उसे जबरदस्ती लाया नही जा सकता। धर्म केवल पारलौकिक ही नही है। वह वर्तमान जीवन मे परिवर्तन लाता है। परलोक की चिन्ता कोई करे या न करे—यह भिन्न प्रश्न है। वर्तमान जीवन मे भी धर्म की बहुत बडी आवश्यकता है, अनिवार्यता है। पदार्थ की अनिवार्यता है, इसलिए

मनुष्य ने पदार्थ का इतना विकास किया है। क्या धर्म की कम अनिवार्यता है ? प्रत्यक्ष दर्शन मे ऐसा अनुभव नही होता कि धर्म की कोई अनिवार्यता है। किन्तु क्या अशाति का प्रश्न धर्म से जुडा नही है ? क्या अनुशासनहीनता का प्रश्न धर्म से जुडा हुआ नही है ? क्या युद्ध और आतक का प्रश्न धर्म से जुडा हुआ नही है ? ये सारे प्रश्न धर्म से जुडे हुए हैं। अशाति, भय और आतक—ये सब इसीलिए चल रहे हैं कि मनुष्य ने धर्म को अस्वीकार किया है। मुझे लगता है, सम्प्रदाय के नाम पर धर्म का सिक्का चल रहा है। वह खोटा सिक्का था; इसीलिए मनुष्य नें उसको अस्वीकार किया, किन्तु साथ ही साथ जो वास्तविक था उसे भी अस्वीकार कर दिया। इससे मनुष्य ने बहुत हानि उठाई। अशाति की समस्या को तब तक नही सुलझाया जा सकता जब तक धर्म को स्वीकार नही किया जाता। धर्म का अर्थ है—चैतन्य का जागरण।

हमारी चेतना पर प्रियता और अप्रियता का सवेदन हावी हो रहा है। हम किसी भी पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से देखते है। किन्तु एक तीसरी दृष्टि भी है, जो न प्रियता से सवलित है और न अप्रियता से सवलित है। वह तीसरी दृष्टि है—समता की। समता की दृष्टि से देखने का हमारा अभ्यास ही नही है, इसीलिए धर्म हमारी पकड मे नही है। समता की दृष्टि ही धर्म है। धर्म और समता दो नही हैं। समता की दृष्टि के अभाव मे मनुष्य या तो प्रियता के जाल मे फसता है या अप्रियता के जाल मे फसता है। वह यह निर्णय नही कर पाता कि इससे परे भी कोई सचाई है। उस भूमिका का निर्णय ठीक है। वह जिस जाल मे फसा हुआ है, वहा से यही निर्णय लिया जा सकता है। सचाई दूर रह जाती है। जब सचाई दूर हो जाती है तब समाधान नहीं होता।

आज धर्म के प्रश्न पर पुनर्विचार की जरूरत है। समस्या दिन प्रतिदिन बढती जा रही है। किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की नही, समूचे ससार की समस्या उलझती ही जा रही है। गाठ घुलती जा रही है, वह खुलती ही नही। इसका कारण यही है कि प्रियता और अप्रियता से परे जो मजिल है, उस मजिल की ओर हमारा प्रस्थान ही नही है। आज भले ही हम सोचें, किन्तु एक दिन अवश्य ही सोचना होगा कि मानव-जाति की अशाति, तनाव और समस्याओ को सुलझाने वाला कोई तत्त्व उपलब्ध होना चाहिए। वह तत्त्व चारित्र और नैतिकता के अतिरिक्त कुछ हो नही सकता। हमारा विचित्र प्रयत्न है। हम समाधान को ठुकराते जा रहे हैं और समस्या को सुलझाने की दौड मे आगे बढते जा रहे है। इस चक्र का अन्त कहा होगा, कुछ नही कहा जा सकता।

आज का बौद्धिक युवक धर्म के नाम से सकुचाता है। वह धर्म को बीते युग की अनुपयोगी वस्तु मान बैठा है। चारित्र और नैतिकता के प्रश्न को भी वह

उथला प्रश्न मानता है। इसमे कोई बहुत गहराई नही देखता, किन्तु मुझे लगता है कि बहुत बार खुलते दरवाजे को भी आदमी अपने ही हाथो बद कर देता है। क्या धर्म, चारित्र और नैतिकता के बिना मानसिक उलझनो और पारस्परिक सघर्षो को समाप्त किया जा सकता है? आज शाति के लिए बहुत खोजें हो रही हैं। सघर्षो को समाप्त करने के लिए बहुत सोचा जा रहा है। पर मूल प्रश्न पर चिन्तन किए बिना, इन दोनो समस्याओ का हल होता दिखाई नही देता। केवल अतीत के सस्कारो को ध्यान मे रखकर नही, धर्म के प्रति किसी अनुराग की भावना से नही, यथार्थ के परिप्रेक्ष्य मे मैं कहना चाहता हू कि अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हुए बिना कोई भी आदमी चरित्रवान् नही बन सकता, नैतिक नहीं बन सकता। जागरूकता के अभाव मे, पदार्थ की प्रचुरता होने पर भी, आदमी शाति से नही जी सकता। चरित्र की अपेक्षा इसीलिए है कि आदमी को शाति की अपेक्षा है। चरित्र की अपेक्षा इसीलिए है कि मनुष्य को शुद्ध चैतन्य के अनुभव की अपेक्षा है। नैतिकता की अपेक्षा इसीलिए है कि समाज लुटेरो का समाज रहना नहीं चाहता, किन्तु प्रगतिशील मनुष्यो का समाज रहना चाहता है। वह चेतना के स्तर पर उन्नत होना चाहता है। ये दोनो अपेक्षाएं हैं। वैज्ञानिकता ने इन दोनो अपेक्षाओ को और अनिवार्य बना दिया है। इसलिए आज के मनुष्य को चरित्र और नैतिकता के प्रश्न पर पुन विचार करना चाहिए। ये हमारे शाश्वत मूल्य हैं। शाश्वत होने के साथ-साथ ये सामयिक मूल्य भी हैं। शाश्वत और सामयिक—दोनो दृष्टियो से इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए।

लाडनू, १८ जुलाई, ८०।

धार्मिक उत्सवों की सार्थकता क्या है ?

प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे एक प्रेरणा होती है। प्रेरणाशून्य-प्रवृत्ति वहुत समय तक चल नही सकती। प्रेरणा जितनी प्रवल होगी, प्रवृत्ति उतनी ही सवल होगी।

धर्म ने मनुष्य को प्रेरित किया है। उसकी प्रेरणा से चरित्र का विकास हुआ है, नैतिकता के वीज अकुरित हुए हैं। धर्म और अध्यात्म एक वहुत वडी प्रेरणा है।

धर्म अमूर्त्त है और अध्यात्म भी अमूर्त्त है। उनके उत्सव मूर्त्त हैं और वे साक्षात् प्रेरणा के प्रतीक हैं। एक सवत्सरी का पर्व आता है, वर्ष भर की सारी तन्द्रा दूर हो जाती है, नयी शक्ति और नया उत्साह पैदा हो जाता है, चरित्र अनायास ही जीवन मे अवतरित होने लग जाता है। मैत्री की प्रेरणा प्रवल हो उठती हैं। दस लक्षण पर्व और सवत्सरी का पर्व एक ही है। जव-जव ये पर्व मनाए जाते हैं तव-तव नयी भावना पैदा होती है। प्रत्येक पर्व और उत्सव के साथ कुछ वाहरी आकृतिया और प्रकृतिया भी जुड जाती हैं, कुछ आडवर भी जुड जाते हैं। उनमे सामान्य वुद्धि वाले मनुष्यो को कुछ प्रेरणा मिलती भी होगी या नही भी मिलती होगी, पर उनकी कोई वहुत उपयोगिता नही है। उनका एक लौकिक आकर्पण मात्र हो सकता है। एक वुद्धिशील व्यक्ति के लिए ये प्रेरक नही वनते, किन्तु धार्मिक उत्सव के साथ या महान् पर्व के साथ जुडी हुई चेतना एक स्थायी प्रेरणा वनती है।

जैन समाज मे अपेक्षाकृत आचार की वातें और उपयोगी वातें सुलभ हैं। इसका कारण है धार्मिक पर्वों और उत्सवो का आयोजन। तपस्या होती है। तपस्या का उत्सव होता है। वह दूसरो के लिए प्रेरणा का कारण वन जाता है। अक्षय तृतीया का पर्व तपस्या की प्रेरणा का प्रतीक है। सवत्सरी का पर्व क्षमायाचना, मैत्री, और ऋजुता की प्रेरणा देता है। यदि धार्मिक आयोजनो और उत्सवो का प्रेरक रूप रहे तो उनकी वहुत वडी उपयोगिता है। उनसे भावी पीढी को वहुत वडा सवल मिल सकता है।

उत्सव समाज की अपेक्षा है। निरुत्साह और निराशा के वातावरण मे उत्साह

और आशा का सवल देने के लिए उत्सव वहुत आवश्यक हैं। जिस समाज के साथ उत्सव जुडे हुए नही होते, उस समाज मे प्रेरणा के तत्त्व भी वहुत क्षीण और मन्द होते हैं। उत्सव वहुत आवश्यक हैं।

उत्सव नैतिकता के प्रेरक भी हो सकते हैं और उसमे वाधा डालने वाले भी हो सकते हैं। धार्मिक उत्सव अवश्य ही चरित्र-विकास के लिए प्रेरक होते हैं। जव-जव उनका सम्यक् उपयोग होता है तव-तव उनके परिणाम भी सुन्दर आते हैं। नीरसता आकर्षण पैदा नही करती। कुछ लोगो ने मान लिया कि धर्म नीरस तत्त्व है। वह सव रसो के वर्जन के पक्ष मे है। शान्तरस मनुष्य की प्रवृत्ति के अनुकूल नही है। मैं इस सचाई को अस्वीकार नही करता, किन्तु धर्म नीरस है, इसे नहीं मानता। धर्म नीरस नही है। धर्म चैतन्य का अनुभव है। वह सव रसो के परे का रस है। जिस व्यक्ति को एक वार भी उस रस का आस्वादन आ जाता है उसके लिए तथाकथित सारे रस फीके हो जाते हैं, नीरस हो जाते हैं। उनमे फिर कोई सरसता प्रतीत नही होती। धर्म सवसे वडा रस है। किन्तु वहुत वार ऐसा होता है कि जव आडवर और कलेवर हस्तगत होता है, वास्तविकता और चैतन्य हस्तगत नही होता, तव धर्म नीरस ही लगता है। यह अस्वाभाविक नही है। नीरस धर्म के आसपास क्रियाकाडो का ऐसा जाल विछ जाता है जो नीरसता को और अधिक प्रभावी वना देता है।

मैंने जिस धर्म को समझा है वह धर्म चैतन्य के अनुभव का धर्म है। वह धर्म आनन्द के प्रवाह का धर्म है। उसकी कोई सीमा नही है। वह सीमातीत है। उसके साथ जुडा हुआ है—अनन्त-आनन्द, अनन्त-शक्ति और अनन्त-चैतन्य। वहा से जो झरता है वह कितना शक्तिशाली, कितना सुखद और कितना चैतन्यमय है, उसकी कल्पना वह आदमी कभी नही कर सकता जो दृश्य रसो को ही वास्तविक मानकर वैठा है। जिस व्यक्ति को रसातीत का अनुभव नही है वही दृश्य रसो मे आनन्द मान सकता है। रसातीत रस का अनुभव धर्म के द्वारा, धार्मिक पर्वों और उत्सवों के द्वारा हो सकता है। उसका अनुभव होने पर चरित्र का रूपान्तरण होने लग जाता है।

हम मनुष्य के चरित्र मे परिवर्तन लाना चाहते हैं। उसके जीवन मे चरित्र के वीजो को अकुरित करना चाहते है। क्या हमारे चाहने मात्र से ऐसा हो जाएगा? कभी नही होगा। करना चाहेंगे तो प्रतिक्रिया पैदा होगी। जिसमे वह वीज उगाना चाहेंगे उनके मन मे भी प्रतिक्रिया होगी और हमारे मन मे भी प्रतिक्रिया होगी। चारित्र के वीजो को अकुरित करने का एक मात्र उपाय है—अध्यात्म की अनुभूति कराना। धार्मिक उत्सव और पर्व उस अनुभूति के निमित्त वन सकते हैं, प्रेरक वन सकते है।

हमारी विवेक-चेतना जागे और हम धार्मिक उत्सवो को वैसा आध्यात्मिक

रूप दें जिससे वे चरित्र के वीजो को अकुरित करने मे हेतुभूत वन सके। जो हमारी आनन्दानुभूति है, रसातिरिक्त आनन्दानुभूति है, उसको नया वल मिल सके और वह हमारे अन्त.करण को छू सके। तत्त्व को वदलने की जरूरत नही होती, किन्तु परिवेश को वदलने की सदा जरूरत रहती है। सत्य को वदलने की जरूरत नही होती, किन्तु सत्य के आसपास पलने वाले तथ्यो को वदलने की जरूरत होती है। आज आवश्यकता इस वात की है कि धर्म की वाहरी चेतना, वाहरी परिवेश वदले और उसके आसपास किये जाने वाले उत्सवो का स्वरूप वदले और उसमे जन-जन की आन्तरिक चेतना को जगाने की क्षमता पैदा हो।

लाडनू २० जुलाई '८०

बलिदान बलिदान को जगाता है

वात वहुत पुरानी है। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य का शासन था। दिल्ली में सिखो का गुरुद्वारा वन रहा था। ब्रिटिश सरकार नही चाहती थी कि वहा गुरुद्वारा वने। वहा एक चर्च था। सिखो का निर्णय था कि वहा हमारे गुरु आए है और उनकी स्मृति मे गुरुद्वारा वनाना है। इधर सरकार का पूरा नियत्रण था। एकछत्र शासन चलता था। इधर सिखो का प्रण था अटूट। सत्ताधारी अपना अह वनाए रखना चाहते थे। आदेश हुआ कि कोई भी व्यक्ति इन स्थान मे आएगा तो उसे गोली से उडा दिया जाएगा। गोली का आदेश हो गया, किन्तु आप जानते हैं कि गोलिया हमेशा उन्ही व्यक्तियो को डराती है जो कि जीना चाहते हैं, यानी मरते हुए जीना चाहते हैं। जीकर जीना एक वात है, मरकर जीना दूसरी वात है। वह वहादुर जाति थी हिन्दुस्तान की। वह डरने वाली नही थी। सिखो ने निर्णय किया कि पाच सिख हमेशा जाएगे वलिदान देने के लिए। पाच सिख आए, गोलिया चली, पाचो ही समाप्त हो गए। दूसरे दिन फिर एक टोली आयी पाच सिखो की। तीसरे दिन आयी, चौथे दिन आयी, पाचवें दिन आयी। रोज पाच वलिदानी सिख आते रहे और प्राणो की आहुति उस पवित्र लक्ष्य के लिए चढाते रहे। पचास दिन वीते। ढाई सौ सिख वलिदान हो चुके थे। सरकार काप उठी। सारा ब्रिटिश साम्राज्य काप उठा। सरकार ने सोचा कि यदि यही क्रम रहा तो जनता मे क्रान्ति हो जाएगी। आखिर सरकार ने स्वयं आदेश दिया कि गुरुद्वारा वनाया जाए। कितनी वडी विजय! कितनी महगी विजय! वलिदान के आगे सारा ब्रिटिश साम्राज्य झुक गया।

सचमुच, लोग अहिंसा की शक्ति को, मरने की शक्ति को जानते नही हैं। जो व्यक्ति मरने की शक्ति को जानते है, उत्सर्ग की शक्ति को जानते है, जिनमे अपने प्राणो की वलि देने की क्षमता होती है, दुनिया मे कोई भी ताकत उन्हे विचलित नही कर सकती। जो मारना जानते हैं, उन्हे मारने वाले दुनिया मे वहुत हैं किंतु जो मरना जानते हैं उन्हें मारने वाला दुनिया मे कोई नही है। उन्हे कोई मार नही सकता, कोई सता नही सकता।

जैन धर्म का जो सबसे वडा सिद्धान्त है, वह है *उत्सर्ग*—अपना उत्सर्ग, प्राणो के मोह का उत्सर्ग। जो इस बात को सीख लेते है, अपना उत्सर्ग करना जानते है, अपना वलिदान करना जानते हैं, अपने प्राणो को होमना जानते हैं, उन्हे जीतने वाले दुनिया मे कोई भी नही होते। लोग सोचते है कि जैन लोग हिन्दुस्तान मे सख्या मे थोडे हैं। यह सख्या की बात जो है, ठीक नही है। सख्या मे थोडे हो सकते हैं, किन्तु उनके पास जो अस्त्र है अहिंसा का और अपने प्राणो को वलि की वेदी पर चढाने का, अगर वह अस्त्र पूरा तीखा हो जाए तो उनकी साख्यिक कमी भी कभी अखरने वाली नही होगी।

किन्तु अहिंसा की बात बहुत कठिन है। हिंसा करना अच्छी बात नही है। हमारा धर्म भी नही है। हिंसा हमे पसद भी नही है। सचमुच हिंसा करना हम जानते नही है। हिंसा करना अहिंसा नही है। किन्तु साथ-साथ अहिंसा की ओट मे कायरता भी अच्छी बात नही है। वह उससे भी खराव बात है। क्योकि लोगो मे यह भ्रम रहता है कि बहुत सारे जैनी भी आज अहिंसा के परिधान मे, अहिंसा के घूघट मे या अहिंसा के मुखौटे मे हिंसा को वढावा देते हैं। दूसरे शब्दो मे कायरता को वढावा देते है। कायरता को वढावा देने का मतलव हिंसा को वढावा देना है। वे कायरता को पालते चले जाते है। कोई भी जैन है और कायर है, यह तो हो नही सकता। अपने आपको जीतने वाला कायर हो सकता है, यह स्वप्न मे भी समझ मे आने वाली बात नही है। वह नाम से जैन हो सकता है, किन्तु सच्चा जैन कभी नही हो सकता—जिसके मन मे कायरता है, जिसके मन मे प्राणो का मोह है और जो मरने से घवराता है, डरता है।

ये दोनो बातें आज कसौटी पर हैं—हमे हिंसा नही करनी है, किन्तु साथ-साथ अहिंसा के वहाने कायर भी नही वनना है। कायरता को कभी पालना-पोसना नही है, और उसका सहारा नही लेना है। बिल्कुल अभय। भगवान् महावीर का सवसे पहला सूत्र था—अभय। जो अभय को नही जानता वह अहिंसा को नही जानता और जो अभय को नही जानता वह वास्तव मे महावीर को भी नही जानता, जैन धर्म को भी नही जानता।

दो बातें हैं—एक आक्रमण करना और एक अपनी सुरक्षा करना। गुजरात की घटना है। सेनापति था जैन। राजा कही वाहर गया हुआ था और पीछे से शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया। अव सेनापति अपनी सेना लेकर युद्ध के मैदान मे गया। कल से लडाई शुरू होने वाली है। संयोग ऐसा मिला कि पक्खी का दिन आ गया। सेनापति जैन था। वडा श्रावक था। धर्म का जानकार था। सायकाल वह प्रतिक्रमण करने वैठ गया। प्रतिक्रमण शुरू किया। उसने पाठ पढा—एगिंदिया, वेइंदिया, तेइंदिया आदि—एकेन्द्रिय की हिंसा की हो तो मिच्छामि दुक्कडम् आदि-आदि। आसपास मे सहायक सेनापति और सैनिक सुन रहे थे।

उन्होंने सोचा कि जो कहता है कि चीटी-मकोडो को मारा हो तो मिच्छामि दुक्कडम्, वह हमे क्या निहाल करेगा यहा ? वे सब घबडा गए। वे रानी के पास पहुचे। उन्होने कहा, 'महारानी! इस सेनापति के भरोसे कल हमे पराजय का मुह देखना पडेगा, क्योकि वह सेनापति हिंसा से घबराता है।' महारानी ने सेनापति को बुलाया। बुलाकर पूछा, 'तुम जीवो को मारने से डरते हो तो शत्रुओ को कैसे मारोगे ?' सेनापति ने कहा, 'मैं जैन धर्म को मानने वाला हू। मैं महावीर का अनुयायी हू। महावीर का यह आदेश है कि विना मतलब एक चीटी को भी मत मारो, मत सताओ। अहिंसा करो, करुणा करो, अनुकम्पा करो—यह मेरा स्वधर्म है। किन्तु लडना मेरा राज्य-धर्म है। दोनो अपने-अपने स्थान पर हैं। कोई शत्रु मुझ पर आक्रमण करता है तो मैं अपनी सुरक्षा करने के लिए स्वतत्र हू। आप चिन्ता न करें। निश्चित रहे। कल जो होगा, वह सामने आ जाएगा। युद्ध का मैदान वताएगा कि एक जैन सेनापति कितने पराक्रम से लड सकता है।' रानी को विश्वास था पहले से ही। सूर्योदय हुआ। लडाई शुरू हुई। सेनापति पूर्ण पराक्रम से लडा। सेनापति का साहस देख योद्धाओ का शौर्य दुगुना हो गया। भयकर युद्ध हुआ। शत्रु पराजित हो पहले ही दिन भाग खडा हुआ।

हमारे सामने दो चित्र है—एक चीटी को न मारने वाले सेनापति का और दूसरा युद्ध मे हजारो व्यक्तियो का सहार करने वाले सेनापति का। ये दो विरोधी चित्र हैं। किन्तु वास्तव में विरोधी नही, दोनो मे बहुत सामजस्य है। जैन धर्म की अहिंसा का मत्र है कि किसी पर आक्रमण मत करो। विना मतलब किसी को सताओ मत, किसी को पीडा मत पहुचाओ, कष्ट मत दो, किसी का शोपण मत करो। किन्तु अगर तुम्हारे पर कोई आक्रमण कर दे तो तुम्हे इस दुनिया मे जीने का हक है, अधिकार है। और कम-से-कम कायर होकर मरने का तो कोई अधिकार नही है। ये दो बातें साथ-साथ आती हैं, यह स्पष्ट है। मैं समझता हू कि वर्तमान मे घटित इस घटना से कुछ भ्रान्तियो का भी निरसन हुआ है। वहुत सारे लोग यह समझते हैं कि जैन लोग अहिंसा की बात करते हैं, पर बहुत कायर हैं। कम-से-कम यह भ्रान्ति तो मिटी। भ्रान्ति मिटी है और वहुत जगह मिटी है। लोगों ने यह जान लिया है कि जैन अहिंसावादी है, किन्तु अहिंसावादी होने के साथ-साथ कायर नही हैं।

प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है। आप राजस्थान के, गुजरात के इतिहास को देखिए कि पीढियो तक यहा के शासको के राजाओ के सेनापति, दडनायक जैन लोग रहे है और उन्होंने सारे राज्य की वागडोर सभाली है और राज्य की सुरक्षा का दायित्व अपने पर लिया है। अहिंसक कायर होता है, इस भ्रान्ति का निरसन होना मैं बहुत अच्छी बात मानता हू।

आचार्यश्री ने इस सारे घटनाक्रम मे अपने अनुयायियो को जो एक बात कही,

वह यही कि 'कायर मत वनो। घवराओ मत। सकटो से घवराओ मत।' हर समाज पर समय-समय पर कठिनाइया भी आती हैं और परीक्षा की घडिया भी आती है। अगर परीक्षा की घडिया न आए तो वह समाज इतना निकम्मा, इतना कमजोर हो जाता है कि वह अपने अस्तित्व की रक्षा करने मे भी समर्थ नही होता। कई लोगो ने कहा कि आचार्यश्री को जव पुस्तक को स्थगित ही करना था तो वीस दिन पहले क्यो नही किया जिससे कि इतना अडगा नही होता। वात तो वहुत अच्छी है। तर्क तो समझ मे आने वाला है वहुत अच्छा भी लगता है सुनने मे, किन्तु कुछ लोग यानी वडे आदमी या वडे आचार्य ऐसे होते हैं जो कभी-कभी विस्फोट करते है और विस्फोट के वाद अमृत का छीटा भी देते है। उसके पीछे उनका कोई रहस्य होता है। जो हुआ उससे पहले यदि आचार्यश्री कुछ कर देते तो कच्चे फोडे का आपरेशन होता। कच्चे फोड़े का जो आपरेशन होता है, उससे वहुत जलन होती है, दर्द होता है और कभी-कभी वह वहुत भयकर रूप भी ले लेता है। आपरेशन तभी करना चाहिए जव कि वह पूरा पक जाए। अव कोई आदमी कहे डॉक्टर को कि आपरेशन करना था तो दस दिन मुझे तकलीफ देने के वाद आपरेशन क्यो किया, पहले ही कर देते। वात तो वहुत समझ मे आने जैसी है और जिसको कष्ट होता है उसका दर्द भी वहुत सही है। किन्तु वास्तव मे सचाई यह नही है कि पहले ही आपरेशन हो जाए। कच्चे फोडे का आपरेशन करने पर कभी-कभी जीवन से ही हाथ धोना पड जाता है। मैं इसे अच्छा नही मानता। उचित समय पर उचित क्रिया करना ही वुद्धिमत्ता है।

इस घटना-क्रम से कितनी वातें स्पष्ट हुई है। लक्ष्य स्पष्ट हुए है। कितनी सचाइया हमारे सामने आयी हैं कि उन सचाइयो से हम लाभ उठा सकें, कुछ लाभ ले सकें, कुछ शिक्षा ले सकें कुछ वोध ले सकें। मैं एक ही वात कहूगा कि सही समय मे, उचित समय मे, उचित निर्णय आचार्यश्री ने लिया। कच्चे आम को आप तोडें तो केरी हो सकती है, अमचूर हो सकती है, अमरस नही हो सकता। वह तभी हो सकता है जव आम पूरा पका हो। फल के पूरे पकने के वाद ही परिणाम की सही जानकारी हो सकती है। इन स्थितियो से यह स्पष्ट हुआ कि लोग यह मानते थे कि आचार्यश्री का जो समाज है वह भीरु समाज है, डरपोक समाज है, कायर समाज है। यह वात अगर परीक्षा की घडी नही आती तो यह भ्रान्ति वनी की वनी रहती। दूसरे यह कि समाज अपने पैरो पर खडा होने मे समर्थ नही है। यह भ्रान्ति भी रह जाती। अनेक वार ऐसी स्थितिया आयी, उनमे लगा कि सहयोग मिलने वाला नही है। उन्होने इतने आत्मविश्वास के साथ सकल्प किया कि कुछ भी नही मिले, हम अपने पैरो पर खडे होगे। अपना सारा काम हाथ से करेंगे और यह वडप्पन की वात को, इस सेठाई की वात को विलकुल तिलाजलि दे देंगे। मैं आचार्यवर के प्रति अपनी प्रशस्त भावना व्यक्त करता हू। उन्होने इस

घटनाक्रम मे जिस दूरदर्शिता और जिस नैतिकता के औचित्य के आधार पर कार्य किया वह प्रशसनीय है। नेता को जिस समय मे जो काम करना चाहिए उस काम को करने मे उन्होने जो कुशलता प्रदर्शित की, सचमुच वह समूचे अहिंसक समाज के लिए एक आदर्श-रेखा है।

तेरापथ समाज ने अभय एव शक्ति का परिचय दिया, सचमुच वह साधुवाद का पात्र है।

समाज मे सारे के सारे लोग अभय नही होते और सारे के सारे लोग कायर नही होते। ऐसी विकट परिस्थितियो मे निडर लोग यदि समाज का नेतृत्व करते हैं, तो मैं समझता हू, वे अपने समाज की नीव को और गहरे गाड देते हैं। समाज उससे चमकता है। विकसित होता है। वर्तमान की घटित घटनाओ के सन्दर्भ मे कुछ व्यक्तियो ने ऐसा ही किया। समाज उनके नेतृत्व को कभी नही भूलेगा। उनका बलिदान लाखो मे बलिदान की भावना जगाएगा—यही विश्वास है।[1]

---

१ बलिदानियों के लिए वृहद् स्वागत समिति द्वारा आयोजित स्वागत समारोह में २१ अगस्त, ७२ की रात्रि को दिया गया भाषण।

शांति का प्रश्न

शाति कही आकाश मे नही होती। जो श्मशान मे होती है, उसे भी अच्छा नही समझा जाता। श्मशान की शाति का कोई विशेप अर्थ नही होता। शाति समाज मे, मनुष्य के हृदय मे और मनुष्य के मस्तिप्क मे हो तव उसका कुछ मूल्य होता है। शाति लोगो के पारस्परिक व्यवहार पर निर्भर रहती है। शाति-सम्मेलन, शाति आन्दोलन या इस प्रकार के जो उपक्रम चलते हैं, उनका अपना एक मूल्य होता है और वे उपक्रम सदा से चलते रहे हैं। सचाई यह है कि जनता हमेशा शाति के पक्ष मे होती है। वहुत लोग अशाति को नही चाहते। अशाति को चाहने वाले कुछ लोग होते हैं। जो सत्तारुढ लोग होते हैं, वे विस्तारवादी भावना के फलस्वरूप अशाति के निमित्त वन जाते हैं। अशाति के निमित्त वे लोग भी वनते हैं जो अपने विचारो को दूसरो पर थोपना चाहते हैं। आज की जो सवसे वडी वीमारी है, वह है अपने विचारो का प्रसार।

जो प्रजातन्त्र मे विश्वास करने वाले है, वे यही प्रयत्न करते हैं कि प्रजातन्त्र की पद्धति और व्यवहार सारी दुनिया मे फैले। जो कम्युनिज्म मे विश्वास करने वाले हैं, उनका भी ऐसा प्रयत्न रहता है। इस प्रकार इज्मो (वादो) के खेमे वन गए हैं।

अशाति पैदा करने वाले कुछ लोग हैं और शाति की अपेक्षा समूची मानवता को है। शक्ति कुछेक लोगो के हाथ मे है। अमेरिका, रूस और कुछेक देशो के पास अणुशक्ति है, हाइड्रोजन वम और नाइट्रोजन वम है। इन वमो की शक्ति का स्वामित्व उन सीमित लोगो के हाथो मे है, सारी जनता के हाथ मे वह सत्ता नही है। कठिनाई यह है कि जिनके हाथ मे शक्ति है, उन्हे शाति की वात समझ मे नही आती। वियतनाम के युद्ध को देख लीजिए। वहा भी युद्ध का प्रयोग शाति के लिए किया जा रहा है। शक्ति-सन्तुलन मे मनुष्य का इतना दृढ विश्वास हो गया है कि जव तक शक्ति-सन्तुलन नही होता तव तक शाति नही हो सकती। युद्धशास्त्री शाति की परिभापा भी यही करते हैं कि शाति यानी दो युद्धो के वीच की तैयारी का काल। इस प्रकार शाति के विपय मे कुछ भ्रान्त धारणाए वना ली गई जिससे

आज अनेक समस्याए उभरी हैं। मूल प्रश्न यह है कि जव तक मानवता का विकास नही होता शाति की वात धुधली हो जाती है। मानवता और शांति दो नही हैं। प्राचीन काल मे यह प्रश्न आया कि शास्त्रवित् कौन होता है? शास्त्रवित् वही होता है, जिसका मन शात होता है। शास्त्रो की रचना शाति के लिए हुई है। मानसिक शाति और मानसिक सन्तुलन को वहुत महत्त्व दिया गया है। शाति के लिए मन का सन्तुलन अत्यन्त अपेक्षित है। मन का सन्तुलन तव होता है जवकि उसमे एकाग्रता का पूर्ण अभ्यास हो। भारत मे योग धर्म का प्रचार किया गया, साधना पर वल दिया गया, इसलिए कि जव तक मन अशात रहेगा तव तक वह दूसरो को भी अशाति देगा। इसलिए हर व्यक्ति को शात वनना है और हर एक को योगी वनना है। इसका साधन है—धर्म। धर्म से मन और इन्द्रिया शात होती है। जिससे इन्द्रिया और मन शात नहीं होते, वह धर्म नही है।

आज जो वैभवशाली है, उनके मन मे भी शांति नही है वल्कि उनमे उन्माद अधिक है। इसका कारण है कि मानवता के प्रति जो एकत्व की अनुभूति होनी चाहिए, उस दृष्टिकोण का विकास उनमे नही हुआ।

अणुव्रत ने इस विपय मे कुछ विचार किया है। यह तो मैं नही कह सकता कि इस दिशा मे कोई वहुत वडा प्रयत्न हुआ है, फिर भी यह एक छोटा-सा प्रयत्न किया गया है। वहुत सारे छोटे-छोटे प्रयत्न मिलकर एक वहुत वडी इकाई वन जाते हैं। अणुव्रत का मूल आधार है—मानवीय एकता व सह-अस्तित्व। जिस व्यक्ति का मानवीय एकता मे विश्वास नही है, जिस व्यक्ति का सह-अस्तित्व मे विश्वास नही है, जिस व्यक्ति का मानवीय समानता मे विश्वास नहीं है, वह अणुव्रती नही हो सकता। प्रश्न आया कि आत्मा को नही मानने वाला, पुनर्जन्म को नही मानने वाला अणुव्रती वन सकता है या नही? आचार्यश्री ने उत्तर दिया, 'क्यो नही वन सकता?' यदि मानवीय एकता, सह-अस्तित्व और मानवीय समानता में उसकी आस्था है तो वह अणुव्रती वन सकता है—फिर वह धर्म को माने या न माने, उपासना या पूजा-पद्धति करे या न करे। ये उसके व्यक्तिगत प्रश्न हैं। अणुव्रत आन्दोलन की आधार-भित्ति है—मानवता मे आस्था। जिस व्यक्ति की मानवता मे आस्था होगी, वह सवसे वडा शाति-दूत होगा। क्योकि मानवता को मानने वाला मनुष्य के प्रति कोई अन्याय नही कर सकता। मनुष्य के प्रति वही व्यक्ति अन्याय कर सकता है, जिसे मानवता मे विश्वास नहीं है। रग-भेद और वर्ण-भेद मे वही विश्वास करता है जिसको मानवीय एकता में विश्वास नही है। मैं मानता हू कि अशाति के कुछ व्यावहारिक कारण हैं तो कुछ दार्शनिक धारणाए भी है। एक व्यक्ति समृद्ध है, धन-वैभव से सम्पन्न है; दूसरा व्यक्ति गरीव है। दोनो के चिंतन का प्रकार भिन्न-

भिन्न है। धनी सोचता है मैंने अच्छे कार्य किए थे, उनका फल मैं आज भोग रहा हू। मेरे पड़ोसी को यदि रोटी नही मिल रही है, कपडा नही मिल रहा है या जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं सुलभ नही हो रही है, इसमे मेरा क्या दोष है? उसने बुरे कर्म किए थे, उनका फल भोग रहा है। आज भी ऐसी धारणाए वर्ग-भेद को लेकर बनी हुई हैं। यह अशाति की सबसे बढी जड है। अणुव्रत आदोलन ने इस दिशा मे धारणाओ का परिमार्जन करने का प्रयत्न किया है। इसका अर्थ यह नही कि मैं कर्मवाद को स्वीकार नही करता। कर्मवाद का अपना स्थान हो सकता है। भाग्य का भी अपना स्थान हो सकता है। क्या पुरुषार्थ का उसमे कोई स्थान नही है?

जहा विषमता मिटे, वहां भाग्यवाद और कर्मवाद लडखडा जाएगे। अगर ऐसे लडखडाते हैं तो शायद उसका अस्तित्व भी टिकने वाला नही है। पर यह हमारा व्यक्तिगत प्रश्न है, व्यक्ति की योग्यता का प्रश्न है। आज तक दुनिया मे व्यक्ति की योग्यता का समीकरण कभी भी नही किया गया। सारी दुनिया मे कही भी चले जाइए, आपको व्यक्तिगत योग्यताओ का समीकरण नही मिलेगा।

बुद्धि का भी भेद होता है, चिंतन का भी भेद होता है, योग्यताओ का भी भेद होता है शरीर का भी भेद होता है, इनका समीकरण नही किया जा सकता। किन्तु जो बाहर की व्यवस्था है और जो मनुष्यकृत है, उसे क्या मनुष्य नही बदल सकता?

तर्कशास्त्र का भी नियम यह है कि जो कृत है, वह कभी शाश्वत नही हो सकता। शाश्वत वही होगा जो मनुष्य द्वारा कृत नही है। जितने नियम विधान, धारणाए और मान्यताए मनुष्यकृत होती है, वे शाश्वत नही होती। उनमे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

ऐसी कोई भी रचना नही है जो अनादिकाल से आज तक चली आ रही हो। कुछ लोग वेद को शाश्वत मानते हैं। हमे समझने मे कठिनाई होती है कि शास्त्र है, मनुष्य उसका उच्चारण भी करता है, मनुष्य के द्वारा व्यक्त भी होता है, और वह शाश्वत भी है। यह कैसे हो सकता है? सब कुछ करने वाला मनुष्य है फिर मनुष्य का ज्ञान शाश्वत कैसे हो सकता है?

सबसे पहले दृष्टिकोण को साफ करने की आवश्यकता है। दृष्टिकोण जितना स्पष्ट होगा, शाति के लिए उतना ही मार्ग प्रशस्त होगा। अधिक कठिनाई दृष्टिकोण की अस्पष्टता से होती है। हमारा दृष्टिकोण आज स्पष्ट होना चाहिए कि मनुष्य और मनुष्य के बीच जितनी भेद की दीवारें खडी की गई थी उनके पीछे समझदारी का हाथ नही था, किन्तु स्वार्थी तत्त्व का हाथ था। वे एक विशेष प्रकार के चिन्तन व वातावरण मे खडी की गयी थी। आज उनके लिए किसी भी

सिद्धात की दुहाई देने की आवश्यकता नहीं है। आज से सैकडो वर्ष पहले दक्षिण के कुछ जैनाचार्यो ने एक बहुत शक्तिशाली स्वर उठाया था। आचार्य जिनसेन, जो कर्नाटक मे हुए है, ने इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य-जाति एक है। केवल उसमे आचार और व्यवहार का थोडा अतर है। यदि यह स्वर हृदयगम होता तो युद्ध नही होते। अशाति की उत्पत्ति युद्ध के क्षेत्र मे नही होती। वहा तो उसकी चरम अभिव्यक्ति होती है।

जिस परिवार मे रोज अशान्ति रहती है, क्या वह परिवार कभी शान्ति मे योगदान दे सकेगा ? जो व्यक्ति दुकान मे बैठकर दूसरो के साथ क्रूर व्यवहार करता है, क्या वह शान्ति मे योगदान दे सकेगा ? नही, कभी नही। क्योकि जो व्यक्ति दूसरो का शोषण करता है, दूसरो के प्रति क्रूर व्यवहार करता है, वह इसी आधार पर करता है कि उसके मन मे मनुष्य के प्रति कोई आस्था नही, मनुष्य के प्रति कोई सहानुभूति नही और वह मनुष्य को मनुष्य मानने के लिए तैयार नही है। उसका सारा योग, उसकी सारी सहानुभूति केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के साथ जुडी रहती है। मैं शान्ति के लिए बडी-बडी चर्चाए करना नही चाहता। यदि व्यक्तिगत शान्ति का प्रश्न हमारे समाज मे आए और उसका व्यापक प्रयोग हो तो निश्चित ही विश्व-शाति मे बहुत बडा योग मिल सकता है। मैं यह नही कहना चाहता कि बडे प्रयत्न नही होने चाहिए। वे भी बहुत आवश्यक हैं और यदि सब देशो के लोग मिल-जुलकर ऐसा महान् प्रयत्न करते हैं तो वह अभिनन्दनीय है।

हमारा सबसे पहला प्रयत्न व्यक्ति से प्रारम्भ होना चाहिए। यद्यपि आज का दृष्टिकोण भिन्न है। कुछ लोग सामाजिकता मे अधिक विश्वास करते है और कुछ लोग व्यक्ति-विकास मे ज्यादा विश्वास करते है। हम दोनो को एकागी दृष्टि मे नही देखते। न तो यह कहते हैं कि केवल व्यक्ति से ही शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है और न इसका खण्डन ही करते हैं कि सामूहिक शान्ति का कोई अस्तित्व ही नही है। दोनो का अपना-अपना मूल्य है और अपना-अपना स्थान है।

हिंसा के तीन प्रकार हैं

१. आरभजा—कृषि आदि मे होने वाली हिंसा।

२ विरोधजा—अपनी सुरक्षा के लिए होने वाली हिंसा।

३ सकल्पजा—सकल्पपूर्वक दूसरो पर आक्रमण करने से होने वाली हिंसा।

सामाजिक व्यक्ति प्रथम दो प्रकार की हिंसा से बच नही सकता परन्तु उसे सकल्पजा हिंसा का अवश्य त्याग करना चाहिए। यदि इस भावना का व्यापक प्रसार हो तो अनेक समस्याए हल हो सकती हैं। सत्ता मे रहने वाले और धन की गोद मे लुठने वाले सभी व्यक्ति इसका सकल्प करते है तो विश्वशाति मे बहुत बडा सहारा मिल सकता है।

आज की परिस्थिति मे शान्ति का स्वर बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि आज का

मानव इतना दिग्भ्रान्त नही होता तो शाति का प्रश्न इतना वलवान् नही होता किन्तु आज का मनुष्य भटक गया है। प्राचीनकाल मे यत्र-तत्र छुटपुट लडाइया होती थी। एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता था। परन्तु उसका असर सारे देश पर नही होता था। दक्षिण मे होने वाले उपद्रवो का असर उत्तर मे रहने वालो पर नही होता, क्योकि यातायात के साधन अल्प थे। दुनिया वहुत वडी थी। एक-दूसरे की दूरी वहुत थी। किन्तु आज सारी दुनिया सिमट गयी है। सारा विश्व एक परिवार की तरह हो गया है। विश्व के किसी भी कोने मे जो घटना घटित होती है, उसका असर सारे विश्व पर होता है। युद्ध वियतनाम मे होता है किन्तु दूर-दूर के देशो पर उसका असर हो जाता है। एक वात भारत मे होती है किन्तु उसका असर अमेरिका मे हो जाता है। आज हम सव एक-दूसरे के वहुत निकट हो गए हैं। मनुष्य वाहरी आकार से इतना निकट आ गया है कि शायद पहले कभी इतना निकट नही रहा। इस निकटता का ही यह परिणाम है कि वह शाति पर वल दे रहा है। दूसरी वात यह है कि आज सहारक-शस्त्रो के निर्माण की होड चल रही हैं। इनके परिणामस्वरूप सारा वातावरण भय से आक्रान्त है। ऐसी स्थिति मे सभी व्यक्ति शाति की माग करने लगे हैं।

लोगो को यह भय है कि सहारक-शक्ति कुछेक व्यक्तियो के हाथ मे है। वे व्यक्ति यदि उन्मत्त हो जाए, तो प्रलय होने मे विलम्व नही होगा। उन्माद को रोक पाना हर एक के वश की वात नही है। उन्मत्त व्यक्ति हिताहित नही सोचता। वह अपने आग्रह को क्रियान्वित करने मे डटा रहता हे। यही से विनाश प्रारम्भ हो जाता है। अत कोई भी व्यक्ति अपनी सुरक्षा के प्रश्न को गौण नही कर सकता। जैसे रोटी का प्रश्न हर व्यक्ति के लिए है, वैसे ही शाति का प्रश्न भी हर व्यक्ति के लिए वन गया है।

व्यक्ति-व्यक्ति की शाति ही विश्व-शाति का उपादान हो सकती है। इसका मूल आधार है—मानवीय एकता की अनुभूति। यदि इसका विकास होगा तो विश्व-शाति की दिशा मे सही कदम होगा।

वर्तमान का दर्प : भविष्य का दर्पण

वर्तमान के दर्प ने हर प्रतिभा को ठुकराया है और भविष्य के दर्पण ने हर प्रतिभा को प्रतिविम्बित किया है। इस शाश्वत सत्य की पुष्टि के लिए मैं तीन आत्माओ की अन्तर्वेदना का स्वर प्रस्तुत करूंगा।

आप महाकवि कालिदास के नाम से परिचित हैं। वे सस्कृत साहित्य के आकाश मे जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाति चमक रहे हैं। किन्तु वर्तमान ने उन्हें उपेक्षा का विषपान करने को वाध्य किया था। उनके विषपान का अमृतमय उद्गार हमे 'मालविकाग्निमित्र' मे मिलता है। महाकवि ने अपनी उपेक्षा को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,
मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥

—पुराने काव्य अनवद्य ही होते हैं और नये काव्य अवद्य ही होते है—यह मानना असगत है। विद्वान् मनुष्य अनवद्य और अवद्य की परीक्षा कर अनवद्य काव्य का रसास्वाद करते है और मूढ व्यक्ति दूसरो की प्रतीति का अधानुकरण करते हैं।

महाकवि का मानस-मथन वर्तमान की वेदी पर वह प्रतिष्ठा नही पा सका जो प्रतिष्ठा उसने आज प्राप्त की है। उनके समकालीन सहृदय उन्हे कवि मानने को तैयार नही थे। उन्हे अपने दृश्य और श्रव्य काव्यो की प्रस्तुति प्रयत्नपूर्वक करनी पडी।

आचार्य सिद्धसेन तर्क और काव्य—दोनो क्षेत्रो मे पारगत थे। 'सन्मति' जैसा महान् न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ उनकी अप्रतिम तार्किक प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है। वत्तीस द्वात्रिंशिकाए उनके कवित्व की स्वयभू साक्ष्य है। उन्होने प्राकृत साहित्य के सस्कृतीकरण का प्रयत्न किया, तव आचार्य ने उन्हे सघ से वहिष्कृत कर दिया।

उनकी अन्तर्वेदना निम्न पद्यो मे प्रस्फुटित हुई है—

१. पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति,
तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तु मृतरूढगौरवाद्,
अहं न जात प्रथयन्तु विद्विष ॥

२. पुरातनप्रेम जडस्य युज्यते।

—'हमारे पूर्वजो ने जो व्यवस्था निर्धारित की है, वह वैसे ही है। उसकी समीक्षा कर हम क्या सिद्ध कर पाएगे? ऐसे मृत-रूढ गौरव के गीत गाने वालो की हा मे हा मिलाने के लिए मैं नही जन्मा हू। लोग मेरे शत्रु बनते हैं तो भले बनें।'

—'पुरातन का प्रेम जड व्यक्ति को ही शोभा देता है, मेरे जैसे व्यक्ति को नहीं।'

आचार्य सिद्धसेन की स्थापनाओ का जो मूल्य आज है, वह उनके अस्तित्व-काल मे नही था। वे जैन वाड्मय की तार्किक शाखा के सर्वाधिक समर्थ प्रतिनिधि व्यक्ति हैं।

आयुर्वेद के तीन मुख्य आचार्य माने जाते है—चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट। वाग्भट्ट ने अष्टागहृदय नामक चिकित्सा-ग्रथ लिखा। उस समय के धुरीण वैद्यो ने उसे मान्यता नही दी। उस समय वाग्भट्ट ने बहुत ही मार्मिक शब्दो मे अपनी आत्मा को उनके सामने प्रस्तु किया—

१ वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं,
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।
एतद् ब्रह्मा भाषता ब्रह्मजो वा,
का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्ति ॥

२ अभिधातृवशात् किं वा, द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मात्सर्यमुत्सृज्य, माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम् ॥

—'वातज, पित्तज और श्लेष्मज—ये तीन प्रकार के रोग हैं। इनकी शाति के लिए तैल, घृत, और मधु—ये तीन पथ्य हैं। इस स्पष्ट सत्य का प्रतिपादन ब्रह्मा करे अथा ब्रह्मपुत्र करे, उसमे कोई अतर आने वाला नही है। प्रतिपादक की शक्ति से द्रव्य की शक्ति मे कोई विशेषता नही आती। अत. आप मात्सर्य को छोडकर तटस्थ भाव से मेरे ग्रन्थ को पढ़ें।'

काव्य, दर्शन और चिकित्सा-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य मे घटित इन तीन वृत्तो के सदर्भ मे यही तथ्य उभरता है कि वर्तमान का दर्प दर्पण बनने की क्षमता से वचित रहा है।

ऐसा क्यो होता है ? इनका उत्तर देश और काल के गर्भ मे छिपा हुआ है। देश और काल की दूरी मे व्यक्तित्व की जो प्रतिभा उभरती है, वह उनके सामीप्य मे नहीं उभरती। बाहरी व भूतकालीन व्यक्ति को महत्त्व देने की मनोवृत्ति सर्वत्र देखी जाती है।

अपरिचय मे व्यक्ति ज्ञात नहीं होता, इसलिए परिचय आवश्यक होता है। किन्तु जैसे-जैसे उसकी मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे वह व्यक्ति के मूल्य को कम करती जाती है।

इसीलिए एक सस्कृत कवि को लिखना पडा, '**अतिपरिचयदोषात् कस्य नो मानहानि** ।' ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे अति परिचय के कारण मानहानि की कठिनाई का सामना न करना पडा हो।

देश और काल की निकटता मे दो अह की सीधी टक्कर होती है। पूर्वज का अह अपने अनुज के अह की पूर्ति मे स्वय की हीनता का अनुभव करता है। यही स्थिति दो एकदेशीय व्यक्तियो के अह की होती है।

देश और काल की दूरी मे अह पूर्वज बनकर प्रस्तुत होता है और वह प्रस्तुत होता है काल-वेला की ऊर्मियो मे स्नात होकर। वह वर्तमान के अह पर चोट नही करता। इसलिए उसे अनुज की मान्यता प्राप्त हो जाती है। वह पूर्वज का भविष्य और अनुज का अतीत होता है, इसलिए उसमे वर्तमान की तीव्रता नहीं होती। इस दुनिया मे सारा सघर्ष तीव्रता का है, वह अह की हो या अन्य किसी वस्तु-धर्म की।

जो विपरीत दिशा मे खड़ा नही हो सकता वह युवक नही होता

एक विद्यार्थी से पूछा गया कि बताओ सूर्य घूमता है या पृथ्वी घूमती है। विद्यार्थी ने कहा, 'मुसीवत है। जव घर मे होता हू पृथ्वी स्थिर रहती है, सूर्य घूमता है और जव स्कूल मे होता हू तो सूर्य स्थिर रहता है पृथ्वी घूमती है।' ठीक मेरे सामने भी ऐसी ही उलझन है। एक विचार अभी आपने सुना कि स्वाध्याय मण्डल चलने चाहिए, ज्ञान का विकास होना चाहिए तो दूसरा आपने सुना ज्ञान वडा खतरनाक होता है। तीसरी वात आपने प्रशासन की सुनी। मैं स्याद्वाद का विद्यार्थी रहा हू और हर वात को अनेकान्त की दृष्टि से देखता हू। हर समस्या पर अनेकान्त की दृष्टि मे विचार करता हू। मेरे सामने युवक हैं इसलिए युवको पर विचार करना चाहिए। मुझे लगता है कि एक दृष्टिकोण कोई पर्याप्त नही होता है। सव वातें मिलकर एक वात वनती है।

मैं युवक उसे मानता हू, जिसमे विपरीत दिशा मे खडे होने की शक्ति होती है। जो व्यक्ति विपरीत दिशा मे खडा नही हो सकता, वह युवक कभी नही हो सकता। चाहे वह पचीस वर्ष का ही क्यो न हो। आज तक दुनिया का सारा विकास विपरीत दिशाओ के कारण हुआ है। आप अपनी अगुलियो तथा अगूठे को देखिए। यदि अगूठा विपरीत दिशा मे नही होता तो विश्व का कभी विकास नही होता। आज तक हमारी सभ्यता का विकास, सस्कृति का विकास और चिंतन का विकास—सारा विकास इसलिए हुआ है कि अगुलियो के विपरीत दिशा मे अगूठा है। यदि अगुलिया होती और अगूठा विपरीत दिशा मे नही होता तो मनुष्य समाज का विकास नही होता। वह पशु का समाज होता। और अगूठा भी कोई वडी अगुली के समान वन जाता तो मनुष्य मनुष्य नही होता, पशु होता। यह सारा सस्कृति का विकास इसलिए हुआ है कि अगूठे ने विपरीत दिशा का चुनाव किया।

हम विपरीतताओ से वहुत घवडाते हैं। थोडा-सा भी विपरीत विचार आ जाए तो लडने लग जाते हैं। मुझे आश्चर्य होता है। क्या विपरीत विचार, प्रति विचार और विरोधी विचार आना वुरी वात है ? मैं तो नही मानता। विरोधी विचार

से भी हमे वहुत कुछ जानने-समझने को मिलता है। यदि हा-मे-हा मिलाने वाली वृत्ति ही रहती तो सारी दुनिया आज जहा है, वहा कभी नहीं पहुच पाती। विरोधी विचारधारा मे दुनिया के विकास में वहुत मदद मिली है।

आज महत्त्वपूर्ण कार्य तभी हो सकता है जब हम विपरीत दिशा में खड़े होने वाले व्यक्तियों को तैयार कर सकें। ऐसे व्यक्तियों का निर्माण हो जो विरोधी दिशा मे खड़े रह सकें। मैं उस व्यक्ति को वहुत महत्त्व नहीं देता जो प्रवाह के साथ चलने लग जाता है। मैं जो यहा एक वात का विशेष उल्लेख करना चाहता हू, पूरा समर्थन न भी हो, फिर भी वहुत मूल्यवान वात है। निन्में ने कहा था कि किसी सम्प्रदाय मे जन्म लेना एक नियति है, किन्तु उस सम्प्रदाय में मरना मूर्खता है। वहुत वडी सचाई है। कभी-कभी मैं देखता हू कि हमारी साध्वियां भी पुरुष और स्त्री के भेद को वहुत उभारती हैं, तव मेरे मन में आता है कि स्त्री होना नियति है और पुरुष होना नियति है, किन्तु स्त्री के रूप मे मरना मूर्खता है और पुरुष के रूप मे मरना मूर्खता है। हम एक विशेष साधना के लिए उठे हैं, उस 'अवेद' तक जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जहा वेद समाप्त हो गया, स्त्री समाप्त और पुरुष समाप्त, अवेद हो गया। इन्द्रिया समाप्त हो गयी, सज्ञा समाप्त हो गयी, लेश्यायें समाप्त हो गयी, अच्छे-वुरे का विवेक समाप्त हो गया। मेरी वात को शब्दो मे न समझें, ठीक समझें। दशवैकालिक सूत्र का वहुत सुन्दर वचन है— 'सारा ससार प्रवाह के पीछे-पीछे चल रहा है, किन्तु जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, कुछ प्राप्त करना चाहता है, कुछ ग्रहण करना चाहता है, उस व्यक्ति को अपनी आत्मा को प्रतिस्रोत मे लगा देना चाहिए। स्रोत के साथ-साथ नही चलना चाहिए।'

यह एक सूत्र ही पर्याप्त है। प्रश्न होगा कि यह प्रतिस्रोत मे चलने की शक्ति कैसे प्राप्त हो? वहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। साधना भी जरूरी होती है। इसके लिए स्वाध्याय मण्डलो का कार्यक्रम निश्चित होना चाहिए। यह प्रतिस्रोत मे खड़ा रहने की ताकत तभी आती है जवकि हमारी चेतना जाग जाए। जव तक चेतना का जागरण नही होता, यह प्रतिस्रोत मे खडे रहने की वात कभी नहीं आ सकती। दूसरी वात ज्ञान का खतरा है, इसे मैं जानता हू बुद्धि के खतरे को जानता हू, तर्क के खतरे को जानता हू और उसके द्वारा जो कठिनाइया उत्पन्न होती हैं, उसे जानता हू। विद्यार्थी स्कूल से आया। कडी धूप थी। कपडे तर-वतर हो गए। घर पहुचा और धूप मे आकर खडा हो गया। मा ने कहा, 'वेटा! क्या कर रहे हो? पसीना सुखाओ, छाया मे आ जाओ।' वह वोला, 'मा! पसीना ही सुखा रहा हू।' मा ने कहा, इतनी कडी धूप मे पसीना कैसे सूखेगा?' वह वोला, 'मा, जव कपडा गीला होता है, तुम धूप मे सुखाती हो या नही?'

मात्र तर्क से कोई सचाई मिलती तो शायद सारा सत्य हमे उपलब्ध हो जाता।

किन्तु हम जानते हैं कि तर्क से जो चेतना जागृत होती है, उसमे मनुष्य स्वय उलझ जाता है। इसीलिए स्वाध्याय-मण्डल के साथ-साथ ध्यान-मण्डल भी चलना चाहिए। हम लोग जव ध्यान कराते है तो यह सकेत दिया करते हैं कि सास और मन दोनो साथ-साथ चलें। स्वाध्याय के द्वारा हमारी बौद्धिक चेतना का जागरण हो और वह एक तूफान खडा करे। उसे शान्त करने के लिए साथ-साथ ध्यान का प्रयोग भी चले। ये दोनो वातें चलें।

हर एक सगठन का वहुत वडा अर्थ नही होता। किन्तु उस सगठन का वहुत वडा अर्थ होता है, जिसके साथ मे कार्यक्रम जुडा होता है। जिस सगठन के साथ कार्यक्रम नही होता, उसका अपने मे कोई महत्त्व नही होता। आचार्य भिक्षु ने तेरापथ का सगठन किया तो उसके साथ-साथ साधना का वहुत वडा कार्यक्रम भी दे दिया। इसलिए सगठन शक्तिशाली वनता चला गया। हमारे सगठन के साथ भी यह कार्यक्रम होना चाहिए। ये दोनो कार्यक्रम—स्वाध्याय और ध्यान हमारे विकास के लिए वहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। जव इन दोनो का हमारे जीवन मे विकास होगा तो तीसरा अपने आप आ जाएगा। जव व्यक्ति की चेतना जागृत होगी, व्यक्ति का मन निर्मल होगा, तो फिर वह अपने स्वार्थ को छोडकर दूसरो के लिए स्वय समर्पित हो जाएगा। यह सेवा की वात, सहयोग की वात, दूसरो के लिए खपने की वात, अपने स्वार्थ के लिए वुरे आचरण न करने की वात, एक फलित के रूप मे अपने आप ही प्राप्त हो जाएगी।

ये तीनो वातें किसी भी सगठन के लिए वहुत जरूरी होती हैं। जिस सगठन मे ये तीनो वातें मिलती है, वह वहुत ही प्रवुद्ध तथा क्रान्तिकारी होता है। चेतना का जागरण, मन की निर्मलता और दूसरो के लिए समर्पण, यानी अपने स्वार्थ का विसर्जन और परार्थ या परमार्थ चेतना का जागरण, ये तीनो जव उपलव्ध होते हैं, जो युवक इस त्रिवेणी मे नहा लेता है, वह स्नातक होकर वाहर निकलता है।

मैं मानता हू कि ऐसा सगठन कुछ एक व्यक्तियो के द्वारा भी वहुत शक्तिशाली वन जाता है। मैं इस वात मे विश्वास नही करता कि दस-वीस हजार लोगो का सगठन हो तो शक्तिशाली होता है और दो-चार व्यक्तियो का सगठन कमजोर होता है। दुनिया के अचल मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि दस-पाच वहुत शक्तिशाली और परमार्थ से सम्पन्न व्यक्ति सगठन को सजीव वना देते हैं। आचार्य तुलसी का उदाहरण हमारे सामने है। आपके सक्रिय और कुशल नेतृत्व ने हमारे धर्मसघ को कहा पहुचा दिया।

मुझे एक घटना याद आ रही है। हम लोग वम्वई मे थे। विद्या भवन मे एक कार्यक्रम था। हिन्दुस्तान के जाने-माने सस्कृत के विद्वान् श्री आप्टे आदि सैंकडो की सख्या मे उपस्थित थे। वहुत वड़ा कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हुआ। हम लोग हाल

मे वाहर आए। आचार्यश्री कुछ आगे निकल आए थे। मै थोड़ा पीछे रह गया। पाच-सात प्रोफेसर दौडे-दौडे मेरे पास आए और बोले, 'मुनिजी ! आपने किस विश्वविद्यालय मे अध्ययन किया ?' मैने कहा, 'तुलसी विश्वविद्यालय मे।' आप्टे आदि विद्वान् चकित रह गए। प्रश्नकर्त्ताओ ने फिर पूछा, 'यह विश्वविद्यालय कहा है ?' हमने तो इसका नाम ही नही सुना। किस प्रान्त मे यह विश्वविद्यालय है।' कुछ क्षण के लिए वडी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। तब मैने आचार्य तुलसी की ओर इगित करते हुए कहा, 'हमारा विश्वविद्यालय वह सामने जा रहा है।'

आचार्यश्री तुलसी ने अपने साधु-साध्वियो के द्वारा जो कार्य किया है, उसकी आप लोग कल्पना नही कर सकते। प० सुखलालजी हिन्दुस्तान के श्रेष्ठतम विद्वानो मे से थे। जैन समाज मे इतना वडा विद्वान् शायद ही दूसरा कोई रहा हो। पण्डितजी उच्चकोटि के विद्वान् तो थे ही, किसी समय मे तेरापथ के विरोधी भी थे। उन्होने मुझसे कहा, 'मुनिजी ! आप जानते हैं कि आचार्यश्री तुलसी वहुत शक्तिशाली है। उनका सगठन वहुत सुदृढ है। उनके पास सैकडो साधु-साध्विया हैं। कर्मठ हैं और उनमे कार्य करने की क्षमता है। अव मुझे केवल आचार्यश्री तुलसी से ही यह आशा है कि जैन साहित्य, जैन दर्शन और जैन न्याय पर काम होना चाहिए और वे ही कर सकते हैं।

आचार्यप्रवर ने अपने साधु-साध्वियो को भलीभाति प्रशिक्षित किया है। सव कार्य सरलतापूर्वक ही नही हो गए हैं। वडी-वडी चुनौतिया सामने उपस्थित हुई है। कसौटियो पर कसा गया है। आचार्यप्रवर मुस्करा देते हैं। आप लोगो को लगता है कि वडे मृदु हैं। मृदु हैं, किन्तु केवल मृदु ही नही हैं। विपरीत दिशा मे चलने की भी आपमे अद्‌भुत क्षमता है। जैसाकि मैंने पहले ही कहा कि विपरीत दिशा मे चलना चाहिए। मनुष्य स्वस्थ तभी रहता है जव उसके दो नथुने विपरीत दिशा मे चलते हैं। एक नाक से ठण्डा श्वास आता है और एक नाक से गर्म श्वास आता है। तव आदमी ठीक जीता है। कोरा ठण्डा श्वास चले तो आदमी वीमार हो जाएगा और कोरा गर्म श्वास चले तो भी आदमी वीमार हो जाएगा, मर जाएगा। कभी ठण्डा चले, कभी गर्म चले तो आदमी विल्कुल स्वस्थ जी सकता है। आचार्यप्रवर ने वडी-वडी कसौटिया की है। मैं चाहता हू कि आचार्यश्री अव कुछ लोगो को चुने और उन्हे कसौटी पर कसें। ठण्डी और गर्म दोनो हवायें उनको दें। कभी ठण्डी दें और कभी गर्म दें। केवल मिल जाना, आ जाना, इकट्ठा हो जाना, मैं इसे वहुत वडी वात नही मानता। एकत्र हो जाने के वाद दूसरी चेतना कैसे जागे और व्यक्ति कैसे तैयार हो, इस वात का वहुत वडा मूल्य मानता हू। आचार्यप्रवर का आशीर्वाद और प्रयत्न, आप लोगो की जिज्ञासा और प्रेरणा, ये दोनो वातें रहे। आप लोगो मे अपने आपको समर्पित करने की भावना, वलिदान की भावना रहे

तो मैं समझता हू कि आज प्रारम्भिक स्थितियो से गुजरने वाला युवको का यह सगठन बहुत शक्तिशाली बन सकता है। समाज के क्षेत्र मे, धर्म के क्षेत्र मे नये-नये कीर्तिमान स्थापित कर सकता है।[1]

---

१ अखिल भारतीय तेरापथ युवक परिषद् के बारहवें वार्षिक अधिवेशन (१ अक्टूबर, १९७८) में प्रदत्त प्रवचन से सकलित।

युवक : युग चेतना का संवाहक

बहुत लोग सोचना नहीं जानते, चिन्तन करना नहीं जानते। कुछेक लोग सोचना जानते हैं, चिन्तन करना जानते हैं। यह उतना कठिन कर्म नहीं है, जितना कठिन है देखना। आदमी देखना नहीं जानता। वह आंख से देखता भी है, देखकर चलता भी है, फिर भी हम कह सकते हैं कि वह देखना नहीं जानता। इतना ही नहीं, आदमी चलना भी नहीं जानता और बोलना भी नहीं जानता। वह अपनी आंखों पर पूरा भरोसा नहीं करता। कभी-कभी आंखों पर भरोसा करता है तो उसे अपनी चेतना पर भरोसा नहीं होता।

आचार्य भिक्षु ने एक बहुत ही मार्मिक कहानी लिखी। आंख का एक बीमार व्यक्ति वैद्य के पास गया। उसकी आंखों में मोतिया हो गया। वैद्य ने 'कारी' की। आंख ठीक हो गयी। उसे दीखने भी लग गया। एक दिन वैद्य आया। उसने कहा, 'अब तुम्हारी आंखें ठीक हो गयी हैं। तुम चलते-फिरते हो। तुम्हें दीखने भी लगा है। मेरी फीस चुकाओ।' उस व्यक्ति ने कहा, 'मैं ऐसे नहीं मानता। पहले मैं अपने मित्रों से परामर्श करूंगा। उन्हें पूछूंगा कि मुझे दीखने लगा है या नहीं। यदि वे कहेंगे कि दीखने लग गया है तो मैं तुम्हारी फीस चुकाऊंगा, यदि वे कहेंगे कि दीखने नहीं लगा तो एक पैसा भी नहीं दूंगा।'

आदमी देखना नहीं जानता। उसे स्वयं को देखना है और देखने की निश्चिति के लिए परामर्श मित्रों से लेना है। कैसी विडम्बना है? वह मित्रों से परामर्श लेगा तो कभी देख ही नहीं पाएगा। दुनिया का कोई भी परामर्श पक्षपात से मुक्त नहीं होता। प्रत्येक परामर्श के साथ एक पक्ष चलता है। पक्षातीत परामर्श मिल ही नहीं पाता। इस राग की दुनिया में, इस द्वेष और प्रतिक्रिया की दुनिया में कोई भी परामर्श पक्षातीत हो नहीं सकता। एक कोर्ट में केस चल रहा था। एक व्यक्ति एक्सीडेण्ट में घायल हो गया था। उसने केस कर डाला। न्यायाधीश के समक्ष दोनों पक्षों के वकील खड़े थे। घायल व्यक्ति द्वारा हरजाने की मांग की जा रही थी। न्यायाधीश ने घायल व्यक्ति से पूछा, 'तुम्हारी टांगें कैसी हैं? क्या तुम चल-फिर सकते हो?' वह बेचारा सीधा-सादा व्यक्ति था। उसने कहा, 'हुजूर मेरा

डॉक्टर कहता है कि मैं चल-फिर सकता हू, किन्तु मेरा वकील कहता है कि मैं एक कदम भी नही चल सकता।

यह दुनिया ही ऐसी है। इसमे पक्षातीत परामर्श की आशा ही नही करनी चाहिए। प्रत्येक आदमी का अपना राग है, अपना स्वार्थ है, अपना द्वेप है। मनुष्य का दृप्टिकोण राग, द्वेप और स्वार्थ के आधार पर निर्मित होता है। सारी प्रतिक्रियाए राग और द्वेष के आधार पर चल रही हैं। ऐसी स्थिति मे देखने की वात प्राप्त नही हो सकती।

आदमी देखना नही जानता। वह देख नही पाता। वह जव वाहर को देखना भी नही जानता तव भीतर को देखने की वात, भीतर की प्रेक्षा अत्यन्त जटिल वन जाती है। वाहर को भली-भाति देखना भी वहुत कठिन होता है तो भीतर को देख पाना न जाने कितना कठिन हो जाता है।

प्रेक्षा-ध्यान का पहला सूत्र है—हम देखना सीखें। हम पहले वाहर को देखें। वाहर को देखने का अर्थ है—युग-चेतना का जागरण। भीतर को देखने का अर्थ है—अध्यात्म-चेतना का जागरण। जिस व्यक्ति मे युग-चेतना का जागरण नही होता, वह सफल जीवन नही जी सकता।

प्रश्न है कि युवक कौन? युवक वह होता है जिसमे युग-वोध होता है। युवक वह होता है जो युग को समझने मे मक्षम होता है। युवक वह होता है जिसमे युग-चेतना जाग जाती है। जिसमे युग-वोध नही होता, जिसमे युग-चेतना नही जागती वह बूढा होता है और हमेशा बूढा ही वना रहता है। वह कभी युवक वनता ही नही। उमका वुढापा वचपन से ही प्रारम्भ हो जाता है।

युवक का पहला लक्षण है—युग-चेतना का जागरण। जो व्यक्ति युग को नही समझता, देश-काल को नही समझता, जो वर्तमान को नही समझता, जिसमे वर्तमान का वोध नही होता, जो वर्तमान की समस्याओ का समाधान विवेक-चेतना की जागृति के द्वारा नही खोजता, वह युवक नही हो सकता। समस्या तो है आज की और समाधान खोजा जाता है हजार वर्प पुराने तथ्य मे। समाधान कैसे मिलेगा। वर्तमान की समस्या का वर्तमान के ढग से ही समाधान खोजना होता है। यही युग-चेतना है। जिसमे युग-वोध होता है, वह वाह्य प्रेक्षा करने का अधिकारी है। हमारा सगठन, अनुशासन और समर्पण इसीलिए हुआ कि इसके साथ युग-चेतना जुडी हुई है।

आचार्य भिक्षु ने युग-चेतना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया। उन्होने कहा, 'वाप तलाई जाणने, खावे गार गिंवार।'

एक तलाई थी। उसमे कीचड अधिक और पानी कम था। एक आदमी वहा वैठा पानी पीने का प्रयास कर रहा था। थोडा-थोडा पानी पी रहा था। दूसरा आदमी आकर वोला, 'भाई! यह गदा पानी क्यो पी रहे हो? पास मे तालाव है।

वह स्वच्छ पानी से भरा पड़ा है। जाओ, वहा पानी पी आओ।' उसने कहा, 'तुम्हारा कहना उचित है। पर मेरी भी मजबूरी है। यह तलाई मेरे बाप की है। इसे छोड़कर मैं दूसरी तलाई पर कैसे जाऊ? कुछ भी हो, मैं तो पानी यहीं पीऊगा। पानी गदा हो या साफ, तलाई तो मेरे बाप की है।'

युग-बोध का कितना महान् सूत्र!

आचार्य भिक्षु ने कहा, 'आज मैं जो विधान कर रहा हू, मर्यादाएं बांध रहा हू, अनुशासन के नियम निर्धारित कर रहा हूं, उनका सबको पालन करना अनिवार्य है। भविष्य मे होने वाले आचार्य देश, काल और परिस्थिति के अनुसार इन मर्यादाओ मे, विधान मे परिवर्तन कर सकते हैं, परिवर्द्धन कर सकते हैं, परिशोधन कर सकते हैं।' कितना बड़ा अधिकार दे डाला। यह है युग-चेतना का विवेक। उन्होंने नही कहा कि मैंने जो विधान बनाया है, मर्यादाए की हैं, उनका पालन उत्तरवर्ती सभी आचार्यों को करना होगा। वे जानते थे—देश बदलता है, काल बदलता है, परिस्थितिया बदलती हैं, भावना बदलती है और युग-चेतना बदलती है। जो युग-चेतना को नही समझता वह न सगठन कर सकता है और न अनुशासन चला सकता है। सगठन, अनुशासन और व्यवस्था—ये तभी चल सकते हैं जब नेता युग-बोध का धनी हो। अन्यथा न अनुशासन चल सकता है, न व्यवस्था चल सकती है और न संगठन चल सकता है। उस स्थिति मे सघर्ष और कलह उत्पन्न होते है। सघर्ष और कलह वर्तमान की समस्याओं को लेकर होते हैं। जो व्यक्ति युग-बोध के द्वारा इन समस्याओ को सुलझाता है, वह सघर्ष और कलह को मिटा देता है।

हमारे सघ के आचार्य सदा युग-चेतना के साथ चले हैं। उनके पैर युग-बोध के साथ आगे बढे। इसीलिए शताब्दियो के बीत जाने पर भी सघ को किसी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। हम परिवर्तन करना नही जानते हैं, हम बदलना जानते हैं। जो परिवर्तन करना नहीं जानता, बदलना जानता, उसे सदा कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। वह कभी भी अपनी मूल स्थिति को बनाए नहीं रह सकता।

प्रेक्षा का पहला सूत्र है—बाह्य-चेतना का जागरण, युग-बोध और युग-चेतना का जागरण।

प्रेक्षा का दूसरा सूत्र है—अध्यात्म-चेतना का जागरण। केवल बाहर से हमारा काम नहीं चल सकता। आज हमारे सामने जो कठिनाइयां हैं, समस्याए हैं वे ही कठिनाइयां और समस्याए सारे संसार की है। ये समस्याए किसी एक समाज, किसी एक देश या राष्ट्र की नही हैं। ये जागतिक समस्याए हैं। ये इसीलिए हैं कि आदमी की अध्यात्म चेतना जागृत नहीं है। महर्षि पतजलि ने महाव्रतो को सार्वभौम माना। आज यदि कोई पतजलि बनकर योगसूत्र लिखता तो उसे लिखना

पडता कि समस्याए सार्वभौम हैं। उन समस्याओ मे सवसे वडी समस्या है—पागलपन की। आज का ससार पागलपन की ओर प्रस्थान कर रहा है, आज का ससार आत्म-हत्या की ओर प्रस्थान कर रहा है। आज के ससार मे जितने पागल है, पुराने युग मे उतने पागल नही थे। आज के युग मे जितनी आत्म-हत्याए होती हैं, पुराने जमाने मे उतनी नही होती थी। पागलपन और आत्महत्या—दोनो मानसिक विकृतिया हैं। जव मन विकृत होता है तव ये दोनो समस्याए उभरती हैं।

आज पदार्थों की वहुलता है, साधन-सामग्री की प्रचुरता है, फिर भी आज का आदमी अपने आपको वहुत अशान्त अनुभव करता है। यह इसीलिए कि उसकी अध्यात्म चेतना जागृत नही है। यह निश्चित है कि जव तक वाहर की चेतना जागृत रहेगी, भीतर की चेतना नही जागेगी। जव तक हम वाहर के जगत् से परिचित रहेंगे, भीतर के जगत् से परिचित नही होंगे, तव तक आत्महत्या और पागलपन की समस्या का समाधान नही मिलेगा।

लन्दन की वात है। एक वीमार आदमी मनोचिकित्सक के पास आकर वोला, 'मैं वहुत परेशान हू। मन नितान्त उद्विग्न रहता है। अशान्त हू। एक क्षण के लिए भी शाति नही मिलती।' चिकित्सक ने जाच करने के वाद कहा, 'ब्रिटेन का प्रसिद्ध हास्य विदूषक है ग्रेमाल्डी। तुम उसके पास जाकर एक सप्ताह रहो। उससे तुम्हारी मानसिक वीमारी मिट जाएगी।' यह सुनकर वह विस्मित स्वर मे वोला, 'डॉक्टर! जिसके पास आप मुझे भेजना चाहते हैं वह ग्रेमाल्डी तो मै ही हू।' डॉक्टर ने कहा, 'अव चिकित्सा असम्भव है।'

मानसिक आमोद-प्रमोद के सभी साधन वेकार हो जाते हैं, 'यदि व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना नही जागती। जो डॉक्टर स्वय रोगी है, तनावग्रस्त है, वह दूसरो को स्वस्थ कैसे कर सकेगा? दूसरो को तनावमुक्त कैसे कर सकेगा? सचमुच जव तक हमारी आध्यात्मिक चेतना नही जागती, हम अपने आप से परिचित नही होते। हम भीतर की यात्रा नही करते तव तक समस्या का समाधान नही हो सकता।

हमारा भीतर का ससार वहुत विशाल और रहस्यमय है। उसके समक्ष यह सारा दृश्य जगत् एक विन्दु मात्र है। भीतर का महासागर अत्यन्त विशाल और विराट् है। हमारे सेल्स, न्यूरान इतनी सख्या मे हैं कि उनसे सारी दुनिया भर सकती है। दुनिया छोटी पड सकती है, यह भी स्थूल वात है। स्थूल शरीर मे भीतर विद्युत् शरीर है। उसके भीतर अतिसूक्ष्म शरीर है। चेतना के एक-एक अणु मे प्रवेश करें तो वहा अनन्त-अनन्त परमाणु मिलेंगे। वहुत विशाल और विचित्र है हमारा भीतरी जगत्।

प्रकृति की लीला भी विचित्र है। हमारे कान का कोई दरवाजा नही है। जीभ

का कोई दरवाजा नही हैं। त्वचा का कोई दरवाजा नही है। नाक का कोई दरवाजा नहीं है। ये निरतर खुले रहते हैं। केवल आख का दरवाजा है। जी चाहे तब उसे खुला रखो, जी चाहे तब उसे बद कर दो। आख का दरवाजा इस बात का सूचक है कि सदा आखें खोलकर ही मत देखो। आखें मूदकर देखना भी सीखो। जब तक आखो को मूदकर देखना नही सीखोगे तब तक भीतर के विशाल जगत् से परिचय नही होगा। प्रेक्षा-ध्यान भीतर के जगत् से परिचित होने की पद्धति है। इससे केवल सुख ही नही मिलता, व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण होता है। व्यक्ति बदल जाता है। आदतें बदलती है, स्वभाव बदलता है, व्यसन छूट जाते है। ध्यान मे समझदारी काम नही आती। वहां समझदारी को छोडना होता है। बहुत समझदार, बहुत बुद्धिमान्, बहुत तार्किक आदमी ध्यान नही कर सकते। ध्यान करने वाले को तर्कातीत होना पड़ता है, तर्क को तिलाजलि देनी होती है। बुद्धि और समझदारी को छोडना पडता है।

प्रत्येक आदमी के पास दो आखें हैं। आचार्य तुलसी ने उन्हे दो अतिरिक्त आखे और दे दी। एक दी अणुव्रत की आख जिससे वह नैतिक जीवन जी सके और एक दी प्रेक्षा की आख जिससे वह भीतर को देख सके।

आज प्रत्येक व्यक्ति के पास चार आखें चाहिए। दो आखें बाहर को देखने के लिए और दो आखें भीतर को देखने के लिए। बाहर को देखने की दो आखें माता-पिता से मिल जाती हैं। भीतर को देखने की दो आखें आज हमे प्राप्त हो गयी हैं। एक है नैतिकता की आख और दूसरी है आध्यात्मिकता की आख।

युवक इस आध्यात्मिक आख—प्रेक्षा-ध्यान को समझें और इससे लाभ उठाए। इससे वे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर समूचे संसार को तनावमुक्त करने मे योगदान दें। वे बाह्य-चेतना के द्वारा युग-चेतना को जागृत करें और अन्तर्चेतना के द्वारा अध्यात्म-चेतना को जागृत कर अपने व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न करें।

लुधियाना, सितबर' ७६

युवकों का दायित्व–१

आचार्य भिक्षु के पास एक दीवान, आज की भाषा मे मत्री या उपमत्री आया। वातचीत हो रही थी। वातचीत मे काफी प्रश्नोत्तर हुए। वाद मे वह वोला, 'महाराज! आपकी वुद्धि तो ऐसी है कि आप किसी एक राज्य का सचालन कर सकते थे, परन्तु आप साघु वन गए।' उनको ऐसा लगा कि इन्होंने वाजी हार ली। यह होता है। दुनिया की अलग-अलग धाराए है। कुछ लोग एक कोण पर खडे हैं और वे दूसरो को समझते हैं कि उन्होने वाजी हार ली और वे लोग समझते है कि उन्होंने, जो ऊपर खडे हैं, वाजी हार ली। हमारे लिए भी आप सोच सकते है कि इन्होंने वाजी हार ली और हम सोच सकते हैं कि आप लोगो ने वाजी हार ली। यह तो होता है दृष्टिकोण का भेद। भिक्षु स्वामी वोले, ठीक है, किन्तु मैं मानता हू कि—

वुद्धि वाही सराहिए, जो सेवे जिनधर्म।
वा बुद्धि किण काम की, जो पडिया वाधे कर्म॥

—'वुद्धि वही अच्छी है जो धर्म का आचरण करती है। वह वुद्धि किसी काम की नही जो आदमी को वाध लेती है।'

यह छोटी-सी घटना है। इस घटना मे सारे जीवन का सार भरा है, जीवन का सत्य और जीवन का गूढतम रहस्य इसमे छिपा हुआ है।

वुद्धि दो प्रकार की होती है—एक वाधने वाली वुद्धि और एक खोलने वाली वुद्धि। आज के जीवन की दो धाराए वरावर चल रही हैं। एक ओर खोलने की वात चल रही है। वर्तमान युग है कि मर्यादाओ को तोडो और जो कुछ भी पुराना है, सव तोड दो। यह तोडने की वात, खोलने की वात, उन्मुक्त हो जाने की वात और हिप्पी वन जाने की वात, एक ओर यह धारा है तो दूसरी ओर की धारा है कि वाधो और वाधो। भिक्षु स्वामी ने यह नही कहा कि वधो। उन्होने यह कहा कि वह वुद्धि अच्छी नही है जो वाधती है। वही वुद्धि अच्छी है, जो खोलती है। किन्तु वाधने का भी अपना एक अर्थ होता है, खोलने का भी अपना एक अर्थ होता है।

किसे हम बधा हुआ मानें और किसे खुला हुआ मानें ? यह बडी कठिन समस्या है।

आशा की जो शृखला है, वह बहुत ही विचित्र है। एक सामान्य शृखला होती है बाधने वाली, वैसी नही है। वह भिन्न काम करती है। आप किसी आदमी को साकल से बाध दीजिए, पैर रुक जाएगे, हाथ बन्द हो जाएगे और वह चल नही सकेगा। किन्तु आशा की साकल से किसी को बाध दीजिए, वह दौडने लग जाएगा, दूना दौडने लग जाएगा। आशा की साकल को खोल दीजिए, वह दौडेगा नही। सारी हलचल बन्द हो जाएगी। आदमी जब खुला रहता है तब दौडता है और बध जाता है तो ठहर जाता है। आशा की साकल से जो कसा या बाधा जाता है वह जब बधा हुआ है तब तो दौडता है, और खुल जाता है तब ठहर जाता है। हम किसे बधा हुआ मानें, किसे खुला हुआ मानें ? यह बहुत बडा प्रश्न है वर्तमान युग का।

अब दायित्व की बात आती है। कोई भी बधा हुआ आदमी दायित्व का अनुभव नही कर सकता। हमारा सारा दर्शन, चाहे तेरापथ का दर्शन हो चाहे जैन का दर्शन हो, यह मुक्ति का दर्शन है, खुलने का दर्शन है, सब गाठें खोल देने का दर्शन है। खोल देना है हमे। बधा हुआ नही रहना है। जब आप बध जाएगे, तब दृष्टि को खो देंगे। साधारण आदमी का भाग्य ही ऐसा होता है कि वह किसी के साथ बध ही जाता है। कोई किसी का अनुगामी बनने मे भला मानता है तो कोई किसी के साथ जुड जाने मे अपना भला मानता है। जो शक्तिहीन लोग हैं, कम शक्ति या कम बुद्धि वाले हैं, वे हमेशा बधने मे ही भला मानते है, किन्तु भगवान महावीर ने हमेशा खोलने का दर्शन दिया। उन्होने अनेकान्त की जो दृष्टि दी उसका सार यही है कि किसी के साथ बधो मत, खुले रहो, उन्मुक्त रहो। एक दृष्टि मे किसी को मत देखो। किसी को सहसा गलत भी मत कहो और किसी को सत्य भी सहसा मत कहो। किसी के साथ बधकर मत रहो, किन्तु मुक्त होकर, खुले होकर रहो।

हमारी दृष्टि बधने के कारण एक धारणा बना लेती है। फिर वह उसे नही देखती जो होता है, उसे देखती है जो धारणा मे रहा है।

दो यात्री रेल मे यात्रा कर रहे थे। दोनो एक ही डिब्बे मे बैठे थे। एक खिडकी के पास बैठा था और दूसरा डिब्बे के बीच मे बैठा था। जो बीच मे बैठा था, अचानक खडा हुआ और जाकर उसने खिडकी को बद कर दिया। जो खिडकी के पास बैठा था, दो मिनट तक मौन रहा, उससे रहा नही गया तो उसने खिडकी को खोल दिया। दो क्षण हुए। बीच मे बैठने वाला फिर बोला, 'महाशय ! क्या करते हो ? तुम खिडकी खोलते हो और हवा के ठडे झोके आ रहे है।' उसने कहा, 'तुम्हे हवा ठडे झोके लगते हैं तो मैं गर्मी के मारे मरा जा रहा हू, मेरा दम घुट

रहा है। मेरी ओर भी तो देखो जरा।' वह फिर खडा हुआ और खिडकी को वद कर दिया। उसने खिडकी को फिर खोल दिया। यही क्रम वरावर चलता रहा। लडाई चलती रही। लडाई का अत नही हुआ। आखिर टी० टी० आ गया। उससे दोनो ने शिकायत की। उसने दोनो की वात सुनने के वाद कहा, 'यह तो वताओ, कौन-सी खिडकी को लेकर तुम दोनो लड रहे हो?' 'महाशय! यह खिडकी है।' टी० टी० साथ मे गया, उसे पता था। उसने दोनो से कहा, 'आखिर देखो तो सही, खिडकी मे शीशा है या नही?' देखा तो शीशा नदारद। अव एक को तो हवा के ठडे झोके लग रहे थे और एक को गर्मी लग रही थी। किन्तु हवा को रोकने वाला शीशा तो था ही नही।

किन्तु आदमी शीशे को नही देखता, वह अपनी धारणा को देखता है। जो कुछ धारणा मे जमा हुआ है, उसे देखता है। उन्हे खिडकी से मतलव था और खिडकी मे रहने वाले शीशे के प्रति जो धारणा वनी हुई थी, उस धारणा को वरावर देख रहे थे और धारणा के कारण सर्दी और गर्मी वरावर लग रही थी। तो हमारी स्थिति क्या है? हम वध जाते हैं। हम धारणाओ से वध जाते हैं, विकल्पो से वध जाते हैं, विचारो से वध जाते हैं। और तो क्या एक आदमी ने दाढी रखनी शुरू की तो उसके भक्त भी दाढी रखने लग जाते हैं। एक आदमी ने अपनी दाढी काटनी शुरु की तो भक्त लोग भी अपनी दाढी काटनी शुरु कर देते हैं। उन्हे पता नही कि क्यो दाढी रखनी चाहिए? क्यो दाढी काटनी चाहिए? क्यो चश्मा लगाना चाहिए? क्यो चश्मा उतारना चाहिए? उसमे कोई मतलव नही। किन्तु हमारा मुखिया करता है, आगे चलने वाला करता है, तो पीछे चलने वाले वह काम सीख जाते है। जहा इस प्रकार हमारे वधने की स्थिति होती है, आदमी वध जाता है, वहा दायित्व की अनुभूति नही हो सकती। दायित्व की अनुभूति होने के लिए चेतना के उस स्तर पर जाने की जरूरत है, जहा दायित्व का वोध हो सके। एक मनुष्य की चेतना का स्तर है अधिकार का। जिस चेतना के स्तर पर जाकर मनुष्य अधिकार की वात सोचता है। यह स्तर आज वहुत विकसित है। इतना विकसित है कि एक छोटा वच्चा भी अपने अधिकार की वात समझने लग गया है। चेतना का दूसरा स्तर है अधिकार के वाद दायित्व का। चेतना का तीसरा स्तर है—कर्तव्य का, जो दायित्व के वाद विकसित होता है। आगे चेतना का चौथा स्तर है—धर्म या अध्यात्म-चेतना का।

जो व्यक्ति अध्यात्म की चेतना के स्तर तक नही पहुचता, उसमे कर्तव्य की भावना, दायित्व की भावना आ सकती है, यह मानने मे जरा कठिनाई होती है। अध्यात्म की चेतना का प्रतिविम्व हुए विना, अध्यात्म की चेतना का दर्पण निर्मल और विमल हुए विना उसका प्रतिविंव सक्रान्त नही होता। किन्तु जव केवल अधिकार की चेतना जागृत होती है और वह शैतान वनकर आदमी से न जाने

क्या-क्या करवा देती है ? मैं देखता हू कि चेतनाओ के चार स्तरो का जो सक्रमण आज की दुनिया मे चल रहा है, यह वहुत वडी समस्या है। अध्यात्म की चेतना तक कोई व्यक्ति जाना नहीं चाहता। मैं औरो की वात छोड दू, जो लोग धार्मिक हैं, उनकी आस्थाए आज भी डगमगा रही हैं। जबकि मुझे तो लगता है कि धर्म की स्थापना के लिए इतना सुन्दर अवसर अतीत मे कभी नहीं आया जितना सुन्दर अवसर आज है। क्योकि आज का यह युग नहीं कि मैंने कहा और आपने मान लिया। आज हर जगह यह प्रश्न होता है—धर्म क्यो ? हम पुराने शास्त्रो को देखें। वहा मिलेगा—आप यह काम करेंगे, आपको नरक मिलेगा। क्रोध करेंगे तो नरक मिलेगा, लोभ करेंगे तो नरक मिलेगा, मान खाएगे तो नरक मिलेगा। एक नरक शब्द ऐसा हो गया कि सव कामो की जड वन गया। यह अच्छा काम करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा, और अच्छा करेंगे तो मोक्ष मिलेगा। वस, तीन शब्द काफी थे पुराने जमाने मे—नरक, स्वर्ग और मोक्ष। आज तीन शब्दो की जगह तीन हजार शब्द हो गए हैं। आज के वैज्ञानिको ने, आज के मनोवैज्ञानिको ने धर्म के विषय पर वहुत अनुसधान किया है। लोग कहते है, यह नास्तिकता का युग है और मैं मानता हू कि वर्तमान का युग सवसे वडी आस्तिकता का युग है। आज आस्तिकता को जितना वल मिला है, जितना समर्थन मिला है, उतना कभी नही मिला था।

नास्तिक वह होता है जो केवल वर्तमान को देखता है। आस्तिक वह होता है जो तीन दृष्टियो से देखता है—हेतु को देखता है, प्रवृत्ति को देखता है और फल को देखता है। हेतुवादी, प्रवृत्तिवादी और परिणामवादी—ये तीनो दृष्टिया जिसे प्राप्त होती हैं, वह होता है आस्तिक और जिसे केवल वर्तमान की दृष्टि प्राप्त होती हैं, वह होता है नास्तिक। यही आस्तिकता और नास्तिकता की परिभाषा है।

आज का युग वहुत वडा आस्तिक युग है। आज मनोविज्ञान ने कितनी प्रगति की है। आपने गुस्सा किया, क्यो किया ? एक मनोवैज्ञानिक इसका विश्लेषण करेगा कि इस व्यक्ति ने क्रोध किया तो आखिर क्यो किया ? कौन-सी मानसिक ग्रथि वनी थी जिसके कारण गुस्सा आया ? यह इतना चिडचिडा क्यो है ? यह इतना लालच क्यो करता है ? इतना झगडालू क्यो है ? इतना ईर्ष्यालु क्यो है ? हर वात का विश्लेषण आपको प्रयोगशाला मे मिल जाएगा। इसका कारण है, अकारण नही। नास्तिकता वह होती है जिसके पीछे कोई हेतु नही हो, कोई कारण नही हो। आज कोई भी वात ऐसी नही जिसके पीछे हेतु न हो। हर वात के पीछे हेतु की व्याख्या की जाती है। इसका यह कारण है, इसलिए इसने ऐसा आचरण किया। इसका ऐसा आचरण, ऐसा व्यवहार क्यो हुआ, उसकी पूरी व्याख्या मिल जाएगी। हर आचरण की व्याख्या मिलेगी।

आज का युग हेतुवादी है, कारणवादी है, जिसमे हर वस्तु के कारण की, हेतु

की खोज की जाती है। फिर इस युग को नास्तिक कहने का कोई भी औचित्य नही है। यह युग उतना ही परिणामवादी है। अमुक घटना का क्या परिणाम हुआ? क्या होगा? आदमी मर गया। आप लोग भी सुनते हैं कि आदमी मर गया। मरना एक घटना है। हमारे प्रत्यक्ष घटी कि आदमी मर गया। अब मरने के बाद क्या? हमारी एक पुरानी धारणा है कि देवता जब मरता है तो छह महीने पहले उसका आभा-मंडल क्षीण होने लग जाता है। उसकी मालाए सूखने लग जाती हैं। आज के वैज्ञानिक इस खोज तक पहुच गए हैं कि आदमी तब तक नही मरता जब तक कि 'ओरा' नही मरती। आदमी मर गया। हृदय की धडकन बद हो गयी। श्वास बन्द हो गया। किन्तु 'ओरा' अभी सक्रिय है तो आदमी मरा नही है। दो दिन बाद वापस जी सकता है। आपने पढा होगा कि रूस मे छह मृतको को पुनर्जीवित कर लिया गया है। आप ऐसी घटनाए पढते होंगे कि दाह-सस्कार के लिए श्मशान ले जाया गया और वहा जाकर वह जी उठा। यह कौन जीता है? सचमुच मरा नही आदमी। मरता है तीन दिन के बाद। जब उसकी 'ओरा' नष्ट हो जाती है, उसका आभा-मडल लुप्त होता है, तब आदमी मरता है। पहले आदमी मरता नही है।

ये सारी बातें वर्तमान युग की हैं। मैं आपको यह भय नही दिखाऊगा कि आप ऐसा करेंगे तो नरक मे चले जाएगे। आपको ऐसा प्रलोभन भी नही दूगा कि यह करेंगे तो स्वर्ग मे चले जाएगे। आप नरक मे जाए या नही, मुझे इस बात से कोई मतलब नही। आप स्वर्ग मे जाए या नही, मुझे इस बात से भी मतलब नही। किन्तु आप यदि बुरा विचार करेंगे तो आपको वर्तमान मे उसका बुरा फल मिल जाएगा, यह बतलाने के लिए मैं आज भी तैयार हू और मैं आपको यह बता सकता हूं कि इस आदमी ने किस काम का क्या परिणाम अर्जित किया है?

यह मूल्यो के परिवर्तन का युग है। हर क्षेत्र मे मूल्यो का परिवर्तन हुआ है। सामाजिक क्षेत्र मे, आर्थिक क्षेत्र मे, राजनैतिक क्षेत्र मे और धार्मिक क्षेत्र मे भी मूल्यो का परिवर्तन हो रहा है। इस बदलते हुए मूल्यो की सीमा मे युवको का क्या दायित्व है, इस पर भी मैं थोड़ी-सी चर्चा करूगा।

हम धार्मिक हैं और एक ऐसे दर्शन मे विश्वास करते हैं जो अपनी हेतुवादिता और वैज्ञानिकता के कारण सारी दुनिया मे प्रसिद्ध हो रहा है। जिस दर्शन के नीतिवाद और प्रत्यक्ष अनुभूति का दार्शनिक जगत् ने सबसे अधिक समर्थन किया है, उस दर्शन मे हम विश्वास करते है। हमे प्रवाहवादी नही होना चाहिए। प्रवाह के पीछे नही पडना चाहिए। प्रवाह का विरोध भी नही करना है, उसे देखना है, समझना है और उसका अध्ययन करना है। किन्तु प्रवाह मे बह नही जाना है। इसलिए दो-तीन बातें मैं आपके सामने प्रस्तुत करता हू।

पहली बात है सयम। हम बदले हुए मूल्यो को स्वीकार न करें तो रूढिवादी

निश्चित कहलाएगे और रुढिवादी होना मनुष्यता का कलक है, अभिशाप है और मनुष्यता के प्रति विद्रोह है। किन्तु जो हमारे शाश्वत मूल्य है, जिन मूल्यो को कभी वदला नही जा सकता, कोई आदमी वदल नही सकना, चाहने पर भी नही वदल सकता, उन मूल्यो को वदलने का जहा प्रयत्न होता है, वहा मानवता सकट मे पडती है और मानवता पर भारी विपत्ति आती है। उन मूल्यो मे पहला मूल्य है सयम।

जिस देश ने, जिस समाज ने और जिस व्यक्ति ने सयम को खोया है, उसने कभी प्रगति नही की, कभी विकास नही किया। जो देश आज शक्तिशाली कहलाते है, जिन्होने भौतिक जगत् मे भारी प्रगति की है, आज उनके सामने भारी समस्याए उपस्थित हो रही हैं। आज वे वडे शोकाकुल हैं और उनके अर्थशास्त्री, समाज-शास्त्री आज इस वात को सोचने के लिए विवश हैं कि वर्तमान की समस्या से भावी पीढी को, कैसे वचाया जाए? वहुत भारी समस्या है। क्यो? इसलिए कि सयम समाप्त हो गया।

चाहे राजनीति का क्षेत्र हो, चाहे पारिवारिक क्षेत्र हो और चाहे आर्थिक क्षेत्र हो, सयम के विना कही भी आदमी सफल नही हो सकता। दुनिया मे जितने भी वडे लोग हुए हैं, चाहे नेपोलियन हो, गाधी हो या हिटलर हो, कोई भी हुआ हो, उन्होने अपने-अपने ढग का सयम वरता है और सयम वरतने के कारण ही वे अपनी सारी शक्ति को नियोजित कर सके हैं, एकाग्र कर सके हैं और इसी कारण उन्होने अपने जीवन मे सफलता प्राप्त की है।

यह भी प्रभाव चल पडा कि सयम की कोई आवश्यकता नही। किन्तु यह इतनी खतरनाक वात है, जीवन का इतना खतरनाक मोड है, इस मोड पर रुककर जो सोचेगा नही, उसे वैसे ही पछताना पडेगा, जिस प्रकार आज के प्रगतिशील देश चिंतित हैं और मन मे पछता रहे है।

इन्द्रियो की विजय हमारा शाश्वत मूल्य है। इन्द्रियो को नियन्त्रण मे रखना एक सीमा तक। किन्तु मैं यह नही कहता कि आप आखो को वन्द कर लीजिए, मैं यह नही कहता कि आप मत खाइए। मैं कहना भी नही चाहता। असभव वात है। किन्तु हमारी जीभ पर, हमारे मन पर, हमारी आख पर सयम होना चाहिए, एक नियत्रण होना चाहिए और वह नियत्रण ही हमे अच्छे कार्यों के प्रति प्रेरित कर सकता है या हमारी शक्ति को नियोजित ढग से लगा सकता है। अन्यथा शक्ति इतनी विखर जाती है कि हमारा मस्तिष्क भी एकाग्र नही होता और हम जो कुछ करना चाहते हैं, उससे वचित रह जाते हैं।

दूसरी वात है नैतिकता। नैतिकता शाश्वत मूल्य है। वह कोई वार्तमानिक मूल्य नही है। जिस समाज ने अनैतिक व्यवहार किया, उसका नैतिक पतन हुआ है, इसमे कोई सदेह नही, क्योकि जव एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को धोखा देने लगा

जाएगा, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को खाने लग जाएगा, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का गला काटने लग जाएगा, उस समय सारे के सारे एक ऐसे चक्रव्यूह मे फस जाएगे कि जिसका रास्ता कोई भी नही खोज सकता, कोई भी नही बच सकता।

मैंने दो शाश्वत मूल्यो की बात की। तीसरे मे, एक सामयिक मूल्य को समझने की जरूरत है और वह यह कि हिन्दुस्तान मे एक मूल्य रहा व्यक्तिवादी और वह मूल्य आया हमारी दार्शनिक दृष्टि के बाद। व्यक्ति अकेला आता है, अकेला पलता है, अकेला अपना ज्ञान अर्जित करता है, अकेला कमाता है और वापस अकेला ही चला जाता है। छोटे किसान से पूछो, चाहे बडे-से-बडे दार्शनिक सत या ज्ञानी से पूछो, यह अकेलेपन की बात आपके सामने आएगी। किन्तु आज के युग मे परिवर्तन हुआ है। अकेला आता है, अकेला जाता है, मूल्य मे परिवर्तन नही हुआ है, किन्तु इस सिद्धात के कारण जो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण निर्मित हो गया था, व्यक्ति मे स्वार्थ पनप गया था, अपने लिए सब कुछ करने की भावना विकसित हो गयी थी और दूसरो के लिए आख मूदने की जो मनोवृत्ति चल पडी थी, सचमुच इसमे परिवर्तन हुआ है और इस परिवर्तन को मैं अनिष्ट नही मानता। समाज के लिए वह बहुत ही इष्ट बात है। आज सामुदायिक चेतना का विकास हुआ है। लोग सोचते हैं कि एक का कल्याण कल्याण नही हो सकता, एक की उन्नति उन्नति नही हो सकती जब तक सबकी साथ मे न हो। आप पाच लाख का बढिया मकान बना लीजिए, किन्तु जब आपके मकान के पास गदी नालिया बह रही हैं तो उस गदगी से आप कभी नही बच सकते। आप खिडकियो को बन्द कर बच सकते हैं। हवा नही आएगी। आज दूसरा रास्ता भी निकल गया है कि वातानुकूलित मकान हो जाएगा, किन्तु वातानुकूलित होगा तो और आपके लिए खतरा भी पैदा हो जाएगा। आप बच नही सकते। आप अकेले अच्छी हवा नही ले सकते। आप अकेले अपने लिए कुछ भी नही कर सकते। यह सामुदायिक चेतना का आज जो मूल्य परिवर्तन हुआ उसे समझना बहुत जरूरी है। आज मैं अपने समाज मे देखता हू, युवको मे देखता हूं कि व्यक्तिवादी मनोवृत्ति मे परिवर्तन नहीं आया है, जो कि आना चाहिए।

एक बूढा आदमी, जो कि काफी बूढा था, जर्जर था, बगीचे मे खडा काम कर रहा था। एक युवक आया। युवक मस्ती मे होता है, अल्हड भी होता है। बूढे को देखा और मन मे मजाक सूझा और बोला, 'बूढे, क्या कर रहा है?' बूढा बोला, 'आम रोप रहा हू।' 'यह आम किसके काम आएगा? तू तो मर जाएगा। कौन खाएगा? क्यो फालतू श्रम कर रहा है।' बूढे ने कहा, 'युवक! जरा सोचो। यही बात अगर मेरे बूढे सोचते तो भला मैं आज आम कैसे खाता? यही बात वे सोचते तो फिर आज हमे आम नही मिलते। यह जो बगीचा खडा है, फलो से लदा हुआ है, हम लोग फल खा रहे हैं, क्योकि हमारे बुजुर्गो ने इसे लगाया था।' युवक का

सिर शर्म से झुक गया। वह शर्मिन्दा हो गया।

सोचने का एक दृष्टिकोण होता है। हम अगर यह सोचें कि हमारा कोई मतलब नही, हम क्यो करें? फिर तो हम बिल्कुल व्यक्तिवादी होकर और एक कोठरी मे बन्द रहकर सब-कुछ करना चाहेंगे।

जो भी सामुदायिक चेतना का दायित्व अनुभव करता है, वह कभी अपनी दृष्टि से नही सोचता। वह सोचता है कि जब हमने हजारो-हजारो व्यक्तियो का ऋण अपने सिर पर लिया है तो उस ऋण को चुकाने के लिए मैं भी हजारो-हजारो प्रयत्न अपने हाथो से करू।

यह सामुदायिक चेतना का दृष्टिकोण आज विकसित हुआ है। अभी और विकसित करना भी है। जिस दिन समुचित ढग मे यह विकसित होगा, उस दिन समाज सही अर्थ मे समाज बनेगा। आज समाज सही अर्थ मे समाज नही है। समाज का मतलब तो समूह बन जाता है। लोक इकट्ठे हो जाते हैं, किन्तु समाज मे जो एकसूत्रता होनी चाहिए, एक शृखला होनी चाहिए और एक ऐसा अनुबन्ध होना चाहिए कि कही भी पैर मे काटा चुभा तो मस्तिष्क मे उसकी अनुभूति हो गयी। हाथ को आदेश देना पडा कि काटे को निकालो। सारी की सारी शक्ति उस एक काटे को निकालने मे लग जाती है। यह होता है समाज। एक आदमी का अनिष्ट होता है, दूसरे सोचते हैं कि हम झगडे मे क्यो जाए? यह समाज नही हो सकता।

मैंने तीन बातें आपके सामने प्रस्तुत की। मैं उपदेश मे अधिक विश्वास नही करता, किन्तु एक बात जानता हू जिसे आचार्यप्रवर ने बहुत वर्षों पहले सिखाया है कि आदमी को प्रयोगशील होना चाहिए और अपनी चेतना की गहराई मे, चेतना के स्तर तक जाने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर आपने अपने अन्तर्मन का अवलोकन करने के लिए थोडा-सा भी प्रयत्न किया और चेतना के गहरे तलो तक पहुचने मे सफल हुए तो यह दायित्व-बोध की बात और दायित्व को विकसित करने की चर्चा करने की जरूरत नही होगी।

युवकों का दायित्व—२

युवक की परिभाषा न जाने कितनी वार हो चुकी है और न जाने कितनी वार होती चली जाएगी। मैं भी एक परिभाषा आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हू। मैं उस आदमी को वूढा मानता हू जिसमे धन का मोह होता है, प्राणो का मोह होता है और जिजीविषा का मोह होता है। जिसमे धन का मोह नही होता, प्राणो का मोह नहीं होता और जिजीविषा का मोह नही होता वह होता है युवक। मैंने देखा है, आदमी मन ही मन वूढा होता चला जाता है। उसमे धन का मोह प्रवल होता चला जाता है और जीने का मोह तो इतना प्रवल हो जाता है कि वह अपने जीवन को इतना सभालकर रखता है कि मौत भूल-चूककर भी न आ जाए। जवान वह होता है जो मौत को हथेली मे लेकर चलता है। उसमे प्राणो का मोह होता ही नही। आप विश्व-इतिहास को देखें—जिन लोगो ने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्राणो की वाजी लगायी है, वे युवक थे, जवान थे।

पुराने जमाने की वात है। युद्ध हो रहा था। एक वूढा आदमी उस युद्ध-क्षेत्र मे था। उसने देखा कि युद्ध तेज हो रहा है, वाणो की वौछार हो रही है। उसमे जिजीविषा जाग उठी। वलिदान की आग पर जिजीविषा की राख आ गयी। वह पीछे खिसकने लगा। एक स्थान पर फिसला और उसका पैर टूट गया। लगडाते-लगडाते वह गाव मे पहुचा। गाव के लोगो ने उसे घेर लिया। उन्होंने पूछा, 'युद्ध-स्थल से भाग आए?' वूढे ने कहा, 'भागता नही तो ये वाल सफेद कैसे होते? भागते-भागते ही ये वाल सफेद हुए है।'

यह निर्विवाद तथ्य है कि दुनिया को जिन लोगो ने कृतार्थ किया है, जिन्होंने अपने प्राणो की आहुति दी है, जिन्होने जीने का मोह त्यागकर वलिदान किया है, वे थे युवक। वूढे ऐसा कर नही सकते। युवक मे प्राणो का मोह नही होता, क्योकि वह जिन्दगी को जीना जानता है।

भारतीय सस्कृति का यह विचार रहा है कि जैसे-जैसे व्यक्ति एक पद्धति मे आगे वढता है उसके सस्कार प्रवल होते जाते हैं। वच्चो के सस्कार इतने प्रवल नही होते जितने वूढो के होते हैं। वूढा आदमी झूठ वोलने मे जितना माहिर होता

है, उतना बच्चा [illegible] नहीं होता। दादा ने [illegible] से कहा, 'जा बेटे, आगन्तुक को कह दो कि दादाजी घर में नहीं हैं।' लड़का बाहर गया। आगन्तुक को प्रणाम कर बोला, 'दादाजी ने कहा है कि आगन्तुक को कह दो कि दादाजी घर में नहीं हैं।' लड़के में झूठ बोलने का संस्कार नहीं था। [illegible] यह प्रपंच [illegible] था।

मनुष्य की प्रकृति में सारी संभावनाएं हैं, किन्तु उनको अनुकूल या विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। वह बीज अनुकूल होने से पूर्व ही नष्ट हो जाता है।

वियतनाम में हरेक लड़की, स्त्री योद्धा है। वे निर्भीक होकर शत्रु का सामना करती हैं। क्या हिन्दुस्तान की लड़कियां ऐसा नहीं कर सकतीं? वे ऐसा कर सकती हैं, किन्तु उनका आत्म-विश्वास अभी जागृत है। उस पर सघन अन्धकार छाया हुआ है। वे चूहे की आहट से डरकर पलायन करने की मनोवृत्ति को धारण किए हुए हैं। यह अन्तर क्यों? एक ओर वे लड़कियां हैं जो देश के लिए युद्ध में जाकर लड़ती हैं, मार-काट करती हैं और दूसरी ओर वे लड़कियां हैं जो चूहों से डरती हैं, आततायियों के आगे घुटने टेक देती हैं, अपने आपको अबला साबित करती हैं। यह क्यों? क्या कोई भौगोलिकता का अन्तर है? नहीं, यह अन्तर है आत्म-विश्वास का। जहां आत्म-विश्वास का निर्माण नहीं होता, वहां ऐसा अन्तर आ ही जाता है। मनुष्य में अनन्त शक्ति होती है, किन्तु उस शक्ति को अभिव्यक्त करने की सामग्री जब तक प्राप्त नहीं होती, तब तक निर्बलता छायी रहती है।

भारतीय दार्शनिकों ने उपादान और निमित्त—दोनों कारणों पर विचार किया है। उपादान के बिना निमित्त कारण शून्यवत् है तो निमित्त के बिना उपादान कारण भी अभिव्यक्ति नहीं पाता। उपादान कितना ही प्रबल क्यों न हो, निमित्त के अभाव में उसकी क्षमता प्रकट नहीं होती। मिट्टी घड़ा बन सकता है और घड़े में पानी को धारण करने की क्षमता है, परंतु जब तक कुम्भकार उसका निमित्त नहीं बनेगा तब तक मिट्टी मिट्टी ही रहेगी, वह घड़ा नहीं बन सकेगी। बीज में बरगद बनने की क्षमता है। वह बरगद तभी बन सकता है जब उसे उपयुक्त निमित्त प्राप्त होते हैं।

आज हिन्दुस्तान के वातावरण में एक प्रकार की गाढ़ सुषुप्ति व्याप्त हो गयी है। ऐसी सुषुप्ति कि नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी को कोस रही है और पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को सर्वथा अयोग्य घोषित कर रही है। पुरानी पीढ़ी कहती है कि आज की पीढ़ी अविनीत और उच्छृंखल हो गयी है। उसमें न कुल-मर्यादा का ध्यान है और न धर्म-कर्म का। मैं पूछना चाहता हूं कि इस अविनीतता और उच्छृंखलता की निर्मिति में निमित्त कौन रहा है?

एक-दूसरे को कोसने से समस्या समाहित नहीं होगी। हमें इसका सही निदान करना होगा और दोनों के बीच एक सेतु का निर्माण करना होगा।

आज हमारे सामने अनेक प्रश्न मुंह बाये खड़े हैं। हमारे सामने राष्ट्रीय

चरित्र का प्रश्न है, व्यक्ति के चरित्र का प्रश्न है, सामाजिक दायित्व का प्रश्न है। इन प्रश्नों के मूल में एक प्रश्न और है, वह प्रश्न है गरीबी का। हमारा देश गरीब है, गरीब देश में हमेशा समस्याएं बढती हैं और वे इतने भयंकर रूप से बढती हैं कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे समस्याएं कैसे मिटे? गरीबी तब मिटे जब राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो, नैतिकता का विकास हो। नैतिकता तब बढे जब गरीबी मिटे। दोनों एक-दूसरे से जुडी हुई हैं। गरीबी नहीं मिटती है तो चरित्र का विकास नहीं होता और चरित्र के विकसित हुए बिना गरीबी नहीं मिटती। सचमुच यह कठिन समस्या है। इस समस्या को समाहित करने के लिए उनको आगे आना चाहिए जिनमें धन के प्रति मोह नहीं है, जिनमें कुछ कर गुजरने की तमन्ना है, जिनमें प्राणों की आहुति देने की तैयारी है, जो तिल-तिल कर जलना नहीं चाहते, किन्तु धधकते हुए जलना चाहते हैं। ये सब गुण युवकों में सहज प्राप्त हैं। आज का युवक इन समस्याओं से जूझ सकता है, समाधान निकाल सकता है।

हमारे यहां दो प्रकार के लोग हैं। एक वे लोग हैं जो शाश्वत मूल्यों में विश्वास करते हैं, किन्तु सामयिक मूल्यों की सर्वथा उपेक्षा करते हुए चलते हैं। दूसरे वे लोग हैं जो केवल सामयिक मूल्यों को महत्त्व देते हैं, शाश्वत मूल्यों की अवहेलना करते हैं। ऐसा होने पर समस्या का सही समाधान नहीं होता। जिन लोगों ने समस्या का समाधान किया, उन लोगों ने अपने देशवासियों के जीवन में धर्म का, समता का मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रवेश करवाया। उस धर्म ने, उस धर्म की प्रेरणा ने उस देश को इतना जागृत बना दिया कि उसकी सुप्त चेतना लौ की तरह जल उठी।

आज का युवक इस बात से सहमत नहीं है कि यहां शाश्वत क्रांति आ जाए। जब युवक धर्म की बात या नैतिकता की बात सुनता है तब वह कहता है कि कहां आप हिन्दुस्तान को पांच-सौ वर्ष पीछे ढकेल रहे हैं? यह विचारधारा एक समस्या है। दूसरी बात यह हो रही है कि पुरानी पीढी धर्म की बात जो कह रही है, शाश्वत मूल्यों की जो बात कह रही है, वे मूल्य उसके जीवन में प्रतिष्ठित नहीं हैं। आज का धार्मिक धर्म की बुराइयों को पालने का माध्यम बनाये हुए है। धर्म बुराइयों की सुरक्षा का माध्यम जैसा बन गया है। आप साधुओं के पास जाते हैं, मंदिर में जाते हैं, जाप करते हैं, माला फेरते हैं, परंतु धर्म का व्यवहार में आचरण नहीं करते! यह द्वैध पैदा करता है।

पिता ने पुत्र से कहा, 'बेटा! आटे में मिलावट कर दी?'

'हां, पिताजी! कर दी।'

'मसालों में मिलावट कर दी?'

'हां, कर दी।'

'दूकान मे मिलावट करने योग्य जितने भी पदार्थ हैं, सबमे मिलावट कर दी ?'

'हा, कर दी।'

'बहुत अच्छे लडके हो। अब चलो, हम माला फेर लें।'

यह कैसी विडम्बना है! सचमुच यह वचना है, प्रवचना है। अनैतिक आचरण के बाद धर्म के नियम का पालन इसलिए किया जाता है कि जो पाप किया है, उससे निवृत्त हुआ जा सके। जहा धर्म की ऐसी विडम्बना होती है, जहा धर्म के प्रति ऐसा वातावरण होता है, वहा यदि भगवान् भी साक्षात् आ जाए, तो भी समस्या का हल सभव नही है।

आज हम विचित्र युग मे जी रहे हैं। आज का युवा वर्ग हिंसा मे विश्वास करने लगा है। वह मानता है कि समस्त समस्याओ के समाधान का एकमात्र रास्ता है हिंसा। वह सारी समस्याओं,-चाहे वे शैक्षणिक हो या सामाजिक, व्यक्तिगत हो या राजनैतिक, धार्मिक हो या पारस्परिक का समाधान हिंसा मे खोजता है। प्रारभ मे उसे सफलता का आभास होता है, पर अन्तत वह निराश होकर सब-कुछ खो डालता है। हिंसा स्वय समस्या है। समस्या समस्या को ही पैदा करेगी। उसमे समाधान देने की शक्ति कहा है?

आज का युग दो दोषो से आक्रान्त है। वे दो दोष हैं—आचरण की दुर्बलता और दृष्टिकोण का विपर्यास। आचरण की दुर्बलता को मिटाया जा सकता है, किन्तु जब दृष्टि का दोष उत्पन्न होता है, वहा बीमारी असाध्य हो जाती है। आज बीमारी असह्य हो गयी है। आज के युवक का पहला कर्त्तव्य है कि वह दृष्टि-दोष को दूर कर सम्यक्दर्शी बने। सम्यक्दर्शी होकर ही वर्तमान की समस्या का समाधान खोज सकता है। यदि उसका दृष्टिकोण सही होगा तो उसमे दायित्व-बोध अपने आप आ जाएगा। दायित्व थोपा नही जाता। वह आरोपण की वस्तु नही है।

सस्कृत कवि ने ऊट की मति का उल्लेख करते हुए लिखा है—'ऊट एक ऐसा प्राणी है जो भार लादने पर भी चिल्लाता है और भार पीठ से उतारने पर भी चिल्लाता है। उसे यह भान नहीं होना है कि भार लादा जा रहा है या उतारा जा रहा है।' आदमी की दृष्टि जब सही नही होती, उसका विवेक लुप्त हो जाता है। वह दोनो ओर की समस्याओ मे उलझ जाता है। आज के युवक की भी यही स्थिति है। ऐसी स्थिति मे राजनीति और धर्म दोनो मिलकर दृष्टिकोण को ठीक करें। उसकी आखो को आजें तो युवक यथार्थ को देख पाएगा और वह समस्याओं का पार पा लेगा।[1]

---

१ सन् १९७४ दिल्ली चातुर्मास मे प्रदत्त प्रवचन मे सकलित।

युवक : सार्थकता का बोध

जिससे वहुत अपेक्षा होती है, उसका वार-वार स्वागत होता है और वार-वार उच्चारित शब्द अपनी शक्ति को सजोकर कैसे रख सकता है, यह भी हमारे लिए चिन्तनीय है। युवक शब्द का उच्चारण शायद हर युग मे हुआ होगा पर आज के युग मे अतिरिक्तता के साथ हो रहा है और शायद इसलिए हो रहा है कि आज का युग जल्दी वदल रहा है। पुराने युग शायद शताब्दियो तक उसी रूप मे चलते रहे हैं किन्तु आज की अर्थ-व्यवस्था, आज की समाज-व्यवस्था तथा अन्यान्य व्यवस्थाए इतनी द्रुतगामी हैं, इतनी त्वरितगामी हैं और इतनी तत्परता से वदल जाती है कि आदमी रात को सोता है और प्रात काल समाचार पत्रो मे पढता है कि अमुक राष्ट्र मे क्राति हो गयी, सैनिक क्राति हो गयी, शासन का तख्ता पलट गया, और भी न जाने क्या-क्या परिवर्तन हो जाते है। पुराने जमाने मे लोग पाच हजार मे अपना सारा जीवन चला लेते थे। इस प्रकार की स्थिति शायद सैकडो वर्षों तक चलती रही है। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होने यह सकल्प ले रखा था कि पाच हजार से अधिक परिग्रह नही रखूगा। आज की आर्थिक स्थिति डावा-डोल हो गयी है। उस समय के पाच हजार आज के पाच सौ का भी पूरा मूल्य नही रखते। यह युग सचमुच अस्थिरता का युग है। यह द्रुतगामिता का युग है। यह त्वरितगामिता का युग है। इसमे स्थिरता, मदगामिता वहुत कम हो गयी है। बैलगाडी की गति वहुत क्षीण हो गयी है। हम स्पूतनिक काल मे जी रहे हैं। इस स्थिति मे युवक का अर्थ ही कुछ और हो जाता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य—ये तीन मोड हमारे सामने हैं। मैं कई वार सोचता हू कि युवक और बूढा किसे कहा जाए? एक पुराना मानदण्ड है अवस्था का। जो व्यक्ति पचास साल की अवस्था को पार कर गया वह बूढा हो गया और जो व्यक्ति सोलह-अठारह से ऊपर हो गया वह युवक वन गया। यह है अवस्था का मानदण्ड। पर आज इसमे परिवर्तन हो गया है। क्योकि आदमी की आयु वढी है। जीने का समय वढा है। और ऐसे साधन भी वढे हैं कि आज वह लम्वे समय तक युवक रह सकता है और अनुसधान ऐसे हो रहे है कि वुढापा कभी आए ही नही। इस दिशा मे आज के

वैज्ञानिक काफी सफल भी हो चुके हैं, वहुत आगे वढ चुके हैं। शायद वे वुढापे पर नियन्त्रण पा लें। एक जमाना था जव कहा गया कि बुढापे और मौत को रोका नहीं जा सकता। मौत की वात तो शायद अभी दुर्भेद्य लग रही है। आने वाले दशक में शायद लोग सुनेंगे, पढेंगे—ऐसी गोलिया वाजार में आ गयी हैं, दूकानों में प्राप्त हैं कि गोलिया खाली, अव बुढापा नही आएगा।

वैज्ञानिक लोग चूहों पर ऐसे प्रयोग कर चुके हैं। उस प्रयोग में अल्प-भोजन और उपवास ने चामत्कारिक कार्य किया। जिन चूहों को कम भोजन दिया गया, जिन्हे उपवास कराया गया वे वहुत देर से मरे, वूढे नही हुए और जिन्हे सामान्य भोजन कराया गया वे जल्दी वूढे हो गए और जल्दी मर गए। इस आधार पर उनके प्रयोग चल रहे हैं और मनुष्यो पर भी प्रयोग हो रहे हैं। उनको आशा है कि वे सफल हो जाएगे। तव यह वूढा और युवक शव्द भी समाप्त हो जाएगा। वूढा नही होगा तो युवक कौन होगा? फिर तो आदमी होगा। यह मानदड है अवस्था का।

दूसरा मानदड क्या होना चाहिए? इसकी परिभाषा यह हो सकती है कि जो आदमी पीछे की ओर देखता है, वह वूढा और जो आदमी आगे की ओर देखता है, वह युवक। आप अनुभव करें और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर भी देखें, आदमी जैसे-जैसे वूढा होता जाता है, वैसे-वैसे अतीत की घटनाओ को याद ज्यादा करता है और स्मृति मे खोया रहता है। पुरानी वातें उसे वहुत मीठी लगती हैं। क्योकि कर्तृत्व शक्ति जव तक रहती है तव तक स्मृति कम होती है। जैसे-जैसे कर्तृत्व-शक्ति क्षीण होती है, वैसे-वैसे आदमी स्मृति करके मन को वहलाता है। पुरानी वातो को याद कर अपने मन को सान्त्वना देता है। जितनी यादें और जितनी स्मृतिया एक वूढा आदमी करता है, उतनी जवान नही करता। जवान के सामने कल्पना का मैदान रहता है। वह भविष्य के सपने देखता है। वह पुरानी वातें वहुत कम याद करता है। मैं समझता हू कि युवक और वूढे की परिभाषा यह वहुत ठीक वैठेगी। जो केवल अतीत की ओर झाकता है, वह व्यक्ति वूढा और जो भविष्य तथा वर्तमान की ओर देखता है, वह युवक।

सचमुच वर्तमान को समझने की वहुत जरूरत है। मैं यह नही कहता कि अतीत को समझने की जरूरत नही है। अतीत मे हम वहुत लाभ उठाते हैं। अतीत से हम वहुत लाभान्वित होते हैं। अतीत की घटनाओ पर जीने वाले आदमी कभी वडे आदमी नही वन सकते। केवल अतीत पर जीनेवाले आदमी के गौरव की गाथा गायी जा सके, ऐसा काम वे नही कर सकते। अतीत के वल पर जीने वाले आदमी दुनिया को कोई नयी देन नही दे सकते। आज तक दुनिया मे उन लोगो ने वडे काम किए हैं, जिन्होंने वर्तमान को समझा है, वर्तमान को देखा है और वर्तमान को परखा है। वर्तमान मे कटकर जिन्होने अतीत को देखा, उनमे गति नहीं आ

सकी। वे केवल रूढ बने हैं, और स्थिर बने है। इसीलिए वर्तमान को समझना बहुत जरूरी है। आप वर्तमान को समझ लेते है तो अतीत अनसमझा नही रह सकता। यदि वर्तमान को समझ लेते हैं तो भविष्य अनसमझा नही रह सकता। वर्तमान को समझने का मतलव है कि यदि हम वर्तमान मे स्थिर खडे है तो भविष्य भी हमारा स्पर्श कर रहा है और अतीत अपनी छाया छोड रहा है। हम वर्तमान के उभय-रूपी दर्पण मे दोनो की ओर झाक रहे हैं। सचमुच यह समय की पहचान आदमी को होनी चाहिए। जो आदमी होता है उसे समय की पहचान ठीक होती है।

एक व्यक्ति डॉक्टर के पास गया। किवाड खटखटाया। दस वज गए थे। डॉक्टर आया। आना ही पडा। क्योकि वार-वार किवाड खटखटाया जा रहा था। डॉक्टर वोला, 'क्या चाहते हो?' रोगी ने कहा, 'डॉक्टर साहव! कुत्ते ने काट लिया है, दवा चाहता हू।' डॉक्टर वोला, 'तुम नही जानते, क्या समय हो गया है? सामने वोर्ड पर लिखा हुआ है कि मैं नौ वजे के वाद नही मिल सकता। समय के अनुसार आना चाहिए।' रोगी वोला, 'डॉक्टर महोदय! आप जो कह रहे हैं वहुत ठीक वात है। मैं तो आपकी वात जानता हू पर कुत्ता नही जानता कि कव काटना चाहिए। उसे नही मालूम कि डॉक्टर साहव नौ वजे के वाद दवा नही देते तो नौ वजे के पहले काटना चाहिए।'

यह ठीक वात है कि कुत्ता समय को नही पहचानता। परतु आदमी तो पहचानता है। क्योकि आदमी तो आखिर आदमी है। वह कुत्ता नही है। वह समय को जानता है। जो समय को नही पहचानता वह कैसे आदमी हो सकता है? युवक वह होता है जिसमें समय को पहचानने की क्षमता होती है, जिसमे समय को छेद-कर गहराई मे जाने की चिंता होती है।

आखिर करना क्या है? जो है वह दुनिया मे है। हम दर्शन की भूमिका मे जाए या विज्ञान की भूमिका मे प्रवेश करें। दुनिया मे जो है सो है। एक अणु घटेगा नही, एक अणु वढेगा नही। आप अच्छे-से-अच्छे वैज्ञानिक से पूछिए, वह वताएगा कि दुनिया मे जितने तत्त्व थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेगे। नयी चीज कोई भी नही वन सकती। दुनिया मे कुछ नया होता ही नही। यह हमारा भ्रम है, हम मान लेते हैं कि कुछ नया है। नये का मतलव क्या? नया उसे ही कहा जाता है जो वहुत पुराना हो जाता है। वहुत पुराना और इतना पुराना कि जो हमारी स्मृति मे ओझल हो गया है, उसका नाम है नया। आज की कला को आप देखिए। आज की नयी चित्रशैली और पुराने जमाने की हमारी जाटिनियो की भित्तिशैली की तुलना कीजिए। हमारे नये चित्रकार पुराने जाटिनियों का वहुत अनुकरण कर रहे हैं। जो वात वहुत पुरानी हो गयी है, वह आज फिर से नयी होती चली जा रही हैं। वास्तुकला मे भी पाच-सात सौ वर्ष पुरानी चीजो का अनुकरण हो रहा है। जिस प्रकार पुराने जमाने मे मकान थे, उसी प्रकार आज वनाए जाने लगे हैं।

पुराने तरीके और पद्धतिया अपनाई जा रही है। उन्हे मूल्य दिया जा रहा है।

वर्तमान अतीत को मूल्य देना जानता है, अतीत को भुलाना नही जानता। कोई भी वर्तमान अतीत की सहसा अवज्ञा नही करता। यह हमारा स्तर है कि हम मान लेते है कि पुरानो की अवज्ञा हो रही है या अतीत की अवज्ञा हो रही है। ऐसा हो नही सकता। सब पुनरावृत्ति है। जगत् का अर्थ क्या ? पुनरावर्तन, परिवर्तन, आवृत्ति। आवृत्ति होती रहती है। जो एक घटना घटित हो गयी, दो वर्ष के बाद फिर वह घटना घटित होती है। एक बात कही जाती है कि इतिहास अपने को दुहराता है। मैं कहता हू कि इतिहास की ही नही, इस दुनिया मे हर चीज की पुनरावृत्ति होती है। कोई भी ऐसी चीज नही कि जिसकी पुनरावृत्ति न हो। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ जब मैंने पढा कि आचार्य भिक्षु ने तेरापथ की एक सर्वथा नयी व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने लिखा, तेरापथी कौन ? पाच महाव्रत, पाच समितिया और तीन गुप्तिया—ये तेरह तत्त्व है। इन तेरह तत्त्वो को मानने वाला तेरापथी होता है। मैंने समझा शायद यह भिक्षु स्वामी की मौलिक देन है। किन्तु आप देखिए इस दुनिया मे किसे मौलिक कहा जाए ? यह अपने आप मे बहुत बडी कठिनाई है। दिगम्बर परपरा मे पूज्यपाद एक बहुत बडे आचार्य हुए है और शायद भिक्षु स्वामी से हजार वर्ष पहले हुए है। एक बार उनके ग्रन्थ निर्वाणभक्ति मे एक श्लोक देखा, आश्चर्यचकित रह गया। उस श्लोक मे उन्होने भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए लिखा है, 'भगवन् ! आपने नया काम किया जो अन्य तीर्थकरो ने नही किया। पाच महाव्रत, पाच समितिया और तीन गुप्तिया—इन तेरह तत्त्वो का विधान कर आपने जैन शासन की एक नयी मीमासा और नयी स्थापना की जो कि अन्य तीर्थकरो द्वारा नही की गयी।'

कब हुए पूज्यपाद और कब हुए भिक्षु स्वामी ? पर पता नही इस दुनिया मे इतना सक्रमण कैसे होता है विचारो का। आजकल विज्ञान कहता है कि आकाशिक रेकार्ड मे हमारे सब विचार अंकित रहते हैं। हजारो वर्ष के बाद भी उन्हे समझा जा सकता है, पकडा जा सकता है और सुन भी जा सकता है। विचारो का सक्रमण इस दुनिया मे चलता है। आज तक जितने भी महान् लोग हुए हैं, उन्होने पुनरावर्तन किया है। मैं नही समझता कि आज का युवक क्या करेगा ? वह पुनरावर्तन करेगा जो कि उसके बुजुर्ग कर गए हैं। उसका पुनरावर्तन ही उसका कार्य होगा। हमे नया कुछ नही करना है। जो किया हुआ है उसे दुहराना है। तो फिर युवको को क्यो चुना जाए ? इसलिए चुना जाए कि उनमे शक्ति होती है। युवक का मतलब है—करने की क्षमता। और जिस व्यक्ति मे जब तक करने की क्षमता होती है, तब तक वह अच्छा कर सकता है। अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति श्री केनेडी ने एक बहुत सुन्दर बात कही। युवक के बारे मे उनकी परिभाषा है—'जो व्यक्ति खतरे को मोल

लेना जानता है, ले सकता है वह होता है युवक और जो खतरो से घबराता है, वह होता है बूढा।' जो खतरो को मोल लेना नही जानता, वह कोई अच्छा काम नही कर सकता। अच्छा काम वही कर सकता है जो खतरो को उठाना जानता है, खतरो को झेलना जानता है। आज तक के इतिहास मे देखिए, भगवान् महावीर को ही लीजिए। उन्होने पता नही कितने खतरो का सामना किया था। आचार्य भिक्षु को ही लीजिए। उन्होने कितने बडे-बडे खतरे अपने जीवन मे झेले। राजनीति के क्षेत्र मे इन्दिरा को लीजिए। वर्तमान परिस्थितियो को देखिए। उन्होने कितना बडा खतरा उठाया। ऐसा लगता था कि पैंसठ वर्ष पुराना कांग्रेस दल विखर जाएगा। पर परिणाम यह नही हुआ। कठिनाई यह है कि लोग खतरा लेना नही जानते। आज तो मुझे यह चर्चा करने मे भी सकोच हो रहा है। लोग पूछते हैं कि भोज के अवसर पर यह करें या नही करें? इतनी छोटी-छोटी बातो मे समाज उलझ जाए, यह दु ख की बात है। उसके सामने कितनी बडी-बडी समस्याए है! उसके सामने कितनी बडी-बडी कल्पनाए और सभावनाए हैं! जब वह छोटी-छोटी समस्याओ मे उलझ जाएगा तो कुछ भी नही कर सकेगा। मुझे लगता है कि हमने सत्य को इतना छोटा समझ लिया कि अनन्त सत्य एक बिन्दु जैसा भी हमारे सामने नही है। जैन समाज के ही एक प्रमुख व्यक्ति ने लिखा है—'आज का हमारा मुनि-समाज इन बातो मे उलझ रहा है कि केला लेना है या नही लेना? अमुक चीज का प्रयोग करना है या नही करना? जबकि आज का विज्ञान धर्म के अस्तित्व को ही चुनौती दे रहा है, सामाजिक दर्शन और व्यवस्थाए तर्कवाद को चुनौती दे रही हैं, विज्ञान जीववाद को चुनौती दे रहा है। आज न जाने कितने बडे-बडे प्रश्न विज्ञान ने धार्मिको के सामने खडे कर दिए है। उनकी ओर कोई ध्यान देना आवश्यक नही समझता। केवल जो दो सौ वर्ष पुरानी बातें कही जाती थी, उनकी चर्चाओ मे इतने उलझ जाते हैं कि किवाड कही खुलते नही, और खुलते-खुलते जो बन्द हो जाते हैं तो कीलें और ठोक दी जाती हैं।' समाज की स्थिति को देखिए। दुनिया मे इतना परिवर्तन आ गया कि सम्पूर्ण समाज के लिए विघटन की भूमिकाए तैयार हो गई हैं। परिवार-सस्था नाम की कोई चीज नही रह गई है। हिप्पी और बिटल जैसे लोगो ने जन्म ले लिया है। सारी सामाजिक मर्यादाओ को तोडने मे ही कल्याण दिखाई देता है। एक ओर वह विचारधारा और सस्कृति पनपती जा रही है तो दूसरी ओर छोटी-छोटी और घिसी-पिटी बातो से भी छुट्टी पाने का अवसर नहीं आ रहा है। किसे कहा जाए युवक? समझने मे बडी कठिनाई होती है। युवक है कहा? अठारह-बीस वर्ष की उम्र को जो पार कर गया है, उसे युवक मान लें और सतोष कर लें तो यहा पर भी बहुत से बैठे हुए हैं किन्तु इनसे कुछ होना-जाना नही लगता। युवक वह होता है जो समय पर नियन्त्रण कर सके। समय की लगाम को अपने हाथ मे थाम सके और

समय का बोध दे सके।

कुछ लोग सोचते हैं कि आचार्यश्री पुरानी बातों को समाप्त करना चाहते हैं या हम कुछ साधु पुरानी बातों को समाप्त करना चाहते हैं। यह बहुत बड़ा भ्रम है। पुरानी बातें बहुत अच्छी हैं, उन्हें रखना है, जैसे मैंने अभी परिवार-संस्थान की चर्चा की। भारतीय परिवार-व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि दुनिया के किसी भी अंचल में इस तरह की व्यवस्था आज तक नहीं हुई है। कितना स्नेह, कितना प्रेम और कितना आश्वासन व्यक्ति को मिलता है। एक परिवार के सूत्र में बंधकर पचास व्यक्ति निर्भय हो जाते हैं। दो-चार व्यक्ति उनका भरण-पोषण करते हैं। कितनी आत्मीयता के साथ करते हैं। किसी पर दबाव नहीं। आज सारी दुनिया इस परिवार-संस्था के विघटन के कारण कितनी अस्त-व्यस्त और कितनी त्रासशील हो रही है कि आज लोगों को सोचना पड रहा है कि भारतीय परिवार जैसी व्यवस्था अपने यहां भी होनी चाहिए। पश्चिमी जर्मनी की एक घटना है। वहां की महिलाएं सारी नौकरपेशा हो गयी। वे सब काम करने चली जाती। परिणाम यह हुआ कि उनके बच्चे बिगड़ने शुरू हो गए। क्योंकि उन्हें पूरा प्यार नहीं मिलता, स्नेह नहीं मिलता। उनकी मनोदशा विक्षिप्त होने लगी। वहां के समाजशास्त्रियों ने सोचा शिक्षा-शास्त्रियों ने सोचा कि माताओं को नौकरी करने की अपेक्षा घर में बच्चों का भरण-पोषण करना चाहिए, तब बच्चे ठीक होंगे। हमारे भारतीय दर्शन में कुछ चीजें इतनी मूल्यवान् हैं कि पुरानी होकर भी उनकी सुरक्षा करना बहुत जरूरी है। पर आप यह निश्चित मानिए कि जो वर्तमान को नहीं समझता वह पुरानी चीजों की सुरक्षा नहीं कर सकता।

तिब्बत का उदाहरण हमारे सामने है। वहां के लामा लोग मानते थे कि हमारी परम्परा शाश्वत है, चिरन्तन है, उसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। तिब्बत की संस्कृति को कभी मिटाया नहीं जा सकता। तिब्बत के साहित्य को कभी आंच नहीं आ सकती। परन्तु आंखों देखते-देखते क्या घटित हुआ ? इतनी विशाल परम्परा, इतना विशाल साहित्य सब कुछ समाप्त हो गया। तिब्बत भी समाप्त हो गया और उसकी परम्परा भी समाप्त हो गयी। कुछ लोगों की बुद्धिमत्ता से कुछ चीजें भारत में सुरक्षित आ गईं। दिल्ली के सरस्वती पुस्तकालय में देखा कि कुछेक तिब्बती ग्रन्थ इतने महत्त्वपूर्ण और विशाल हैं कि उन्हें उठाने के के लिए दो-चार व्यक्ति चाहिए। अगर ये ग्रंथ तिब्बत में होते तो संभवतः वे भी समाप्त हो जाते। यह क्यों हुआ ? इसलिए कि वर्तमान के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं किया गया, वर्तमान के अनुसार जो परिवर्तन करना था और जिस फ्रेम में तस्वीर को मढना था, मढ दिया जाता तो शायद इतना विघटन नहीं होता।

आज सचमुच धार्मिक लोगों के सामने, सामाजिक लोगों के सामने, व्यवसायियों के सामने बहुत बड़ी चुनौतियां आ रही हैं। अगर वे आज भी ध्यान नहीं

देंगे तो भविष्य मे कठिनाइयो का अनुभव करना पडेगा, यह आनेवाला युग वता रहा है। मुझे याद है, इसी स्थान (सुजानगढ) मे आचार्यश्री कालूगणी विराज रहे थे। महाराज गगासिंहजी इधर से निकले और उन्होंने आचार्यश्री को वन्दना की। लोग कहते हैं कि कालूगणी ने वन्दना स्वीकार की परन्तु विधिवत् नही। उनके ध्यान मे नही आया। महाराजा चले गए। रात मे दस वज गए थे। लोग यहा उपस्थित थे। उनके घवराहट थी कि पता नही अव क्या हो जाएगा ? कही ऐसा न हो जाए कि गगासिंहजी हमारे महाराज को देश से वाहर निकाल दें। कालूगणी सो गए परन्तु मगनलालजी स्वामी ने वह रात चिंता मे ही व्यतीत की। और हमारे समाज के मुखिया लोगो पर पता नही क्या वीती होगी ? एक वह जमाना था। वहुत वर्ष भी नही हुए हैं। यह था रोव उस समय महाराजाओ का। लोग कापते थे उनसे।

आज राजा इतिहास की वस्तु वन गए है। आने वाली पीढी तो अपने माता-पिता से पूछेगी कि राजा क्या होता है? आजकल राजा लोग नौकरी भी करते है और नवाव की पीढी के लोग तो तागा भी हाकते हैं। महल विक रहे है। रहने के लिए छोटे-छोटे मकानो का निर्माण हो रहा है। क्या कभी कल्पना करते थे कि राजाओ और नवावो की यह दशा होगी ? यह दुनिया है दुनिया। यहा कोई भी चीज स्थायी नही रह सकती। हर चीज का पुनरावर्तन होता है। सवका अह चूर होता है। इस दुनिया मे किसी को अधिकार नही है कि वह अह करता रहे और दूसरो को नीचे ढकेलता रहे। अह करने का भविष्य न हो सकता है, न हुआ है, और न होगा। पर इस परिवर्तनशील दुनिया मे हम परिवर्तन के सिद्धान्त को नही समझते। भगवान् महावीर ने हमारे सामने तत्त्व रखा है, 'जो है वह है' यानी उसका अस्तित्व नही मिटता; वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। दूध वन जाता है किससे ? घास-फूस से। गाय घास-फूस खाती है। दूध वन जाता है। दूध से दही वन जाता है। दही से घी वन जाता है और घी से और कुछ भी वन जाता है। कुछ शरीर वन जाता है, कुछ मल वन जाता है और फिर वह खाद वन जाता है। मैंने देखा कि सारा गदा पानी एक वाडी मे जा रहा था जिसमे साग-सब्जिया लहरा रही थी, जो मनुष्य के लिए स्वादिष्ट भोज्य है। इस परिवर्तन की दुनिया के रगमच पर कोई भी आता है, अभिनय करता है, वहुत उछलता-कूदता है और दो क्षण वाद इस प्रकार उतर जाता है कि मानो कभी आया ही नही। ऐसी स्थिति मे सचमुच हमे सत्य को पकडने की जरूरत है।

वह युवक अच्छा काम नही कर सकता जो सत्य को पकडने का प्रयत्न नही करता। अगर कोई युवक है तो उसे अध्ययन की गहराई मे जाने की दिशा अपने हाथ मे लेनी चाहिए। जो अध्ययन की गहराई मे नही जाएगा, वह न अपना भला करेगा, न परिवार का, न समाज का भला करेगा। केवल वी०ए० की डिग्री प्राप्त

कर स्नातक वन गया, इतने मात्र को आप समझ लें कि हमने अध्ययन कर लिया तो आपका समझना ठीक नही है। अध्ययन का मतलव होता है मनन और चिंतन। भोजन के वाद जो पचाने मे समय लगता है, वह है सचमुच भोजन का काल, न कि दस मिनट का समय जिसमे भोजन झटपट निगल लिया। वह दस मिनट का समय भोजन का समय नही है। वैसे ही जो पढा, वह अध्ययन नही है। किन्तु उस पर जो चिन्तन-मनन किया, उसको अपने मन मे समाहित कर लिया, वह है अध्ययन।

हमारे अध्ययन के अभाव मे वहुत सारी समस्याए उत्पन्न होती हैं और उनका हम समाधान ढूढ नही पाते, खोज नही पाते। कौटिल्य यदि अपने विचार प्रस्तुत नही करता तो भारत की राजनीति का यह क्षेत्र विल्कुल शून्य हो जाता। कोई उपलव्धि नही होती। धर्म के क्षेत्र मे, राजनीति के क्षेत्र मे, शिक्षा के क्षेत्र मे और अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे यानी किसी भी क्षेत्र मे जिन लोगो ने काम किया है, वे पहले खूव गहराई मे गए हैं, डुवकिया ली हैं और फिर कुछ दुनिया को दिया है। आप भी गहराई मे गए विना कुछ प्राप्त नही कर सकेंगे। खाली हाथ क्या दे सकते हैं ?

मैंने आपके सामने कोई योजना नही रखी है वल्कि छोटी-सी पगडडी प्रस्तुत की है। मुझे विश्वास है कि उस पर आप चलना शुरू करेंगे तो आपकी वहुत सारी उलझनें समाप्त हो जाएगी जो कि ज्ञान के अभाव मे होती हैं। छोटी वातें हमारे लिए वहुत वडी क्यो वन जाती हैं ? छोटी वातें हमारे लिए पर्वत क्यो वन जाती हैं ? इसलिए कि शायद उन्हे हम जानने का प्रयत्न नही करते, समझने का प्रयास नही करते।

आप गहराई मे जाने का प्रयत्न करें, अपने युवक शब्द को सार्थक करें। इनमे आपके जीवन की सार्थकता है, युवक शब्द की सार्थकता है और अपने समाज की सार्थकता है।

युवक · दृष्टिकोण का निर्माण

विषयेषु विरागस्ते, चिर सहचरेष्वपि ।
योगे सात्म्यमदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा, 'भगवन् ! जो विषय आपके सहचारी है, अनादिकाल से आपके साथ चले आ रहे हैं, उनके प्रति आपके मन मे विराग उत्पन्न हो गया और योग जिसे हर आदमी जानता नही, आपने नया-नया जाना, नया परिचय किया उसके प्रति आपका अनुराग पैदा हो गया। यह आश्चर्य की वात है। अलौकिक वात है, साधारण वात नही हो सकती।'

जो अनुभव आचार्य हेमचन्द्र का है, वह सचमुच अद्‌भुत अनुभव है और ऐसा दुनिया मे होता है। होना भी चाहिए। हमारे सामने हैं, जिन्हे हम जानते हैं, जिन्हे पहचानते हैं, उनको छोडना और नये तथ्यो को जानना यह हमारे जीवन के विकास का क्रम है। जो विकास के क्रम को नही जानता, उसकी सारी जीवन की पद्धतिया कुठित हो जाती है। हिन्दुस्तान के विकास का क्रम अवरुद्ध हुआ, हिन्दुस्तान पिछड गया, इसका कारण क्या है? यहा विचार-विकास को महत्त्व नही दिया गया। विचारो का विकास होता है। जो हमने जाना उससे नया जानना होता है। जो जानते थे, उससे और नया जानना होता है। जो आदमी जानने के आगे किवाड वन्द कर देता है, जानने के आगे इतिश्री कर देता है, उसका विकास ठप्प हो जाता है। गति शिथिल हो जाती है और यह देखकर स्तब्ध होकर खडा रह जाता है। हिन्दुस्तानी लोगो मे एक चिंतन का उल्टा क्रम चला। उन्होंने सोचा कि जो हमारे पूर्वज हो गए, उन्होने जो जाना, जो सोचा, जो समझा, जो वताया वह ठीक है और आज हमारे जानने के लिए कुछ भी शेप नही है। मैं समझता हू यह दर्शन, यह दृष्टिकोण, यह विचार उनके विकास का अवरोध वन गया। आप जानते हैं कि विचार के विकास को कभी रोका नही जा सकता। खिडकियो को वन्द नही किया जा सकता। आप खिडकियो को वन्द कर दीजिए, हवा नही आएगी और प्रकाश नही आएगा किन्तु दुर्गन्ध होगी और अन्दर से दमघोटू वातावरण वन जाएगा। तो आज हमारी सारी गति ठप्प हो गयी है।

आप किसी भी क्षेत्र को लें। हजारो वर्षो से हिन्दुस्तानी लोग व्यापार कर रहे हैं किन्तु व्यापार का विशेष प्रशिक्षण लेना है तो अमेरिका जाओ, जर्मनी जाओ। यह क्यो ? आज हजारो विद्यार्थी बाहर जाते है, व्यापार का प्रशिक्षण लेते हैं। फिर यहा आकर बडी नौकरी पाते हैं। बडा डॉक्टर और बडा इजीनियर बनना है तो विदेशो मे जाओ। ऐसा क्यो होता है ? यानी सारी विद्याओ का बाहर से आयात कर रहे हैं। इसका कारण क्या है ? वे लोग यह मानकर चल रहे हैं। कि ज्ञान और विज्ञान का द्वार कभी बन्द नही किया जा सकता। यह ठीक है कि हमारे पूर्वजो ने जो दिया, उसकी सुरक्षा करना, उसे सभालकर रखना हमारा कर्तव्य होता है। किन्तु उसे बढाना नही, यह हमारा कैसे कर्तव्य हो सकता है ? जो पुत्र, जो सतान अपने पिता की सपत्ति को नही बढाती, वह सतान निकम्मी सतान होती है और अविनीत सतान होती है। हमारे यहा उसे विनीत मान लिया जो पिता के कहे अनुसार चलता है। जो जैसा कहा, उसका अक्षरश पालन करता जाए, समझे या नही, कोई चिन्ता नही। सचमुच ऐसा हमारे यहा हो रहा है। धार्मिको की स्थिति देख तो मुझे लगता है कि धार्मिक लोग धर्म करते चले जा रहे हैं, चाहे समझें या न समझे इसकी कोई चिन्ता नही है। आज कितना ज्ञान बढा है दुनिया का। आज कितना विज्ञान बढा है, आज कितनी शिक्षा बढी है। हर क्षेत्र मे कितना विकास हुआ है ! परन्तु धार्मिको को कोई चिंता नही है। वे तो समझते है कि जो उन्होंने सुन लिया, जो उन्होने जान लिया, जो उन्होने रट लिया उससे आगे फिर कोई नया विकास हो नही सकता और जब हम यह मानकर बैठ जाते है तो हमारे सामने और कठिनाई पैदा हो जाती है।

आज के युवक से जो सबसे बडी अपेक्षा है, वह है दृष्टिकोण का परिवर्तन। उसे अपने दृष्टिकोण को बदलना है। जब दृष्टिकोण बदल जाएगा, सारी चीज बदल जाएगी और जब तक हमारा दृष्टिकोण नही बदलता तब तक दुनिया मे कुछ भी नही बदलेगा। दुनिया मे जितना भी परिवर्तन हुआ है, दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाएगा, उसके जीवन का सारा ढाचा बदल जाएगा और सब कुछ बदल जाएगा। जिस देश का दृष्टिकोण नही बदला, जिस समाज का दृष्टिकोण नहीं बदला और जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण नहीं बदला, उसका कुछ भी नही बदल सकता, चाहे सारी दुनिया बदल जाए। आज दुनिया मे कितना परिवर्तन हो रहा है ? धर्म के क्षेत्र मे कितनी खोजें हो रही हैं ? मुझे आश्चर्य होता है, आज हमारे हिन्दुस्तानी युवक तथा और भी बहुत सारे लोग धर्म के मामले मे विदेशो से पाठ मगाते हैं और पढते हैं। आपको शायद पता नहीं, बबई जैसे शहर मे जाइए और वहा देखिए। वहा हजारो-हजारो युवक विदेशी योगियो या तत्त्ववेत्ताओ से प्रशिक्षण के पाठ मगाते है। उन्हे फालो करते है, उनका अनुसरण करते हैं और उनके अनुसार जीवन को ढालने का प्रयत्न करते

है, इसका कारण क्या है ? वे लोग आज हर क्षेत्र मे खोज कर रहे हैं। अपने ज्ञान को वढा रहे हैं। और पुरानो की कही हुई वातें उनके विकास मे कही भी वाधक नही वन रही हैं। हमारे यहा तो वडी कठिनाई है। एक भी नयी वात सामने आ गई, सिरदर्द पैदा हो जाता है। इसका कारण क्या है ? हमने अपने आपको अल्पज्ञ होते हुए भी सर्वज्ञ जैसा मान लिया। यह क्यो होना चाहिए ? धार्मिक को तो विनम्र होना चाहिए—मैंने जो कुछ जाना है, वहुत ही थोडा जाना है, सारा का सारा जानना वाकी है। जव तक पूरा नही जान लूगा, किसी वात पर अटकूगा नही, रुकूगा नही। इतना विमम्र वनने का साहस हो तव तो जीवन मे विकास हो सकता है अन्यथा स्वय धर्म हमारे लिए अधर्म वन जाता है और हमारी मान्यता स्वय अज्ञान वनकर हमारे विकास मे वाधक वन जाती है।

युवक वह होता है जिसमे वदलने की क्षमता होती है। अवस्था से युवक को नही मापा जा सकता। जिसमे वदलने की क्षमता नही होती, वह वीस वर्ष का है तव भी मेरी भापा मे बूढा है। जिसके अन्दर वदलने की क्षमता होती है, वह चाहे साठ वर्ष का होगा, मैं उसे युवक कहना पसन्द करूगा। अपने-आपको वदलने के लिए ज्ञान होना चाहिए।

भिक्षु स्वामी ने एक वात वहुत सुन्दर कही। एक जौहरी था। मर गया। पीछे विधवा पत्नी और एक लडका। पत्नी ने घर मे देखा तो एक पोटली मिली। खोलकर देखा अन्दर हीरे भरे थे। उसने अपने लडके को कहा कि तुम अपने चाचा के पास जाओ, इसका मोल करा लाओ। लडके ने पोटली को चाचा के सामने रख दिया। चाचा ने सोचा क्या करू ? दो मिनट तक देखने के वाद पोटली वाधकर लडके को दे दी। मा प्रसन्न थी कि हमारे पास वहुत हीरे पडे हैं।

चाचा ने लडके को पढाना शुरू कर दिया। एक-दो वर्ष मे वह लडका पूरा समझदार हो गया और हीरो का अच्छा पारखी वन गया। तव एक दिन चाचा ने कहा, 'वेटा ! वह पोटली लाओ। हीरो के भाव वहुत तेज हैं, वेच दिए जाए।' वह मा के पास गया। पोटली मागी। मा ने पोटली दी। चाचा के पास आया। उसे खोला और देखा तो हीरे गायव। कोरे काच के टुकडे ? क्या हीरे काच वन गए ? पहले काच हीरे थे और आज हीरे काच वन गए ? हीरे काच नही हुए। वे काच ही थे। परन्तु उस समय लडका पहचानता नही था। पारखी नही था। इसलिए उस समय काच हीरे वन रहे थे। आज जव परीक्षा की दृष्टि वन गयी, काच काच वन गया, हीरा हीरा वन गया। उसने पोटली को फेंक दिया, ठुकरा दिया। चाचा ने कहा, 'क्या करते हो ?' उसने कहा, 'इन्हे क्या करूगा ? आपने मुझे वताया नही, धोखे मे रखा।' चाचा ने कहा, 'तव मैं कहता तो तुम्हारी मा कहती कि चाचा ने हीरे चुरा लिए और काच के टुकडे भर दिए। अच्छा नही होता। अव तुम स्वय देख लो।'

परिवर्तन क्यो आया ? इसलिए कि दृष्टिकोण का निर्माण हो गया। जब व्यक्ति मे दृष्टि का निर्माण हो जाता है तब उसमे परीक्षा करने की ताकत आ जाती है। आज अनेक व्यक्ति दूसरो के आधार पर चलते है—'वह व्यक्ति ऐसा कहता है तो हमे मान लेना चाहिए।' वह व्यक्ति कहता है, ठीक है, परन्तु तुम्हारी भी तो परीक्षा की शक्ति होनी चाहिए। अगर तुम्हारे अन्दर परीक्षा की शक्ति नही है और तुम दूसरो के आधार पर जीते रहोगे तो बिल्कुल फेल हो जाओगे। आज हिन्दुस्तान मे इसी प्रकार से हो रहा है। यहा दुहाई दी जाती है कि अहिंसा बहुत अच्छी है। किसलिए ? भगवान् महावीर ने कहा, इसलिए। अरे, महावीर ने कहा है इसलिए अहिंसा अच्छी है, तुम्हारे क्या काम की है? महावीर की अहिंसा तुम्हारे क्या काम आएगी ? तुम्हारे जीवन मे यदि अहिंसा का कोई अनुभव नही, तुमने अहिंसा को समझा नही है तो तुम्हारे क्या काम आएगी ? भगवान् ने किसी को कर्त्ता नही माना। भगवान् ने किसी को भाग्यविधाता नही माना। भगवान् ने बताया कि हर आदमी अपने भाग्य का निर्माता और विधाता है। न कोई डुबाने आता है और न कोई तारने आता है। हर आदमी अपने भाग्य का निर्माता है। फिर भी पता नही, क्या बात है कि हमारे यहा पचास वर्ष का आदमी अपनी मा की अगुली पकडकर चलना पसद करता है। अपने पैरो पर चलना पसद नही करता। महावीर ने यह बताया, कृष्ण ने यह लिखा, बुद्ध ने यह कहा, अन्य महापुरुषो ने यह बताया। एक बार जान लेना तो ठीक है पर चाहे पचास वर्ष का हो गया और उससे पूछा जाए कि ब्रह्मचर्य अच्छा है, अहिंसा अच्छी है, तुम्हारा क्या अनुभव है ? यही उत्तर मिलेगा कि हमारा तो अनुभव नही है किन्तु भगवान् ने कहा है। अरे ! यह भगवान् की रट लगाते-लगाते मर जाओगे, तुम्हे क्या मिला इससे ? आखिर तो हमे मिलना चाहिए। भगवान् ने यह नही कहा कि मेरा नाम रटते रहो। उन्होने कहा, 'जो मैं करता हू, वह करो।' किन्तु हमारे यहा श्रद्धा का रूप इस प्रकार बन गया कि हमारी श्रद्धा हमारे विकास मे बाधक बन रही है। श्रद्धा के साथ पूरा ज्ञान होना चाहिए। किन्तु ज्ञान को हमने छोड दिया, कोरी श्रद्धा को पकड लिया। दृष्टिकोण जब बदलता है तभी सही चीज को समझ पाते हैं।

आज युवको के लिए बहुत जरूरी है कि उनमे ज्ञान आए, दृष्टिकोण बदले और उसका सम्यक् निर्माण हो। 'यादृक्दृष्टि, तादृक्सृष्टि' जैसी दृष्टि होती है, वैसी सृष्टि हो जाती है। राम के सामने सीता और हनुमान दोनो बैठे थे। प्रसग चल पडा। सीता ने कहा, 'अशोक वाटिका मे फूल बडे सुन्दर और सफेद थे।' हनुमान ने कहा, 'मा ! तुम असत्य कह रही हो। फूल सुन्दर थे, यह तो मैं मानता हू परन्तु वे सफेद नही, लाल थे।' सीता कहती है, 'मैंने आखो मे देखा।' और हनुमान कहते हैं, 'मैंने आखो मे देखा।' दोनो प्रत्यक्षदर्शी और दोनो मे विवाद। बहुत बार दुनिया मे ऐसा होता हैं कि कानो की बात मे विवाद

होता है। एक वात चलती है तो सौ घरो तक चलते-चलते इतनी विकृत हो जाती है कि मूल का कुछ और वन जाता है। पर यहा दोनो प्रत्यक्षदर्शी और दोनो मे विवाद। आखिर राम सुनते रहे, सुनते रहे और जव विवाद वहुत वढ गया तव उन्होने कहा, 'मैं तुम्हारा न्याय करता हू, विवाद समाप्त करो।' देखने वाले वहुत वार धोखा खा जाते हैं। आखें धोखा दे देती हैं। फूल तो सफेद थे किन्तु हनुमान क्रोध मे लाल हो रहे थे, उनकी आखो मे खून वरस रहा था। उन्हे इसीलिए फूल लाल दिखाई दे रहे थे। परन्तु थे वे सफेद। ऐसा होता है। आखो मे खून था तो वे फूल लाल वन गए। आखें साफ होती तो फूल सफेद होते। हमारी दृष्टि के कारण हम कुछ को कुछ समझ लेते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था, 'सवसे पहले हमारा दर्शन सम्यक् होना चाहिए। दर्शन सम्यक् नही होता तो हमारा ज्ञान सम्यक् नही होता।' हमारा ज्ञान सम्यक् नही होता तो हमारा चरित्र सम्यक् नही होता। आज हम केवल चरित्र की वात को पकड लेते है, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की वात को भुल देते हैं।

यदि आप चरित्र को वास्तव मे सम्यक् देखना चाहते है तो पहले आपका ज्ञान सम्यक् हो और उससे पहले आपका दर्शन सम्यक् हो। दर्शन सम्यक् हुए विना ज्ञान सम्यक् हो नही सकता। आज दर्शन के वारे मे हमारे सामने वडी कठिनाइया हैं। और वे कठिनाइया इसलिए वढ गयी कि हमने कुछ वाते मान ली। मानना भी एक वात है। वच्चा हमेशा मानकर चलता है। वच्चा नही जानता। मा कहती है, तव वात को मान लेता है और यह वात ठीक भी है। परन्तु एक वात मुझे वताइए। वच्चा मान लेता है। चार-पाच वर्ष के वच्चे को मा कहती है, 'उधर मत जाओ, हौआ है। वच्चा मान लेता है।' पर पचीस वर्ष का हो गया और मा कहती है कि उधर मत जाओ, हौआ है, तव मान लेगा क्या? नही मानेगा। क्योकि मानने की स्थिति समाप्त हो गयी। मानने की-अवस्था से ऊपर उठकर अव वह जानने की स्थिति मे आ गया। मानने की वात छूट गयी। हमारे धार्मिक जो सत्तर वर्ष के हो जाते हैं परतु मानने की वात उनसे नही छूटती।

युवको से आज अपेक्षा की जाती है कि वे केवल मानकर न चलें किन्तु जानकर चलें। हमारे यहा मानने का धर्म चलता है। उससे कठिनाइया भी पैदा होती है। आप जानते हैं कि आज नये प्रश्न सामने आ रहे हैं। चाहे जीव के वारे में, चाहे वनस्पति के वारे मे चाहे और विपयो के वारे मे। आपको मालूम होना चाहिए कि अमरीका मे डॉ० खुराना ने एक जीन पैदा कर दिया यानी जीवन की पहली अवस्था का निर्माण कर दिया। अभी हमने समाचार-पत्रो मे पढा कि अमरीका मे प्रतिवर्ष दस हजार वच्चे कृत्रिम ढग से पैदा किए जा रहे हैं। न जाने इसी प्रकार कितनी समस्याए वैज्ञानिको ने धार्मिको के सामने खडी कर दी है। फिर भी आज के धार्मिक सोचते हैं कि हम तो वही वात मानते चले जाए, हमे

जानने की कोई जरूरत नही है।

इस प्रकार का धर्म आज के युग मे चल नही पाएगा, टिक नही पाएगा। और कम-से-कम विद्वानो के सामने तो उसका कोई मूल्य नही होगा। घर मे बैठकर आप बड़प्पन के गीत गा लें परन्तु बाहर उसका कोई मूल्य होने वाला नही है। इसलिए जानने की अब बहुत जरूरत है। मानने की बात को अब छोटा कर दीजिए। उस लकीर के सामने एक बडी लकीर खीच देना, यह है जानने की बात। आज कितनी समस्याए धार्मिको के सामने खडी हो गयी है? इन समस्याओं का समाधान करने के लिए नया अध्ययन, नया चिंतन, नया विचार, नया दर्शन और नयी बात सोचना हमारे लिए अत्यावश्यक हो गया है।

पुरानी चीज की सुरक्षा, पुरानी चीज का ज्ञान और नये-नये विचार आएगे तब हमारे धर्म मे पूर्णता आएगी। अन्यथा धर्म का एक पैर लंगडा हो जाएगा। क्या आप पसद करते है कि धर्म का एक पैर टूट जाए? आज का युवक यह समझता है कि बिना नया विकास किए केवल अतीत के आधार पर जिया नही जा सकता। जब मै देखता हू सारे वातावरण को, जो बीस वर्ष पहले की वेशभूषा थी, आज इतना आकस्मिक परिवर्तन आ गया है कि शायद बीस साल पहले लोगो ने कल्पना भी नही की थी। आज की लडकिया और आज के लडके जिस वेशभूषा मे हैं, शायद बीस वर्ष पहले किसी ने यह कल्पना नही की थी कि यह वेशभूषा आने वाली है। आज के रहन-सहन का सारा ढग, आज का सारा वातावरण इतनी तेजी के साथ बदलता जा रहा है कि शायद पचास वर्ष वाले लोगो ने कभी कल्पना नहीं की होगी। बदलना दुनिया का अनिवार्य अंग है। उसे कोई रोक नहीं सकता। सारी दुनिया मे जो परिवर्तन हो रहे है, उनसे कोई वचित नही रह सकता, अलग नही रह सकता। इस स्थिति मे हमे इस बात को समझ लेना चाहिए कि जो हो रहा है, उसके प्रति आख मूदकर चलेगे तो हानि होगी और उसके प्रति जागरूक होकर चलेंगे तो कुछ पा सकेंगे और उस पर नियत्रण भी रख सकेंगे।

आज धर्म के क्षेत्र मे हमे बहुत कुछ सोचने की जरूरत है। केवल रूढिवाद के आधार पर, बनी-बनाई धारणाओ के आधार पर धर्म का बहुत विकास नही किया जा सकता। भगवान् महावीर ने सबसे बडा तत्त्व दिया था ध्यान का। आज जैन परपरा मे ध्यान लगभग छूट-सा गया। अब थोडा-थोड़ा उन्मेप आ रहा है। हमने इस बात को तो पकड लिया कि भगवान् ने एक साथ छह महीने की तपस्या की, पर इस बात को भुला दिया कि भगवान् ने ध्यान के लिए तपस्या की या तपस्या के लिए ध्यान किया। मुझे याद आ रही है वह घटना। एक अग्रेज कलेक्टर जगल मे शिकार करने गया। रास्ता भटक गया घोर जगल मे। प्यास लग गयी, भूख लग गयी। खाने-पीने को कुछ भी नही। सोचा, क्या किया जाए? दो-तीन आदमी साथ थे। खोजते-खोजते एक झोपडी के पास पहुचे। एक बुढिया

थी। इशारे से कहा, कुछ खाने को दो। बुढिया ने सोचा, कोई मेहमान आया है। भूखा है। उसने रोटी पर थोडा-सा साग रखकर दिया। वह था अंग्रेज और उस जमाने का। उसने साग खा लिया और रोटी को तश्तरी समझकर फेंक दिया।

आज जैन भाई भी रोटी को फेंक रहे है और साग को खा रहे हैं। भगवान् महावीर ने सोलह दिन-रात तक तपस्या की। क्यो की ? इसलिए कि ध्यान मे बाधा न पडे। ध्यान मे विघ्न न आए। निरतर ध्यान, सतत ध्यान चलता रहा। जो आदमी निरतर ध्यान करेगा, उसे खाना-पीना सब छोडना पडेगा। ध्यान के लिए तपस्या थी। हमने ध्यान को तो छोड दिया, रोटी को फेंक दिया और जो कोरी तपस्या थी, साग-साग को खा लिया। इसीलिए लोग कहते हैं कि तपस्या करते है, फल नही मिलता। जो मिलना चाहिए, वह नही मिल रहा है। शान्ति नही मिल रही है। इन्द्रिय-विजय नही हो रही है। कषाय से मुक्ति नही मिल रही है। तपस्या भी करते हैं और गुस्सा भी वढता जाता है। तपस्या और गुस्से का क्या मेल ? क्या सम्बन्ध ? गुस्से को मिटाने वाला, इन्द्रियो की विजय करानेवाला, मन की विजय कराने वाला जो ध्यान था, वह तो छूट गया और कोरी रह गयी तपस्या जो कि गुस्सा वढाती है और लोग कहते हैं कि वह फल नही मिल रहा है, जो मिलना चाहिए।

यदि आप धर्म की मीमासा करें, धार्मिक की मीमासा करें तो आपको अनुभव होगा कि धर्म से जो वात मिलनी चाहिए, वह क्यो नही मिल रही है ? इसीलिए नही मिल रही है कि उस पर शायद आज फिर से पुर्नविचार करने की आवश्यकता है। कुछ वातें शायद कटु भी हो सकती है, फिर भी मैंने आपके सामने रखी हैं और इसलिए रखी हैं कि आज मुझे वार-वार यह लगता है कि एक प्रकार से धर्म का उन्माद-सा धार्मिको मे आ गया है। हा, धर्म का उन्माद ! आज धर्म का विकास, स्वाध्याय का विकास, दूसरो की आलोचना न करने की मनोवृत्ति, ईर्ष्या को छोड़ने की मनोवृत्ति, मैत्री का विकास, जो धर्म के मूल स्रोत थे, उनकी चिन्ता तो हमने कम कर दी। पर, मन्दिर जाना, साधुओ के पास जाना या माला जप लेना— इतने से हम मान लेते हैं सारे जीवन का धर्म फलित हो गया। ये अच्छी वातें है, बुरी नही कहता। पर वे गौण वातें हैं। मूल वात है अपने जीवन की। अपने जीवन मे क्या हो रहा है ? सामायिक करते हुए पचास वर्ष हो गए परन्तु आज भी आलोचना करने की उतनी ही मनोवृत्ति है। इधर सामायिक की साधना चल रही है और उधर घृणा, ईर्ष्या और द्वेष भी चल रहा है। दोनो साथ-साथ चल रहे हैं। एक ढक्कन मे अधेरा भी है और प्रकाश भी है। दोनो साथ कैसे चलेंगे ? प्रकाश होगा तो अधकार नही होगा और अधकार होगा तो प्रकाश नही होगा। दोनों साथ-साथ कैसे चल सकेंगे ? पर आज तो चल रहे हैं। आप काम करते है। जहा कोई ऐसा काम आता है, कह देते हैं—यह तो गृहस्थ का कर्म है, हम तो गृहस्थ

हैं। अरे ! किसने तुम्हे साधु माना ? पर गृहस्थ का मतलव यह तो नही कि धार्मिक मे परिवर्तन ही न आए,। धार्मिक का मानदण्ड क्या है ? उसमे अगर कोई परिवर्तन न आए तो कैसे धार्मिक कहा जाएगा ? इन सारी परिस्थितियो को देखकर मुझे तो लग रहा है कि आन्तरिक परिवर्तन पर हमारा ध्यान वहुत कम है, केवल वाह्य परिवर्तन की ओर सारा ध्यान केन्द्रित हो गया है। नियम फिर चाहे साधु के लिए हो, चाहे श्रावक के लिए, वे किसलिए वनते हैं ? पाल किसलिए वनती है ? पानी की सुरक्षा के लिए। पानी हो तो पाल की वहुत जरूरत है। पानी की वूद भी नही और पाल मजवूत है, इमका अर्थ क्या ? खेत मे धान नही और वाड़ मजवूत है। क्या मतलव ? पानी की चिंता नही, दाने की चिंता नही, परन्तु पाल मजवूत चाहिए, वाड मजवूत चाहिए। यह दृष्टिकोण जव वन जाता है, हमारे हाथ पानी लगता नही, दाना लगता नही, केवल पाल और वाड़ लगती है। आज ऐसा ही हो रहा है। जो नियम कपाय को कम करने के लिए होते हैं, उन नियमो को लेकर वाद-विवाद, वितडा और कपाय की भरमार है। क्या यह चिन्तन का विपय नहीं है ? आज हमे अपने दृष्टिकोण को वदलने की जरूरत है। सम्यक्-दर्शन की जरूरत है और अपने जीवन के प्रति दर्शन का उपयोग करने की जरूरत है। दृष्टिकोण का निर्माण हो गया तो धार्मिक जीवन का निर्माण हो गया। यदि दृष्टि का निर्माण नही हुआ तो धार्मिक जीवन का निर्माण नही हो सकता। अहिंसा, सत्य— ये सारे दृष्टिकोण के परिणाम हैं। दृष्टिकोण से जीवन मे अहिंसा आती है, अहिंसा से दृष्टिकोण का निर्माण नही होता।

आज के युवक के लिए इस वात की वहुत वडी जरूरत है कि वह अपने दृष्टिकोण का निर्माण करे और अपने जीवन को फिर से देखने का प्रयत्न करे।

युवक का संकल्प : अनुशासन, एकाग्रता और पुरुषार्थ

हर व्यक्ति मे शक्ति होती है। जिसमे शक्ति नही होती उसका अस्तित्व होता ही नही। उसी का अस्तित्व टिकता है, जिसमे शक्ति होती है। होने का मतलव है शक्ति। शक्ति और होना कोई दो चीज नही हैं। अस्तित्व का लक्षण ही एक प्रकार से शक्ति वन जाता है। कोई भी अस्तित्व शून्य नही होता। विश्व के हर कण मे शक्ति होती है।

शक्ति होना ही वडी वात नही है। उससे आगे भी एक वात और है। हमारी शक्ति का नियोजन किस दिशा मे होता है ? यह सवसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि शक्ति का नियोजन ठीक दिशा मे नही होता है तो शक्ति के द्वारा अनेक समस्याए, उलझनें पैदा हो जाती हैं। दुनिया मे जितनी खराविया होती हैं, वे शक्ति के द्वारा ही होती हैं। शक्ति का नियोजन ठीक होता है तो उससे समस्याओ का समाधान मिलता है। इसलिए वडी से वडी समस्या का समाधान भी शक्ति के द्वारा ही होता है। समस्या और समाधान दोनो का स्रोत शक्ति है। अतर रहता है सिर्फ नियोजन का कि किस दिशा मे नियोजन होता है। मुझे एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है।

एक आदमी के घर मे काफी पेड थे। पुरखो ने लगाए थे। पेड खूव वडे-वडे थे। अच्छी छाया दे रहे थे। पेड अपने घर मे थे किन्तु काफी वढ गए थे। इसलिए पडोसी के घर में भी छाया पहुच रही थी। जिसके घर मे पेड थे, उसने सोचा कि पेड मेरे घर मे हैं, उन पर मेरा अधिकार है। फिर दूसरे लोग मेरे पेडो की छाया से क्यो लाभान्वित हो ? यह तो उचित नही है। उसने पेडो को कटवा दिया। एक व्यक्ति ने पूछा, 'महाशय ! पेड कितने अच्छे थे। कितनी छाया दे रहे थे। आपने उन्हे कटवा क्यो दिया ?' पेडो के मालिक ने उत्तर दिया, 'भाई ! क्या करू ? पेडो की छाया का लाभ दूसरो को पहुच रहा था और जमीन मेरी रुकी हुई थी।'

यह भी शक्ति का उपयोग है। जव हमारी शक्ति ध्वसात्मक कार्यों मे लग जाती है और ध्वस की ओर चली जाती है तव शक्ति हमारे लिए सहारक वन

जाती है और समस्या बन जाती है। युवकों की शक्ति आज एक समस्या बन रही है। ध्वंस की ओर जा रही है। सारे देश की स्थिति को देखिए। भारत के युवकों की शक्ति जितनी निर्माणात्मक कार्यों में नहीं लग रही है, उससे कहीं अधिक हिंसात्मक कामों में लग रही है। आए दिन समस्याओं का सामना सबको करना पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि हमारी शक्ति का ठीक नियोजन नहीं हो रहा है। युवक को शक्ति का पर्यायवाची मान लिया गया है। युवक अर्थात् शक्ति और शक्ति अर्थात् युवक। युवक शक्ति का प्रतिनिधि होता है। यह प्रतिनिधित्व तो उसने स्वीकार कर लिया किंतु उसका ठीक नियोजन नहीं किया। इस नियोजन की गड़बड़ी के कारण आज देश में बहुत सारी समस्याएं पैदा हो गयी हैं।

आचार्यश्री तुलसी का उदाहरण युवकों के सामने होना चाहिए। जब आचार्यश्री की अवस्था मात्र बाईस वर्ष की थी, उस समय आपने एक शक्तिशाली संघ का नेतृत्व अपने कंधों पर लिया और उसका विकास किया। शक्ति का उपयोग रचनात्मक कामों में किया। आचार्यश्री का प्रारम्भिक सूत्र था—'हमें ध्वंस की ओर अपनी शक्ति नहीं लगानी है।' दुनिया में सबका विरोध होता है। कोई ऐसा नहीं है कि जिसका विरोध नहीं होता। सूर्य अकारण प्रकाश देता है, पर उसकी भी आलोचना होती है। सूर्य का भी विरोध होता है। हवा अकारण हमें लाभान्वित करती है, प्राण देती है, जीवन देती है, पर उसका भी विरोध होता है। आचार्यश्री तुलसी का भी विरोध हुआ है और काफी हुआ है।

मुझे एक घटना याद आ रही है। काका कालेलकर बहुत वर्ष पहले दिल्ली में आचार्यश्री से मिलने आए। आते ही बोले, 'मैं आपसे मिल रहा हूं, उसके पीछे एक प्रेरणा है। वह यह कि मेरे पास आपके विरोध में इतना साहित्य आया कि ढेर लग गया। मैंने वह साहित्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध होता है, वह निश्चित ही जीवित व्यक्ति है, मुर्दे का विरोध कोई नहीं करता। कहने की जरूरत भी नहीं होती है। विरोध उसका होता है जो जीवित है। आप में जीवट है और उसी ने मुझे प्रेरित किया कि आपसे मिलना चाहिए और आज मैं मिल रहा हूं।' विरोध हुआ किन्तु उस सारे विरोध के बीच में आचार्यश्री ने जो एक स्वर दिया, वह था—हो हमारा जो विरोध, हम उसे समझें विनोद! यानी विरोध को विनोद समझकर चलें। यह था उनकी अपनी शक्ति का निर्माणात्मक कार्यों में नियोजन।

किसी समय में आचार्य भिक्षु के विचारों की कड़ी आलोचनाएं होती थीं, आचार्यश्री के विचारों की कड़ी आलोचनाएं होती थीं। कभी-कभी तो हम जिस मार्ग से गुजरते, उसमें डामर की सड़क पर हमारे विरोध में इतने पर्चे चिपका दिए जाते कि हमारे पैर काले होने से बच जाते। किन्तु कभी भी आचार्यश्री तुलसी की ओर से उस विरोध में दो पंक्तियां भी नहीं लिखी गयीं। आचार्यश्री बम्बई में

थे, उस समय एक व्यक्ति ने विरोध मे काफी लिखा। आचार्यश्री ने मुझसे कहा कि इस पर हमे लिखना चाहिए, क्योकि यह जो विरोध हो रहा है, वह केवल विरोध नही है, यह वास्तविक स्तर पर आलोचना हो रही है। इस पर हमे लिखना चाहिए, उत्तर देना चाहिए। मैं समझता हू कि आज से पचीस-तीस वर्ष पहले हमारा जो विरोध हुआ था, उसके विरोध मे हमने दो पक्तिया भी नही लिखीं। जो व्यक्ति अपनी शक्ति का इतना निर्माणात्मक और रचनात्मक कार्यो मे नियोजन कर सकता है, वह सचमुच विकास कर लेता है। यदि आज यह वात हमारे अध्यापको की समझ मे आ जाए, विद्यार्थियो की समझ मे आ जाए, मजदूरो की समझ मे आ जाए तो मैं समझता हू कि जो रचनात्मक निष्पत्तिया हमारे सामने आनी चाहिए, किन्तु नही आ रही हैं, उनका एक समाधान हो सकता है।

आज देश की स्थिति क्या है ? आज के युवको की स्थिति क्या है ? शक्ति का नियोजन करने के लिए हमे कुछेक वातो पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक होगा। पहली वात है कर्मण्यता। शक्ति तो है किन्तु कर्मण्यता नही है। आज हिन्दुस्तान जिस वीमारी से ग्रस्त है, वह है अकर्मण्यता और मुफ्तखोरी। यह मुफ्तखोरी का पाठ उसने शताब्दियो से पढ लिया है। यह वीमारी उसकी रग-रग मे जमी हुई है। भगवान् की दया हो, कोई काम करना न पडे, ऐसा मानस हो गया है। लेने के लिए इतना मानस वन गया है कि कोई काम करना न पडे, श्रम करना न पडे और काम वन जाए तो भगवान् की कृपा है, धर्म की कृपा है। श्रम करना पड जाए तो हम मानते है कि भगवान् की कृपा कम है, धर्म की कृपा कम है।

पुराने जमाने की वात है। आचार्य भद्रवाहु एक वहुत वडे आचार्य हुए हैं। सघ के सामने कोई कठिनाई आने पर उन्होने एक मत्र की रचना की। सघ का सकट दूर हो गया। एक स्त्री रसोई वना रही थी। उसका वछडा भाग गया। स्त्री ने सोचा, वछडे को पकडकर लाऊ। फिर सोचा, क्यो जाऊ ? मुझे मत्र याद है। उसने मत्र का पाठ किया और देवी उपस्थित हो गयी। स्त्री ने कहा, 'देवी ! कोई सकट तो नही है। किन्तु मेरा वछड़ा भाग गया है। तुम उसे लाकर खूटे मे वाध दो।' देवी को आश्चर्य हुआ। वह भद्रवाहु के पास जाकर वोली, 'महाराज ! आपने क्या कर दिया है ? यह मत्र आपने क्यो दे दिया ? आज तो हमे वछडा वाधना पड रहा है, कल पता नही क्या करना पडेगा।'

यह जो अकर्मण्यता की वात है, अपने कर्म पर, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास न करने की वात है, हिन्दुस्तान के युवक को इस वीमारी से मुक्त होना चाहिए। अगर हमारे युवक इस वीमारी से मुक्त हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि सवसे वडी समस्या का समाधान हो गया।

इस सन्दर्भ मे मैं आचार्यश्री को देखता हू। ये प्रात चार वजे से लेकर रात

के दस-ग्यारह बजे तक काम मे जुटे रहते हैं। अगर किसी दिन दस बजे सो गए तो हम लोग सोचते हैं कि आज बहुत अच्छा हुआ। आचार्यवर निरतर श्रम और कठोर श्रम करते हैं। क्या हमारे देश का युवक इस कर्मण्यता को स्वीकार नही करेगा? आज अनेक समस्याए सुलझ सकती है, यदि हिन्दुस्तानी युवक मे कर्मण्यता आ जाए।

दूसरी बात है अनुशासन की। शक्ति तब तक सफल नही होती, जब तक अनुशासन नही होता। हमारे यहा स्वतत्रता का अर्थ अनुशासनहीनता जैसा बन गया है। अनुशासन और स्वतत्रता मे बहुत बडा अतर है। अनुशासनहीनता एक अलग चीज होती है और स्वतत्रता अलग। जो व्यवस्थित नही होता, जिसके जीवन का क्रम व्यवस्थित नही होता, जिसका मानस व्यवस्थित नही होता, वह कभी सफल नही हो सकता। जापान का उदाहरण आपके सामने है। जापान ने कितनी उन्नति की है। क्या आपने कभी सोचा है, उसकी उन्नति का कारण क्या है? एक व्यक्ति बता रहा था कि भारत की प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी जापान गयी थी। वे एक कारखाने को देखने के लिए गयी। उस कारखाने मे जो कर्मचारी थे, वे अपने कार्य मे तल्लीन थे। इधर प्रधानमत्री कारखाने का निरीक्षण कर रही थी और उधर कर्मचारी अपने कार्य मे व्यस्त थे। बहुत बार तो शायद हुआ कि उन्होने आख उठाकर भी नही देखा कि कौन आ रहा है? इस प्रकार का अनुशासन होता है, तब जीवन मे सफलता मिलती है। अनुशासन के बिना सफलता नही मिलती। और यह अनुशासन आ सकता है एकाग्रता के द्वारा। एकाग्रता को आज हमने बिल्कुल भुला ही दिया। आज हमारी शिक्षा-पद्धति मे, शिक्षा-सस्थानो मे और धर्मस्थानो मे भी एकाग्रता की बात को भुला दिया गया है। हमारी ध्यान की पद्धति थी, एकाग्रता की पद्धति थी, जिसके द्वारा लोग विकास करते थे, बडी-बडी साधनाए करते थे, उन्हे सचमुच आज भुला दिया गया। हिन्दुस्तान से ध्यान की पद्धति जापान में गयी, चीन मे गयी, और भी दूसरे देशो मे गयी। उन देशों ने विकास किया, आज भी कर रहे हैं, लाभ उठा रहे हैं और जहा से यह स्रोत निकला, उस हिन्दुस्तान ने सर्वथा विस्मृत कर दिया। आज कोई आवश्यक नही समझता कि ध्यान करना हमारे लिए जरूरी है, एकाग्रता हमारे लिए जरूरी है, सकल्प की दृढता हमारे लिए जरूरी है। इस एकाग्रता के अभाव मे अनुशासन कभी भी नही हो सकता।

शक्ति-सर्जन के लिए अनुशासन की आवश्कता है, कर्मण्यता की आवश्यकता है और एकाग्रता की आवश्यकता है। इन बातो को भुलाकर हम अपने आप मे सदिग्ध होकर उलझ जाते हैं। मुझे एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है—

पुराने जमाने की बात है। एक राजा को अपना प्रधानमत्री बनाने की आवश्यकता पडी। वह प्रधानमत्री किसको बनाए, इसी के सम्बन्ध मे उपाय सोचने

लगा। उसे एक उपाय सूझा। तीन व्यक्ति प्रधानमन्त्री बनने के लिए आए थे। राजा ने उन्हे सबोधित करते हुआ कहा, 'देखो! यह कोठरी है। इसमे तीनो उम्मीदवार आ जाएगे। कोठरी का दरवाजा बन्द करके ताला लगा दिया जाएगा। जो व्यक्ति भीतर से ताले को खोलकर बाहर आ जाएगा, उसे प्रधान-मत्री बना लिया जाएगा।' कितनी असभव और समझ से परे की बात है। भीतर आदमी बैठे है, बाहर ताला लगा हुआ है। उसे खोलकर बाहर आना है। तीनो उम्मीदवार अन्दर चले गए। ताला लगा दिया गया।

पहले व्यक्ति ने सोचा कि ताला खोलकर बाहर आना बिल्कुल असभव बात है, इसलिए वह तो अन्दर ही बैठ गया। दूसरा उठा तो सही पर सोचा कि परिश्रम करना तो मेरा काम है किन्तु ऐसी असभव शर्त है कि उसमे सफल नही हो सकूगा। बाद मे वह भी बैठ गया। तीसरे व्यक्ति ने सोचा कि अगर ऐसी शर्त रखी है तो उसमे रहस्य होगा। शर्त रखने वाला भी तो आदमी है। उसमे भी तो कुछ बुद्धि होगी, वह भी तो कुछ सोचता-समझता होगा। मैं देखू तो सही कि ताला कैसा है? वह आगे बढा। दरवाजे को खटखटाया और थोडा-सा धक्का देते ही दरवाजा खुल गया। ताला था किन्तु उसमे चाबी घुमाई नही गयी थी। चाबी घुमा दी जाती तो आदमी के वश की बात नही थी। राजा ने यही कहा था कि ताला होगा किन्तु ताले मे चाबी घुमाई होगी, यह नही कहा था। उसने धक्का दिया। दरवाजा खुल गया। बाहर निकल गया। बाहर निकलते ही प्रधानमत्री बन गया। जो ताले को खोलकर, समस्या को चीरकर बाहर आ जात है, उसके लिए प्रधानमत्री बनने मे कोई कठिनाई नही होती।

हमारे मे शक्ति होती है किन्तु बहुत बार हमारे सन्देह स्वय हमको खा जाते हैं। हम अपने पुरुषार्थ के प्रति सदिग्ध हो जाते है, अविश्वस्त हो जाते हैं। हमारा विश्वास लुप्त हो जाता है। हमारा मन दुर्बल हो जाता है। हमारी मेधा दुर्बल हो जाती है। हमारी धारणाए दुर्बल हो जाती है और हमारा सकल्प टूट जाता है। आदमी वही का वही बैठा रह जाता है। आज की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि हम ताले को खोलने के लिए पुरुषार्थ को काम मे लें।

मैंने तीन बातें आपके सामने प्रस्तुत की। आज के सन्दर्भ मे इसलिए प्रस्तुत की कि आचार्यश्री तुलसी के युवक व्यक्तित्व मे इन तीनो बातो का समावेश है। मैं आचार्यश्री के अनुशासन के बारे मे क्या बताऊ? हमारे सघ की मर्यादा है कि आचार्य भी दीक्षा-पर्याय मे अपने से बडे साधुओ को नीचे बैठकर वन्दना करते हैं। आचार्यश्री अस्वस्य थे। इतने अस्वस्थ थे कि डॉक्टरो ने हिलने-डुलने की भी मनाही कर रखी थी। उस स्थिति मे भी आचार्यवर प्रतिक्रमण करने के बाद पट्ट से नीचे उतरकर, दीक्षा-पर्याय मे अपने से बडे साधुओ को वन्दना करते। हम निवेदन करते थे कि इस स्थिति मे आप ऐसा क्यो कर रहे हैं? आचार्यश्री कहते

कि यह तो होना ही चाहिए। यह एक अनुशासन होता है, व्यक्ति के जीवन का, वह कोई थोपा नही जाता, जीवन मे स्वय उद्भूत होता है। यह अनुशासन, कर्मण्यता, एकाग्रता और पुरुषार्थ जो मैंने आचार्यश्री के जीवन मे देखा है, आज के भारतीय युवक मे विकसित हो जाए तो मुझे कोई सन्देह नही कि आने वाले पाच वर्षो मे भारत का वह दिन होगा, जो शताब्दियो मे नही हुआ।[1]

---

१ १४ दिसम्बर, १९७३ को 'युवक दिवस' के अवसर पर हासी (हरियाणा) मे प्रदत्त वक्तव्य।

युवकों की आस्था : एक प्रश्न, एक समाधान

एक यात्री जापान मे गया। उसने वहा के उद्यान देखे, अरण्य देखे, उपवन देखे। वह एक उपवन मे घूम रहा था। वहां देखा कि देवदारु के पेड तीनसौ-चारसौ फुट ऊचे खडे हैं। वे आकाश को छू रहे है। आगे जाकर उसने देखा कि देवदारु के कुछ वृक्ष अत्यन्त बौने हैं। उनकी ऊचाई केवल चार-पाच फुट ही है। माली से पूछा, 'यह क्या ? इतना अन्तर क्यो ? कुछ पेड तो चार सौ फुट ऊचे है और कुछ चार-पाच फुट ऊचे।' माली ने उत्तर दिया, 'जिनकी जडें काट दी जाती है वे चार-पाच फुट के रह जाते हैं और जिनकी जड़ें नही काटी जाती वे तीनसौ-चारसौ फुट के हो जाते हैं।'

श्रद्धा जड है। वह जिनकी कट जाती है वह चार फुट का रह जाता है, चार सौ फुट का कभी नही हो सकता। चार सौ फुट का वही वन सकता है जिसकी जडें मजवूत हो जाती हैं, धरती मे जम जाती हैं। आस्था का मतलव ही है—स्थिर होना, जडें जमा लेना। जो अपनी जडें नही जमा पाता, डावाडोल रहता है, चचल रहता है, वह वढ नही सकता। जैन परम्परा मे मोक्ष के तीन साधन वताए जाते हैं—दर्शन, ज्ञान और चरित्र। इनको हम एक रूपक से समझें। वृक्ष की जड है, वह दर्शन है, वृक्ष का तना है, वह ज्ञान है, और वृक्ष के पत्ते, फल और फूल हैं, वह आचार है। व्यक्ति मे तीनो होते हैं—दर्शन होता है, ज्ञान होता है और आचार होता है। श्रद्धा नहीं होती तो न दर्शन होता है, न ज्ञान होता है और न आचार होता है। श्रद्धा होती है तो दर्शन भी होता है, ज्ञान भी होता है और आचार भी होता है।

एक सस्कृत कवि ने लिखा है—

तत् कपेरपि कापेय, यत् स तिष्ठत्यचञ्चलम् ।

—वन्दर जव भी स्थिर होकर वैठ जाता है तो वडी अद्भुत वात लगती है कि वन्दर और वह भी स्थिर होकर वैठ गया। कवि कहता है कि यह भी वन्दर की चपलता ही है। यह भी उसकी चचलता का ही एक अग है कि वह स्थिर होकर

बैठा है। इसे स्थिरता नहीं समझनी चाहिए।

युवावस्था में तीन प्रकार की चपलताएं होती हैं—स्वभाव की चपलता, बुद्धि की चपलता और मन की चपलता। तीनों चपलताओं का योग जहां मिल जाए और वहां हम आस्था की बात करें यह कैसे सम्भव हो सकता है? जब तक अनुभव का परिपाक नहीं है तब तक आस्था हो या न हो, क्या फर्क पड़ेगा? किन्तु क्या मैं यह कहूं कि बूढ़ों में आस्था होती ही है? यह भी उतना ही जटिल प्रश्न है। मैंने ऐसे सैकड़ों-सैकड़ों बूढ़े देखे हैं जिनमें आस्था का नाम तक नहीं होता। अनेक बार लोग कहते हैं, अमुक व्यक्ति आया यहां चरणों में सिर रखा, और बाहर जाते ही उसने गुरु और धर्म की आलोचना शुरू कर दी। क्या आस्था और वृद्धावस्था का कोई अनुबन्ध है? मुझे कोई अनुबन्ध दिखाई नहीं देता। आस्था का अपना एक स्थान है। वह बूढ़े में हो, यह जरूरी नहीं है। बूढ़े में सब कुछ ठंडा पड़ जाता है। रक्त ठंडा पड़ गया, मन की चपलता मिटी नहीं पर ठंडी जरूर पड़ गई, शरीर ठंडा पड़ गया, इन्द्रियां ठंडी पड़ गयीं, चिन्तन ठंडा पड़ गया, फिर भी आस्था नहीं आएगी। शायद इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—चार चीजें दुर्लभ होती हैं। उसमें पहली है—मनुष्यता। मानवता दुर्लभ है। दूसरी बात है—श्रुति अर्थात् सत्य का सुनना। यह भी दुर्लभ है। तीसरी बात है, श्रद्धा। सत्य में श्रद्धा होना भी दुर्लभ है। तो आस्था बहुत दुर्लभ तत्त्व है, सहज ही प्राप्त नहीं होता। बहुत बार ऐसा होता है कि आस्था नहीं होती, आस्था का भ्रम हो जाता है और इस भ्रम को तोड़े बिना आस्था प्रकट ही नहीं होती। हम हजारों-हजारों व्यक्तियों को सामने रखें, तो उनमें आस्थावान् मुश्किल से इने-गिने लोग मिलेंगे। बहुत सारे ऐसे मिलेंगे जिन पर आस्था का मुखौटा हैं, आस्था का भ्रम है। अनास्थावान् को भी हम आस्थावान् मानते चले जा रहे हैं, इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा था, 'जिनमें दृढ़ आस्था हो, वे थोड़े लोग मिलेंगे।' उन्होंने इस बात को काव्य के सुन्दर रूप में समझाया है। वन में बहुत काठ होता है पर चन्दन कहीं-कहीं मिलता है। पत्थर सब खानों में होता है, पर रत्न किसी-किसी खान में मिलता है। आस्था किसी-किसी व्यक्ति में मिलती है। हम यह न मानें कि आस्था इतना सरल तत्त्व है कि हर किसी में मिल जाए।

आस्था दो प्रकार की होती है—नैसर्गिक और प्रयत्न-जन्य। आचार्य उमास्वामी ने लिखा है—कुछ लोगों में आस्था नैसर्गिक होती है, प्रयत्न नहीं करना होता, सहज आस्था होती है और कुछ लोगों में ज्ञान के द्वारा आस्था करायी जाती है। मुझे याद है मेरी अपनी घटना। कालूगणी विराज रहे थे सोमासर में। मैं और मुनि बुद्धमल्ल, दोनों पास में बैठे थे। कालूगणी ने हमें एक दोहा सिखाया—

हर डर गुरु डर गाव डर, डर करणी मे सार।
तुलसी डरै सो ऊवरै, गाफिल खावै मार॥

यह तुलसीदास का दोहा है। इसका अर्थ आप जान ही गए है कि भगवान् से डरो, गुरु से डरो, गाव से डरो, और डर मे वडा सार है। डरता है वह उवर जाता है और जो नही डरता, गाफिल रहता है। वह मार खा जाता है। हम वहुत छोटे थे। तव तुलसी का साहित्य नही पढा था। हमने तुलसी का नाम सुना था। कौन तुलसीदास है यह नही जानते थे। हम तो जव दीक्षित हुए तव तुलसी के पास आये थे, तुलसी को ही जानते थे, दूसरे तुलसी को जानते ही नही थे। हमने यही समझा कि कालूगणी ने हमे यही सिखाया है कि—जो तुलसी से डरता है वह तो उवर जाता है और जो नही डरता वह मार खा जाता है।

सचमुच आस्था का एक अनुवन्ध हो गया। आस्था यदि नैसर्गिक हो तो सवसे अच्छी वात है। और यदि नैसर्गिक न हो तो आस्था को उत्पन्न भी किया जा सकता है। मैं एक चक्र देख रहा हू। तर्कशास्त्र मे एक चक्र होता है तर्क का। कर्मशास्त्र मे एक चक्र होता है—ससार का, कर्म का। आस्था का भी एक चक्र है। वह है—प्रीति, आस्था, अनुशासन और प्रीति।

किसी का हित साधन किए विना आप आस्था को पैदा नही कर सकते। दुनिया मे वे वहुत कम लोग जन्म लेते हैं, जिनकी सत्य के प्रति आस्था होती है। ऐसे लोग करोडो मे मुश्किल से दो-चार खोजे जा सकते है जिनकी सत्य के प्रति, भगवान् के प्रति, धर्म के प्रति इतनी नैसर्गिक आस्था होती है कि वे किसी लाभ या किसी आशसा की भावना नही रखते। आप किसी दूसरे का हित-साधन करें, आपके प्रति उसके मन मे कृतज्ञता का भाव पैदा हो जाएगा। यह प्रीति और कृतज्ञता। कृतज्ञता एक ऐसा अनुवन्ध है कि व्यक्ति के मन मे आस्था पैदा कर देता है। धर्म के प्रति आस्था हमारी इसलिए है कि धर्म से हमारी आत्मा का भला होता है। धर्म के प्रति वहुत सारे लोगो की आस्था इसलिए है कि वे मानते है कि धर्म से उनका सकट टल जाएगा, कठिनाइया टल जाएगी, समस्याए सुलझ जाएगी। गुरु के प्रति आस्था इसलिए है कि गुरु हमे मार्ग दिखाएगे। हमारी समस्याओ का समाधान मिल जाएगा। जहा कोई लाभ दिखायी नही देता, जहा वाधनेवाला कोई तत्त्व नही है वहा वधा हुआ कोई नही रह सकता। आपने फल को देखा है, जो वृक्ष पर वधा रहता है पर वृक्ष और फल के वीच मे एक होता है वृन्त। आम लटक रहा है। पेड है। वीच मे एक वृन्त है जो कि फल को वाध रहा है। एक ऐसा ही वृन्त होना चाहिए प्रीति का जो कि आस्था को वाध रखे।

आप सामाजिक प्राणी है और धर्म के क्षेत्र मे आगे है। एक समाज और एक फल—ये दो चीजें सामने हैं। भगवान् महावीर ने एक वहुत सुन्दर सिद्धान्त

दिया—जहा अतो तहा वाहि, जहा वाहि तहा अतो—सत्य भीतर भी है और वाहर भी। सत्य वाहर भी है और भीतर भी। एक सुन्दर रूपक उपस्थित किया गया है कि कुछ लोग ध्यान करते हैं आंखो को मूदकर। चारवाक् कभी नही ध्यान करता आख को हमेशा खुली रखता है। महावीर हमेशा ध्यान करते हैं अधखुली आखो मे। अधखुली आखें। यह क्यो? महावीर की प्रतिमा मे यह क्यो? आखें अधखुली क्यो? तो महावीर ने कहा, 'सत्य वाहर भी है और भीतर भी है। सत्य भीतर भी है और वाहर भी।' आखें खुली हैं, वाहर के सत्य को भी देखो। आखें वन्द हैं, भीतर के भी सत्य को देखो। चारवाक् आख हमेशा खुली रखता है। उसे कभी ध्यान करने की आवश्यकता नही। वह मानता है सत्य वाहर ही है, भीतर कोई सत्य नही। और जो लोग आख मूदकर ध्यान करते हैं, वे मानते हैं कि सत्य भीतर ही है, वाहर तो मिथ्या ही मिथ्या, झूठ ही झूठ है। महावीर ऐसे नही थे। उन्होंने व्यवहार को महत्त्व दिया। उन्होंने सगठन को महत्त्व दिया। उन्होंने समुदाय को महत्त्व दिया और उतना ही अन्तर् को, भीतर को, सत्य को महत्त्व दिया। ये समन्वय का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले जैन लोग, समन्वय के दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले महावीर के अनुयायी! इस वात को नही भुला सकते कि भीतर को खोजना है तो वाहर को भी सवारना होगा। कुछ लोग धर्म की तो वहुत वात करते हैं किन्तु जहा समाज का प्रश्न, जहा व्यवस्था का प्रश्न, या सगठन का प्रश्न और अनुशासन का प्रश्न होता है वहा कह देते हैं—हमे इससे क्या मतलव, हम तो धर्म की वात करते हैं। ये कैसे होगा? उन्होंने महावीर को समझा नही है। समूची धर्म की परम्परा मे, यह सघवद्ध धर्म करने का यदि किसी ने प्रचलन किया इतिहास के अनुसार तो पार्श्वनाथ भगवान् ने किया। प्रागैतिहासिक वात को मैं छोड़ देता हूं। ऐतिहासिक काल मे यह माना जाता है कि सघवद्ध साधना का प्रारम्भ भगवान् पार्श्व ने किया था। इसलिए हमारे यहा 'सघ शरण'—सघ के शरण की वात आती है। अभी जो 'समणसुत्त' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, उसमे सघ के माहात्म्य का एक पूरा प्रकरण है।

आस्था का अनुवन्ध सघ की भलाई करने से होगा। अपनी भलाई मे आस्था उत्पन्न नही होगी। अपनी भलाई के साथ-साथ समाज की भलाई करने मे आस्था का अनुवन्ध होगा। आप लोग अपना धर्म तो करना चाहते हैं। सगठन भी करना चाहते हैं। पर दूसरो का भला करना नहीं चाहते। और आस्था का अनुवन्ध भी चाहते हैं, यह शायद सभव वात नही होगी।

प्रीति से आस्था और आस्था से स्वय अनुशासन पैदा होता है। और अनुशासन से फिर आस्था को वल मिलता है। इसे वरावर आप ध्यान मे रखिए। प्रीति होगी तो आस्था होगी. आस्था होगी तो अनुशासन होगा और अनुशासन होगा तो फिर प्रीति को वल मिलेगा। मैं नहीं सोचता कि आस्था की वात को इतना

महत्त्व देना चाहिए। किन्तु मे यह भी नही मानता कि आस्था की वात को महत्त्व नही देना चाहिए। दोनो जुडी हुई वात हैं। अगर आस्था को महत्त्व नही दिया जाता तो आस्था से हटकर लोग उस प्रकार विखर जाते हैं जिनसे कि कभी अनुशासन की कल्पना नही की जा सकती। आचार्य भिक्षु ने तेरापथ धर्म-सघ को सगठित किया किस आधार पर ? एक आस्था उत्पन्न की उन्होंने। और वह आस्था थी—यह सगठन तैयार किया जा रहा है चरित्र को शुद्ध पालने के लिए। इस एक लक्ष्य के आधार पर सारे सग की आस्था उत्पन्न की। क्या विना आदर्श और विना किसी ऊचे सिद्धान्त के आस्था पैदा की जा सकती है ? आस्था को सुरक्षित रखा जा सकता है ? कभी नही। मैं चाहता हू कि आस्था का भ्रम टूटे। वहुत सारे लोगो को यह भ्रम तोडना चाहिए। अनास्थावान् व्यक्ति उस व्यक्ति से वहुत अच्छा है जो अपने आप मे अनास्था होते हुए भी आस्था का भ्रम पालता है। माता ने कहा, 'वेटा, यह लड्डू का वरतन पडा है। रोज एक लड्डू खा लेना। दो मत निकालना। जिस दिन दो निकालोगे उस दिन भूत तुम्हारा हाथ पकड लेगा।' वच्चा गया। लड्डू का लोभ और खुली छूट थी उसे कि लड्डू चाहे जितने खा लो उसमे मे निकालकर अपने आप। उसने हाथ डाला और दो या तीन लड्डू निकालने का प्रयत्न किया। दो या तीन लड्डू पकडे और निकालना शुरू किया। हाथ निकल नही पाया वर्तन से। वच्चे ने सोचा—जरूर भूत ने हाथ पकड लिया है। हाथ नही निकल रहा है। उसने सारे लड्डू डाल दिए। एक लड्डू निकाला और खा लिया। मा के पास आया और आकर वोला, 'मा, तुमने ठीक कहा था। तेरी वात वहुत सच्ची होती है। मैंने दो लड्डू निकालने का प्रयत्न किया तो भूत आया, मेरा हाथ पकड लिया।' एक आस्था वन गयी—एक आस्था का भ्रम हो गया। वर्तन का मुह छोटा था। दो निकाल कैसे सकता था ? नही निकाल सकता था, पर वच्चे के मन मे एक ऐसा भ्रम पैदा हो गया कि मा जो कहती है वह वात ठीक उतरती है।

वहुत वार हमारे मन मे भी आस्था का एक भ्रम होता है। इन पचीस वर्षो मे कुछ परिवर्तन हुए तो नयी वातें देखने को मिली। मुझे ऐसा लगा कि जो सवसे आगे आस्था का आसन विछा रहे थे, वे शायद सवसे पीछे खिसक गए। जो आचार्यवर के वहुत निकट थे और तेरापथ के वारे मे, तेरापथ के आचार्यों के वारे मे कोई उतरती वात करे तो उन्हे शायद क्रोध आ जाता था और शायद लडने को तैयार हो लेते थे, लड मरते—वे भी इधर-उधर की उल्टी-उल्टी वातें करने लगे। मैंने सोचा कि हुआ क्या ? अपने आपको इतने दृढधर्मी, इतने दृढ आस्थावान्, इतने श्रद्धालु मानते थे और आज उनको यह क्या हो गया ? कुछ वर्ष पहले की वात है, दो वूढी वहनें मेरे पास आयी। वडी श्रद्धालु अपने आपको मानती थी। उन्होंने कहा, 'महाराज ! हम सुन रहे हैं कि प्लस का प्रयोग होने

वाला है।' मैंने कहा, 'भाई! मुझे तो पता नहीं।' उन्होंने कहा, 'हमने सुना है कि चर्चा चल रही है और प्रयोग होने वाला है। पर हम कहना चाहती हैं कि अगर यह प्रयोग हुआ तो फिर तो हम आना-जाना ही छोड़ देंगी।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। क्या उन्होंने सत्य को समझ लिया? शायद उन्होंने सत्य को समझ लिया। और उन्होंने यह दावा किया है कि हम जो जान रही हैं वही सत्य है और इससे एक इंच इधर-उधर हुआ तो बस हमारी आस्था टूट जाएगी। क्या आस्था कभी गलने वाली होती है? मैं तो अभी समझ नहीं पाया। जहां तालाब हो, बांध हो और साथ में बांध की पाली में छेद भी हो, मैं तो अभी तक कहीं नहीं देख पाया। होता है तो गांव को खतरा है। कहीं आपने देखा हो कि भाखड़ा का बांध और उसकी मजबूत दीवार के साथ-साथ बड़े-बड़े छेद भी साथ में हैं। एक भी हो जाए तो पंजाब को खतरा हो जाए। हरियाणा को खतरा हो जाए। आज तक नहीं होता कि बांध की पाली में कहीं छेद हो। आस्था में भी कोई छेद होता है क्या? आस्था में भी कोई गर्त होती है क्या? अगर आप यह करो तो हम आपको मानेंगे, अन्यथा आप आप और हम हम, फिर यूयं यूयं, वयं वयं। तुम तुम और हम हम। मैं नहीं समझ सका कि यह कैसी आस्था होती है।

आस्था का अर्थ है—सत्य के प्रति समर्पण। सत्य के प्रति समर्पण किसी व्यक्ति के प्रति समर्पण नहीं होता। आस्था किसी व्यक्ति के प्रति नहीं होती किन्तु सत्य के प्रति होती है। जो लोग अपने आपको इस भ्रांति में पालते हैं कि मैं अमुक व्यक्ति के प्रति आस्थावान् हूं, मैं नहीं मानता कि वह सचाई के रास्ते पर चल रहा है। उस व्यक्ति के प्रति हमारी आस्था हो जाती है जो स्वयं सत्यमय बनकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। जो स्वयं सत्यमय बनकर हमारे सामने प्रस्तुत नहीं होता उसके प्रति हमारी आस्था नहीं होती।

आज हमें बदलते हुए वर्तमान के संदर्भों में और वर्तमान के चिन्तनों में, आस्था के प्रश्न पर पूरा विचार करने की जरूरत है। मैं नहीं मानता कि तर्क करना उचित नहीं होता। मैं नहीं देखता कि बौद्धिक अपेक्षा नहीं होती। बौद्धिकता की अपेक्षा होती है। तर्क की अपेक्षा होती है। चिन्तनकी अपेक्षा होती है। पर इन सबके नीचे जो होना चाहिए वह है आस्था का अनुबन्ध। जो श्रद्धाशील नहीं होता, उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गीता में कहा है, 'श्रद्धालु को ज्ञान प्राप्त होता है और जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही हो जाता है।' भगवान् महावीर ने कहा, 'जो मेधावी होता है वह ज्ञान के प्रति, आज्ञा के प्रति श्रद्धावान् होता है।' हम आस्था के प्रश्न को गौण नहीं कर सकते। आप लोगों ने आस्था के संदर्भ में आचार्यवर के एकाशन के प्रश्न को भी देखा। मैं सोचता था—आस्था के संदर्भ में एकाशन के प्रश्न को देखें। तो साथ-साथ चिन्तन के संदर्भ में भी उस प्रश्न को देखें। आपको पता है कि भारीमालजी स्वामी

ने तेला किया था। किसलिए? पिता उनको अपने साथ ले जाना चाहते थे और भारीमालजी स्वामी भिक्षु स्वामी के साथ रहना चाहते थे। प्रश्न आया। दोनो स्वामीजी के पास आए। कृष्णोजी वोले, 'मैं अपने वेटे को ले जाऊगा।' स्वामीजी ने कहा, 'वेटा तुम्हारा है, ले जाओ। मुझे कौन-सा रखना है। तुम जानो, वेटा जाने।' अव भारीमालजी स्वामी के सामने प्रश्न था, इधर वाप और उधर सत्य। प्रश्न है पिता और सत्य के वीच का चुनाव करना। तो वाप के साथ रहू या सत्य के साथ रहू? उन्होंने निश्चित किया कि सत्य के साथ रहूगा। किन्तु पिता हैं, वलात् ले जा रहे हैं। कैसे होगा? उन्होने सकल्प किया कि जव तक पिता सत्य के साथ जाने की मुझे स्वीकृति नही देंगे तव तक मैं भोजन नहीं करूगा। एक दिन वीता, दो दिन वीते, तीन दिन वीते। पिता का मन पिघल गया। पिता था, पिघल गया कि वेटा भूखा है, खाता नही। वहुत समझाया। कहा, 'खाऊगा तो भिक्षु स्वामी के हाथ का ही खाऊगा, नही तो नही ही खाऊगा।' तीन दिन वाद आए। आकर वोले, 'महाराज, लो, इसे भोजन कराओ। तीन दिन का भूखा है।' सौंप दिया। भिक्षु स्वामी के पास आए और तीन दिन का पारणा किया। आप इस वात को मत जोडिए कि कौन वहुमत है और कौन अल्पमत है। कोई भी प्रयोग होता है, सकल्प होता है, वह न अल्पमत के लिए होता है और न वहुमत के लिए। वह न थोडे के लिए होता है, और न वहुत के लिए होता है। वह होता है—सत्य के लिए। पर मुझे लगता है कि वह एक दिन ऐसा योग था कि वहा पिता था और उसका दिल पसीज गया। यहा कोई पिता नही है, यह एक कठिनाई है। पिता का पितृत्व, पिता का स्नेह यहा नहीं है, इसलिए दिल पसीजा नही है लोगो का। तो शायद आचार्यवर सत्य के साथ चल रहे हैं। सत्य का प्रयोग है और वह सत्य के साथ चल रहा है। वहुत सारे लोगो का दिल पसीजा है और उन्होने अपना समर्पण किया है। किन्तु कुछ लोगो मे लगता है कि पितृत्व अभी जागा नही है। शासन के प्रति जो उनकी आस्था है वह सच्चे अर्थ मे जागी नही है।

आस्था आवश्यक है। हमारे विकास के लिए आस्था जरूरी है। एक वात को आप याद रखें, आस्था को स्वय न वाधें। एक जीर्ण-शीर्ण और पुराने वृक्ष ने पृथ्वी से कहा, 'तुमने मेरा पोषण वन्द कर दिया।' पृथ्वी ने कहा, 'भले आदमी, तुमने अपनी जडें स्वय सुखा दी और दोष मुझ पर लगा रहे हो कि मेरा पोषण वन्द कर दिया।' कुछ लोग कहते हैं कि आचार्य के प्रति हमारे मन मे यह भाव तब आया है, जव आचार्यश्री ने हमे वह वात्सल्य नही दिया जो देना चाहिए था। मैं उस पृथ्वी की वात को दोहराऊगा कि भले आदमी, तूने अपनी जड स्वय सुखा दी और दोष पृथ्वी को देता है कि वह मुझे पोषण नहीं दे रही है। हम इस स्थिति को वहुत गहराई से समझें। आस्था को समझें। आस्था की अनिवार्यता को समझें और आस्था को पैदा करने के तरीको को समझें। और अपनी जडो के भीतर मे

जाए, गहरे में जाए और उन्हें सूखने न दें। इतना अनुबन्ध हमने किया, उनमें छेद नहीं होने दिया, तो मुझे लगता है कि हमारा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। तेरापंथ संघ का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। आचार्य तुलसी का नेतृत्व हमारे लिए बहुत उज्ज्वल है और सब मिलकर एक ऐसा वातावरण बनाएं कि हम स्वयं आस्थावान् होंगे और विश्व को भी आस्था का पाठ पढ़ा सकेंगे।[1]

१ जयपुर में अ० भा० तेरापंथ युवक परिषद् के नवम वार्षिक अधिवेशन पर दिया गया वक्तव्य।

युवक का कर्तव्य-बोध

हम धर्म की बात सोचते हैं तो वह देशातीत और कालातीत बात होती है। उसमे काल की कोई मर्यादा नही होती। न कोई बालक, न कोई बूढा और न कोई युवक। किन्तु जहा व्यवहार की क्रियान्विति का प्रश्न होता है, वहा देश को भी मानना होता है और काल को भी मानना होता है। उन दोनो से हटकर हम व्यवहार को नही चला सकते, कोई भी क्रियान्विति नही कर सकते।

'युवक' शब्द भी एक काल की सज्ञा को सूचित करता है। यौवन दो अवस्थाओ के बीच एक शक्ति की अवस्था है। बालक मे क्षमताए होती हैं किन्तु विकसित नही होती क्योकि उसका शरीर-तन्त्र समर्थ नही होता। बूढे मे शरीर-तन्त्र और क्षमताए—दोनो विकासातीत हो जाती है, विकास से परे चलने लग जाती हैं। उसके शरीर की बहुत सारी कोशिकाए समाप्त हो जाती हैं। मस्तिष्क की बहुत सारी कोशिकाए खप चुकती हैं और शरीर का तन्त्र शिथिल हो जाता है। उसमे अनुभव होते हुए भी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। इन दोनो के बीच की अवस्था है—'यौवन'। युवा दोनो के बीच मे है। उसमे शरीर की क्षमता भी है और क्रियान्विति की क्षमता भी। इसीलिए युवक एक शक्ति का या शक्ति की अभिव्यक्ति का स्रोत होता है। इसलिए युवक से बहुत आशाए होती हैं। कोई भी देश कोई भी समाज, कार्य-क्षमता का जहा प्रश्न है, वहा युवक को आगे रखता है। चाहे देश-रक्षा का कार्य हो, चाहे समाज-सेवा का कार्य हो, चाहे और कोई दूसरा, तीसरा, चौथा कार्य हो, युवक की अपेक्षा होती है। किन्तु आप जानते हैं कि युवक के लिए भी बहुत कठिनाई है। कठिनाई इसलिए कि एक ओर उसके शरीर के सारे उपकरण बहुत सक्रिय होते हैं। रक्त भी बहुत तेज बहता है। दूसरी ओर दुनिया का वातावरण उसके प्रतिकूल भी हो सकता है और होता भी है। उन दोनो मे सामजस्य स्थापित करना, दोनो के साथ सगति जुटा लेना बहुत कठिन बात है और यही सघर्ष आज सारी दुनिया मे चल रहा है। आज के साहित्य का एक शब्द है—'भोगा हुआ यथार्थ'। हमे केवल कल्पना के जीवन मे नही जीना है। युवक मे बहुत कल्पनाए उभरती हैं। उसका घरेलू पक्ष उसके अभिभावको के हाथ मे

होता है। समाज का क्षेत्र कुछ पुराने कार्यकर्त्ताओ के हाथ मे होता है। तो युवक के लिए कल्पना करने का वहुत अवकाश रहता है। किन्तु आप निश्चित मानिए कि कल्पना तव तक अर्थवान नही होती जव तक कि 'भोगे हुए यथार्थ' पर हम नही चल पाते। हमारा जीवन यथार्थ का होना चाहिए। हमारे पैरो के तले क्या है, इस वात का भी हमे वोध होना चाहिए। एक था ज्योतिपी, खगोलशास्त्री। वह इतना आकाश से सम्वद्ध था कि उसकी दृष्टि और उसका सारा व्यवहार आकाश-दर्शन मे ही लगता था। रात होती और उसकी भावनाए उमड जाती। चाहे वह वैठता, चाहे खडा रहता, चाहे टहलता, चाहे खाता, दृष्टि आकाश पर लगी रहती। वह चल रहा था, आखें आकाश मे थी। चलता चला, चलता चला। थोडा आगे गया और गढा आ गया। वह गढे मे गिर पडा। गढे मे कीचड़ था। गढा गहरा भी था। उसमे गिरते ही वह चिल्लाया, 'वचाओ, वचाओ !' पडोसी आया। उसने देखा, स्वय ज्योतिपी गढे मे गिरे पडे हैं। उसने उन्हे यह कहते हुए निकाला, 'महाशय ! आकाश को इतना देखते है, इतनी ऊचाई पर देखते हैं तो जरा पैरो की तरफ भी नीचे देख लिया करें।'

पैरो के नीचे देखना वहुत वडी वात है। यह यथार्थ की वात है कि हम किस भूमि पर चल रहे हैं। हमारे पैरो के नीचे क्या है ? हमारी भूमिका क्या है ? हमारी सारी कल्पनाए तव तक अर्थवान् नही होती, मूल्यवान् नही होती जव तक कि हमे यथार्थ का वोध नही होता, अपने ही पैरो के नीचे की भूमि का वोध नही होता। होना वहुत जरूरी है, वहुत आवश्यक है। यथार्थ पर चले विना कोई भी आदमी आगे नही वढ सकता। उसके लिए गढे वहुत है। दुनिया मे इतने गढे हैं कि पग-पग पर उसमे गिर पडने की सभावना वनी रहती है। गढो को पार कर वही आगे वढ सकता है जो यथार्थ की आख से अपने पैरो के नीचे के धरातल को देखकर चलता है। आज युवको को भी यह सोचना है कि उनके पैरो के नीचे धरातल क्या है ? आज की सामाजिक परिस्थिति, आज की राजनैतिक परिस्थिति और आज की धार्मिक परिस्थिति—तीनो परिस्थितिया हमारे सामने हैं। आप जानते हैं कि दुनिया का जो वातावरण होता है, कोई भी समाज और कोई भी युवक उससे कटा रहकर चल नहीं सकता। वह उसके सन्दर्भ मे जीता है और उससे लेता है। कोई भी उससे वच नही सकता। जो व्यक्ति व्यवहार मे चलता है, वह स्वय अपनी क्रिया मे प्रतिक्रिया को प्राप्त होता है और दूसरे को प्रतिक्रिया देता है। वह प्रभावित होता है और प्रभावित करता है। अलग कोई नही रह सकता। हम भी प्रभावो को ग्रहण करते है और आप भी प्रभावो को ग्रहण करते हैं किन्तु आने वाले प्रभावो से अपनेआप को कितना वचा सकते हैं और कितना लाभ उठा सकते हैं, यह है यथार्थ की भूमिका। यदि हम इस भूमिका पर वास्तव मे चलें तो जो प्रभाव आ रहे हैं उनसे लाभ उठा सकते हैं।

लाभ उठाना बहुत जरूरी है, क्योकि मैं मानता हू कि वर्तमान मे बहुत सारी चीजें ऐसी अच्छी है जो पुराने काल मे नही थीं। उन चीजो से हमे लाभ भी उठाना चाहिए। कुछ चीजें व्यर्थ होती हैं, उनसे अपने आपको बचाना चाहिए। ये दोनो बातें बराबर होनी चाहिए। उसके लिए यथार्थ की भूमिका पर चलना बहुत जरूरी है। आज देखिए, युवक का मतलब एक 'क्रान्ति' से जुड गया। क्रान्ति के साथ-साथ एक उत्तेजना से जुड गया, आवेश से जुड गया। आवेश और युवक एक-दूसरे के पर्याय जैसे हो गए। एक बार डॉ० कोठारी से मैं बात कर रहा था। मैंने पूछा, 'आज के विश्वविद्यालयों मे इतने उग्र आदोलन हो रहे हैं, तो क्या आप इनसे सहमत है ?' उन्होंने कहा, 'देखिए महाराज ! मैं मानता हू कि आज व्यापारी-वर्ग मे कोई क्षमता नही है। राज्य-कर्मचारियो मे तो है ही नही कि वे बुराई का प्रतिकार कर सकें। आज कितना अन्याय चल रहा है। आज एकमात्र प्रतिकार की शक्ति किसी मे है तो वह है युवक और विद्यार्थी मे। विद्यार्थी ही सचमुच क्रान्ति कर सकता है और उसमे वह क्षमता भी है। इसलिए विद्यार्थी की क्षमता को और उसकी क्रान्ति करने की शक्ति को हमे नही कुचलना है, नही रोकना है। मैं युवक के इस पक्ष का समर्थक हू। किन्तु इतना जरूर है कि आवेश के स्थान पर थोडा सन्तुलन, थोडा विचार और थोडा विवेक होना चाहिए।' उनकी शक्ति को रोकना नही है। शक्ति का उपयोग करना है और शक्ति का उपयोग होना भी चाहिए। इडोनेशिया मे जो कुछ परिवर्तन हुआ, उसकी पृष्ठभूमि मे युवक वर्ग था। विद्यार्थियो ने सारे शासन को पलट दिया। आज ऐसा कही भी हो सकता है। यदि आज के समूचे विद्यार्थी, हिन्दुस्तान के करोडो-करोडो विद्यार्थी अगर एक बात को पकड लें तो शायद हिन्दुस्तान की भी कायापलट हो सकती है। किन्तु मुझे लगता है कि शक्ति का सही नियोजन नही हो रहा है। शक्ति का सही दिशा मे नियोजन हो और उसके साथ विवेक और सन्तुलन हो और सही मार्गदर्शन हो तो उसकी सभावनाए बढ सकती हैं। आज निर्माण की अपेक्षा है। किन्तु आप निश्चित मानिए कि निर्माण तब तक नही होगा जब तक कि चरित्र का विकास नही होगा। आज हिन्दुस्तान की सारी कठिनाई, सारी गरीबी इस बात पर पल रही है कि यहा भ्रष्टाचार बहुत है। पुल बनता है तो एक ही वर्षा मे टूट जाता है। बाध बनता है तो एक ही वर्षा मे दरारें पड जाती हैं। मकान बनता है तो काम बाद मे आने से पहले ही ढह जाता है। यह सारा इसलिए होता है कि सभी क्षेत्रो मे भ्रष्टाचार खुलकर चल रहा है। आज धन के प्रति इतना व्यापक मोह है कि जो होना चाहिए उसका उल्टा परिणाम आ रहा है। मैं यह स्पष्ट अनुभव करता हू और मानता हू कि धन का मोह जितनी पुरानी पीढी मे है उतना आज के युवक मे नही है। यह देखा है कि बेटा नही चाहता कि मैं रिश्वत लू किन्तु पिता प्रेरित करता है कि जब सब ले रहे हैं तो तुम्हे लेने मे क्या कठिनाई है ? बडा आश्चर्य

है। पिता बूढा है, मौत के सिरहाने है, उसे अब चल बसना है। फिर भी धन के प्रति उसका लगाव अभी नही घटा है।

मुझे एक परिवार की घटना याद आ रही है। पुत्र की शादी का प्रसग था। पुत्र चाहता था कि उस घर मे उसकी शादी न हो, उसका सम्बन्ध न हो, क्योंकि लडकी उसे पसन्द नही है। पर पिता यही चाहता था कि शादी उसी घर मे, उसी लडकी से हो। कारण, वहा से धन की अधिक सभावना है और जहा पुत्र शादी करना चाहता है वहा से कुछ भी आने की सभावना नही है। जो पिता मृत्यु के सिरहाने है, जिसके सिर पर मौत मडरा रही है, वह धन की बात सोच रहा है। लडका धन की बात नही सोचता। पता नही शादी धन को करनी है या लडके को करनी है। मुझे यह लगता है कि आदमी जैसे-जैसे मौत के नजदीक जाता है, वैसे-वैसे धन का व्यामोह बढता चला जाता है। वह यह स्पष्ट जानता है कि धन साथ मे नही जाएगा, फिर भी वह इस मोह को छोड नही सकता। अनेक उदाहरण और घटनाए मेरी आखो के सामने हैं जिनके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि धन का मोह जितना पुरानी पीढी मे है उतना आज के युवक मे नही है। भ्रष्टाचार का रोग जितना पुरानी पीढी मे है, आज की पीढी मे नही है। आज के युवक मे राष्ट्रीयता की भावना है। अपेक्षाकृत राष्ट्रीय प्रेम भी कुछ बढा है, जबकि पुराने लोग इस बात का अनुभव नही करते। जहा राष्ट्रीय प्रेम है, राष्ट्र के प्रति अपनत्व है और कुछ परिवर्तित मूल्यो और मानदण्डो का विवेक है वहा धन का अधा अनुसरण और धन का अधा व्यामोह नही हो सकता। आज के युवक मे काफी अच्छाइया है। इनके होते हुए भी यह जो आवेश की बात है, तात्कालिकता की बात है और तात्कालिक निर्णय लेने की बात है उसमे कुछ कठिनाई हो रही है। आज के युवक को यथार्थ की भूमिका का अनुभव करना चाहिए। पहली बात है कि केवल बातो पर भरोसा नही, कार्यक्षमता मे विश्वास होना चाहिए। यह मैं अनुभव करता हूं, आज भी हिन्दुस्तानी युवक मे बातें ज्यादा हैं, काम कम है। आप दूसरे देशो की तुलना मे देखिए। एक व्यक्ति बता रहा था कि अमरीकी लोग सप्ताह में दो दिन तो पूरी छुट्टी मनाते हैं, किन्तु पाच दिन वे निष्ठापूर्वक तन्मयता से काम करते हैं। जितना काम वे पाच दिन मे करते है, उतना हिन्दुस्तानी युवक शायद पाच सप्ताह मे नही कर सकता। यह कोई सुनी बात नही है। जिस व्यक्ति का यह अनुभव था, वह स्वय बता रहा था। केवल बातो से कुछ नही बनता।

एक कवि किसी सेठ के पास गया। सेठ की काफी प्रशसा की। सेठ ने खुश होकर कहा, 'मेरे पास रुपये नही है। अनाज का भडार भरा हुआ है। तुम कल आना। मैं तुम्हें अन्न के भडार मे से कुछ अनाज दे दूगा।' कवि भी प्रसन्न होकर चला गया। दूसरे दिन सवेरे-सवेरे कवि सेठ के घर आया। कवि को देखकर सेठ बोला, 'इतने सवेरे आ गए? कैसे आए?' कवि ने कहा, 'आपने कल कहा था,

कि अभी मेरे पास कुछ नही है। कल आना, मैं अन्न-भडार से अनाज दूगा। इसीलिए आया हू।' सेठ वोला, 'अच्छे समझदार हुए तुम, अच्छे कवि वने। अनाज कहा है ?' कवि ने कहा, 'आपने ही तो कहा था कि आज नही, कल दूगा।' सेठ वोला, 'इतना भी नही समझ सके। तुमने मुझे वातो से प्रसन्न किया था और मैंने भी तुम्हें वातो से प्रसन्न कर दिया। दोनो ओर से समान वात ही है। तुमने मुझे दिया क्या था, केवल वातो मे ही तो प्रसन्न किया था। मैंने भी तुम्हें वातो से राजी किया। चले जाओ।'

केवल वातो से कुछ भी नही वनता। वात से आप किसी दूसरे को राजी कर सकते हैं। वातो से आपको हम राजी कर सकते है और आप हमे राजी कर सकते हैं। कोरी वातें ही वातें चलेगी, क्रियान्विति नही होगी, कोई कार्य नही होगा तो कुछ भी नही वनेगा। हमारी शक्ति का उपयोग वहुत कम होता है। वास्तव मे ही कम होता है। आज के युवक मे कहा है अध्ययन ? मैं मानता हू कि क्रियान्विति के लिए, विकास के लिए सवसे पहले विचार-विकास की आवश्यकता होती है। वौद्धिक क्षमता वढती है तो सारी वातें वढती हैं। आज के ससार मे वौद्धिक विकास चरम सीमा को छू रहा है। प्रतिदिन नये-नये आयाम खुल रहे हैं। साधारण मे साधारण विषय पर इतना अन्वेषण और सूक्ष्म अध्यय हुआ है कि एककोषीय जीव जैसे साधारण-से लगने वाले विषय पर 'चैम्वर डिक्शनरी' जैसी वीस-वीस पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। जो व्यक्ति आज के विचार और विकास के सम्पर्क मे नही रहता, अगर दो सप्ताह तक वह उससे कट जाता है तो वह पिछड जाता है। इतनी तेज गति से और इतनी तेज रफ्तार से मनुष्य का ज्ञान वढता चला जा रहा है। उस स्थिति मे यदि अध्ययन की उपेक्षा की जाती है तो व्यक्ति युग के साथ कैसे चल सकता है ? कैसे हमारा युग-वोध स्पष्ट हो सकता है ? नही हो सकता। आज का युवक पढता तो है किन्तु ऐसे उपन्यास जो रोमाटिक हैं, ऐसे उपन्यास जो जासूसी से भरे-पूरे हैं। या वे कहानिया जो सेक्स से भरी-पूरी हैं। जीवन के विकास मे इनका कोई वडा योगदान नही होता। जव तक अध्ययन की गम्भीरता नही आती तव तक कोई वडी वात नही हो सकती। आप निश्चित मानिए, ऊचाई हमेशा गभीरता के साथ पैदा होती है। वडे भवन को खडा करना है, पचास मजिल और सौ मजिल का प्रासाद खडा करना है तो गहराई मे जाना होगा। हो सकता है कि आप उस मकान को वालू की नीव पर खडा कर दें या विना नीव के खडा कर दें। किन्तु वह टिकेगा नही, ढह पडेगा। मजवूत मकान के लिए मजवूत नीव की आवश्यकता होती है। गहराई के विना ऊचाई सम्भव नही है। हम तीन आयामो मे फैलते हैं, लवाई, ऊचाई और चौडाई। इन सारी वातो मे फैलने के लिए गहराई की वहुत जरूरत है। और गहराई विचार-विकास के विना नही आ सकती। आज तक के इतिहास मे आप देखेंगे कि जहा विचारो की गहराई नही आयी, किसी भी व्यक्ति ने विकास

नही किया—चाहे भौतिक क्षेत्र मे, चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र मे। आध्यात्मिक क्षेत्र मे रहने वाले जिन लोगो ने ध्यान की गहराई मे जाने का प्रयत्न नहीं किया उन्होंने कोई भी नयी वात नहीं दी। आज तत्त्वज्ञान का जितना विकास हुआ है, सत्य का जितना प्रकटीकरण हुआ है, जितना सत्य दुनिया के सामने प्रस्तुत किया गया है वह आध्यात्मिकता के द्वारा, उन आध्यात्मिक लोगो ने किया जो ध्यान की गहराई मे चलते चले, डुबकिया लेते रहे और गहरे मे गहरे उतरते चले गए। भौतिक क्षेत्र मे भी उन व्यक्तियो ने ही अपूर्व देन दी है। जो अध्ययन और विचार की गहराई मे गए है उन लोगो ने ससार को सव कुछ दिया है। चाहे विजली, चाहे वडे-वडे प्रासाद, चाहे सडकें, चाहे वडे-वडे कारखाने, चाहे जीवन की सुख-सुविधा के सारे साधन और उपकरण, उन्ही लोगो ने दिए है जिन्होने गहराई मे जाकर सोचा है। आप देखेंगे, हमारे किसान, हिन्दुस्तानी किसान सैकडो वर्षो से खेती करते चले आ रहे हैं, पारिवारिक ढग मे करते चले आ रहे हैं। आपने कभी सकर वाजरा नही सुना होगा, कभी सकर गेहू नही सुना होगा, सकर मक्का नही सुना होगा, आपने कभी यह नही सुना कि नयी-नयी पौधें तैयार की जा सकती हैं। नये फलो का विकास हो सकता है। आज लाल अमरूद भी पैदा किए जा रहे हैं। अनेक फलो मे अनेक प्रकार की सुगधें भी पैदा की जा रही है। ये सारे प्रयोग किस आधार पर हो रहे है? सारे विज्ञान और ज्ञान की गहराई के आधार पर हो रहे हैं। अन्यथा जैसा चलता था वैसा ही चलता रहता। हमारे लोग झोपडो मे रहते थे। शताब्दियो तक झोंपडे मे रहते ही चले गए। उन्हे उससे आगे कभी कुछ नहीं सूझा। ऐसा क्यो हुआ? साथ मे अध्ययन नहीं था। कोरा कर्म था, अध्ययन नही था। अध्ययन के विना विकास नही होता। जो विकास होता है, वह अध्ययन के आधार पर होता है। तो कर्म और ज्ञान—ये दो हैं। ज्ञान गहराई है और कर्म उसकी ऊचाई है या अभिव्यक्ति है। व्यक्त और अव्यक्त—ये दो वातें हैं। भारतीय दर्शन मे व्यक्त और अव्यक्त की चर्चा वहुत मिलेगी। अव्यक्त नीचे रहता है, छिपा हुआ रहता है। व्यक्त हमारे सामने आता है, प्रकट रहता है। किन्तु कोई भी व्यक्ति अव्यक्ति के विना नही होती। जिस व्यक्त के नीचे अव्यक्त नहीं है, वह कभी व्यक्त नही हो सकता। व्यक्त हो सकता है ज्ञान के आधार पर जव कर्म का योग मिलता है। हमारा कर्म इसीलिए विकसित नही हो रहा है कि हमारे ज्ञान मे गहराई नही है। यदि ज्ञान मे गहराई हो तो कर्म को विकसित होने का मौका मिलेगा।

युवक को अध्ययन की दिशा मे आगे वढना चाहिए और अध्ययन भी वैसा अध्ययन जो शतशाखी वन सके। यानी वीज होना चाहिए, फल नही। हम सीधा फल चाहते हैं। हर आदमी यह चाहता है कि मैं वाजार मे जाऊ, आम ले आऊ, केला ले आऊ, अगूर ले आऊ। यह मनोवृत्ति है, किन्तु यदि सवकी मनोवृत्ति

ऐसी हो जाए तो कहा से आम आएगा, कहा से केला आएगा और कहा से अगूर ? कुछ लोग तो ऐसे होने चाहिए जो आम को पैदा करें, केले को पैदा करें, अगूर को पैदा करें। वीज वोए और उन्हे पैदा करे। अगर पैदा करने वाले, बोने वाले नही है तो फल किसी के हाथ नही लग सकता। दोनो प्रकार के लोग दुनिया मे होते है—पैदा करने वाले और सीधे खाने वाले। किन्तु युवक को उस श्रेणी का अग होना चाहिए जो पैदा करने वाला हो, न कि सीधा खाने वाला। उसे पैदा करने वाला होना चाहिए, उसे किसान वनना चाहिए, उसे वीज वोने वाला वनना चाहिए, वीज की वुआई करे। फल को तैयार करे। यह काम हो सकता है अध्ययन के द्वारा। उस प्रकार का अध्ययन करे कि जिस अध्ययन के द्वारा अनेक फल पैदा हो, जो दूसरो के लिए काम आ सके। यह हो सकता है गम्भीर ग्रन्थो के अध्ययन से, आप जैन दर्शन को पढिए। वह आपका अपना दर्शन है, आपका अपना धर्म है, आपकी अपनी विचारधारा है। आपको वह पैतृक परम्परा से मिला है। मैं यह नही कहता कि जो पैतृक परम्परा से प्राप्त है इसलिए उसे आप पढिए। किन्तु मैं यह मानता हू कि तत्त्व का चिन्तन जितनी गम्भीरता के साथ जैन दर्शन मे हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भगवती सूत्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मैं जैन हू इसलिए यह नही कह रहा हू, किन्तु सारे दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन करने के वाद इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि एक भगवती सूत्र मे जितना तात्त्विक चिन्तन हुआ है उतना किसी भी भारतीय ग्रन्थ मे नही मिलेगा। इतनी सम्पत्ति है आपके पास, इतना वडा महाग्रथ है आपके घर मे, आपके दर्शन मे, फिर भी आप उससे अपरिचित हैं। आप उसके परिचय मे नही आते, उसके सम्पर्क मे नही आते और कभी उसे गहराई से जानने का प्रयत्न नही करते, उस स्थिति मे आप उससे लाभान्वित कैसे हो सकते हैं? आज हमारे वहुत सारे युवक व्यापक सम्पर्क मे जाते हैं। एक भाई दो-चार दिन पहले वता रहा था कि मैं लन्दन मे हू। अमरीका जाता हू। मुझसे लोग पूछते है कि, भाई! जैन धर्म क्या है ? मैं शर्मिन्दा हो जाता हू। और क्या करू ? पास मे कुछ भी नही। जैन हू। नाम के पीछे जैन लिखता हू, किन्तु जैन धर्म के वारे मे मैं कुछ नही जानता, और दूसरे लोग देखते है कि जैन हैं तो जैन धर्म के वारे मे तो जानता ही होगा। एक युवक ने वताया कि जव वह जर्मनी गया तव उसे वहा एक प्रोफेसर मिला, वह जैन धर्म का गभीर अध्येता था। वह युवक को अपने घर ले गया। उसने अपनी लाइव्रेरी दिखायी। लाइव्रेरी देखकर वह अवाक् रह गया। जैन धर्म की हजारो पुस्तकें वहा थी। उसने जैन धर्म की चर्चा शुरु की तो युवक खिसिया गया। उसे लगा कि यदि जमीन मे कोई गड्ढा हो तो वह उसमे नीचे चला जाए। वह शर्मिन्दा हो गया। उसने सोचा—यह विदेशी तो मुझसे जैन धर्म की वडी-वड़ी वातें पूछने लगा है, मैं तो क-ख-ग भी नही जानता। इन वातो को मै समझ भी कैसे सकता हू ? उस युवक ने मुझसे

कहा, 'उसी दिन से मैंने मन-ही-मन यह सकल्प कर लिया कि मुझे जैन दर्शन का अध्ययन करना है अन्यथा मुझे अन्यत्र लज्जित होना पडेगा।' तो इन सारी स्थितियो को ध्यान मे रखकर आप एक मानसिक सकल्प लें, और विशेषत वे युवक, जिनमे क्षमता है, जिनमे अर्हता है, जो कुछ कर सकते हैं, वे ऐसा सकल्प करें कि हम चतुर्वर्षीय या पचवर्षीय ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करें, ऐसी योजना वनाए कि पाच वर्ष के वाद ऐसा लगे कि हमारे युवको मे अनेक ऐसे प्रवक्ता हैं जो जैन धर्म का प्रतिनिधित्व कर सकते है, और जैन धर्म के वारे मे वहुत कुछ दूसरो को दे सकते हैं, समझा सकते हैं। मैं मानता हू कि ऐसी स्थिति का निर्माण हो तो युवक परिषद् का पहला प्रयोजन सफल होगा। दिगवर समाज मे एक ऐसा आन्दोलन चला था आज से पचास-साठ साल पहले। गोपालदास वरैया जो गुरु माने जाते थे, उन्होंने एक क्रान्ति शुरू की थी और विद्वानो का निर्माण करना अपना ध्येय वनाया था। वहुत सफल हुआ। आज मैं देखता हू कि दिगवर समाज मे सैकडो-सैकडो व्यक्ति जैन दर्शन के प्रोफेसर है, प्राध्यापक हैं और वडे-वडे विद्वान् हैं। अभी हमारे समाज मे इस वात की वहुत वडी कमी है। सव व्यापारी हैं। सारे व्यक्ति व्यापार की वात सोचते हैं। हर आदमी यह सोचता है कि मेरा एक भाई एक साल मे लाख रुपया कमाता है और मैं अगर इस प्रोफेसरी या इस धन्धे मे चला गया तो मुझे मिलेगा क्या—आठ सौ, हजार रुपया महीना। उधर भाई साल मे लाखो रुपया कमाता है। वे लाखो रुपया आखो मे अटक जाते हैं और विद्या की जिज्ञासा भटक जाती है। वडी कठिनाई है। अगर समाज मे सव लोग पैसे को ही देखने लग जाए और पैसा ही सवका दर्शन वन जाए तो सारे दर्शन की समाप्ति हो जाएगी। फिर दर्शन नही मिलेगा आपको। और दर्शन नही मिलेगा तो फिर पैसे का भी दर्शन वद हो जाएगा। पैसे का दर्शन भी उन लोगो के आधार पर हो रहा है जो दर्शन मे गहरे जा रहे हैं—चाहे अर्थशास्त्र के दर्शन मे जा रहे हैं, चाहे दूसरे विकास के दर्शन मे जा रहे हैं। उनके आधार पर पैसे का दर्शन हो रहा है। तो इस स्थिति मे मैंने आपके सामने एक वात प्रस्तुत की। आप मे से कुछ लोग जिनमे प्रतिभा, क्षमता और अर्हता हो वे इस प्रकार का सकल्प करें और युवक परिषद् मे इस प्रकार का दीर्घकालीन कार्यक्रम वनाया जाए जिसके आधार पर मैं पाच साल वाद फिर इस विषय पर चर्चा कर सकू और यह जान सकू कि हमारे सामने, हमारे समाज के तेरापथ युवक परिषद् के माध्यम से पचास विद्वान् तैयार हुए हैं, जिनका हम जहा चाहे वहा उपयोग कर सकते हैं। इस स्थिति का निर्माण होना आवश्यक है। आप इस वात पर और गहराई से विचार करें और उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करें।[1]

---

१ १२ अक्तूबर, १९७३ को हिसार मे अखिल भारतीय तेरापथ युवक परिषद् के सातवें अधिवेशन में प्रदत्त उद्घाटन भाषण।

भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण-शताब्दी पर युवकों का कर्तव्य

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ।
त्वद्गुणश्रोत्रिणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम॥

भक्त ने भगवान् महावीर के प्रति कहा, 'भगवन्! मेरी दोनो आखें आपकी आकृति को देखती रहें, मेरे दोनो हाथ आपकी उपासना मे जुडे रहे और मेरे दोनो कान आपकी स्तुति को सुनते रहें, बस इतना-सा चाहता हू, और कुछ नही चाहता।'

यह भक्ति है और भक्ति इसलिए कि महावीर ने जो श्रेष्ठता प्राप्त की थी, वह श्रेष्ठता हमे प्राप्त हो सके। सिकन्दर महान् कहलाता था, किन्तु उसे महान् कहना उचित नही है। महान् कहना महान् शब्द के साथ न्याय नही है। सिकन्दर ने विश्व को जीता। वह विश्व-विजयी बना। एक के बाद दूसरे देश को जीतता चला गया और इतने देशो को जीत लिया कि जब उसने मुडकर देखा तो उसे लगा कि अब जीतने के लिए कुछ बाकी नही है। वह रो पडा। उसे जीतने को चाहिए था। क्या विश्व-विजयी होने मात्र से वह महान् हो गया? महान् वह नही होता जो दूसरों को जीत लेता है। महान् वह होता है जो दूसरो का भला करता है। तो आप बताइए कि सिकन्दर ने दूसरो का क्या भला किया? देश को जीतता चला गया, छोडता चला गया,। सिकन्दर ने किसी भी देश को, किसी भी देश की जनता को ऊचा उठाया? सुखी बनाया? समृद्ध बनाया? उसकी गरीबी को दूर किया? उसे परम सन्तोष दिया? इतिहास इसका साक्षी है, उसने ऐसा कुछ भी नही किया। जीतना कोई बडी बात नही है। बडी बात है—श्रेष्ठता प्राप्त करना। प्राप्ति बडी बात नही है। बडी बात है—श्रेष्ठता की प्राप्ति। महान् वह हो सकता है जो अपनी प्राप्ति को श्रेष्ठ बना लेता है। हमे जैन धर्म प्राप्त हुआ, क्या हम बडे हो गए? क्या हमारी बडी उपलब्धि हो गयी? मैं नही मानता, यह कोई बडी बात है। बडी बात है कि जैन धर्म हमे जो प्राप्त हुआ है, उसे श्रेष्ठ बनाए और अधिक श्रेष्ठ बनाए। यदि आज के युग मे, आज के चिन्तन मे, वर्तमान के भाव और भाषा मे, वर्तमान की शैली मे और

वर्तमान के मानस मे उसे हम महान् वना सकें, अपनी उपलब्धि को श्रेष्ठ सिद्ध कर सके और श्रेष्ठ प्रमाणित कर सकें तो महानता हो सकती है, अन्यथा महानता हो यह मैं नही मानता। श्रेष्ठता प्रमाणित करना है। यह उसका काम है जिसे योग प्राप्त है। हमे जैन धर्म प्राप्त है। जैन धर्म की श्रेष्ठता उसके सिद्धात के आधार पर प्रमाणित की जा सकती है। वह प्रमाणित की जा सकती है हमारी विशिष्टता के द्वारा। एक समय था, पाच-सात सौ वर्षों तक एक ऐसा क्रम चला कि किसी राजा को अमात्य की जरूरत है, किसी राजा को दण्डनायक की जरूरत है, किसी राजा को सेनापति की जरूरत है, किसी राजा को कोषाध्यक्ष की जरूरत है, वह चुनाव कराता, चुनाव मे प्राथमिकता प्राप्त होती जैन को। व्यक्ति जैन है तो उसे सेनापति नियुक्त किया जा सकता है, दण्डनायक नियुक्त किया जा सकता है और कोषाध्यक्ष तो निश्चित ही नियुक्त किया जा सकता है। प्रधानमंत्री वनाया जा सकता है, क्योकि वह प्रामाणिक होगा, सच्चा होगा, ईमानदार होगा, धोखा नही देगा और अपनी जेव नही भरेगा। यह जैन के साथ जुडा हुआ-सा था। जैन होने का मतलव था सच्चा होना। जैन होने का मतलव था ईमानदार और प्रामाणिक होना। यह जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने वाली प्रवृत्ति थी। हम भगवान् महावीर की पचीसवी सदी की वात कर रहे है। काफी लम्वा समय वीत गया महावीर को हुए। पचीस सौ वर्ष उनका निर्वाण हुए हो रहे है। निर्वाण शताव्दी मनाने की वात कर रहे हैं। उस समय आयोजन होंगे, प्रदर्शन होगे। उनसे महावीर और जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित नही होगी। महावीर की श्रेष्ठता प्रमाणित हो सकती है जैन लोगो के चरित्र की विशिष्टता के द्वारा। उसमे पहली वात आती है निर्माण की। महावीर ने क्या किया था? महावीर घर से निकले। उन्होने कोई प्रचार नही किया, कोई उपदेश नही दिया। कही सभा मे नही गए। उन्होंने कोई आयोजन नही किया। कुछ भी नही किया। अकेले रहे केवल अकेले। अकेले जगलो से घूमते रहे। उस समय किसी को पता नही महावीर कहा है? नन्दीवर्धन भाई था, पर उसे भी पता नही कि महावीर कहा है? उनके राज्य को, उनके लोगो को, उनके सेवको को, उनके अनुचरो को पता नही कि महावीर कहा है? इतना अज्ञातवास कि नितात जगलो मे घूमते रहे। सथाल की पहाडियो मे, जगलो मे और ऐसे स्थानो मे घूमते रहे कि जहा कोई जाना भी पसन्द नही करता। इतने एकान्त मे और इतने अज्ञात मे रहे पर आप जानते हैं कि जो जितना एकान्त मे रहेगा, जितना अज्ञात मे रहेगा, वह व्यक्ति उतना ही लोगो के वीच, लोगों के हृदय मे और लोगो के लिए ज्ञात होगा। ज्ञात मे रहने वाला कभी ज्ञात नहीं हो सकता। ज्ञात वह होता है जो अज्ञात मे रहना चाहता है। लोगो के वीच मे रहने वाला कभी लोगो के हृदय मे नहीं वैठ सकता। जनता के हृदय मे वह

वैठता है जो लोगो से दूर रहना जानता है और एकान्त मे रहना जानता है। महावीर ने कोई प्रचार नही किया। किन्तु अपने व्यक्तित्व मे, अपने आत्म-निर्माण मे इतनी विशिष्टता प्राप्त कर ली कि उनकी प्रतिमा जन-जन के मानस मे प्रतिष्ठित हो गयी। हम महावीर की निर्वाण जयन्ती मनाने की विशिष्टता को प्रतिष्ठापित कर सकते है, तो इस वात से कि हम स्व-निर्माण का घोष वुलन्द करें। हम एकान्त मे रहना सीखें और अज्ञात मे रहना सीखें। अज्ञात और एकान्त मे रहकर ही हम महावीर की पचीसवी निर्वाण-शताब्दी मना सकते हैं और उसे विशेष अर्थवान् वना सकते हैं, अन्यथा कुछ भी नही होगा।

हमने देखा, अनेक व्यक्तियो की शताब्दिया अभी मनाई गयी। वार्षिक आयोजन चले, वर्ष वीता और वात पूरी हो गयी। कथा पूरी हो गयी। क्या हमे कथा पूरी करनी है? कथा को समाप्त करना है? कथाशेष का अर्थ होता है, मर जाना। हमे कथाशेष नही करना है, कथा को चालू रखना है, एक नया मोड देना है। नया मोड देने के लिए जो पहली शर्त होगी वह है चरित्र-निर्माण, आत्म-निर्माण। महावीर को आज के इतिहासकारो ने नीति का प्रथम प्रतिष्ठापक वतलाया है, जिन्होंने नीति का प्रतिपादन किया उनमे सवसे पहला नाम भगवान् महावीर का आता है। महावीर ने धर्म के साथ नीति का प्रतिपादन किया। दूसरो ने उपासना धर्म का प्रतिपादन किया, कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया। महावीर ने उसका प्रतिपादन नही किया। महावीर ने कभी नही कहा कि मेरी पूजा करो। महावीर ने कभी नही कहा कि मेरा नाम जपो। आप समूचे प्राचीन साहित्य को उठाकर देख लीजिए, कही कोई ऐसा कथन नही मिलेगा कि जिसमे महावीर ने कहा हो कि मुझे पूजो, मेरे नाम का जाप करो। उन्होंने कभी नही कहा कि मेरे नाम पर वैठे रहो और भगवान् के भरोसे (राम भरोसे) वैठे रहो। महावीर पुरुषार्थवादी थे। वे पराक्रम मे विश्वास करते थे। उन्होंने यही कहा कि तुम सच्चे वनो। उन्होंने नीति-धर्म का प्रतिपादन किया, चरित्र-धर्म का प्रतिपादन किया। क्या चरित्र के विकास की वात को छोडकर, नैतिकता के विकास की वात को छोडकर हम महावीर की पचीसवी शताब्दी मना सकते हैं? अगर ऐसा होता तो महावीर की पचीसवी शताब्दी नही मनाई जाएगी, वह हमारी कल्पना की पचीसवी शताब्दी मनाई जाएगी। सवसे पहली वात जो युवको के लिए करणीय है, वह है—आत्म-निर्माण की दिशा मे गति और प्रयत्न। महावीर स्याद्वादी थे। वादी नही थे वे, किन्तु उन्होने जो कहा उससे स्याद्वाद फलित हो गया। उन्होंने सत्य को वास्तविकता की दृष्टि से भी देखा और व्यवहार की दृष्टि से भी देखा। उन्होंने दो नयो की वात कही। वे दो नय हैं—निश्चय और व्यवहार। आत्मा को देखो और साथ-साथ व्यवहार को भी देखो, क्योकि तुम्हे इस दुनिया के रगमच पर जीना है तो तुम व्यवहार का अतिक्रमण नही कर सकते। इस आधार पर

तीर्थ-धर्म का प्रवर्तन हुआ। तुम्हे सत्य को पाना है तो वह सत्य के सगठन के द्वारा प्राप्त नही हो सकता, वह आत्मा की गहराई मे जाने से प्राप्त हो सकता है। इस आधार पर उनके अर्हत्-धर्म का प्रतिपादन हुआ।

हमारे सामने दो रास्ते हैं—एक आत्मा के धर्म का और दूसरा तीर्थ-धर्म का। जहा धर्म का प्रश्न है, जहा साधना का प्रश्न है, जहा सत्य की उपलब्धि का प्रश्न है, वहा हम आत्म-धर्म की बात को नही भुला सकते। किन्तु साथ-साथ हम तीर्थ-धर्म की बात को भी नही भुला सकते। यह सगठन है। सगठन बहुत मूल्यवान् होता है। धर्म के क्षेत्र मे सगठन का सूत्रपात जैन आचार्यों ने, जैन तीर्थंकरो ने किया। इतिहास बतलाता है कि सबसे पहले भगवान् पार्श्व ने धार्मिको का सगठन किया, अन्यथा आरण्यक धर्म चलता था। जगल मे चले जाओ, उपासना करो, अकेले रहो। भगवान् पार्श्वनाथ ने धार्मिको को सगठित किया। हमारे सामने सगठन भी है। दूसरी बात, यदि हम महावीर की पचीसवी शताब्दी मनाना चाहते हैं तो तीर्थ-सेवा के लिए अपना विसर्जन करें, अपने को न्योछावर करें, अपना बलिदान करें। सोचें कि हम तीर्थ की क्या सेवा कर सकते हैं? तीर्थ, सघ और सगठन, उसके लिए क्या कर सकते हैं? उसके लिए कितना अपने आपको अर्पित कर सकते है? कितना अपना बलिदान कर सकते है? और उसकी विशिष्टता किस प्रकार प्रमाणित कर सकते हैं? तेरापथ युवक परिषद् एक सगठन है। मैं मानता हू कि कोई भी सगठन केवल सगठन के लिए सगठन नही होता। 'कला कला के लिए' जैसी चर्चाए चल रही है, वैसे ही सगठन सगठन के लिए यदि हो तो मैं समझता हू कि सगठन का होना सगठन की आत्महत्या है। कोई अर्थ नही होता ऐसे सगठन का। सगठन सगठन के लिए नही, सगठन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है और होना चाहिए। सगठन के सामने उद्देश्य होना चाहिए। जैन धर्म एक सगठन है, उसका उद्देश्य होना चाहिए कि वह जैन तीर्थ की क्या सेवा कर सकता है? जैन तीर्थ एक विशाल वृक्ष है। पानी सीचने की जरूरत है। छोटा-मोटा पौधा हो या छोटे-मोटे पौधे हो तो एक माली पानी सीच सकता है, किन्तु जब कोई वृक्ष विशाल बन जाए, अति विशाल, तब अकेला माली पानी नही सीच सकता। उसे सीचने के लिए हजारो-हजारो हाथ एक साथ उठने चाहिए। जैन धर्म का यह एक इतना विशाल वट वृक्ष है, उसे सीचने के लिए हर एक आदमी का हाथ लगना चाहिए। आप यह सोचें कि आप अपने हाथ के द्वारा उस महान् और विराट् वृक्ष को किस प्रकार सीच सकते हैं, कितना सीच सकते हैं और कैसे सीच सकते हैं? यह स्वयं आपको निर्णय करना है। यह निर्णय करेंगे तो निश्चय ही एक महान् उपलब्धि होगी और उसके लिए आपको समर्पण करना होगा। समर्पण किसका? आपके दिमाग मे पहली बात दौडेगी कि 'धन' का। मैं इसे गौण बात मानता हू।

अष्टावक्र विदेह महाराजा जनक की सभा मे गए। काफी हास्य हुआ, क्योकि

वे टेढे-मेढे थे। सारा शरीर ऐसा था कि मानो पाच-सात पत्थर बाध दिए हो। कोई इधर जाता है, तो कोई उधर जाता है, इतना टेढा-मेढा। किन्तु जितना टेढा-मेढा, जितना कुडौल और जितना कुरूप, उतना ही महान्। महानता जो अन्तर् मे होती है, वह बाहरी रूप मे प्रकट नही होती। इतना महान्! काफी हसी हुई। उन्हे देख सारी सभा हसने लगी। मजाक के बाद जनक ने देखा कि इतने बडे महान् सत्य के द्रष्टा की हसी हुई है, बहुत बडा अपराध है। आखिर जनक ने कहा, 'महाराज! क्षमा करें। मैं प्रार्थना करता हू कि आप हमे सत्य का ज्ञान दें। मैं इस सत्य के लिए समूचा राज्य आपके चरणो मे समर्पित करता हू।' अष्टावक्र ने एक बात कही, 'जनक! मैं तेरा राज्य लेना नही चाहता। मुझे राज्य की जरूरत नही है, मुझे नही चाहिए। मैं नही लेना चाहता।' 'तो फिर आप क्या लेंगे?' राजा ने पूछा। अष्टावक्र ने कहा, 'कुछ तो लेना होगा। यदि सचमुच तुम्हे देना ही है तो मैं एक बात लेना चाहता हू कि राज्य देने का जो मन है, वह मन मुझे दे दो।' जनक ने कहा, 'ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।' जनक ने वह मन दिया और जनक विदेह हो गया।

इस अवसर पर यदि आप विसर्जन करना चाहते है, समर्पण करना चाहते हैं तो उस मन का समर्पण करें जिस मन के द्वारा धन देना चाहते हैं, सेवा देना चाहते हैं और श्रम देना चाहते हैं। उस मन का विसर्जन कर दें, सब अपने आप हो जाएगा। यदि उस मन का विसर्जन नही हुआ, मन का समर्पण नही हुआ तो सेवा देते समय भी सेवा नही दे सकते। क्योकि मन नही दिया गया। मन दिए बिना कुछ भी नही हो सकता। न सेवा दी जा सकती है, न श्रम दिया जा सकता है, न धन दिया जा सकता है। धन देते समय भी आपका सारा गणित सामने आ जाता है कि इतना दे दूगा तो इतना कम हो जाएगा। यह कैसे होगा? काम किससे चलेगा? तो सही बात है—अपने मन के नियोजन की। यदि आपका मन उसमे नियोजित हो जाए तो सारी बातें सुलझ सकती हैं। मन का नियोजन न हो, मन का विसर्जन न हो तो हर काम के सामने तर्क खडा हो जाएगा और उस तर्क मे आप इस प्रकार उलझ जाएगे जैसे मकडी अपने जाल मे उलझ जाती है। तो दूसरी बात है तीर्थ-सेवा का सकल्प। पहली बात है आत्म-सेवा का सकल्प—स्व-नर्माण। दूसरी बात है तीर्थ-सेवा का सकल्प—जन-निर्माण। तीसरी बात है एक क्रान्ति की और वह है वैचारिक और सामाजिक। बडी बात को आप जाने दें। वैचारिक क्रान्ति की बात को छोड दें, आप सामाजिक क्रान्ति को लें। सामाजिक क्रान्ति के दो पहलू अभी मेरे सामने हैं—एक है रूढियो का परित्याग और दूसरा है समता का प्रयोग। आज भी जैन समाज मे कितनी रूढिया हैं। जीवन का कोई भी प्रसग रूढि से खाली नही है। आश्चर्य होता है, जीते-जी रूढि होती है, किन्तु कोई आदमी मर भी जाता है तो बेचारा मरने के बाद भी अपने पीछे रूढि छोड

जाता है। एक वहन आयी दर्शन करने को, किन्तु रात को। दिन मे लोग क्या कहेंगे कि पति तो मर गया और दिन मे दर्शन करने आ गयी। यहा भी रूढि काम कर रही है। जीते समय भी रूढि, मरते समय भी रूढि और मरने के वाद भी रूढि, मरने के वाद पीछे छोडी हुई रूढि। कहा अन्त होगा ? कहा छुटकारा होगा ? युग कितना वदल गया। कहा सारी दुनिया का विकास और कहा भारतीय समाज की जकड ? आज भी वह रूढियो से इतना जकडा हुआ है और इस प्रकार जकडा हुआ है कि उसे छोडने मे वह ऐसा मान रहा है कि यदि उसे छोड दिया तो न जाने किस गड्ढे मे चला जाएगा ? आज का युवक वर्ग-ही इसमे कुछ परिवर्तन ला सकता है। आप वूढो से आशा मत करिए, क्योकि उनके सस्कार इतने परिपक्व हो गए है, इतने दृढ हो गए हैं, इतने जम गए है कि वे उसे छोडने को तैयार नही हैं। आप उनको जाने दें। उनका आशीर्वाद मागें और उनसे कहे कि आप कृपा करके हम जो कुछ करें, केवल आशीर्वाद दें, आप कुछ न करें। न रोडा वनें और न सहायक ही वनें, कुछ भी न वनें, केवल आप हमे आशीर्वाद देते रहे कि हम जो काम करें उसे करने दें। आज युवक को न विवाह करने की स्वतन्त्रता है और न कमाने की स्वतन्त्रता है, न निर्माण की स्वतन्त्रता है और न अपने ढग से जीने की स्वतन्त्रता है और वह जकडन तो इतनी है कि न पूरी मरने की भी स्वतन्त्रता है। यदि यह जकडन मिट जाए तो रूढियो से छुटकारा पा सकते है। यह एक वात हुई।

दूसरी वात है समता की। हम कहते हैं—महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया। महावीर ने समता का उपदेश दिया। भारतीय साहित्य मे, भारतीय दर्शन मे, भारतीय चिन्तन मे और भारतीय विचारधारा मे आज दुनिया मे यदि किसी भी व्यक्ति ने समता का सवसे अधिक प्रतिपादन किया, समता के आधार को सवसे अधिक मजवूत और सुदृढ किया तो वह एक ही व्यक्ति इस समूचे भारतीय चिन्तन के मच पर होगा। वह होगा महावीर। वह होगी महावीर की प्रतिमा। वह होगा महावीर का दर्शन। इतना समता का चिन्तन दिया। उनके धर्म का नाम क्या है ? आप आज कहते हैं जैन धर्म। जैन धर्म नाम नही था पहले। उनके धर्म का नाम था श्रमण धर्म, सामायिक धर्म। सामायिक के सिवाय महावीर के सामने कोई प्रिय शव्द नही था। महावीर का सवसे अधिक प्रिय शव्द है—सामायिक। सामायिक का मतलव है—समता।

आज हम भगवान् महावीर की पचीसवी शताव्दी मनाने जा रहे हैं। अभी एक भाई ने कहा कि केन्द्रिय सरकार पचास लाख रुपया खर्च करेगी और जैन समाज इतना खर्च करेगा। यानी महावीर की पचीसवी शताव्दी का मूल्याकन, उनकी क्राइटेरिया हमारे सामने होगी कि इतने रुपये खर्च होगे। क्या महावीर की पचीसवी शताव्दी रुपयो से मनाई जाएगी ? क्या उस अपरिग्रही आत्मा की

परिग्रह के द्वारा पचीसवी शताब्दी मनाई जाएगी ? तो मैं कहना चाहता हू कि आप सबसे पहले महावीर की प्रतिमा पर इतना बडा आवरण डाल देंगे कि महावीर को पहले ही हम लोगों ने काफी छिपा रखा है, काफी आवरण डाल रखे हैं, अब इतना ज्यादा आवरण डाल देंगे कि महावीर उस आवरण के पीछे और छिप जाएगे, दूर चले जाएगे। क्या ऐसा करना है ? इतने रुपये खर्च होंगे—इस गणित को, इन आकडो को आप छोडें। आप यह सोचिए कि हम कितने रुपयो का विसर्जन करेंगे, कितना छोड सकते है, कितना अपरिग्रह का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते हैं और वह भी समता के द्वारा। साम्य का प्रयोग। एक बात याद आ रही है, दादा धर्माधिकारी की। जब मैं दिल्ली शिविर मे था तो उन्होंने एक बात कही, 'यदि अणुव्रत वाले या जैन लोग समता का प्रयोग करें, एक ऐसा कारखाना, एक ऐसा उद्योग और फैक्टरी चलाए जिसमे कोई मालिक न हो और कोई मजदूर न हो, सब समभागी हो, काम करने वाला हर व्यक्ति उसे सचालित करने वाला हो, उसका डायरेक्टर, उसका श्रमिक सब-के-सब समभागी हो। न कोई स्वामी हो, न कोई सेवक। न कोई मिल-मालिक हो, न कोई मजदूर। अगर एक भी ऐसा प्रयोग हो जाए तो हम देखेंगे कि अध्यात्म मे आज भी प्राण है और अध्यात्म मे आज भी शक्ति है। अध्यात्म और अपरिग्रह का आज भी प्रयोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक समतावाद का प्रयोग किया जा सकता है और यदि वह नही किया जा सकता तो फिर अध्यात्म, अपरिग्रह और समता—इन शब्दो को सदा के लिए दफना देना चाहिए। क्यो भार ढोते फिरते हैं इनका, यदि कोई प्रयोग नही हो सकता है तो ? क्या केवल शब्दो का भार ढोना है ? आगे ही सिर पर बहुत भार है और बेचारे गृहस्थो पर कितना भार ? कमाई का भार, परिवार को चलाने का भार, महगाई का भार, कितनी समस्याओ का भार, इन्कमटैक्स का भार, मृत्यु-टैक्स का भार ढोते-ढोते सारे छोटे-से दिमाग को परेशान किए बैठे हैं और फिर उसके साथ अपरिग्रह, अध्यात्म, समता, सामायिक का भार और ढोए ? मैं समझता हू कि इस गधे को इतना भारी मत बनाइए। इतना भारी क्यो बनाए ? हल्का करें तो हल्का किया जा सकता है इन शब्दो की क्रियान्विति के द्वारा, इन शब्दो की सार्थकता प्रमाणित करने के द्वारा। इन शब्दो का अर्थ है, आज भी इनमे प्राण है, आज भी इनमे जीवन है और आज भी इनमे चेतना है। आज भी इनका उपयोग हो सकता है, आज भी इनकी अर्थवत्ता साधी जा सकती है। क्या युवक इस सकल्प के लिए तैयार होंगे कि महावीर की पचीसवी शताब्दी के अवसर पर हम एक ऐसा प्रयोग करेंगे, आध्यात्मिक अपरिग्रहवाद का और आध्यात्मिक साम्यवाद का—जिस प्रयोग के आधार पर दुनिया देखेगी कि केवल राजनीतिक क्रान्ति और वर्ग-सघर्ष के द्वारा ही साम्यवाद स्थापित नही किया जा सकता, किन्तु धर्म के आधार पर भी साम्यवाद स्थापित किया जा सकता है और अध्यात्म की

भूमि मे भी साम्य का प्रयोग किया जा सकता है ? यदि ऐसा एक भी काम हो सका तो भगवान् महावीर की पचीसवी शताब्दी मनाने का महान् अर्थ होगा और हमारी बडी उपलब्धि होगी, हमारी प्राप्ति की विशिष्टता प्रमाणित होगी। अगर आज ऐसा नही होता है तो फिर प्राप्ति की बात तो मैं कर सकता हू, करूगा, किन्तु उपलब्धि और श्रेष्ठता की बात करने का कोई अर्थ नही होगा।

आत्म-सेवा, तीर्थ-सेवा रूढियो का परित्याग और समता का प्रयोग—ये चार ऐसे स्तम्भ हमारे सामने हैं जिनके आधार पर एक मण्डप खडा किया जा सकता है, एक मच तैयार किया जा सकता है और एक आधार बनाया जा सकता है। आपको भी सोचना है, क्योकि पचीस सौ वर्षो के बाद प्रतिक्रमण करना है। प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है—लौटना, आगे बढना नही। आक्रमण, सक्रमण—ये आगे की ओर जाते है, प्रतिक्रमण पीछे की ओर। हमे पीछे की ओर जाना है। आगे नही बढना है और देखना है कि महावीर ने जो दिया था, महावीर ने जो किया था, क्या हम वह कर रहे हैं ? क्या उस देन का उपयोग भी कर रहे हैं या केवल सिकन्दर की तरह विजय के बाद विजय, विजय के बाद विजय, आगे बढते चले जा रहे हैं तो उस विजय का अर्थ शून्य होगा। सिकन्दर जीते-जी शून्य हो गया और सिकन्दर को रोते-रोते ही प्राणो को त्यागना पडा। सचमुच हम आत्म-निरीक्षण करें, प्रतिक्रमण करें और दैनिक प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, मासिक प्रतिक्रमण और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, सावत्सरिक प्रतिक्रमण तो सदा करते आये हैं। पचीस सौ वर्षीय प्रतिक्रमण करें, पचीस सौ वर्षो का एक साथ प्रतिक्रमण करें। सावत्सरिक ध्यान चालीस लोगस्स का होता है तो पचीसवें वर्ष के लिए हमे चार हजार लोगस्स का ध्यान करना होगा। उस ध्यान से फिर हम महावीर को देखेंगे, महावीर की स्तुति करेंगे, महावीर को समझेंगे, महावीर को समझने का प्रयत्न करेंगे और समझने के बाद कुछ ऐसा काम करेंगे जिसके द्वारा लोग यह समझ सकें कि सचमुच जैनो ने महावीर की शताब्दी मनाई और फिर उसमे भी आप लोग कोई विशेष प्रयोग करेंगे तो उसमे एक उल्लेखनीय बात हो सकेगी कि तेरापथ युवक परिषद् ने सचमुच महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी मनाई है।[1]

---

१ अ० भा० तेरापथ युवक परिषद् के सातवें वार्षिक अधिवेशन पर प्रदत्त वक्तव्य।

नारी-जीवन की उपादेयता और सार्थकता

स्त्री और पुरुष के द्वैत का अनुभव हजारो-हजारो समस्याओ का सृजन करता रहा है। समस्या का समाधान है, उनके अद्वैत की अनुभूति। कोई भी पुरुष सोलह आना पुरुष नही है, वह स्त्री भी है। कोई भी स्त्री सोलह आना स्त्री नही है, वह पुरुष भी है। इस सिद्धान्त को कर्मशास्त्रीय समर्थन भी उपलब्ध है। प्रत्येक पुरुष मे पुरुषवेद विपाक से रहता है और स्त्रीवेद सत्ता मे और प्रत्येक स्त्री मे स्त्रीवेद विपाक मे रहता है और पुरुषवेद सत्ता मे। जिसमे स्त्रैण गौण होता है वह पुरुष है, और जिसमे पुंस्त्व गौण होता है वह स्त्री है। स्त्री और पुरुष मे द्वैत नही है इसलिए स्त्री के प्रति हीनता और पुरुष के प्रति उच्चता का मनोभाव केवल अह के द्वारा ही निर्मित हुआ है।

सामाजिक जीवन के प्रारभिक युग मे स्त्री के प्रति कोई हीन भावना नही थी। भगवान् ऋषभ ने अपनी पुत्रियो (ब्राह्मी और सुन्दरी) को लिपि और गणित का ज्ञान कराया था। उनके द्वारा ही मनुष्य समाज मे वह ज्ञान प्रवृत्त हुआ।

वैदिक-काल मे स्त्री के प्रति निम्नता का भाव परिलक्षित नही होता। ब्राह्मण-काल मे पुत्र को धार्मिक महत्त्व दिया जाने लगा। ऋणमुक्ति और पितरो की शाति के लिए पुत्र की अनिवार्यता स्थापित की गयी। फलत पुत्री के प्रति समानता का भाव कम हो गया। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पुरुष को पहले से ही महत्त्व प्राप्त था। और उसे धार्मिक महत्त्व प्राप्त होने से पुत्र और पुत्री के बीच सतुलन नही रह सका। उत्तर वैदिक-काल मे वह और अधिक बिगड गया। पुत्री का जन्म भार माना जाने लगा। कहा गया है कि कन्या जन्म के समय स्वजनो को दु ख देती है। विवाह के समय अर्थ का हरण करती है। यौवन मे बहुत दोष उत्पन्न करती है। इस प्रकार वह दारिका (पुत्री) पिता के हृदय का विदारण करने वाली होती है।

स्त्री की ममता, करुणाशीलता, मातृत्व और समर्पण भावना का मूल्य कम आका जाने लगा। उसके दुर्बल पक्ष को उभारकर उसमे हीन भावना जागृत करने का उपक्रम तीव्र होने लगा। फलस्वरूप स्त्री-समाज मे हीनता की मनोवृत्ति पनप गयी। पुरुष ही स्त्री को हीन नही मानता, स्त्री स्वय अपने को हीन मानने लग

गयी। पति उसके लिए परमेश्वर बन गया और वह पति की दासी बन गयी। परमेश्वर और दासी मे इतनी दूरी है कि दोनो एक रथ के पहिए बनकर नही चल सकते। पुरुष और स्त्री जीवन-रथ को चलाने वाले दो पहिए है। दोनो साथ-साथ चलते हैं तभी जीवन का रथ गतिमान हो सकता है। पर एक पहिए को इतना रुग्ण बना दिया कि उस रथ की गति लडखडाने लगी।

श्रमण परपरा ने स्त्री और पुरुष मे भेद की सृष्टि नही की थी। पुत्र को कोई धार्मिक महत्त्व नही दिया था। ऋणमुक्ति और पितरो की शाति का सिद्धान्त उसे मान्य नही था। पर समाज को समर्थ नेतृत्व नही दिया जा सका। उसकी विचार-धारा को बदलने मे सफलता प्राप्त नही हो सकी। इसके विपरीत वैदिक विचार-धारा ने समाज को व्यापक स्तर पर प्रभावित कर लिया। श्रमणो की विचारधारा एक क्षीण धारा के रूप मे ही प्रवाहित रही।

ढाई हजार वर्ष पूर्व श्रमण परम्परा को सफल नेतृत्व उपलब्ध हुआ। महावीर, बुद्ध, गोशालक, पूरणकाश्यप आदि अनेक प्रभावशाली तीर्थंकर, तथागत और आचार्य उस परम्परा मे हुए। उन्होने अपनी दीर्घ तपस्या और साधना के बल से सत्य का अनुभव किया और उनकी तप पूत वाणी ने समाज के मानस को आदोलित कर दिया। सामाजिक चेतना का नया जागरण होने लगा। स्त्री के प्रति हीनता की मानसिक ग्रन्थि टूटने लगी। श्रमणो की अन्य धाराए काल के उत्ताप मे सूख गयी। केवल दो धाराए जीवित रही—जैन और बौद्ध। इन दोनो धाराओ मे जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध है, उसमे स्त्री के जीवन को यथार्थ की खिडकी से देखा गया है। स्वतन्त्रता जीवन की मौलिक आकाक्षा है। भगवान् महावीर ने अहिसा के सदर्भ मे कहा, 'कोई किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। पुरुष स्त्री की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। ज्ञान का विकास सबके लिए सहजसिद्ध है। उस पर केवल पुरुष का अधिकार नही है।' भगवान् महावीर ने स्त्रियो को दीक्षित किया, उन्हे धर्मशास्त्रो के अध्ययन की स्वीकृति दी और तत्त्वचर्चा का अवसर दिया। महावीर के धर्म-सघ मे साधु चौदह हजार है और साध्विया छत्तीस हजार। उन छत्तीस हजार साध्वियो का नेतृत्व आर्या चदनवाला कर रही थीं। वह चदनवाला जो एक दिन प्रताडित थी, बाजार मे बिकी थी, दासी बनकर सेठ धनावह के घर रही थी तथा स्त्रीत्व और दास प्रथा—दोनो का अभिशाप भुगत रही थी। दासप्रथा का अभिशाप अभिभूत पुरुष और स्त्री दोनो को अभिशप्त कर रहा था। स्त्रीत्व के अभिशाप से समूचे समाज की स्त्रियां अभिशप्त थी। ईश्वरीय सृष्टि को अस्वीकार करने वाले और अपने पुरुषार्थ से श्रेष्ठता-प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले महावीर और बुद्ध उन अभिशापो पर मुहर नही लगा सकते थे। उन्होने उनका निरसन किया। भगवान् महावीर के द्वारा चदनवाला का उद्धार उसका साकार निदर्शन है।

दधिवाहन चपा का शक्तिशाली शासक था। कौशाम्वी के महाराज शतानीक के सेनापति ने चम्पा पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। वसुमति चदनवाला और उसकी माता धारणी दोनो का अपहरण किया गया। महारानी धारणी ने सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राण विसर्जित कर दिए और चदनवाला को सेनापति ने वेच दिया। सेठ धनावह ने उसे खरीद लिया। पशु की भाति मनुष्य भी वेचा जाता था, इससे हम उस युग के मानस को समझ सकते हैं। उस मानस मे स्त्री का प्रतिविम्व और अधिक धुधला है। चदनवाला स्त्री भी थी और दासी भी थी। भगवान् महावीर कौशाम्वी मे विहार कर रहे थे। यह वही कौशाम्वी है जिसका अधिपति शतानीक है। उसकी क्रूर दृष्टि से ही एक राजकन्या दासी का जीवन जी रही है। भगवान् महावीर ने चदनवाला के हाथ से आहार दान लिया और वह दासता के वधन से मुक्त हो गयी। वह अव दासी नही रही। दासता के अभिशाप की केंचुली उस पर से उतर गयी। पर वह स्त्री तो थी ही। स्त्री होना कोई अभिशाप नही है। प्राचीन युग ने स्त्री के प्रति हीन भावना का अभिशाप पुरुष को दे रखा था और वह स्त्री के मन मे भी घर कर गया था। उस अभिशाप को तोडना आवश्यक था। महावीर ने चदनवाला को दीक्षित कर उस अभिशाप की जड को भी प्रकपित कर दिया। उन्होने प्रस्थापित किया कि स्त्री और पुरुष—ये दोनो अवस्थाए हैं। उनके पीछे जो चैतन्य है वह समान है। उसमे कोई विपमता नही है। जैविक दृष्टि से वे दोनो समान हैं। शारीरिक दृष्टि से कुछ असमानताए हैं, किन्तु उनके आधार पर हीनता और उच्चता का मनोभाव निर्मित नही होना चाहिए। पुरुष का अहकार ही स्त्री के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न कर रहा था। महावीर ने पुरुष की कर्तृत्व शक्ति पर प्रहार नही किया किन्तु उस अहकार पर गहरी चोट की, जो हीनता और उच्चता की रेखाए निर्मित कर रहा था। महावीर ने एक घटदासी के लिए वही सम्मान प्रदर्शित किया जो किसी गुरु के लिए किया जा सकता है। उन्होने श्रमणो से कहा, 'कोई घटदासी अच्छी वात कहे तो उसे आदर के साथ स्वीकार करो। यह मत सोचो कि वह दासी है और यह भी मत सोचो कि वह स्त्री है। स्त्री भी उतनी ही अच्छी वात कह सकती है जितनी पुरुप कह सकता है।' जयन्ती ने भगवान् महावीर के पास अनेक प्रश्न उपस्थित किए और महावीर ने उनका समाधान दिया। राजकुमारी चुन्दी ने भगवान् वुद्ध के साथ धर्मचर्चा की। महावीर और वुद्ध ने स्त्री के लिए धर्मचर्चा और तत्त्वचर्चा का द्वार खोल दिया, स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त कर दिया। उसे साधना का अधिकार प्राप्त हो गया। पुरुष और स्त्री की समानता का वीज-वपन हो गया। उस वीज-वपन का पहला विस्फोट चदनवाला है। उसने कुछ समय पूर्व दो अभिशापो से अभिशप्त जीवन जिया और कुछ समय वाद उन्मुक्त जीवन जिया जो अभिशाप और वरदान—दोनो से ऊपर था।

क्या नारी दुर्बल है ?

मैं तो नारी की दुर्बलताओ को भोगता नही, इसलिए मुझे क्या पता कि दुर्बलता क्या है ? साध्वियो ने अभी-अभी नारी की दुर्बलताओ की एक लबी सूची मुझे दी है। जब मैं अपनी दृष्टि से देखता हू तब नजारा कुछ और ही सामने आता है। इस दुनिया मे कोई भी महिला सोलह आना महिला नही होती और कोई भी आदमी सोलह आना आदमी नही होता। हर स्त्री आठ आना स्त्री होती है और आठ आना पुरुष, और हर पुरुष आठ आना पुरुष और आठ आना स्त्री होता है। केवल पुरुष या केवल स्त्री को खोजने निकलू तो मुझे खाली हाथ लौटना पडेगा। यह व्यंग नही है। यह यथार्थ है।

स्थानाग सूत्र का कथन है कि जन्म लेने वाला प्रत्येक बच्चा कुछ अपना लाता है और कुछ माता-पिता से पाता है। वह आधा माता से पाता है और आधा पिता से पाता है। हर सन्तान के शरीर मे तीन अग पिता के और तीन अग माता के होते हैं। पिता से प्राप्त होने वाले तीन अग हैं—अस्थि, मज्जा और केश। माता से प्राप्त होने वाले तीन अग हैं—रक्त, मास और भेजा। ऐसी स्थिति मे मैं किसे स्त्री कहू और किसे पुरुष ?

मेरे सामने नारी की दुर्बलताओ की एक सूची है। उसमे अठारह दुर्बलताए उल्लिखित हैं—

- ईर्ष्या
- छिछलापन
- दिखावा
- प्रवाहपातिता (अन्धानुकरण)
- कुटिलता
- चचलता
- संकीर्णता
- हीन-भावना
- पर-निर्भरता

- सदेहशीलता
- दुस्साहस
- स्वार्थपरता
- हठ-धर्मिता
- विलासिता
- अदूरदर्शिता
- महत्त्वाकाक्षा
- चित्तवृत्ति की दुर्लक्ष्यता
- बौद्धिक क्षमता की कमी ।

सवकी व्याख्या प्रस्तुत करना समय-सापेक्ष होता है। मैं कुछेक दुर्वलताओ की चर्चा करना चाहता हू ।

नारी की पहली दुर्वलता है—ईर्ष्या । एक सस्कृत कवि ने कहा है, पूर्व एक दिशा है, नारी है। पश्चिम एक दिशा है, नारी है। जव सूरज पश्चिम की ओर चला गया तव पूर्व दिशा ने अपना मुह काला कर लिया। नारी ईर्ष्या की प्रतिमूर्त्ति है।'

जर्मनी से निकलने वाली एक पत्रिका देखी। उसमे भारतीय-नारी का चित्र इन शब्दो मे प्रस्तुत था—

अन्तर्विषमया एता, वहिरेव मनोरमाः।
गुञ्जाफलसमाकाराः, स्त्रिय. केन विनिर्मिता ॥

—नारी का अन्त करण विषमय होता है, वह विष से छला-छल भरी हुई है। वह केवल बाहर से ही सुन्दर प्रतीत होती है। वह चिरमी के फल जैसी वाहर से लाल और अन्दर से काली होती है। न जाने किसने स्त्रियो का निर्माण किया ?

नारी का यह चित्रण देखकर आश्चर्य हुआ।

प्रश्न है—नारी पर जितने भी आरोप लगाये जाते हैं, वे कितने सच हैं, कितने झूठ हैं। साहित्य मे जो कुछ आता है, उसे यदि उसी रूप मे स्वीकार कर लिया जाए तव कहने वाले की भावना के प्रति भी अन्याय होगा और स्वय की स्वीकृति भी यथार्थ नही होगी। प्रत्येक कथन सापेक्ष होता है, निरपेक्ष होता ही नही। सापेक्ष को निरपेक्ष मान लेने पर यथार्थ हाथ नही आता। जिस व्यक्ति ने कहा कि स्त्रिया ईर्ष्या के विना नही होती, तो यह निश्चित है कि वह व्यक्ति स्त्रियो से स्वय ही प्रताडित हुआ है। प्रताडित अवस्था मे ऐसा मनोभाव वना और कवि हृदय होने के कारण उसने लिख दिया, **'नहि नार्यो विनेर्ष्यया'**। प्रश्न है दुर्वलता का। मुझे नही लगता कि नारी दुर्वल होती है। किन्तु मैं यह कह सकता हू कि

बहुत अशो मे पुरुष दुर्बल होता है। जहा शारीरिक श्रम और मेहनत के काम की बात आती है वहा स्त्री पुरुष का मुकाबला नही कर सकती। यह शरीर की दृष्टि से है। हम केवल शरीर ही नही है। इस स्थूल शरीर के भीतर भावना का शरीर है, तैजस् का शरीर है, कर्म का शरीर है। न जाने इसके भीतर कितना सूक्ष्म जगत् छिपा पडा है। यदि हम अपने सारे शरीरो और सारी सूक्ष्मताओ का विश्लेपण करें तो पता लगेगा कि धृति, मनोबल और कष्ट-सहिष्णुता मे नारी पुरुष से बहुत आगे है। यदि इस तुला मे दोनो को तोला जाए तो नारी का पलडा भारी रहेगा, पुरुष का पलडा हल्का रहेगा। पुरुष नारी की तुलना नही कर सकता। सारा इतिहास इसका साक्षी है। अतीत को देखें। आन्तरिक मनोबल और साहस का जो परिचय नारी-जाति ने दिया है, वैसा पुरुष नही दे पाए।

मैं अपनी बात कहू। जब मैं ढाई महीने का था तब मेरे पिता चल बसे। मा ने उस समय मुझे जो स्नेह दिया, उसे याद करता हू तब मन भावविभोर हो जाता है। उल्टा चलू। पिता के स्थान पर यदि माता चल बसती तो मेरा क्या होता? यह मुझे स्पष्ट दीख रहा है। माता जो दे सकती है, पिता नही दे सकता। पिता मे वह साहस, वह धृति नही होती। वह तो सोच लेता है—यह क्या बला रह गयी पीछे! यह भी यदि साथ चला जाता तो मैं निर्द्वन्द्व हो जाता। मा का महत्त्व सर्वोपरि है।

हम नारी की सारी दुर्बलताओ को सापेक्ष दृष्टि से देखें। यदि हमें समाज का निर्माण करना है, नयी पीढी का निर्माण करना है तो एक आदर्श सामने रखना होगा। जैसे कि आज का वैज्ञानिक यह सोचता है कि मनुष्य-मस्तिष्क को जन्म से ही ऐसा बना दिया जाए कि प्रयोगशाला मे बैठा व्यक्ति उसका संचालन कर सके। जैसा वह चाहे वैसा ही वह आदमी कहे। आदमी को ऐसा बाध दिया जाए कि स्वतन्त्रता से करने की उसकी वृत्ति ही नष्ट हो जाए। यह बहुत बुरी बात होगी। यह मनुष्य जाति के लिए आत्म-घाती प्रयत्न होगा, आत्म-हत्या करने जैसा प्रयत्न होगा। इससे उल्टा हम सोचें।

सबसे पहले हम यह निर्धारण करें कि हमे समाज को कैसा बनाना है? इसके पश्चात् हम सबसे पहले स्त्रियो को प्रबुद्ध करें और उन्हे एक ऐसा सकल्प दें कि उन्हे कैसा पुत्र पैदा करना है? यह बहुत ही कार्यकारी बात होगी। माता के मन मे जो सकल्प होता है, जैसा पुत्र वह चाहती है, यदि सकल्प बलवान् होता है तो वैसा ही पुत्र उसे प्राप्त हो जाता है। दुनिया मे जितने भी शक्तिशाली पुरुष हुए हैं, उनकी शक्ति के पीछे माता के दृढ-सकल्प ने भी काम किया है। जो माता गर्भ से पूर्व या पश्चात् अच्छे सकल्प करती है, अच्छे व्यवहार करती है, अच्छा साहित्य पढती है, अच्छे स्वप्न देखती है, उसका पुत्र शक्तिशाली होता है। जिसकी माता

हीन भावना से ग्रस्त होती है, बुरे भाव रखती है, बुरे स्वप्न देखती है, उसका पुत्र कभी शक्तिशाली नही होता। वह डरपोक, कायर ही नही, अगहीन भी होता है।

महिलाओ मे भी शक्ति होती है। वे वडे-वडे कार्य कर सकती है। आचार्यश्री की यात्रा के माध्यम से हमने देखा कि कुछेक महिलाओ ने व्यवस्थित शिक्षा-सस्थान चलाने मे अपना कीर्त्तिमान स्थापित किया है। महिलाए कार्य कर सकती हैं—इसमे मुझे सदेह नही है। वे अपनी शक्ति को इस दिशा मे नियोजित करें तो आश्चर्यकारी कार्य सपन्न हो सकते हैं। वे इस वात मे न उलझें कि स्त्री दुर्वल है या पुरुष दुर्वल है। कोई दुर्बल नही है। दुर्वलता और सवलता का कथन सापेक्ष होता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे नारी को राक्षसी कहा गया है। क्या पुरुप राक्षस नहीं होता ? पुरुप भी राक्षस होता है और नारी भी राक्षसी होती है। पुरुष भी देवता होता है, नारी भी देवी होती है। जहा नारी को राक्षसी कहा गया वहा यह भी कहा गया, **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता.'**। यह सव सापेक्ष कथन है। इतिहास मे प्राप्त होता है कि अतीत मे भारतीय समाज मे दो प्रकार की व्यवस्थाए प्रचलित थी। एक थी पितृ-सत्ताक व्यवस्था और दूसरी थी मातृ-सत्ताक व्यवस्था। पुरुप प्रधान व्यवस्था थी तो नारी-प्रधान व्यवस्था भी थी। आज भी सीमात प्रदेशो में ऐसी जातिया है जहा स्त्री प्रधान होती है। पुरुष रसोई वनाता है, सन्तान का पालन करता है। नारी वाजार मे जाती है, सौदा लाती हैं। पुरुप घूघट निकालता है, नारी खुले मुह मुक्त विचरण करती है। ये सव देश-काल-सापेक्ष स्थितिया है। यदि इन्हे हम शाश्वत सत्य मान लें तो वडी भ्राति होगी। हमें इन्हे सापेक्ष ही मानना चाहिए। हमे यह सोचना चाहिए कि हमे क्या वनना है, हमे क्या करना है ? इस प्रश्न को सुलझाने से पहले हमे यह स्वीकार करना होगा कि स्त्रियो के पिछडेपन मे उनकी अशिक्षा ही मूलभूत कारण है। यह सच है कि शिक्षा ही सव कुछ नही है, किन्तु उसका भी अपना महत्त्व है। शिक्षा यह पहली भूमिका है। जव तक यह पहली भूमिका तैयार नही होगी तव तक अगली भूमिकाए प्राप्त ही नही होगी। महिलाओ का यह प्रथम कार्य है कि वे ज्ञान की दिशा मे आगे वढें। वे अक्षर-ज्ञान के प्रचार मे अपना समय दें। वे स्वय शिक्षित वनें और अपनी वहिनो को भी शिक्षित करने का प्रयास करें। जव ज्ञान जागता है तव हीन-भावना समाप्त हो जाती है, स्वय की शक्ति का भान होता है और कुछ करने की वात प्राप्त होती है।

स्त्रिया यदि स्वाध्याय-मण्डल और ध्यान-मण्डल का सचालन करना प्रारम्भ करती हैं तो अशिक्षा का वातावरण कुछ अशो मे समाप्त हो जाता है।

स्त्रियो को सवसे पहले अपने आपको शक्तिशाली वनाना होगा। जो शक्ति-शाली नही होता उसकी कोई सहायता नही करता। देव भी उसी की सहायता

तीनो होते हैं, वही उसे चला सकता है। सत्याग्रह की धार का प्रयोग वही कर सकता है जो मनोबल, धृति, सहिष्णुता और करुणा से परिपूर्ण होता है। इस योग्यता का समुदाय न महात्मा गाधी को मिला और न किसी अन्य व्यक्ति को मिला। इसलिए मैं इस धारणा से सहमत नही हू कि कभी सामुदायिक सत्याग्रह हुआ है। महात्मा गाधी सत्याग्रह के योग्य व्यक्ति थे। उनके कुछ सहयोगी भी उसके लिए उपयुक्त थे पर भीड की सत्याग्रह के लिए अर्हता नही हो सकती। हमारी दुनिया मे बहुत बार अहिसा के नाम पर हिंसा, सत्य के नाम पर असत्य और अच्छाई के नाम पर बुराई चलती है। वर्तमान में चलने वाले अधिकाश सत्याग्रहो मे कोरा आग्रह ही चलता है। अनाग्रह के बिना सत्याग्रह उतना ही मिथ्या है, जितना कि असत्याग्रह। अनाग्रह-शून्य आग्रह वास्तव मे सत्य का आग्रह हो ही नही सकता। बन्द, घेराव आदि परिवर्तन के शस्त्र नही हैं, यह मैं नहीं कहता। मैं यह कहना चाहता हू कि ये सब बल-प्रयोग के प्रकार हैं। शस्त्र-प्रयोग मे जैसे व्यक्ति को बाध्य किया जा सकता है, वैसे ही घेराव से भी व्यक्ति को बाध्यकिया जा सकता है। यह हिंसा का मृदु प्रयोग हो सकता है, किन्तु अहिंसा की प्रतिध्वनि इसमे नही है। बाध्यता की भूमिका पर होने वाला कोई भी प्रयोग सत्याग्रह नहीं हो सकता। जिसमे अपने प्राणो का मोह नही है, जो दूसरे के प्रति प्रेम से परिपूर्ण है, जिसमे तटस्थता है—किसी भी पक्ष का आग्रह नही है, वह अहिंसक है और अहिसक ही सत्याग्रही होने का अधिकारी है।

प्रशिक्षण और साधना के बिना सत्याग्रही का निर्माण नहीं हो सकता। कुछ लोग अहिंसा-प्रेमी हैं और कुछ लोग सत्याग्रह-प्रेमी। गहरे मे दोनो के प्रेम की जड एक है। अहिंसा के बिना सत्य सत्य नही हो सकता और सत्य के बिना अहिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। दोनो की एकात्मकता ही दोनो को दो रूपो मे प्रतिष्ठित करती है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत, आचार्य विनोबा का सर्वोदय और इस धारा के अन्य प्रवाह कितनी अहिंसा और कितना सत्याग्रह पैदा करते हैं, इसकी प्रतीक्षा मे है नवयुग का स्वप्न सजोने वाली युगचेतना।

संस्कार-निर्माण का पहला चरण

मानवीय विकास के दो आयाम हैं—ध्वंस और निर्माण। पुराना मिटता है और नया बनता है—यह जगत् का स्वभाव है। अवांछनीय को मिटाने और वांछनीय को निर्मित करने का प्रयत्न किया जाता है—यह मनुष्य का पुरुषार्थ है।

हमारा जीवन आहार से शुरू होता है। आहार होता है तब दूसरी प्रवृत्तियां चलती है। जैसी प्रवृत्ति वैसा संस्कार। जितनी प्रवृत्ति उतना संस्कार। जैसा संस्कार वैसा विचार। जैसा विचार वैसा व्यवहार। व्यवहार हमारी कसौटी है। भीतरी जगत् में कौन कैसा है, हम नहीं जान पाते। मनुष्य की जो प्रतिभा व्यवहार में बनती है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है। अच्छा व्यवहार अच्छे विचार बिना नहीं हो सकता। अच्छा विचार अच्छे संस्कार बिना नहीं हो सकता। अच्छा संस्कार अच्छे आहार बिना नहीं हो सकता। इसलिए हमारे धर्माचार्यों ने आहार-शुद्धि को प्राथमिकता दी है। हम अच्छाई का प्रारंभ आहार-शुद्धि के व्रत से करें। हम न खाएं, यह सबसे अच्छा है पर संभव नहीं है। आहार हमारे जीवन की अनिवार्यता है। हम वह न खाएं जिसकी अनिवार्यता नहीं है। वनस्पति का आहार अनिवार्यता के रूप में स्वीकृत है। इसके पीछे हिंसा के अल्पीकरण, स्वास्थ्य और सात्विक संस्कार एवं विचार का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। ये तीनों दृष्टिकोण मांसाहार का समर्थन नहीं करते। इसलिए इन दृष्टिकोणों से मांसाहार अनिवार्यता की कोटि में नहीं आता। खाद्यान्न के अभाव में मांसाहार की अनिवार्यता का तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है और प्रायः किया जाता है। इस तर्क से खाद्यान्न प्राप्त होने की स्थिति में मांसाहार का समर्थन नहीं किया जा सकता। उक्त दृष्टिकोणों से तो किया ही नहीं जा सकता। आधुनिक शरीर-शास्त्री, आहारशास्त्री और स्वास्थ्यशास्त्री भी अपने अन्वेषणों के आधार पर मांसाहार को शारीरिक और मानसिक—दोनों दृष्टियों से दोषपूर्ण बतलाते हैं। मांसाहार अप्राकृतिक उत्तेजना उत्पन्न करता है, सहनशीलता को कम करता है, धमनियों और शरीर के तंतुओं के लचीलेपन को नष्ट कर आयु को कम करता है, प्राणियों की व्याधि और विष को खाने वाले के शरीर में संक्रान्त करता है।

करता है जो पुरुषार्थी और पराक्रमी होता है।

स्त्रिया अपने पुरुषार्थ की लौ प्रज्ज्वलित करें और ज्ञान बढाए। कुछ ही वर्षो मे ऐसा परिवर्तन आएगा कि लोग नारी की दुर्बलताओ को भूलकर यह सोचने के लिए बाध्य होंगे कि नारी की शक्ति का कैसे उपयोग किया जाए?

गगाशहर, चातुर्मास '७६

सत्याग्रह का अधिकार

राजनीति के वाष्प से सत्याग्रह का दर्पण अधा हो गया है। उसमे हम यथार्थ का प्रतिविंव नही देख सकते। हडताल, धरना, वन्द और घेराव—ये सव सत्याग्रह की छत्रछाया मे पले-पुसे है। पर इनमे सत्याग्रह का उत्तराधिकार किसी को प्राप्त नही है। सत्याग्रह की आत्मा है अनाग्रह। अनाग्रह की आत्मा है अहिंसा। अहिंसा की आत्मा है राग-द्वेष का अप्रयोग।

सत्याग्रह का व्यक्तिगत प्रयोग वहुत पुराना है। भगवान् महावीर ने सत्याग्रह किया कि दासी वनी हुई राजकुमारी के हाथ से भोजन लूगा, अन्यथा छह मास तक भोजन नही लूगा। इसकी पारपरिक व्याख्या कुछ भी हो, भगवान् महावीर के क्रान्त व्यक्तित्व के सन्दर्भ से इसकी व्याख्या होगी दास-प्रथा के उन्मूलन के लिए सत्याग्रह का प्रयोग। भगवान् महावीर ने पाच मास और पच्चीस दिन तक भोजन नही किया। आखिर धनावह श्रेष्ठी के घर दासी वनी हुई राजकुमारी चन्दनवाला के हाथ से भोजन स्वीकार किया। उनकी इस तपस्या ने दास-प्रथा पर गहरा प्रहार किया। किन्तु यह प्रहार धनावह श्रेठी पर नही था। यह प्रहार किसी भी व्यक्ति पर नहीं था। यह क्रियात्मक प्रहार अपनी सुप्त शक्ति पर था और प्रतिक्रियात्मक प्रहार उन सव हृदयो पर था, जो दास-प्रथा चलाने के लिए उत्तरदायी थे।

सत्याग्रह तपस्या है। उसका प्रहार यदि दूसरे व्यक्ति पर होता है तो वह सत्याग्रह नही हो सकता। उसका प्रहार अपनी शक्ति की प्रखरता के लिए होना चाहिए। जिस परिवर्तन के लिए सत्याग्रह किया जाता है, उससे सवधित व्यक्ति का हृदय तपस्या की आच के विना नही पिघल सकता और हृदय का परिवर्तन हुए विना सत्याग्रह की सार्थकता नही हो सकती। महात्मा गाधी ने सत्याग्रह को सामुदायिक प्रतिष्ठा दी। वह कितना सामुदायिक वना या सामुदायिक वनकर वह कितना सत्याग्रह रहा, यह वहुत ही विमर्शनीय है।

सत्याग्रह कोई आयस शस्त्र नही है। वह शस्त्रविहीन वार है। आयस शस्त्र को भी हर कोई नही चला सकता। जिसमे शरीरवल, मनोवल और प्रशिक्षण—

क्रूरता, क्षणिक आवेश, अधैर्य—ये मासाहार के सहज परिणाम है।

लोग मद्यपान शक्ति के लिए करते है, मानसिक शाति और समस्याओ की विस्मृति के लिए करते है। वे इस सत्य को भूल जाते है कि अप्राकृतिक ढग से उत्पन्न की गयी शक्ति स्वय क्षणिक होती है और अशक्ति को स्थायी बना देती है। स्नायविक दुर्बलता, अपराध की मनोवृत्ति, मानसिक उत्तेजना—ये मादक वस्तुओ के सेवन की निश्चित प्रतिक्रियाए है।

शरीर और मन मे अवाछनीय प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले मद्य और मास का परित्याग सस्कार-निर्माण का पहला चरण है। पहले चरण उठे विना अगला चरण आगे नही बढ सकता।

आहार-विवेक

खाद्य को केवल आर्थिक और भौगोलिक दृष्टि से ही नही देखा जा सकता। यह दृष्टिकोण भी है किन्तु मैं समझता हू कि अनेक दृष्टिकोणो से इस पर विचार करना चाहिए और अंतिम दृष्टिकोण है हमारी आत्मा की सुरक्षा, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण। किन्तु जहा आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यो का प्रश्न है, उसमे सर्वाधिक मनुष्य ही विकास कर सकता है और उसे ही सर्वाधिक विकास करने का अवसर प्राप्त है।

एक प्राणी दूसरे प्राणी को खाता है, यह वात निश्चय ही वडी अजीव लगती है। भला प्राणी प्राणी को कैसे खा सकता है? जार्ज वर्नार्ड शॉ मास नही खाते थे। एक व्यक्ति ने जव उनसे मास खाने के लिए कहा तो वर्नार्ड शॉ ने उत्तर दिया, 'मैं अपने पेट को कब्रिस्तान नही वनाना चाहता।' पेट को कब्रिस्तान कैसे वनाया जा सकता है? पशुओ को कैसे खाया जा सकता है? पशुओ को खाने वाले केवल मास को ही नही खाते, मास के साथ और भी वहुत सारी चीजें खाते हैं। क्या मास खाने वाला उसके सस्कार को भी साथ-साथ नही खाता है? मास को खा ले और पशुओ के सस्कार को छोड दे, यह वात सभव नही है। विज्ञान ने सस्कारो पर भी सूक्ष्मता से अन्वेषण किया है। आप देखें कि सस्कारो का सक्रमण किस प्रकार होता है? मैं एक छोटी-सी घटना आपके समक्ष रखता हू।

एक विदेशी सैनिक अधिकारी की अगुलिया कट गईं। अगुलियो का प्रत्यारोपण किया गया। प्रत्यारोपण के वाद क्या होता है कि जव कभी वह सैनिक अधिकारी किसी गोष्ठी या भोज आदि मे सम्मिलित होता है तो उसके समीप आनेवाले वडे आदमी के पॉकेट के पास उसकी अगुलिया चली जाती। प्रत्यारोपित अगुलिया सहज ही आगतुक की जेव के पास चली जाती। सैनिक अधिकारी हैरान था। वह सोचता था कि ऐसा क्यो होता है? पर कुछ सूझता ही नही था। एक दिन वह अस्पताल मे डॉक्टर के पास पहुचा। उसने डॉक्टर से पूछा कि मेरे हाथ मे जो अगुलिया प्रत्यारोपित की गई हैं, वे किसकी हैं? डाक्टर ने खोज करके वताया कि वे अगुलिया एक जेवकतरे की हैं।

जेवकतरा मर गया, उसका शरीर नही रहा किन्तु उसके सस्कार अगुलियों मे मौजूद थे, इसलिए अगुलिया दूसरे के पॉकेट के पास चली जाती। इसलिए आप विचार करें कि जिन पशुओ को मारा जाता है, क्या उनके मन मे दु ख की भावना नही होती ? क्या मारे जाते समय उनके मन मे सताप नही होता ? क्रोध नही आता ? उस समय उनके मन मे जो भावनाए उठती हैं, वे सारी की सारी भावनाए मासाहार करने वाले व्यक्ति के मन मे सक्रान्त हो जाती हैं। निश्चित ही सस्कारो का इस प्रकार सूक्ष्म सक्रमण होता है।

जैन आगमो मे एक प्रसग आता है कि मुनि जहा बैठा है, वहा से उठकर चला गया तो एक अन्तर्मूहूर्त्त तक साध्वी को वहा नहीं बैठना चाहिए। जहा कोई स्त्री या साध्वी बैठी हुई है और वह उठकर चली गयी है तो साधु अन्तर्मूहूर्त्त तक वहा न बैठे। फिर प्रश्न हुआ कि यह निषेध क्यो ? इसका समाधान किया गया कि जहा पुरुष बैठा था, जहा स्त्री बैठी थी, वे तो चले गए किन्तु शरीर की ऊष्मा मौजूद है। उनके ओरा के परमाणु वहा पर विद्यमान हैं। इसलिए जो व्यक्ति वहा बैठेगा, उसके सस्कार उनमें सक्रान्त हो जायेंगे। सस्कारो का सक्रमण होने से वह व्यक्ति उससे प्रभावित हो जाएगा। मनुष्य मनुष्य से प्रभावित होता है, मनुष्य मनुष्य के विचारो से प्रभावित होता है। सक्रमण के कारण ऐसा होता है। तो हमारे सूक्ष्म-जगत् मे इतना सक्रमण है कि हम इसकी कल्पना भी नही कर सकते। ये ईंटें, ये दीवारें उस सक्रमण को रोक नही सकती। इसलिए हमे इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि मास खाने वाला केवल मास ही नही खाता बल्कि जिसका मास खाता है, उसके सस्कारो को भी खाता है।

जैसा आज हिन्दुस्तानी भोजन का क्रम चल रहा है, वह बहुत उपयोगी नहीं है। आबादी की अधिकता के कारण अनाज की कमी नही है किन्तु अनाज की कमी का कारण हमारा असंतुलित भोजन भी है। एक आदमी दिनभर मे एक सेर भोजन कैसे कर सकता है ? हमारी आंतडियों में केवल अन्न को पचाने की इतनी क्षमता भी नही है और न उसे निकालने की क्षमता है। हमारी आतें एक साथ इतने भोजन को न पचा सकती हैं और न निकाल सकती हैं। हमारे यहा कब्ज की बीमारी इसीलिए बहुत होती है और उसे मिटाने के लिए वैद्य-डॉक्टरो की भरमार भी है। बहुत-सी गोलिया आजकल निकली हैं।

हमे भोजन मे प्रोटीन भी चाहिए, विटामिन भी चाहिए और सतुलित रूप मे चाहिए। सतुलित भोजन के सम्बन्ध मे बहुत कम ध्यान दिया गया। हमारे यहा भोजन का मानदण्ड है केवल स्वाद। स्वाद होना चाहिए। बाजार मे चले जाइए, तली हुई अनेक चीजें दिखाई पडेंगी। चटपटी चीजें केवल स्वाद के लिए खायी जाती हैं, और काफी मात्रा मे खायी जाती हैं। चोकर की रोटी खाना शायद बहुत कम लोग पसन्द करते है, जबकि चोकर मे इतने तत्त्व हैं कि हम उसे अच्छी

तरह जानते नही। परन्तु लोगो की ऐसी मान्यता बन गयी है कि चोकर केवल डालने के लिए होता है, खाने के लिए नही।

आज भोजन की आवश्यकता इसलिए इतनी है कि हम ठीक प्रकार से भोजन करना नही जानते, ठीक प्रकार से श्वास लेना नही जानते। इसलिए भोजन की आवश्यकता अधिक पडती है। जो व्यक्ति प्राणायाम को जानता है ठीक प्रकार से श्वास लेना जानता है, उसकी खुराक बहुत कम होगी। केवल खाना ही पर्याप्त नही है। खाने के साथ तत्त्वो को कितना पचा सकते है, यह महत्त्व की वात है। अगर किसी को भस्मक रोग हो गया तो खाने के कुछ देर वाद ही उसे भूख लग जाती है और इस प्रकार वह काफी भोजन करता है। किन्तु उसके शरीर मे कोई परिवर्तन नही आता। वह वैसे ही दुवला-पतला रहता है। कुछ लोगो को भोजन की कमी नही है। वे वढिया भोजन भी करते हैं, किन्तु उन्हे ठीक प्रकार से पोषक तत्त्व नही मिलते हैं। उसका कारण यह है कि वे पूरा भोजन हजम नही कर पाते।

भोजन के लिए जितना खाद्य-पदार्थों का निर्वाचन और विवेक होना जरूरी है, उतना ही प्राणवायु के सम्बन्ध मे जानना जरूरी है। जो व्यक्ति श्वास के वारे मे, प्राणवायु के वारे मे ठीक जानकारी नही रखता, उसके लिए भोजन उतना लाभदायी नही होता।

एक वार देवताओ का वैद्य अश्विनीकुमार मृत्युलोक मे आया। वह वेश वदलकर वाग्भट्ट के पास पहुचा जो कि आयुर्वेद के वहुत वडे आचार्य थे। अश्विनीकुमार ने वाग्भट्ट से पूछा, 'वैद्यराज जी! मुझे ऐसी औषधि वतलाए जो न जमीन से उत्पन्न हुई है और न आकाश से। पथ्य है किन्तु जिसमे कोई रस नही है और सव शास्त्रो द्वारा सम्मत है।' वाग्भट्ट ने कहा, 'लघन(उपवास) ही सवसे वडी औषधि है। यह न भूमि से उत्पन्न हुई है और न आकाश से। पथ्य है और रस-विवर्जित है। सव आचार्यो के द्वारा सम्मत भी है।'

उपवास ही सवसे वडी औषधि है। हम जव तक इसके महत्त्व को नही समझेंगे, हमारे भोजन की समस्या का समाधान नही निकलेगा। द्वितीय महायुद्ध के वाद जव जर्मनी मे सर्वेक्षण किया गया तव निष्कर्ष निकाला गया कि यहा अधिकाश वीमारिया अतिभोजन के कारण हुई है। हम लोग इतना खाते है जितना कि हमे नही खाना चाहिए। हर व्यक्ति खाते समय यही सोचता है कि पेट अभी भरा नही। परन्तु खाते समय पेट भरेगा कैसे? और खाते समय पेट भर गया तो फिर स्वस्थ कैसे रहोगे? हमे जितनी भूख लगती है, उसे चार भागो मे वाट देना चाहिए। दो भाग भोजन के लिए, एक भाग पानी के लिए और एक भाग वायु के लिए छोड देना चाहिए। और लोग जव खाना खाने के लिए वैठते हैं तो भूख से भी दो कौर अधिक खाना चाहते है ताकि भूख न लगे। खाने के आधा

घटा बाद कहते हैं कि पेट फट रहा है। आतें फट रही हैं। इस प्रकार हमारे यहा खाने की कोई व्यवस्थित पद्धति नही है। भोजन के सम्बन्ध मे हमारा अज्ञान ही बहुत सारी समस्याओं को जन्म देता है। खाना जरूरी है तो उसके साथ-साथ श्वास का ज्ञान भी जरूरी है। उपवास और नही खाना भी जरूरी है।

अभी हमने पढा था कि कुछ चूहो को दो श्रेणियो मे विभक्त कर दिया गया। एक श्रेणी के चूहो को खूब गरिष्ठ भोजन दिया गया, विटामिन की गोलियां दी गई और दूसरी श्रेणी के चूहो को सादा भोजन दिया गया और बीच-बीच मे एकान्तर भी कराया गया। यानी बीच-बीच मे उपवास भी कराया गया। परिणाम यह आया कि जिन चूहो को पर्याप्त भोजन दिया गया वे तो दो वर्ष पहले मर गए और जिन्हें सादा भोजन दिया गया तथा उपवास कराया गया वे दो वर्ष के बाद मरे। केवल खाना ही हमारी तन्दुरुस्ती का हेतु नही है। मासाहारी लोगो मे जितनी बीमारिया होती है, उतनी शायद शाकाहारी लोगो मे नहीं होती। आप दुनिया के इतिहास को देखे कि जिन व्यक्तियो ने आध्यात्मिक और शान्ति का चिन्तन किया उनमे शत-प्रतिशत न कहू तो पिचानवे प्रतिशत व्यक्ति शाकाहारी थे। उन्होंने शाकाहार के बल पर, प्राणवायु के बल पर, उपवास और तपस्या के बल पर ऐसे काम किए हैं। हमारे सघ की एक साध्वी ने बारह महीने तक छाछ के ऊपर के पानी पर अपना जीवन चलाया है। कुछ प्राकृतिक चिकित्सा वाले लोग भी यह प्रयोग कर रहे हैं कि मनुष्य को अन्न और पानी की आवश्यकता ही न पडे।

आज के इस युग मे स्थूल बातो मे न उलझकर सूक्ष्म बातो की ओर ध्यान दें जिनके आधार पर हम बहुत सारी स्थूल बातो से मुक्त होकर सूक्ष्म बातो का सहारा लेकर अपने कार्य को चला सकते हैं, अपनी शक्ति को टिकाए रख सकते हैं।[1]

---

१ हिसार, २२ जुलाई, १९७३।

हमारा भोजन

रोटी का प्रश्न जीवन का पहला प्रश्न है। वह पहला प्रश्न है, इसलिए सबसे बडा प्रश्न है। कोई भी मनुष्य खाए बिना जी नही सकता और वह जी नही सकता तब कुछ भी कर नही सकता। कुछ करने के लिए जीवन जरूरी है और जीवन के लिए रोटी जरूरी है। विश्व की राजनीति का पहला प्रयत्न है—जनता को रोटी सुलभ कराई जाए। आवास और वस्त्र को सुलभ करना प्रथम प्रश्न नही है। वह रोटी के बाद की समस्या है। जीवन होने पर ही वस्त्र, आवास और चिकित्सा की जरूरत होती है, अन्यथा नही होती। धार्मिक चिन्तन मे भी भोजन के प्रश्न को प्राथमिकता मिली है। पिंडनिर्युक्ति एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है, जो मुनि के भोजन के विविध पहलुओ पर प्रकाश डालता है। उसमे लिखा है—जैसे कपडे का कारण धागा और धागे का कारण पक्ष्म (रोम) है, वैसे ही मोक्ष का कारण ज्ञान, दर्शन और आचारमय जीवन है और उस जीवन का कारण आहार है। आहार के बिना जीवन नही हो सकता, जीवन के बिना ज्ञान, दर्शन और आचार की आराधना नही हो सकती और उसके बिना बन्धन-मुक्ति नही हो सकती। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य की पहली चिन्ता और पहली अपेक्षा है आहार। इसलिए आहार के प्रश्न को गौण नही किया जा सकता। उसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

आहार हमारे जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है। यह आहार-शास्त्र का पहला सूत्र है। उसका दूसरा सूत्र है—आहार कैसा हो? और तीसरा सूत्र है—हम आहार क्यो करते हैं? उसका उद्देश्य क्या है? पहले हम तीसरे सूत्र पर विमर्श करेंगे। हमे भूख लगती है, इसलिए, हम भोजन करते हैं। भूख सबसे बडी बीमारी है। वह सबसे बडी बीमारी है इसीलिए हम उसे सबसे छोटी बीमारी समझते हैं। और इसलिए समझते हैं कि हम उससे बहुत परिचित हो गए हैं। जो बीमारी परिचित हो जाती है, जिस बीमारी के साथ हम सगी होकर जीना शुरू कर देते हैं, वह बडी बीमारी भी छोटी बन जाती है। भूख हमारी प्रतिदिन की बीमारी है। हम उसका उपचार करना जानते हैं, इसलिए उससे घबराते नही हैं। भूख लगी, जठराग्नि की पीडा शुरू हुई और हमने खाना

खा लिया। वीमारी समाप्त हो गई। इस वीमारी का इलाज हमारे हाथ मे है, इसलिए हम इस वीमारी को वीमारी नही समझते। एक आचार्य ने लिखा है—भूख के समान कोई पीडा नही है। प्रश्न हुआ—क्यो खाना चाहिए? इसका उत्तर दिया—भूख की पीडा को शात करने के लिए खाना चाहिए। खाने का यह स्वाभाविक उद्देश्य है। इसके सिवाय जितने उद्देश्य वतलाये गए हैं और वतलाए जाते हैं, वे सव सैद्धातिक हैं, स्वाभाविक नही है।

हमारा आहार कैसा होना चाहिए? इस दूसरे प्रश्न पर हम कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे। इस प्रश्न पर समूचे विश्व मे अनेक दृष्टिकोणो से विचार-विमर्श हुआ है। उसका वर्गीकरण यह है—

१ शारीरिक स्वास्थ्य
२. मानसिक स्वास्थ्य
३ अहिंसा
४ व्रह्मचर्य
५ चित्तवृत्ति का परिमार्जन।

आहार के विमर्श का पहला दृष्टिकोण है—शारीरिक स्वास्थ्य। इस दृष्टि से विमर्श करने वाले पोपणविदो और चिकित्साविदो ने वतलाया कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल आधार है—सतुलित भोजन। शारीरिक तत्त्वो के क्रिया-सचालन के लिए जो-जो भोजन तत्त्व अपेक्षित हैं, उन सवका हमारे भोजन मे होना सतुलित भोजन है। प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट, स्नेह, लवण, क्षार, लौह और विटामिन्स—ये उचित मात्रा मे खाए जाते हैं, वह सतुलित भोजन माना जाता है। इससे शरीर स्वस्थ और क्रिया करने मे सक्षम रहता है।

भोजन के विमर्श का दूसरा दृष्टिकोण है—मानसिक स्वास्थ्य। मन स्वस्थ रहे—यह हमारे लिए वहुत मूल्यवान् है। भोजन का मन की क्रियाओ पर वहुत असर होता है। हमारा मन मस्तिष्क की रासायनिक प्रक्रिया से प्रभावित होता है और मस्तिष्क की रासायनिक प्रक्रिया भोजन से प्रभावित होती है। इस अर्थ मे हम सोच सकते हैं कि भोजन का सवध केवल शरीर से ही नही है, मन से भी है। वह केवल शरीर को ही पोपण नही देता, मन को भी पोपण देता है। वह केवल शरीर की क्रियाओ का ही सचालन नही करता, उससे मन की क्रियाए भी सचालित होती हैं। क्योकि वह शरीर से जुडा हुआ है। रासायनिक क्रिया की दृष्टि से वह शरीर का एक हिस्सा ही है। मन या मस्तिष्क पुष्ट हो, भोजन का केवल यही दृष्टिकोण नहीं है। उसका समग्र दृष्टिकोण यह है कि मन विकृत, उत्तेजित और क्षुब्ध न हो। भगवान् महावीर के जीवन का एक प्रसग है कि एक वार वे आदिवासी लोगो के वीच विहार कर रहे थे। उस प्रदेश के लोग वहुत क्रोधी और झगडालू थे। वे अकारण ही दूसरो को कष्ट देने मे आनन्द का अनुभव करते थे। एक व्यक्ति ने जिज्ञासा की कि उस प्रदेश के सभी लोग क्रोधी और झगडालू क्यों हैं? उन्हे दूसरो को सताने मे रस क्यो आता है? इस जिज्ञासा का

उत्तर मिला कि वे रुखा खाते हैं और जो लोग सदा रुखा भोजन करते हैं, वे स्वभाव से क्रोधी और झगडालू हो जाते हैं। प्रोटीन पर्याप्त मात्रा मे नही मिलता तो स्वभाव चिडचिडा हो जाता है। अनेक मानसिक विकृतियो के लिए भोजन उत्तरदायी होता है।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के दृष्टिकोणो से भोजन पर पर्याप्त विमर्श हुआ है। आहारशास्त्र और चिकित्साशास्त्र मे इस विषय की पर्याप्त जानकारी मिलती है। भोजन की जो मानीकृत तालिकाए है, वे शरीर और मन के स्वास्थ्य को लक्ष्य कर निर्धारित की गई हैं। उन्ही के आधार पर आहारशास्त्री और चिकित्साशास्त्री भोजन के तत्त्व और मात्रा का निर्देश देते हैं।

आहार के विमर्श का तीसरा दृष्टिकोण भी है—वह है अहिंसा। भोजन का विमर्श केवल दो दृष्टियो से ही पर्याप्त नही है। उसके विमर्श का एक तीसरा दृष्टिकोण भी है और वह वहुतमहत्त्वपूर्ण है। उस पर वहुत मीमित विचार हुआ है। विचार नही हुआ, ऐसा मैं नही कहता किन्तु स्वास्थ्य के विमर्श की तुलना मे उस पर वहुत कम हुआ है। धर्म या अध्यात्म के आचार्यों ने इस पर अवश्य विमर्श किया है। इम दिशा मे जैन धर्म सवमे अग्रणी है। अहिंसा की दृष्टि से हमारा भोजन कैसा होना चाहिए—इस विमर्श मे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की उपेक्षा नही है किन्तु इस वात की सूचना है कि स्वास्थ्य हमारी अन्तिम सचाई नही है। उससे परे भी कुछ है और उसका सवध समूचे प्राणी-जगत् से है। वह मनुष्य जाति की समानता का वहुत वडा आधार वनता है। अहिंसा की दृष्टि मे भोजन के विमर्श का पहला सूत्र है—अनिवार्यता का सिद्धान्त। हमे वह भोजन लेना चाहिए जो जीवन-धारण के लिए अनिवार्य हो। जिसकी अनिवार्यता न हो, उसे नही लेना चाहिए। स्वाद की दृष्टि से भोजन नही लेना चाहिए। दूसरा सूत्र है—हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त। आदमी मास खाकर जीता है और अनाज खाकर जीता है। इन दोनो मे हम चयन करें तो मास की अनिवार्यता है या अनाज की अनिवार्यता ? हिंसा की सभावना मास खाने मे ज्यादा है या अनाज खाने मे ? इस चयन का फलित होगा कि मास खाना अनिवार्य नही है। अनाज खाना अनिवार्य है। क्योकि शाकाहार का कोई विकल्प नही है जो मनुष्य को जीवित रख सके। मासाहार का विकल्प है शाकाहार। मास को छोडने वाला शाकाहार के वल पर जी सकता है। शाकाहारी मास नही खाता, पर मासाहारी अनाज, फल और शाक सब्जी खाते हैं, क्योकि मासाहार करने पर भी शाकाहार की अनिवार्यता का वे अतिक्रमण नही कर पाते। शाकाहार जीवन की न्यूनतम अपेक्षा है। उसे छोडा नही जा सकता। उसके विना काम नही चल सकता। यह अनिवार्यता का सिद्धात है। अनाज और मास—दोनो की तुलना मे मास का भोजन मनुष्य को अधिक क्रूर वनाता है। मास को प्राप्त करने मे मनुष्य को जितना क्रूर

वनना पडता है, उतना अनाज को प्राप्त करने मे उसे नही होना पडता। जो लोग मासाहारी हैं, वे भी बूचडखाने मे नही जाते। जहा जीवो का वध होता है, पशु-पक्षी मारे जाते हैं, वहा नही जाते। यदि वे वहा चले जाए तो सभव है, उनके लिए भी मास खाना मुश्किल हो जाएगा। हर आदमी इतना क्रूर नही होता कि वह हजारो-हजारो प्राणियो की मृत्युकालीन चीखो और पीडाओ को झेल सके। प्राणिमात्र मे प्रवाहित प्राण-ऊर्जा को अपनी प्राण-ऊर्जा के समान देखने वाले लोग मास कैसे खा सकते हैं ? नही खा सकते। अनाज खाने मे भी हिंसा है पर आतरिक क्रूरता की दृष्टि से मास भोजन की कोटि मे नही आता। अनिवार्यता और हिंसा का अल्पीकरण—इन दोनो दृष्टियो से मास-भोजन स्वीकार्य नही हो सकता। जिन लोगो ने करुणा से आर्द्र होकर देखा, उन सबने एक स्वर से कहा, 'मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह विकल्पो का चयन करता है, इसलिए उसे मास नही खाना चाहिए।' प्राकृतिक चिकित्सा की कुछ खोजो ने यह प्रमाणित किया है कि मनुष्य मासाहारी नही है। मास मनुष्य का वास्तविक भोजन नही है। मासाहारी और शाकाहारी प्राणियो के भोजन-तत्र के वनावट मे मौलिक अन्तर होता है। शाकाहारी प्राणी जल पीते है, गाय जल को पीती है, किन्तु भेडिया जल को पी नही सकता। वह उसे चाटता है। कोई भी मासाहारी जल को पीता नही है, वह उसे चाटता है। इस भोजन-तत्र की रचना से पता चलता है कि प्रकृति मे दो प्रकार के प्राणी हैं—शाकाहारी और मासाहारी। वर्तमान का प्रश्न है कि मनुष्य मास न खाए तो काम कैसे चले ? अनाज कम है और खाने वाले अधिक। इस विपय पर हुई नयी खोजो ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य मास खाना छोड दे तो वढी हुई आवादी को भोजन की समस्या का सामना नही करना पडेगा। मनुष्य मास खाता है, इसीलिए अनाज की कमी है। मुर्गियो, सूअरो तथा अन्य पशु-पक्षियो को पालने के लिए वहुत वडा भू-भाग चाहिए। उन्हे खिलाने के लिए पर्याप्त मात्रा मे अनाज चाहिए। यदि वह भूमि खेती के काम मे ली जाए और वह अनाज मनुष्य को खिलाया जाए तो सहज ही भोजन की समस्या हल होती है।

अहिंसा की दृष्टि से भोजन का विमर्श करते समय हम केवल मास को ही निषिद्ध नही मान सकते, किन्तु वे सव वस्तुए निषिद्ध मानी जाती हैं, जिन्हे प्राप्त करने मे हिंसा अधिक और आवश्यकता की पूर्ति कम होती है। भोजन के विमर्श का चौथा दृष्टिकोण है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचारी को कैसा भोजन करना चाहिए—यह दृष्टिकोण अहिंसा से भी आगे का दृष्टिकोण है। अहिंसक के लिए जो आहार विहित है, वह भी कभी और कही ब्रह्मचारी के लिए अविहित हो जाता है। उसके लिए सतुलित भोजन करने का विधान है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी सतुलित भोजन का विधान है। किन्तु इन दोनो का तात्पर्य एक नही है। ब्रह्मचारी को

स्निग्ध और पुष्टिकारक भोजन लेना चाहिए किन्तु साथ-साथ रूखा भोजन भी लेना चाहिए। दोनो का सतुलन बनाए रखना चाहिए। यदि वह केवल रूखा भोजन लेता है तो उससे क्रोध की मात्रा बढ जाती है, स्वभाव चिडचिडा हो जाता है और बौद्धिक कार्य की क्षमता कम हो जाती है। यदि वह स्निग्ध, पोषक भोजन लेता है तो इससे वासना उत्तेजित होती है। इसलिए ब्रह्मचारी को दोनो मे समझौता करके चलना चाहिए। वह स्निग्ध भोजन ले किन्तु इसके प्रति जागरूक रहे कि बढा हुआ रक्त और मास वासना की वृत्ति को न उभार पाए। वह रुक्ष भोजन भी ले किन्तु इसके प्रति जागरूक रहे कि वह उसकी आवेश वृत्ति को न उभार पाए। वह दोनो का इस प्रकार सतुलन रखे, जिससे बौद्धिक क्षमता भी न घटे और वासना भी उत्तेजित न हो। वह उच्छृ खल न बने। इस सतुलन मे व्यक्ति के अपने विवेक और अपनी जागरूकता का ही अधिक उपयोग हो सकता है।

भोजन के विमर्श का पाचवां दृष्टिकोण है—आन्तरिक वृत्तियो का शोधन। भोजन का प्रभाव केवल शरीर के बाहरी तत्त्वो तक ही सीमित नही है, उसका प्रभाव हमारी आन्तरिक वृत्तियो पर, शरीर के सूक्ष्म-तत्त्वो पर और सूक्ष्म-शरीर पर भी होता है। इसलिए भोजन के विषय मे हमे बहुत सावधान होना चाहिए। मादक वस्तुओ के निषेध का यह मुख्य आधार है। कुछ लोग मानते हैं कि सीमित मात्रा मे मदिरा पीना हानिकारक नही है। वह पाचन को ठीक रखती है, शरीर को स्फूर्ति देती है। किन्तु मदिरा का निषेध शारीरिक दृष्टि से ही नही किया गया। उस निषेध के पीछे दूसरी दृष्टिया भी हैं और मुख्य दृष्टिया दूसरी ही हैं। यह ठीक है कि अतिमात्रा मे कोई भी चीज खायी जाती है तो उससे नुकसान होता है। मदिरा भी अतिमात्रा मे ली जाएगी तो नुकसान होगा। किन्तु उसके निषेध के लिए अतिमात्रा का प्रश्न नहीं है। मूलभूत प्रश्न है कि हमारी चेतना सतत जागरूक रहनी चाहिए, सतत सावधान और अप्रमत्त रहनी चाहिए। मदिरा तथा सभी मादक वस्तुए हमारी जागरूकता को खण्डित करती है, चेतना को मूर्च्छित करती हैं, प्रमाद पैदा करती हैं, इसीलिए मदिरा का निषेध किया गया और इसी-लिए सभी मादक वस्तुओ का निषेध किया गया। हमे अपने ज्ञान-ततुओ को विकृत बनाने वाली और वृत्तियो को उत्तेजित करने वाली किसी भी वस्तु का सेवन नही करना चाहिए। मादक वस्तु के प्रयोग से मनुष्य बेभान हो जाता है और बेभान मनुष्य कैसा आचरण करता है, उसकी कोई कल्पना नही की जा सकती। दुनिया के जितने नियम हैं, वे सब जागृत व्यक्ति के लिए हैं। मूर्च्छित व्यक्ति के लिए कोई नियम नहीं होता। अन्तर्वृत्ति को मूर्च्छित बनाने वाली वस्तुए हमारे लिए निषिद्ध हैं, यही मूलभूत आधार है मदिरा तथा अन्य मादक वस्तुओ के प्रयोग का। मास-भोजन की चर्चा भी यहा अप्रासगिक नही होगी। अन्तर्वृत्ति की दृष्टि मे हमे मासाहार के प्रश्न पर विचार करना चाहिए। जिन पशुओ, पक्षियो और

जलचर जीवो का मास खाया जाता है, वे सव प्राणी हैं। जो प्राणी हैं, उनमे अच्छे-बुरे सव प्रकार के सस्कार हैं। पशुओ मे तामसिक वृत्तियां प्रवल होती हैं। मुनि के लिए वताया गया है कि उसे ऐसे स्थान मे नही रहना चाहिए, जहा पशु रहते हो। प्रश्न हुआ कि यह निषेध क्यों? इस प्रश्न का समाधान एक पशु-शास्त्र मे मिला। उसमे लिखा है—पशुओ की वृत्तिया तामसिक होती है। उनके सस्कार तामसिक होते है। तामसिक वृत्ति के परमाणुओ का उनसे विकिरण होता है। वे उनके आसपास फैले रहते है और सारे वायुमण्डल को तामसिक वना देते हैं। जो पशुओ के आसपास रहता है, उसका मन तामसिक वृत्तियो से भर जाता है। उसकी तामसिक वृत्तिया उभर आती हैं। इसलिए जहा पशु हो, वहा ध्यान करने वाले, समाधि मे जाने वाले साधक को नही रहना चाहिए। जिस पशु के आसपास रहने से हमारी तामसिक वृत्तिया उभरती है, उस पशु का मास जिसके पेट मे जाता है, क्या वह अपना प्रभाव नही डालेगा? निश्चित डालेगा। कोई भी आदमी उसके प्रभाव से वच नही सकता। जो मास पशु के शरीर का अभिन्न भाग होता है, जिसके कण-कण मे उसके सस्कारो का प्रतिविम्व होता है, उस मास को खाने वाला क्या पाशविकता के सस्कारो से वच पाएगा? कभी नहीं। मुझे लगता है कि मनुष्य मे पाशविकता, अज्ञान, प्रमाद और क्रूरता के वढने का वहुत वडा कारण है—मासाहार। मांसाहार ने निश्चय ही मनुष्य को कुछ अशो मे पशु वनाया है और उसमे पाशविक वृत्तिया पैदा की हैं, अन्यथा मनुष्य कुछ ऐसे आचरण नही करता जो पशु के लिए ही उचित हो सकते है, मनुष्य के लिए नही।

मासाहार के निषेध की चर्चा पहले अहिंसा के दृष्टिकोण से की थी और यह अन्तर्वृत्तियो के दृष्टिकोण से की जा रही है। सभी चाहते हैं कि हमारे समाज मे अपराध की वाढ न आए, किन्तु अन्तर्वृत्तियो को परिष्कृत किए विना अपराध की वाढ को नही रोका जा सकता। अन्तर्वृत्तियो को विकृत वनाने वाली वस्तुओ के प्रयोग को छोडे विना उन्हे परिष्कृत नही किया जा सकता। इस दृष्टि से मासाहार का प्रश्न मनुष्य के लिए वहुत चिन्तनीय है। यह एक ऐसी समस्या है, जिसे दूसरी समस्याए उपस्थित कर मनुष्य दृष्टि से ओझल करना चाहता है, किन्तु वह दृष्टि से ओझल होकर भी अपना प्रभाव दिखाए विना नही रहती और स्वय समाहित नही होती। हम सर्वागीण दृष्टि से जीवन का निरीक्षण करें और जीवन को सर्वांगीण सन्दर्भों मे देखें। हमारा जीवन केवल शरीर और मन का ही जीवन नही है। वह उससे वहुत आगे और वहुत व्यापक है, इसलिए शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ही भोजन का निर्धारण न करें। उसके निर्धारण मे अहिंसा (प्रेम, मैत्री या करुणा), ब्रह्मचर्य (अनासक्त भाव) और अन्तर्वृत्तियो के परिष्कार का जो हिस्सा है, उसे वरावर ध्यान मे रखे।

भोजन का एक दूसरा पहलू भी है। उस पर भी हमे ध्यान देना चाहिए।

हमारे लिए खाना जितना महत्त्वपूर्ण है, नही खाना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। खाने का जितना मूल्य है, नही खाने का भी उससे कम मूल्य नही है। जब तक हम आहार को ही समझते है, अनाहार को नही समझते, खाने पर ही विचार करते हैं, नही खाने पर विचार नही करते, तब तक भोजन का विषय पूर्ण दृष्टि से चर्चित नही होता। स्वास्थ्य के लिए यदि सतुलित भोजन जरूरी है तो उसके लिए भोजन को छोडना भी जरूरी है, बहुत जरूरी है। भोजन को छोडने के तीन प्रकार महावीर ने बतलाए हैं—अनशन, ऊनोदरी और रस-परित्याग। ये आहार के अनिवार्य सिद्धान्त है, इसलिए ये आहार से भिन्न नही है। अनाहार को छोडकर आहार को देखना वास्तव मे आहार के प्रति भ्रान्त होना है और अपने स्वास्थ्य के प्रति भी अन्याय करना है। जो लोग केवल भोजन का ही महत्त्व समझते हैं, उसे छोडने का महत्त्व नही समझते, वे न केवल मोटापे की बीमारी से ग्रस्त होते जा रहे हैं, किन्तु अन्य बीमारिया भी उन्हे आक्रान्त कर रही है।

महावीर ने कहा, 'अनशन करो, मत खाओ।' प्रश्न हुआ—'कब तक न खाए ?' उन्होंने कहा, 'एक दिन नही, दो दिन नही, जब तक मन स्वस्थ बना रहे, तब तक न खाओ। हो सके तो छह मास तक भी मत खाओ।' सभव है यह सबके लिए न हो सके। कोई-कोई आदमी इतने लम्बे समय तक खाए बिना जी सकता है। फिर भी खाना तो पडेगा। खाना पडेगा तब महावीर ने कहा, 'कुछ ऐसा अभ्यास करो, जिससे यह अनुभव हो कि खाने पर भी पूरा नही खाया। ऊनोदरी का सिद्धान्त कम खाने का सिद्धान्त है। यही परिमित भोजन है। यह कम खाने का सिद्धान्त है। स्वय द्वारा स्वय की चिकित्सा है।' एक आचार्य ने लिखा है—

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।

—जो हित, मित और अल्पमात्रा मे भोजन करते है, उनकी वैद्य चिकित्सा नही करते। वे स्वय अपने चिकित्सक हैं।

बीमारिया पैदा होने का बहुत बडा कारण है अहितकर और अपरिमित भोजन। जो हितकर और परिमित खाता है, उसे बीमारी क्यो सताएगी ? कम खाना, कम वस्तुए खाना और कम बार खाना—यह अल्पाहार का स्वरूप है। कम खाने का अर्थ है—भोजन के एक घटा बाद भी पेट मे भार महसूस न हो। अपनी भोजन की मात्रा का निर्धारण व्यक्ति अपने अनुभवो के आधार पर स्वय कर सकता है। एक साथ बहुत वस्तुए नही खानी चाहिए। भोजन का पाचक रस (पित्त-स्राव) सीमित होता है। उसमे जितने भोजन को पचाने की क्षमता होती है, उससे अतिरिक्त वस्तुए खायी जाती हैं तब आहार स्वय स्वास्थ्य को चुनौती देने लग जाता है। तीन बार से ज्यादा खाना बहुत बार खाना है।

भगवान् महावीर स्वय अल्पाहार करते थे। इसीलिए कहा गया है कि दूसरे व्यक्ति वीमार होने के वाद कम खाते हैं महावीर वीमार नही हैं, फिर भी कम खाते हैं। वे कम खाते हैं, इसीलिए वीमार नही होते। भोजन के प्रति आसक्ति उतनी तीव्र न हो जाए कि रस मनुष्य को पराजित कर दे, अभिभूत कर दे। इस दृष्टि से रस-परित्याग वहुत महत्त्वपूर्ण है।

आहार और अनाहार—दोनो साथ-साथ चलें। आहार का सिद्धान्त अनाहार के सिद्धान्त से जुडा रहे तभी हम आध्यात्मिक दृष्टि से भोजन का अर्थ समझ सकते हैं। आहार को हमने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उसे सर्वाधिक महत्त्व इसलिए दिया है कि वह हमारे जीवन की पहली आवश्यकता है। वह पहली आवश्यकता इसलिए है कि वह हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। जीवन का प्रारम्भ ही भोजन से होता है। भोजन शब्द वहुत स्थूल है। उसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द है आहार। आहार का अर्थ है लेना, वाहर से लेना।

जव हम पैदा होते हैं तव सवसे पहले आहार लेते हैं। उसे कहते हैं—ओज आहार। ओज अर्थात् हमारे जीवन की मूलभूत शक्ति। जव तक वह सुरक्षित रहती है, तव तक आदमी जीवित रहता है। वहुत वार हम आश्चर्य मे डालने वाली घटनाए सुनते हैं कि एक आदमी खदक मे दव गया, मलवे के नीचे दव गया, फिर भी मरा नही। वहा दस दिन तक जीता रहा, वीस दिन तक जीता रहा। इसका सीधा-सा समाधान है कि जव तक उसका ओज आहार वना रहता है, तव तक वह मरता नही। वडी दुर्घटना होने पर भी वच जाता है। ओज आहार के समाप्त होने पर साधारण-सी ठोकर लगने पर भी आदमी मर जाता है।

हमारे शरीर का हर रोम-कूप आहार लेता है। हम मुह से कभी-कभी लेते हैं, किन्तु रोम-कूपो से निरन्तर लेते रहते हैं। हमारा जीवन इन रोम-कूपो पर वहुत निर्भर है। हमारा विश्वास है कि हम खाते हैं, इसलिए जी रहे हैं। इस भ्रान्ति को, इस मूर्च्छा को तोड देना चाहिए। हम नही खाते हैं, इसलिए जी रहे हैं—इस सचाई को समझना वहुत जरूरी है। अगर खाते हैं, इसलिए जी रहे हैं तो एक दिन प्रयोग करके देखिए। आप चौवीस घटा निरन्तर खाते चले जाइए, आप कैसे जीएगे? 'नही खाते हैं इसलिए जीते हैं'—इस वात को भुला देते हैं और 'खाते हैं, इसलिए जीते हैं'—इस वात को पकड़े हुए हैं। हम रोम-कूपो से आहार लेते हैं। यह निरन्तर चलता रहता है। तीन घटा यदि रोम-कूप वन्द हो जाए तो आदमी जी नही सकता। नाटक दिखाने वाले कुछ लोग रग आदि लगाते है। उनसे रोम-कूप वन्द हो जाते हैं। वे कभी-कभी उस रग को साफ किए विना सो जाते हैं, तो वहुत वडी दुर्घटना हो जाती है। कभी-कभी वे मौत के मुह मे चले जाते हैं। रोम-कूपो का वन्द होना मौत को निमन्त्रण देना है।

हमारा तीसरा आहार है—प्रक्षेप आहार। यह कवल-आहार है, जो मुह मे खाया जाता है या अन्य किसी साधन से शरीर मे पहुचाया जाता है। इससे हम बहुत परिचित है। हम मुख्यत इसी को आहार मानते हैं। प्राणवायु (ऑक्सीजन) हमारा आहार है। सूर्य का ताप हमारा श्रेष्ठ आहार है—यह कल्पना बहुत कम लोगो को है। अधिकाश लोग अनाज आदि को ही आहार मानते हैं।

एक चौथा आहार भी है जो मनोभक्षी है। मन मे आया कि भोजन करना है और भोजन हो गया। भोजन के सब तत्त्व हमारे वायुमण्डल मे भरे पडे हैं। सूक्ष्म-जगत् मे वह सब कुछ है जो स्थूल-जगत् मे उपलब्ध होता है। जो सूक्ष्म है, वही तो स्थूल बनता है। सूक्ष्म-जगत् मे जिसका स्रोत नही है, वह स्थूल-जगत् मे उपलब्ध नही हो सकता। शरीर की सुरक्षा के लिए जो चाहिए, वह सब हमारे आसपास मौजूद है। हमारी शक्ति इतनी विकसित नही है कि हम उस आहार को ले सकें।

ओज आहार स्वाभाविक है। उस पर हमारा कोई नियन्त्रण नही है। मनोभक्षी आहार की शक्ति विशेष साधना से उपलब्ध की जा सकती है। रोम आहार के लिए जरूरी है कि हम शुद्ध वातावरण मे जीए। प्रक्षेप आहार के विषय मे हमने आहार के कुछ सिद्धान्तो की चर्चा की है। उसका फलितार्थ यही है कि भोजन के विषय मे हमारा विवेक जागृत होना चाहिए।

कर्म और अकर्म

जिसके शरीर, वाणी और मन है वह कोई भी आदमी अकर्म नही हो सकता। शरीर, वाणी और मन—ये तीनो प्रकृति के स्रोत हैं, इनके अस्तित्व मे कोई भी आदमी निवृत्त नही हो सकता। मनुष्य का जीवन कर्म और अकर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति की सापेक्ष परिस्थिति मे बीतता है। मनुष्य सबसे ज्यादा मानसिक श्रम करता है, वाचिक श्रम उससे कम और कायिक श्रम उससे भी कम। हमारा कुछ श्रम उपयोगी होता है और कुछ अनुपयोगी। मन अपनी चचलता के कारण प्रवृत्ति करता रहता है। जिस प्रवृत्ति से कोई दृश्य लक्ष्य या स्पष्ट परिणाम उत्पन्न नही होता, वह मानसिक प्रवृत्ति अनुपयोगी होती है। जिस प्रवृत्ति-से दृश्य परिणाम उत्पन्न होता है उसे उत्पादक श्रम कहा जा सकता है। कुछ लोगो का आग्रह है कि कायिक श्रम ही उत्पादक हो सकता है, मानसिक श्रम उत्पादक श्रम नहीं हो सकता। कायिक श्रम से जीवन-निर्वाह मे उपयोगी वस्तु निष्पन्न होती है, इसलिए वह उत्पादक श्रम है। मानसिक श्रम से जीवन-निर्वाह के काम मे आने वाली कोई वस्तु निष्पन्न नही होती, इसलिए उसे उत्पादक श्रम नहीं कहा जा सकता।

यह परिभाषा जीवन की अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओ के आधार पर गढी गयी है। किन्तु क्या मानवीय जीवन मे चैतसिक अनिवार्यता नही है? क्या इस सृष्टि मे सूक्ष्म का अस्तित्व नही है? कायिक श्रम को सफलता देने वाले सिद्धान्त मानसिक श्रम से निश्चित होते हैं। फिर उपयोगी मानसिक श्रम को उत्पादक श्रम नही मानने का कोई कारण समझ मे नही आता। वैदिक वर्ण-व्यवस्था मे श्रम की दक्षता के विकास के लिए चार वर्ण विहित थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय का कार्य सुरक्षा, वैश्य का कार्य वस्तु-विनिमय और शूद्र का कार्य सेवा था। वस्तु का उत्पादन करना मुख्य रूप से शूद्र वर्ण का कार्य था। शेष तीन वर्णो मे वस्तु-उत्पादन श्रम की मुख्यता नहीं थी किन्तु उनका कार्य क्या श्रम से कम मूल्यवान् था? एक व्यक्ति सब काम नही कर सकता। समाज कार्यों के सामजस्यपूर्ण

विभाजन की व्यवस्था करता है। वस्तु का उत्पादन हो और उसका समुचित वितरण या विनिमय न हो तो उत्पादन का कितना मूल्य होगा ? उत्पादन और विनिमय की व्यवस्था समुचित है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था न हो तो क्या समाज विकासशील बना रह सकेगा ? सुरक्षा के अभाव मे क्या ज्ञान का विकास सम्भव हो सकता है ?

महामात्य कौटिल्य ने लिखा है—

शस्त्रेण रक्षिते देशे, शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।

'जो देश शस्त्र से रक्षित होता है, वही शास्त्र-चिन्तन का विकास सम्भव हो सकता है।'

इस प्रकार एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति से जुडी हुई है। इन्हे सापेक्ष मूल्य ही दिया जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य देने की मनोवृत्ति सामयिक परिस्थिति से सम्बद्ध हो सकती है, पर उसका मूल्य स्थायी नही होता।

योग का मर्म

मनुष्य के पास अनन्त शक्तिया हैं। वह शक्तियो का एक बहुत बडा खजाना है। शक्ति होना एक बात है, शक्ति का प्रकट होना दूसरी बात है। कुछ लोग ऐसे होते है जिनके पास धन होता हैं पर उन्हे पता नही होता कि उनके पास धन है। वे अज्ञान मे रहते हैं। वे जान नही पाते। ऐसी बहुत सारी घटनाए सुनने मे आती हैं कि घर मे धन के खजाने गडे पडे रहे और घर के स्वामी भीख मागते रहे। इसका मूल कारण है—अज्ञान। कुछ लोग ऐसे हैं जो यह जानते हैं कि उनके पास धन है, फिर भी वे उपयोग नही कर पाते। इस दुनिया मे वे कृपण कहलाते हैं, कजूस कहलाते हैं। इस दुनिया मे कजूसो की कमी नही है। ऐसे लोग हैं, ऐसे भीखमगे हमने देखे है कि जिनके मरने के बाद पचास हजार, लाख रुपये उनके पास निकले और जीते जी रोटी मागकर खाते रहे और ऐसी रोटी खाते कि जिसे मक्खिया और कुत्ते भी शायद पसन्द न करें। ऐसे भी लोग होते हैं। यह दुनिया बडी विचित्र है। ऐसा सग्रहालय है कि अजीब-अजीब बातें जितनी होती हैं वे सारी दुनिया मे घटित होती हैं। ऐसे लोग भी होते हैं। आप मत मानिये कि कुछ ही लोग होते हैं। मैं जिस बात की चर्चा कर रहा हू, इस मामले मे बहुत सारे व्यक्ति मिलेंगे और इस सूची मे आपका व मेरा भी नाम आ सकता है। क्यो नही आएगा ? क्योकि हम भी अपनी शक्तियो से अपरिचित हैं। हम नही जानते कि हमारे भीतर क्या है, हमारे इस छोटे से मस्तिष्क,मे क्या है, हम नही जानते। हमारे मन मे क्या है, हम नही जानते और हमारे मन के भीतर एक सोया हुआ मन है उसके भीतर क्या है, हम नही जानते। आजकल बहुत प्रयत्न करने वाले भी पूरी तरह नही जानते। हमारे शरीर के भीतर क्या है, हम नही जानते। मन के भीतर क्या है, उसे भी नही जानते।

अज्ञान के कारण हम अपनी शक्तियो से अपरिचित हैं। कुछ-कुछ जाना है जिन लोगो ने, वे भी प्रमाद के कारण उसका उपयोग नही कर रहे है। या तो उनके पास समय नही है, या प्रमाद है या और कुछ है कि वे अपनी शक्तियो को जानते हुए भी उनका प्रयोग नही करते, काम मे नही लेते। तो ऐसे लोग भी हैं।

योग का मतलब है अपनी शक्तियो को जानना, काम मे लेना और ठीक देश-काल मे काम मे लेना, ठीक उपायो से काम मे लेना। अगर ठीक समय पर हम काम मे नही लेते है तो हमारा काम होगा नही। घर मे गाय है। गाय को वाध दी। पर गाय दूध अपने आप तो नही देगी। अपने आप देती है वह कुछ और होता है। या तो गोवर होता है या गो-मूत्र होता है। दूध अपने आप नही देती। हमे यह जानना पडता है कि दूध कैसे दुहा जाता है।

आपने कहानी सुनी होगी पुराने जमाने की। एक प्रदेश था, जहा गाय नही होती थी। वहा गाय लायी गयी। राजा ने कहा, 'वह जो दे, वह ले आना।' आदमी ने जाकर वर्तन रख दिया। गाय ने मूत्र किया। गोमूत्र से वर्तन भर गया। राजा ने सूघा। वह छी-छी करने लगा। उसने सोचा, 'गाय की कैसे प्रशसा कर दी?' फिर दूसरी वार स्वर्ण का थाल भेजा। दूसरी वार गोवर मिला। राजा ने चखा और कहा, 'इसकी इतनी प्रशसा! मुझे गाय देने वाले ने ठग लिया।' राजा परेशान हो गया। राजा ने उस आदमी को पकडने के लिए चारो ओर आदमी जे। वह पकड लिया गया। उसने राजा से कहा, 'राजन्! मेरा दोप नही है। यह दोप आपके कर्मकरो का है। यह गाय तो वैमी ही है जैसा कि मैंने आपसे वताया था पर ये नही जानते कि कैसे लिया जाता है। उसने राजा के सामने गाय को दुहा, दूध गर्म किया, मिश्री मिलाई। राजा को पिलाया।' राजा ने कहा, 'यह तो वैसा ही है, जैसा तुमने वताया था। यह ठीक है वडा स्वादिष्ट है।'

जव तक हम यह न सीख लें कि काम कैसे लिया जाए तव तक काम नही वनता। काम तव वनता है जव हम यह जान लें कि काम कैसे लिया जाए, कव लिया जाए। जव देश-काल का वोध नही होता तो हमारी उपलब्धि ठीक नही होती। हमे यह वोध होना चाहिए कि कव लिया जाए? कैसे लिया जाए?

एक आदमी था। घर मे थी गाय। गाय क्रमश दूध कम देने लगी। उसने सोचा, महीने वाद लडकी का विवाह आ रहा है और मैं रोजाना गाय दुहता चला जाऊगा तो दूध कम हो जाएगा। अच्छा होगा कि मैं अभी दुहना वन्द कर दू, ताकि एक साथ वहुत सारा दूध मिल जाए। सोचने का अपना-अपना प्रकार होता है। जव थोडा-थोडा मिलता था, वह एक क्रम था। जव दुहना ही वन्द कर दिया तो गाय का दूध देने का अभ्यास भी छूट गया। अव महीने वाद जव गाय दुहने वैठा तो उसे कुछ नही मिला। गाय का सारा दूध सूख गया था। हमारी भी न जाने कितनी शक्तिया और सत्य के स्रोत इस प्रकार सूख जाते हैं क्योकि हम उन्हे काम में नही लेते। अगर रोज थोडा काम मे लेते चले जाए तो थोडा-थोडा ही मिले, किन्तु मिलता रहता है, हम ऐसा सोचते हैं। वहुत सारे लोग ऐसा करते है कि अभी करने की क्या जरूरत है, साठ वर्ष के वाद करेंगे, निवृत्त होकर करेंगे। यानी वे अपनी शक्ति के स्रोतो को इस प्रकार सुखा देते हैं कि उसके वाद फिर

कुछ नही होता। सारा जोश टूट जाता है। तो यह प्रारभिक वात मैंने आपके सामने कही कि कैसे होना चाहिए? कव होना चाहिए? कहा होना चाहिए? इन सारी वातो का अगर हमे ज्ञान हो तो हम इन शरीर से तया इस मन से उन उपलब्धियो का स्वाद प्राप्त कर सकते हैं जिनका स्वाद न हमे दूध मे मिलता है और न अन्य किसी मे। वह क्या है? हमारे शरीर की जो गति होती है—मैं चलता हू, वोलता हू, अगुली हिलती है—आप देखते हैं। मैं वोलता हू, इसे भी आप देखते हैं। मैं विल्कुल स्थिर हो जाता हू—इसे भी आप देखते है। आधे क्षण के लिए मैं मौन हो जाता हू, इसे भी आप देखते हैं। वोल रहा हू—इसे भी आप देखते हैं। नहीं वोल रहा हू—इसे भी आप देखते हैं। मैं शरीर को हिलाता हू उसे भी आप देखते हैं, मैं शरीर को विलकुल स्थिर कर लेता हू—उसे भी आप देखते हैं। तो शरीर की गति और अगति, वाणी की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति—दोनो को आप देखते हैं। किन्तु क्या आप देखते है मन को? नही देखते। मैं शरीर से विल्कुल उपशान्त हू, नहीं डोल रहा हू। वाणी शान्त। शरीर शान्त। दोनो शान्त है। पर मन चल रहा है। क्या आप उसे देखते हैं? आपको पता नही चलेगा। आदमी ऐसा लगता है कि ध्यान की मुद्रा मे वैठा हुआ है, आखें मुदी हुई हैं, शरीर विल्कुल शान्त है और वाणी मौन है। फिर भी मन न जाने कहां-कहा दौडता है, कव से दौडता है, पता नहीं चलता। मन चलता है, इसका देखने वालो को पता नही चलता और मन नही चलता, इसका भी देखने वालो को पता नही चलता। तो हमारी वह एक अदृश्य शक्ति है। अदृश्य वह है जो शरीर और वाणी से परे है और दिखायी देने वाले पदार्थो से परे की वात है।

शरीर की गति और अगति और मन की गति और अगति—ये दो वातें हैं। आप सोच सकते हैं कि शरीर की तो अगति हो सकती है। शरीर से तो कोई आदमी स्थिर भी हो सकता है, शिथिलीकरण कर सकता है, शात हो सकता है। पर क्या मन की अगति भी सभव है? मन रुकता नही है। मन टिकता नही है। क्या मन को टिकाया जा सकता है? हा, यह संभव है। विल्कुल सभव है। उसी दिन आपकी शक्तियो का विकास होगा जिस दिन आप शरीर को स्थिर करने के साथ मन को भी स्थिर कर लेंगे। योग का सवसे वड़ा सूत्र, योग का सवसे वडा मर्म, योग का सवसे वडा रहस्य है—सन्तुलन। गति और स्थिति का सतुलन, प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन। हम लोग गति ज्यादा करते हैं, हम लोग प्रवृत्ति ज्यादा करते हैं, इसलिए अशाति पैदा होती है। शरीर की गति ज्यादा होती है, शरीर मे तनाव वढ जाता है। मन की गति ज्यादा होती है तो दोनो मे तनाव आता है। मन की अशान्ति क्या है? मन की ज्यादा गति ही मन की अशाति है। मन को रोक नही पाते। पागल कौन होते हैं? जो मन को रोक नही पाते वे पागल होते हैं। देखा कि सडक पर मोटर जा रही है तो वह कहेगा—मोटर जा रही है, मोटर जा

रही है। इस विचार को मन से निकाल ही नही सकता। इसी का नाम पागलपन है। समझदार आदमी वह होता है कि देखा, समझा, मन मे विचार आया और उसे मन से निकाल दिया और दूसरे विचार मे लग गया। वह पागल नही होता। पागल और समझदार मे इतना ही फर्क होता है। मनोविज्ञान की भाषा मे इसे कहते हैं—विचार-प्रसक्ति। विचार की ऐसी प्रसक्ति हो जाती है कि वह उस विचार को छोड़ नही पाता, अपने मन से निकाल नही पाता। एक रट लग गयी तो वही रट घण्टो तक लगती चली जाएगी। वह आदमी पागल हो जाएगा। तो मन की स्थिति को भी समझना चाहिए। यानी शरीर की गति और शरीर की स्थिति का सतुलन, मन की गति और मन की स्थिति का सतुलन, जो आदमी इन दोनो वातो को कर पाता है, वास्तव मे वह योग का अधिकारी हो जाता है। वह योग न केवल साधु-सन्यासी के लिए ही है, किन्तु जो भी व्यक्ति अच्छा जीवन, सुख का जीवन जीना चाहता है वह प्रत्येक व्यक्ति इस योग का अधिकारी है। कोई भी व्यक्ति इस योग को छोडकर शान्ति का जीवन नही जी सकता। आप जानते है कि जीवन मे शाति नही होती तो सुख नही मिलता। सुख शाति के वाद आता है। शाति के विना सुख की सामग्री प्राप्त हो सकती है, सुख प्राप्त नही हो सकता। तो सुख प्राप्त होता है शाति के द्वारा और शाति हो सकती है गति और स्थिति के सतुलन के द्वारा। वहुत सारे लोग कहते हैं—मन वडा चचल है, वेचैन है, अशान्त है। क्यो नही होगा? हम उससे अतिरिक्त काम जो ले रहे हैं।

गाडी मे अतिरिक्त भार डाल दिया और वेचारे वैल लचकते जा रहे हैं। ऐसा क्यो नही होगा? भार अधिक डाला हुआ है। पेट पर भी आप अधिक भार डाल देते हैं तो पेट फटने लगता है। वर्तन मे भी आप अधिक पकाने लग जाते है तो वह फूटने लग जाता है। तो जव अधिक भार डालते हैं तव ऐसा क्यो नही होगा? अशाति क्यो नही होगी? हमे इस वात का विवेक होना चाहिए कि मन की कितनी गति दिन मे करना है और उससे कितना काम लेना है। आज मनोविज्ञान ने इस विषय पर सुन्दर विवेचना की है। योगशास्त्र मे भी विवेचना मिलती है। हमारे मन के तीन स्तर है, हमारी चेतना के तीन स्तर है—

१ जागृत मन,
२ अर्ध-जागृत मन और
३ अवचेतन मन।

अवचेतन मन वहुत शक्तिशाली है। जागृत मन कम शक्तिशाली है। इसमे शक्तिया कम हैं। जो कम शक्तिशाली मन है वह तो काम करता है, जो अधिक शक्तिशाली है वह सुप्त रहता है। वह काम तव करता है जव जागृत मन सो जाता है और जव यह काम करता है तव वह सो जाता है। अमेरिका के वैज्ञानिको

ने हृदय के विषय मे अनुसधान कर एक उपकरण निकाला है। आज हार्ट की वीमारी से वहुत लोग मरते हैं। किन्तु अव ऐसा सभव हो गया है कि हार्ट की वीमारी से अव किसी को मरने की जरूरत नही है। उस आविष्कृत नवीन यत्र का नाम है—'पेस मेकर' (pace maker)। वह यंत्र लगा दिया तो जब तक हार्ट ठीक काम करता है, तव तक वह यत्र निष्क्रिय रहेगा, कुछ काम नही करेगा। और जैसे ही हार्ट ने काम करना वन्द कर दिया, तव वह यत्र हार्ट का काम करना शुरु कर देगा। वह हार्ट का काम सभाल लेगा। इसलिए हार्ट फेल होने की ममस्या शायद दुनिया से उठ जाएगी।

जव हमारा स्थूल मन जागता है तो सूक्ष्म मन सोया रहता है। चेतन मन जागता है तो अवचेतन मन सोया रहता है और अवचेतन मन जागता है तो चेतन मन सोया रहता है। अवचेतन मन का जागना जीवन की सवसे वडी उपलब्धि है। अवचेतन मन का जागना हमारे जीवन मे शक्तियो के स्रोत को खोल देना है। शक्ति को प्रभावित कर देना है। इतना प्रभावित कर देना है कि जिसकी हम इस जागते मन से कभी कल्पना भी नही कर सकते। जिन शक्तियो का हम कभी स्वप्न भी नही ले सकते कि वे शक्तिया जाग जाती हैं, उनके द्वार खुल जाते हैं। इसी का नाम है—योग। योग के द्वारा उसको खोल देना है जिसके पार ऐसी शक्तिया भरी पडी हैं कि जिसे आप ईश्वरीय, मोक्षीय या कुछ भी कहे। मानवीय जीवन मे रहस्योद्घाटन हो सकता है। वह हो सकता है इस स्थूल मन को सुलाने के द्वारा। यह वच्चा जव तक नही सोएगा तव तक कोलाहल करता रहेगा। वच्चे को सुलाना वडा कठिन है। समझदार आदमी को सुलाया जा सकता है पर वच्चा जव रोने लग जाता है तव उसे सुलाना वडा कठिन है। यह स्थूल मन इतना हठी और इतना आग्रही है कि इसे सुलाना मुश्किल है। इसे सुलाया जा सकता है अवचेतन मन को जगाकर ही। यह काम करता है योग। इसलिए हम योग का सहारा लेते हैं। वह सहारा है—शरीर का शिथिलीकरण (शरीर को शान्त करना), श्वास को शात करना, मौन होना—ये तीनो जव होते है तव स्थूल मन सो जाता है। घटाभर आप कोई काम करते हैं, उसके वाद पाच-दस-वीस सेकण्ड के लिए श्वास को वन्द कर दिया या किसी दूसरे काम मे लग गए, पाच मिनट वाद फिर आधा मिनट के लिए श्वास को वन्द कर दिया, अगर ऐसा दिन मे दस-वीस वार आप दोहरा देंगे तो एक दिन आप ठीक उस रास्ते पर पहुच जाएगे जहा आपको पहुचना है। यानी स्थूल मन को थोडा-थोडा सुलाने का अभ्यास हो जाएगा। वीस सेकण्ड के लिए आप श्वास नही लेते, इसका मतलव है कि आपका स्थूल मन वीस सेकण्ड के लिए सो जाता है और वह सोता है तव अन्तर्मन एकदम जागृत होने के लिए उत्सुक हो जाता है। एक मिनट के लिए इस अभ्यास मे चला जाना पर्याप्त है। दस-वीस मिनट आपको श्वास रोकने की कोशिश

नही करनी है और वैसा करना मूर्खता की वात होगी, किन्तु आधा मिनट, पाव मिनट, इसकी पाच-दस आवृत्तिया इतना अगर आप करते चलें तो फिर स्वय आपका रास्ता आगे वनता चला जाएगा। यह है श्वास को शात करने की प्रक्रिया।

आप वहुत सारी प्रवृत्तिया करते हैं। अत पाच-दस मिनट विल्कुल शिथिल होकर वैठने या लेटने का अभ्यास करें, कायोत्सर्ग का अभ्यास करें। कायोत्सर्ग अर्थात् काया का विसर्जन। काया को छोड देना। योग की भाषा मे—मृत्यु। मरने का अभ्यास कर लेना। यह बुरी वात नही है। आप मृत्यु से जितना घवराते है, उतना ही आपको भय लगता है। और मौत भी शायद कुछ जल्दी ही आती है। आप कल्पना करें कि कोई आदमी साठ वर्षो मे मरता है और यदि वह मौत से घवराता है तो वह शायद कुछ कम वर्ष मे ही मरेगा। डर उसके जीवन के पाच दस वर्ष खा जाएगा। यदि आपको साठ वर्ष वाद मरना है और आप डरते नही है तो साठ वर्ष तो आ ही जाएगे, वाद मे कितने आए, यह अलग वात है।

आप डरिए मत, मरने का अभ्यास कीजिए। जो आदमी मरने का अभ्यास करता है वह जल्दी नही मरता और यदि मरता है तो समाधि मे मरता है और शाति मे मरता है, वह रोते-विलखते नही मरता। आप कायोत्सर्ग की साधना का अभ्यास करें। इसके साथ-साथ श्वास शात, शरीर शात और वाणी शात अपने आप रहेगी। वे जव हो गयी तो फिर मन की वात अपने आप आ जाएगी, मन को भी थोड़ा विश्राम मिलेगा। मन निरन्तर चक्र की भाति घूमता रहता है, इसे भी थोडा आराम मिलेगा। इसे आराम मिलेगा तो अन्तर्शक्तियो को, अन्तर्मन को जगाने का मौका मिलेगा। यह है योग का मर्म।[1]

---

१ हासी, वि० २०३१ के प्रवचन से सकलित।

आकाश-दर्शन : ध्यान का सहज साधन

शान्त वातावरण। एकात नीरव उपवन। योगेन्द्र ने सोचा यह वहुत ही उपयुक्त है मेरे लिए। वह सकल्प का धनी था। उसके सकल्प और निर्णय साथ-साथ चलते थे। उसने निर्णय किया और वह ध्यानमुद्रा मे वैठ गया। उसकी दृष्टि निरभ्र नील गगन मे टिक गयी। वह कालचक्र पर वैठा कालातीत स्थिति का अनुभव करने लगा। स्मृति का द्वार वन्द हो गया। अतीत की डोर उसके हाथ से छूट गयी। कल्पना के पैर थम गये। भविष्य उसकी आखो से ओझल हो गया। वर्तमान आकाश दर्शन के लय मे विलीन हो गया। वह काल के तीनो पर्यायो से युक्त हो कालातीत हो गया।

वह आकाश-दर्शन की मुद्रा मे दो घटे वैठा रहा। यह काल का लेखा उसने नही किया। यह किया उसके मित्र जैनेन्द्र ने। योगेन्द्र जैसे ही ध्यान मे वैठा, वैसे ही जैनेन्द्र वहा पहुच गया। उस समय सात वजे थे, अव नौ वज रहे हैं। जैनेन्द्र ने योगेन्द्र के ध्यानभग का प्रयत्न नही किया। वह योगेन्द्र के पीछे जाकर वैठ गया।

जैनेन्द्र ध्यान मे विश्वास नही करता था। वह प्रवृत्ति का आदमी था। कुछ करते रहने मे ही उसका रस था। ध्यान के वहाने निठल्ला होकर वैठ जाना उसे पसन्द नही था, पर कभी-कभी मित्र का अनुकरण करना भी एक काम हो जाता है। आज उसे योगेन्द्र की भाति वैठने की वात सूझी और वह भी उसी मुद्रा मे वैठ गया।

जैनेन्द्र को दस-पन्द्रह मिनट के वाद कुछ आश्चर्यकारी अनुभव होने लगा। उसे लगा कि उसका मन कही खो रहा है। शाति उसके चारो ओर घेरा डालने का प्रयत्न कर रही है। उसकी भाषा समाप्त हो रही है। स्मृति उसका साथ नही दे रही है, कल्पना का तानावाना टूट रहा है। शरीर शिथिल हो रहा है। गहरी नीद के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। पर उसकी आखो मे नीद नही है। उसकी आतरिक चेतना मे कोई मूर्च्छा नही है। वह पूरा जागृत है। उसकी वाहरी चेतना सो रही है। वह भीतर मे जाग रहा है, पूरा जाग रहा है।

आधा घटा वाद जैनेन्द्र ने देखा, आकाश मे जलधारा प्रवाहित हो रही है।

वह प्रकृति-प्रेमी है। वह आकाश को बहुत वार देखता रहा है पर उसने आकाश मे पानी पहले कभी नही देखा। वह तर्क की स्थिति मे नही था। इसलिए उलझा नही, उसे देखता ही चला गया। घटा, सवा घटा वीता होगा कि दीखना वन्द हो गया। अव उसके सामने आकाशिक रिकार्ड के चित्र उभरने लगे। कभी आकार ले रही थी अतीत की घटनाए और कभी मिल रहे थे भविष्य के सकेत। वह द्रष्टा की भाति उन सवको देख रहा था।

योगेन्द्र ने दो-चार लम्वी सासे ली और खडा हो गया। वह भीतर मे अकेला था और वाहर से भी अकेले की अनुभूति कर रहा था। उसे जैनेन्द्र की उपस्थिति का पता तक नही था। जैनेन्द्र ने भी अपनी उपस्थिति से उसे अवगत कराना नही चाहा था। वह दो क्षण रुककर पीछे मुडा। उसने देखा, जैनेन्द्र आकाश-दर्शन की मुद्रा मे वैठा है। वह इतना खोया हुआ है कि मेरी उपस्थिति का वोध नही हो रहा है। योगेन्द्र ने उसके सिर पर हाथ रखा। जैनेन्द्र का ध्यान टूटा और वह खडा हो योगेन्द्र से लिपट गया—'ओह ! कितना अनुपम था क्षण ! कितना अनुपम था अवसर ! मुझे क्या पता योगेन्द्र ! तुम हर रोज यह आनन्द लूटते हो और इतने अनूठे दृश्य देखते हो। तुमने कभी प्रयत्न ही नही किया मुझे समझाने का।'

'क्या यह सच नही है कि तुमने कभी समझने का प्रयत्न ही नही किया ? जिस वस्तु को चखकर अनुभव किया जा सकता है, उसके लिए उपदेश की जरूरत ही क्या है ? और तुम तो ध्यान को मृगमरीचिका मानकर ही चल रहे थे।'

'मैं क्या, मेरे जैसे अनेक चितनशील व्यक्तियो के मन मे यह प्रश्न है कि ध्यान मृगमरीचिका है या वास्तविकता ?

'क्या यह उन लोगो के मन मे नही है, जो ध्यान कर रहे हैं ? तव फिर मेरे-जैसे ध्यान से दूर भागने वालो का क्या दोष ?'

'मैं किसी के दोष का प्रकाशन नही कर रहा हू। मैं तुम्हे वता रहा हू कि ध्यान के वारे मे लोगो की धारणाए वहुत विचित्र हैं। वहुत लोग ध्यान करने वालो से चमत्कार की आशा रखते हैं। कोई चमत्कार नही दीखता तव उनकी दृष्टि मे ध्यान का मूल्य मृगमरीचिका से अधिक नही होता। ध्यान करने वाले ध्यान के द्वारा जो पाना चाहते है, वह नही मिलता तव उन्हे भी ध्यान मृगमरीचिका जैसा प्रतीत होने लगता है।'

'क्या ध्यान मे कोई चमत्कार नही है ?'

मैं कव कहता हू कि चमत्कार नही है। ध्यान स्वय चमत्कार है। पर चमत्कार के लिए ध्यान से चमत्कार पाने की आशा उसकी आत्मा को विकृत कर देती है।'

'मैं ध्यान मे विश्वास नही करता था पर ...'

'पर क्या ?'

'क्या बताऊ, मित्र ! अनायास ही तुम्हारे जाल मे फस गया हू। ध्यान ने एक ही दिन मे ऐसा चमत्कार दिखाया है कि अब ध्यान के मामले में मैं तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी नही हू।'

योगेन्द्र को जैनेन्द्र के मानस-परिवर्तन पर बहुत अचरज हुआ। वह योगेन्द्र का सदा मजाक किया करता था। ध्यान को गालिया देने मे उसे बहुत रस था। आज वह ध्यान का प्रशसक बन गया है। वह दूसरो के मुह से सुनी-सुनाई बातो के आधार पर प्रशसक नही बना है। वह प्रकृति से कटु आलोचक है। वह पूर्णता खोजने का प्रयत्न करता है। वह एकायक ध्यान का प्रशसक बना है, इससे लगता है कि उसे कोई अनुभव हुआ है। अनुभूति के बिना उसके इतने सारे तर्क एक साथ विलीन नही होते।

योगेन्द्र ने जैनेन्द्र की भावना को सहलाते हुए कहा—

'जैनेन्द्र, क्या ध्यान के बारे मे तुम्हारी नवीन जानकारी का लाभ कोई दूसरा भी उठा सकता है?'

'मेरी कोई जानकारी नही हैं, फिर दूसरा क्या लाभ उठाएगा?'

'जानकारी के बिना इतने समर्थक कैसे बन गए?'

'यह अनुभव की बात है। जानकारी की दृष्टि से मैं शून्य हू। मुझे नही मालूम, ध्यान का अर्थ क्या है? उसकी परिभाषा क्या है?'

'तो अब करना चाहोगे?'

'नया रोग लगा है। मैं नही कह सकता, क्या-क्या करना होगा?'

'रोग का इलाज हाथ लगा है, यह क्यो नही मानते?'

'अब तुम कहो वही मानना होगा। तुम्हारा अनुकरण ही मुझे दूसरे अचल मे ले गया, फिर तुम्हारा ज्ञान और अनुभव'

योगेन्द्र ने विषय की आत्मा का स्पर्श करते हुए कहा—

'देखो जैनेन्द्र ! ध्यान कोई मृगमरीचिका नही है। वह वास्तविकता है। वह सत्य को अनावृत करने का महान् उपक्रम है। सत्य किसी प्रस्तर से आवृत नही है। उसका आवरण है मन की चचलता। चचलता न हो तो मल नही हो सकता। और उसके बिना आवरण नही हो सकता। चचलता समाप्त होते ही मल और आवरण समाप्त हो जाते है, सत्य का साक्षात् होने लग जाता है।'

जैनेन्द्र बीच मे ही बोल उठा, 'क्या मन की चचलता समाप्त हो सकती है?'

'वह न हो तो ध्यान का उपयोग ही क्या है?'

'यह कैसे हो सकता है?'

'योगी कुछ प्रक्रिया जानता है। उनके द्वारा वह मन और मस्तिष्क की क्रिया पर नियत्रण कर लेता है। जब आदमी आराम कर रहा होता है या बिल्कुल निश्चेष्ट होता है, तब उसके मस्तिष्क से अल्फा तरगो का उत्सर्जन होता है। इस

तरग की गति आठ से तेरह साइकिल प्रति सेकण्ड होती है। सामान्यत इस पर मनुष्य का कोई नियत्रण नहीं होता। योगी इच्छानुसार इन तरगो को उत्पन्न कर सकता है और उन्हे घटा-बढा सकता है।

अल्फा-सक्रियता मस्तिष्क की निजी और स्वतत्र क्रिया है। किन्तु योगी योगाभ्यास के द्वारा मस्तिष्क की क्रिया को नियन्त्रित कर सकता है।'

'तब ध्यान मृगमरीचिका कैसे ?'

'जो यथार्थ तक नही पहुच पाते उनके लिए हर वास्तविकता मृगमरीचिका हो सकती है।'

जैनेन्द्र ने फिर बात को मोड देते हुए कहा, 'योगेन्द्र ! मैं आज घर से चला था सिनेमा जाने के लिए। मैंने सोचा, तुम्हे साथ लेकर ही वहा जाऊगा। मेरे आने से पहले ही तुम ध्यान मे बैठ गए। मैंने तुम्हारा ध्यान भग करना उचित नही समझा। मैं भी तुम्हारी भाति ध्यान-मुद्रा मे बैठ गया। मैंने इस स्वल्प-काल में ऐसा चित्रपट देखा कि अब किसी दूसरे चित्रपट को देखने की उत्सुकता नही रह गयी है। मन शान्त हो गया है। यह सब कैसे हुआ, मैं समझ नही पा रहा हू।'

योगेन्द्र अनुभवी साधक था। वह ध्यान की अनेक कक्षाओ को पार कर चुका था। वह उसके सूक्ष्म रहस्यो से भली-भाति परिचित था। उसने बताया, 'देखो मित्र ! मन के एकाग्र होने से विलीन होने तक की अनेक कक्षाए हैं। कोई साधक उन्हे जल्दी पार कर जाता है और कोई विलम्ब से। मन का एकाग्र होना कोई बडी बात नही है। पर उन लोगो के लिए बहुत बडी बात है जिनके मन की सक्रियता अधिक होती है।'

'क्या मन की सक्रियता अच्छी नही है ?' जैनेन्द्र बीच मे ही पूछ बैठा।

'अच्छी और बुरी को देखने की अलग-अलग दृष्टिया हैं। जीवन-व्यवहार चलाने के लिए मन को सक्रिय रखना जरूरी है। उसकी सक्रियता बढ जाती है तब जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसलिए हर आदमी मन को एक सीमा तक सक्रिय रखना चाहता है। आकाश-दर्शन मन की क्रिया को नियन्त्रित करता है। जैसे ही स्थूल मन की क्रिया नियन्त्रित होती है, वैसे ही सूक्ष्म मन (अवचेतन मन) की क्रिया चालू हो जाती है। यह सहज क्रिया है। इसके चालू होते ही असहज क्रिया का दबाव कम हो जाता है। उसके साथ-साथ उससे होने वाली अशान्ति भी कम हो जाती है।'

'जैनेन्द्र ! सावधान रहना। इस क्षणिक शान्ति को स्थायी शान्ति मत मान लेना।'

'अब स्थायी शान्ति का रहस्य ही जानना चाहता हू', जैनेन्द्र ने विश्वास के स्वर मे कहा, 'पर मन का एकाग्र होना क्या स्थायी शान्ति का उपाय नही है ?'

'नही हैं', योगेन्द्र ने दृढता के साथ कहा, 'उसका उपाय है मन को उत्पन्न न करना। यह वहुत वडा सत्य है और सत्य की उपलब्धि का वहुत वड़ा स्रोत।'

जैनेन्द्र इस सत्य को समझने मे इतना खो गया कि सहज कुंभक की धारा मे उसका मन सचमुच खो गया।

संभोग से समाधि . कितना सच, कितना झूठ ?

ज्ञान और ध्यान भिन्न नही हैं। **चलं चित्त ज्ञान, स्थिर चित्त ध्यानम्**—चचल चित्त का नाम है 'ज्ञान' और स्थिर चित्त का नाम है 'ध्यान'।

पानी और वर्फ एक ही है। तरल जल को पानी और सघन जल को वर्फ कहा जाता है। जैसे तरल जल वर्फ वन जाता है, वैसे ही चचल चित्त भी स्थिर अवस्था को प्राप्त कर ध्यान वन जाता है। जव तक हम ज्ञान की भूमिका को पार कर ध्यान की भूमिका मे नही पहुच जाते, तव तक स्व-अनुभव जैसा कुछ भी नही होता, केवल हम ऊपरी स्तर पर ही तैरते रहते हैं। यह स्थिति खतरो से खाली नही होती। जो सदा दूसरो के सहारे चलता है, ज्ञान के सहारे चलता है, उसे खतरा वना रहता है।

ध्यान स्व-अनुभव की स्थिति है। साधना का यह मूल आधार है। जितने रहस्य उद्घाटित हुए हैं, वे सव ध्यान-काल मे ही हुए है। मन की एकाग्रता को साधकर ही वैज्ञानिक नये रहस्य प्रकट करता है और अध्यात्म-साधक भी मानसिक एकाग्रता के चरम-विन्दु पर पहुचकर ही नये रहस्य प्रकट करता है। ध्यान के वल पर भगवान् महावीर ने अनेक नये सत्य उद्घाटित किए। महात्मा वुद्ध ने ध्यान की साधना कर मध्यम प्रतिपदा का उपदेश दिया। जिन आचार्यों ने ध्यान की गहराई मे जाकर देखा उन्हे नये रहस्य प्राप्त हुए। अध्यात्म का मार्ग ध्यान की प्रस्तुति है।

इस युग मे ध्यान-साधना अत्यन्त अपेक्षित है। कुछ लोग मानते हैं कि ध्यान-साधना योगियो के लिए, जगल मे रहने वालो के लिए जरूरी है, गृहस्थ के लिए उसकी कोई उपयोगिता नही। ध्यान-साधना के परिणामो ने इस भ्रान्ति को तोडा है। व्यक्ति-व्यक्ति को यह अनुभव हुआ है कि ध्यान के विना जीवन स्वस्थ नही रह सकता। इसीलिए आज स्थान-स्थान पर ध्यान-केन्द्र चल रहे हैं। ऐसे सैकडो ध्यान-केन्द्र हैं, जहा हजारो व्यक्ति विभिन्न पद्धतियो से ध्यान की शिक्षा ले रहे हैं। ध्यान की परम्परा पुन व्यापक हो रही है।

मर्यादा और शुद्धि

मैं मानता हू कि सीमित वस्तु ही विशुद्ध रह सकती है। गगोत्री का पानी जितना निर्मल है, उतना निर्मल गगा का पानी नही है। जैसे-जैसे गगा का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे इसमे मिश्रण होता गया है। ध्यान और योग-साधना की भी यही बात है।

आज ध्यान-केन्द्रो के अनेक मठाधीश हैं जो भगवान् बनकर पूजा प्राप्त कर रहे हैं। अनेक ध्यान-केन्द्रो मे विशुद्ध ध्यान-साधना मे मिलावट हो रही है। अभी-अभी अनेक पत्र-पत्रिकाओ मे कुछेक आश्रमो की गतिविधियो के चित्र छपे हैं। यह सारी गदगी ध्यान के नाम पर आ रही है, ऐसा ज्ञात हुआ। यदि यह कोई फिल्मी गतिविधि होती तो मुझे आश्चर्य नही होता। यदि यह कोई युवको को पथभ्रष्ट करने वाली कथा होती तो भी मुझे नही अखरता। किन्तु यह सब हो रहा है 'समाधि' के नाम पर। समाधि ध्यान की अतिम अवस्था है। उसको व्यर्थ साबित करने के लिए अथवा अपनी वासना को चरितार्थ करने के लिए, कुछ तथाकथित भगवान्, सभोग को समाधि के साथ जोड रहे है, या यो कहा जाए कि समाधि को सभोग के साथ जोड रहे हैं। प्राचीन आचार्यों ने साधना की जिन-जिन अवस्थाओ से गुजर कर समाधि को प्राप्त किया था, उन साधनो को आज वे नकार रहे हैं। वे आज के भगवान् सभोग से समाधि को प्राप्त करने की बात कह रहे हैं। समाधि-प्राप्ति का आज एकमात्र साधन है—सभोग। अध्यात्म की यह बडी से-बडी विडम्बना है। इतिहास मे ऐसी विडम्बना न पहले सुनी, न देखी।

सबसे बडा पाखण्ड

भारत मे वाम-मार्ग की साधना बहुत पुरानी है। अनेक शताब्दियो तक तात्रिक प्रयोग चले। मदिरा, मास, मैथुन आदि पाच मकार चले। किसी अध्यात्म-वादी ने उसका समर्थन नही किया। पहले उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त गुह्य रखी जाती थी। आज ऐसा कुछ भी नही है। अनेक योग आश्रमो मे अश्लील प्रयोग करवाये जाते हैं, सामूहिक सभोग से समाधि अवस्था प्राप्त होने का आश्वासन दिया जा रहा है। ओह ! कितनी विडम्बना ! अध्यात्म के नाम पर इससे बडा पाखण्ड और क्या हो सकता है ?

जो व्यक्ति भारतीय सस्कृति की विकृति से परिचित नही है, अध्यात्म की पवित्र भावना से अनजान हैं वे लोग इन सब बातो मे फस जाते हैं। किन्तु भारतीय जन-मानस समाधि की पवित्रता से परिचित है, समाधि की शक्ति को जानते हैं, वे इस भुलावे मे आकर इतनी घृणित प्रवृत्तियो मे अपनी शक्ति का व्यय करना नही चाहेगे।

मनुष्य मे दो प्रकार की वृत्तिया होती है—मौलिक और अर्जित। आहार सज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह सज्ञा—ये चार मौलिक वृत्तिया है। अध्यात्म के आचार्य कहते हैं, जव तक ये मौलिक वृत्तिया नष्ट नही होती तव तक समाधि की वात तो दूर, व्यक्ति अध्यात्म की दिशा मे एक पग भी आगे नही वढ सकता।

आज हमारे तथाकथित भगवान् इन वृत्तियो के भोग से समाधि प्राप्त करवाने का ढिंढोरा पीट रहे हैं। इससे वडा बुद्धि का दिवालियापन और क्या हो सकता है ? यदि भोग से ही समाधि प्राप्त हो जाती तो योग की वात व्यर्थ है। समाधि लक्ष्य है। योग उस लक्ष्य-सिद्धि का मार्ग है, साधन है। भोग इस मार्ग का वाधक है।

तथाकथित भगवानो के शिविरो मे साधना करने वाले अनेक साधको से पूछा तो लगा कि वे आमोद-प्रमोद को ही ध्यान मानते है। यथार्थ ध्यान से वे दूर ही हैं।

मैं किसी व्यक्ति विशेप की आलोचना करना नही चाहता। मेरा विरोध उन सवसे है जो वाम-मार्ग को समाधि का मार्ग मानते है और अध्यात्म के नाम पर विडम्बना करते हैं। वे जिस डाल पर वैठे हैं, उसी पर कुठाराघात कर रहे है। कैसी मूर्खता !

ये भगवान् समाधि का लालच देकर अपने भक्तो को पथच्युत कर रहे है। इससे भगवानो का कुछ नही विगडेगा, किन्तु भक्तो का अध पतन निश्चित है। पुन इस प्रकार एक ध्यान-केन्द्र या योग आश्रम वदनाम होने पर, सारे ध्यान-केन्द्रो पर उसकी आच आती है, यह सवसे खतरनाक स्थिति है।

एक पुरानी वात है। एक गाव के लोग वहुत प्रामाणिक थे। कोई चोरी नही करता था। एक वार एक आदमी ने चोरी कर ली। सभी व्यक्तियो पर शका होने लगी। यदि एक व्यक्ति चोरी कर सकता है तो दूसरा भी चोरी कर सकता है, तीसरा और चौथा भी चोरी कर सकता है।

इसी प्रकार ध्यान आश्रमो के लिए भी आशका की स्थिति वन सकती है। एक आश्रम मे यदि यह अश्लीलता चलती है तो 'क' 'ख' के आश्रम मे भी चल सकती है। यह सदेह ध्यान-आश्रमो पर कुठाराघात है।

सयम के विना सिद्धि नही

समाधि की प्राप्ति एक अद्भुत घटना है। वृत्तियो पर नियत्रण किए विना समाधि की प्राप्ति नही हो सकती। जो व्यक्ति 'काम-वासना' पर नियत्रण नही रखता, वह ध्यान की गहराई मे नही जा सकता।

मनोविज्ञान का सूत्र है—इच्छाओ का दमन मत करो। यह एक तथ्य है,

सचाई है। किन्तु हमे इसका अर्थ सही रूप मे समझना होगा। इसका अर्थ यह नही है कि व्यक्ति मर्यादा का उल्लघन कर भोग भोगे। पश्चिमी समाज ने मनो-विज्ञान के सूत्र का यह अर्थ निकाला कि मनुष्य अमर्यादित भोग भोगे। आज वह समाज कामाग्नि मे झुलस रहा है। उच्छृखलता से वह पीडित है। उसका समाधान पाने के लिए वे अध्यात्म की शरण मे जा रहे हैं। वे अध्यात्म की खोज कर रहे है। इसके लिए वे भारत आ रहे हैं। यदि यहा के भगवान् उनके समक्ष वही भोग भोगने का मार्ग रखते है तो वे वेचारे कितने हताश होते हैं। कैसी विडवना ! यदि यहा के योग-आश्रमो मे भोग का, आमोद-प्रमोद का वातावरण ही वना रहेगा और सभोग से समाधि पर वल दिया जाता रहेगा तो भारतीय प्रणाली पर यह एक अमिट कलक वन जाएगा।

प्रत्येक व्यक्ति मे काम, भय, लोभ आदि की वृत्तिया होती है, सज्ञाए होती हैं। युवावस्था मे ये वृत्तिया उभरती है। यदि भोग के आचार्य इन वृत्तियो को भोगने की वात कहते हैं तो उन वृत्तियो को उग्र होने का सहारा मिल जाता है और युवा वर्ग को मार्ग-च्युत होने मे सहयोग प्राप्त हो जाता है। मार्क्स ने कहा था, 'साम्यवाद पर विश्वास रखने से समूचा राष्ट्र एक परिवार वन जाएगा। कोई पति नही, कोइ पत्नी नही। कोई पिता नही, कोई पुत्र नही।' मार्क्स की यह भविष्यवाणी अत्यन्त असत्य सिद्ध हुई है। कई देशो मे साम्यवाद की स्थापना हुई, किन्तु आज भी वहा वश-परम्परा है। पिता है, पुत्र है, पति है, पत्नी है। पारिवारिक व्यवस्था है। मार्क्स की वात असत्य सिद्ध हुई किन्तु आज के भगवान् भारत की पवित्र भूमि पर उस असत्य को सिद्ध करने मे जुटे हुए है। वे कहते हैं, 'भिन्न-भिन्न कुटुम्बो की कोई आवश्यकता नही है। पति-पत्नी के सम्बन्ध का कोई औचित्य नहीं है।' इसी चिन्तन से 'सभोग से समाधि' का जन्म हुआ। उच्छृखल यौनाचार को प्रस्थापित करने का उन भगवानो ने प्रयत्न किया। उनका यह प्रयत्न प्राचीन वाम-मार्ग को भी भुला देता है।

मैंने जिस समस्या की ओर अगुलि-निर्देश दिया है, वह मेरे अकेले की समस्या नही है, सवकी समस्या है। अध्यात्म मे विश्वास रखने वाले सभी लोग आज की इस यौनाचार की स्थिति से चिंतित हैं। वे चाहते हैं कि किसी भी कीमत पर अध्यात्म की शुद्धता और पवित्रता को वनाए रखना है।

ध्यान अमूल्य निधि है। इससे ही रूपान्तरण हो सकता है। 'काम' का दमन नहीं, उसका उदात्तीकरण होना चाहिए। ध्यान से यह प्रक्रिया हो सकती है। काम के सेवन से काम मिटता नही, उभरता है। इसके रूपान्तरण से प्राप्त होने वाली ऊर्जा से असामान्य कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं।

ध्यान महान् शक्ति है। शक्ति के दो प्रयोजन होते हैं—तारना और मारना। जो शक्ति तार सकती है वह मार भी सकती है। ध्यान से व्यक्तित्व का विकास

भी हो सकता है और ह्रास भी हो सकता है। महावीर ने कहा, 'जब चेतना आर्त्त और रौद्र ध्यान मे उतर आती है तब व्यक्ति का ह्रास घटित होता है और जब वही चेतना धर्म और शुक्ल ध्यान मे उतर आती है तब व्यक्ति का विकास घटित होता है।'

ध्यान के दोनो मार्ग हमारे सामने है। हमे कौन-सा रास्ता अपनाना है, यह हमारी रुचि पर निर्भर करता है। ध्यान के नाम पर चलने वाले अकार्य से सतत: सावधान रहना—यह पहली आवश्यकता है।

विचार : अनुबन्ध

प्रश्न जैन धर्म के व्यापक प्रसार के लिए विदेशो मे भी काम करने की अपेक्षा महसूस करते रहे हैं। अतीत मे अनेक योजनाए भी बनी, किन्तु आज तक उनकी क्रियान्विति क्यो नही हुई, स्पष्ट करने की कृपा करें ?

उत्तर . जैन धर्म के तत्त्व पूरी मनुष्य जाति के लिए हैं। इसलिए उनका प्रसार भी पूरी मनुष्य जाति मे होना चाहिए। वह धर्म देश की सीमा मे रहे, यह अच्छी वात नही। आचार्यश्री तुलसी वहुत वार कहते हैं कि मैं जैन-धर्म को जन-धर्म वनना चाहता हू। तो जन-धर्म केवल हिन्दुस्तान मे ही नही वनता। जन-धर्म वनता है पूरी मनुष्य जाति के स्पर्श करने के पश्चात्। जैन-धर्म का स्वर सव तक पहुचे, इस दृष्टि से चिन्तन होता रहा है। विदेश मे भी जैन-धर्म के तत्त्वो को पहुचाया जाए, किन्तु अभी तक जो सशक्त माध्यम चाहिए, वह नही वन पाया। साहित्य भी एक माध्यम है, किन्तु वह भी पर्याप्त नही है। प्रचारक जाए, यह भी एक अच्छा माध्यम है, किन्तु तत्त्व के साथ-साथ आचार का उत्कर्ष भी लोग चाहते हैं। एक मुनि की वाणी मे जो ओज, जो शक्ति, जो प्रवाह होता है, कोरे तत्त्व के व्याख्याता की वाणी मे वह नही होता। इसलिए प्रचारक जा भी सकते हैं, प्रस्तुत भी कर सकते है, किन्तु जन-साधारण मे जो आकर्षण होना चाहिए, वह शायद नही हो सकता। एक तपस्वी मुनि के जाने पर स्थिति वन सकती है, किन्तु अभी तक उसकी कठिनाइया समाहित नही हुई। यात्रा की कठिनाई और दूसरी-दूसरी कठिनाइया समाहित नही हुई। यात्रा की कठिनाई और दूसरी-दूसरी कठिनाइया सामने हैं, उनका कैसे समाधान मिल सके, यह एक चिरतन प्रश्न है। अभी तक उनका जैसा समाधान होना चाहिए, वैसा हुआ नही है। कुछ प्रवृत्तिया ऐसी होती हैं, जो अपने आप मे वहुत वडी होती हैं और उनके लिए काफी दीर्घ दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित होता है। पर मैं आशा करता हू कि कभी न कभी कोई ऐसा समाधान मिल जाएगा, जिससे वहुत लम्वे समय से चलती आ रही इस चिन्तन धारा को साकार किया जा सके, विदेश मे जैन धर्म को पहुचाने की सुविधा मिल सके और स्थिति वन सके। मैं वहुत आवश्यक मानता हू इस वात

को। आज भौतिकता के चरम विन्दु पर पहुचे हुए लोगो मे जितनी अध्यात्म की उत्कट आकाक्षा है, उतनी गरीवी से प्रताडित जनता मे नही है या भौतिक पदार्थों की लालसा मे दौडते हुए लोगो मे नही है, दौड चुके है उनमे हैं। यह वास्तव मे धर्म का विकास या आज नये धर्म का उदय पश्चिम मे अधिक सम्भव है और उपयोगी भी वहुत है। पता नही जयाचार्य की शताव्दी पर कोई ऐसी स्थिति वन सके, ऐसा कोई चिन्तन मोड ले सके, जिससे जिस किसी रूप मे भी इस क्षेत्र की वाधा दूर हो सके और जैसा सोचा गया है, उस अवसर पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो और अध्यात्म की दिशाओ को विकसित करने के लिए वैसा प्रयत्न इसकी आधार-भूमि वन सके।

प्रश्न आजकल जो साहित्य लिखा जाता है, उसमे मौलिकता वहुत कम होती है। क्या उसे नयी दिशा नही दी जा सकती ?

उत्तर · मौलिकता का प्रश्न आज ही नही, एक शाश्वत प्रश्न है। मौलिक सृजनात्मक प्रतिभा कम पाई जाती है। पुनरावृत्ति और अनुवाद करने वाले अधिक होते हैं। या इधर-उधर का सकलन अधिक होता है। आवश्यक है मौलिक साहित्य का सृजन हो, किन्तु एक वात यह भी मानता हू कि वह सृजनात्मक प्रतिभा अभ्यास का विषय नही हो सकती। अभ्यास के द्वारा वैसी स्थिति वनाई नही जा सकती। प्राय. यह स्वाभाविक होती है। कुछ व्यक्ति मौलिक चिन्तन और मौलिक कृतित्व को लेकर ही जन्म लेते है। उनसे वहुत कुछ नये वीज, नये अकुर और नयी उपलव्धिया होती हैं। ऐसी आशा तो हम कैसे करें कि सव मौलिक चिन्तन दे सकें या वैसा ही करें। मध्यम कोटि का साहित्य भी जन-साधारण के लिए काम का होता है, इसलिए यही चलता है। किन्तु फिर भी एक सशोधन मैं अवश्य चाहता हू कि जिनमे सहज मौलिक चिन्तन की, सृजन की क्षमता न हो, वे भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति को विकसित करें, चिन्तन की क्षमता को विकसित करें और ये की जा सकती है। खाए उससे पचाने मे शक्ति अधिक लगाए तो कुछ चिन्तन ऐसा हो सकता है, जो मौलिकता के आसपास चला जाए। कृतित्व भी विकसित हो सकता है, जिसमे मौलिकता की गध आने लगे। प्रयत्न से जितना हो सकता है, वह अवश्य होना चाहिए। वैसे तो यह स्वाभाविक देन ही मानता हू कि हजारो लाखो मे कुछ एक व्यक्ति ऐसे होते है। पूरे हिन्दुस्तान के साहित्य को देखता हू तो मुझे ऐसा लगता है कि मौलिकता वहुत कम है। वडे-वडे साहित्यकार भी विदेशो के ज्यादा ऋणी है और उनके साहित्य की धाराओ को उलट-पुलट कर शायद कुछ नया रूप देने मे लगे है। यह तो वहुत विडम्वना-सी वात लगती है। ऐसा क्यो हो रहा है ? किन्तु शायद कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी देश के परमाणु इतने शक्तिशाली होते है कि वहा मौलिक प्रतिभा वाले लोग अधिक पैदा हो जाते हैं और कही-कही वैसे परमाणु सूख जाते है, फलस्वरूप

मौलिक प्रतिभाए बहुत कम जन्म लेती हैं। अभी ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तान के आकाश-मडल मे मौलिक प्रतिभा के परमाणु कुछ कम हैं। दो हजार वर्ष पहले बहुत ज्यादा थे। आज कुछ कम हुए हैं और उन परमाणुओ ने अपना यात्रा-पथ बदल लिया, स्थानान्तरण कर लिया और दूसरी जगह चले गए। यदि हम प्रयत्न करें और गहरे अध्यवसाय के साथ हमारा कोई सकल्प हो तो यह सभव है कि उन परमाणुओ का पुनराकर्षण हो सकता है। हिन्दुस्तान मे और साधु-सघ मे भी मौलिक प्रतिभा वाले व्यक्तियो का पुर्ननिमाण किया जा सकता है।

प्रश्न आर्थिक विकास की योजना के अभाव मे क्या कोई नैतिक आन्दोलन हमारे देश मे सफल हो सकता है ?

उत्तर यद्यपि नैतिकता शुद्ध आध्यात्मिक प्रश्न है। फिर भी इसे सामाजिक परिस्थितियो, आर्थिक व्यवस्थाओ, से कभी अलग नही किया जा सकता। जहा आर्थिक विकास होता है, वहा अनैतिकता नही होती, ऐसा नही है, फिर भी आर्थिक अभाव की स्थिति मे अनैतिकता पनपने को अधिक अवकाश रहता है। अधिक सभावनाए रहती हैं। गरीव आदमी अधिक अनैतिक हो सकता है। हम मूल कारण को बदलना चाहते हैं, उसके साथ-साथ निमित्तो को बदलने की बात को गौण नही कर सकते। दोनो बात साथ चलें। आर्थिक व्यवस्था सुधरे और साथ-साथ नैतिक विकास हो तो दोनो मे बहुत अच्छा सतुलन बन सकता है और स्थिति ठीक हो सकती है। इसलिए यह अपेक्षा है कि राजतन्त्र और धर्म-तन्त्र दोनो मे योग होना चाहिए, दोनो मे समन्वय होना चाहिए। आज कठिनाई यही है कि दोनो मे समन्वय नही है। राजतन्त्र को क्षमता प्राप्त है, आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की। किन्तु वह आर्थिक व्यवस्था सुधारने पर भी नैतिकता का विकास कर सके, ऐसी क्षमता उसके पास नही है। और उस तत्र मे यह अर्हता भी नही है कि उसके द्वारा नैतिकता का विकास किया जा सके। धर्म-तत्र के पास नैतिकता के विकास की क्षमता है, किन्तु उसके पास आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की शक्ति नही है। इसलिए दोनो मे अधूरापन है। जो राजतत्र व्यवस्था को बदल सकता है, उसके पास दण्ड की शक्ति है। जो हृदय को बदल सकता है, आत्मानुशासन विकसित कर सकता है, उसके पास दण्ड की शक्ति नही है। इस-लिए नैतिकता का काम सर्वमान्य हो सके, यह नही कहा जा सकता। और दण्ड-शक्ति का काम बाध्यता से मान्य होने पर भी वह हृदत को बदल सके, ऐसा भी नही कहा जा सकता। मुझे लगता है कि इस ससस्या का सरल समाधान यही हो सकता है कि राज्य-शासन और धर्म-शासन दोनो मे समन्वय साधा जा सके। समन्वय की अपेक्षा दोनो अनुभव कर सकें तो एक ओर आर्थिक व्यवस्था के सुधार की प्रक्रिया चले और दूसरी ओर आर्थिक विकास के साथ-साथ आने वाली विकृतिया, अर्थ के अभाव मे आने वाली विकृतिया जो हैं, उन विकृतियो की ओर

जनता का ध्यान वरावर आकर्षित किया जाता रहे। अगर ऐसा समन्वय होता है तो समस्या का समाधान लगता है अन्यथा यह प्रश्न वना ही रहेगा।

प्रश्न परिग्रह पर सवसे अधिक वल देने वाले जैन लोग धनाढ्य कहे जाते हैं। अपरिग्रह मे से सग्रह का धर्म कैसे प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर प्रकाश मे से अधकार कैसे निकलता है, यह प्रश्न जव सामने आता है तो फिर सोचने के लिए कुछ शेष नही रह जाता। प्रकाश और अधकार मे कोई सम्वन्ध ही नही है। किन्तु कभी-कभी भ्रान्ति हो जाती है और भ्रान्तिवश यह प्रश्न भी पूछ लिया जाता है।

अपरिग्रह मे से परिग्रह कभी नही निकलता। जैन धर्म अपरिग्रहप्रधान भी है, अहिसाप्रधान भी है, अनेकान्तप्रधान भी है, सव कुछ है, वह तो सिद्धान्त है। अनेकान्त एक सिद्धान्त है। अपरिग्रह एक सिद्धान्त है। अहिसा एक सिद्धान्त है। सिद्धान्त होना एक वात है, उसका पालन होना दूसरी वात है।

सिद्धान्त अपनी उच्च भूमिका मे प्रतिष्ठित होता है। उस तक पहुचने के लिए कितनी लम्वी यात्रा करनी होती है, यह भी हम जानते हैं। एक व्यक्ति अभी चला। चल सकता है, पहुच सकता है। इसी क्षण चला और इसी क्षण वह पहुच जाएगा, मजिल तक पहुच जाएगा, यह मान लेना एक वहुत वडी भ्रान्ति है। आज कोई धर्म का आचरण शुरू करता है, जैन वनता है और जैन वनते ही वह अपरिग्रह तक पहुच जाएगा, यह तो वहुत आश्चर्य की वात है। अगर ऐसा हो, चुटकी मे ही सारा काम सध जाए, जैन वनते ही अपरिग्रही वन जाए, तव तो धर्म की यात्रा इतनी छोटी है, साधना की यात्रा इतनी छोटी है कि जव व्यक्ति चाहे, जव साधना का सपना देखे और सिद्धि तक पहुच जाए। कुछ करने की जरूरत ही नही। मुझे आश्चर्य है कि यह भ्रम कैसे पलता है और कैसे चलता है ?

जैन समाज एक सिद्धान्त को मानकर चलता है कि अपरिग्रह उनका एक आदर्श है और लक्ष्य है। यहा तक उन्हे पहुचना है। मुनि के लिए भी ठीक वात है। वह अपरिग्रही होता है। सव कुछ छोड देता है। किन्तु समाज के लिए तो अपरिग्रह एक सिद्धान्त है, उसके लिए तो कोई मजिल नही है। समाज अपरिग्रह के आदर्श को सामने रखकर इच्छा-परिमाण का अणुव्रत स्वीकार करता है। इच्छा पर थोडा-थोडा नियमन शुरू करता है। जो मुक्त इच्छा है, उसे कम किया जाए और कम किया जाए और कम किया जाए। तो वह इच्छा-परिमाण की दिशा मे प्रस्थान करता है। उसकी गति होती है और गति होते-होते जो लोग अत तक पहुच जाते हैं, फिर वे अपरिग्रह तक भी पहुच सकते हैं। किन्तु पूरा जैन समाज अपरिग्रह तक पहुच जाएगा, इसका अर्थ तो यह हो गया कि सारा समाज मुनि वन जाएगा, सन्यासी वन जाएगा।

भगवान् महावीर ने मुनि के लिए अपरिग्रह का विधान किया है, गृहस्थ के

के लिए उन्होंने अपरिग्रह जैसे शब्द का प्रयोग नही किया। उन्होने इच्छा-परिमाण की बात कही। श्रावक को इच्छा-परिमाण करना चाहिए। जो अनन्त इच्छा है, उसकी कोई न कोई सीमा करनी चाहिए।

सीमा के लिए उन्होंने दो बातें बतलायी। पहली बात—अर्जन के साधन अशुद्ध नही होने चाहिए, अप्रामाणिक नही होने चाहिए। महावीर की पूरी आचार संहिता है गृहस्थ के लिए। उसमे अप्रामाणिकता के जितने व्यवहार हैं, उन सबका वर्जन किया है। मिलावट, असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु दे देना, धोखाधडी करना, धरोहर हडपना आदि-आदि अप्रामाणिकता के जितने सूत्र है, साधन है, वे सब वर्जित हैं।

पहला सूत्र है अर्जन के साथ प्रामाणिकता हो, अशुद्धता न हो। दूसरी बात अर्जित धन का उपयोग अपने विलास के लिए न किया जाए। व्यक्तिगत सयम किया जाए।

ये दोनों बातें होती है तो फिर कितना ही कमाए इस पर कोई नियत्रण नहीं होता। एक व्यक्ति शुद्ध साधन के द्वारा कमाता है। हो सकता है कि लाख रुपया भी मिल जाए, करोड रुपया भी मिल जाए। कमा लेने पर उसका उपयोग वह अपने लिए नही करता, अपने लिए पूरा सयम वर्तता है। जैसा आनन्द श्रावक का जीवन था। करोडो की सपदा, करोडो का व्यापार। किन्तु अपने लिए बहुत सयमी। इतना सीधा-सादा जीवन कि जो एक सामान्य आदमी भी नही रखपाता।

मैं समझता हू कि दो शर्तें हैं गृहस्थ के लिए अपरिग्रह की प्रारम्भिक भूमिका की—(१) अर्जन के शुद्ध साधनो का विवेक (२) अर्जित सपत्ति का अपने लिए कम से कम उपयोग या उसके भोग और उपभोग की सीमा। ये दोनो महत्त्वपूर्ण हैं। जैन समाज इन दोनो बातो को स्वीकार करे तो एक बहुत बडी भ्रान्ति मिट सकती है।

पर मुझे लगता है कि कोई भी समाज धर्म का अनुयायी होता है, धर्म का सहयात्री नही होता। प्रत्येक धर्म की यही स्थिति है। सब लोग धर्म के पीछे चलते हैं, धर्म के साथ नही चलते। अब उन अनुयायियो से यह अपेक्षा रखना कि अपरिग्रह का सिद्धान्त फलित हो, यह मुझे सभव नही लगता है।

प्रश्न मासाहार का निषेध न करने वाले मोहम्मद साहब व्याज को हराम बताते हैं और अहिंसा मे विश्वास करने वाले जैन लोग व्याज का धधा करते हैं। ऐसा क्यो?

उत्तर व्याज के विषय मे जैन साहित्य मे दोनो प्रकार की बाते मिलती है। जैन श्रावक व्याज का व्यवसाय करते थे, ऐसा भी मिलता है और व्याज को महा-हिंसा मानने वाले व्यक्ति भी मिलते हैं। आचार्य जिनसेन ने व्याज को महाहिंसा का आरंभ बतलाया है। और उसको श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य बतलाया है।

दोनो प्रकार की वातें मिलती है। व्याज एक उलझा हुआ प्रश्न है। इसके दो पहलू हैं। एक सहयोग का पहलू है। दूसरा शोपण का पहलू है। जैसे असमर्थ लोगो को सपत्ति न मिले तो वहुत वडी कठिनाई होती है। एक उपाय था कि असमर्थ लोगो को सपत्ति उपलब्ध करायी जाए और वदले मे थोडा-बहुत ले लिया जाए। इस प्रेरणा से लोग दूसरो को सपत्ति देते और असमर्थ लोग अपना काम चलाते। यही प्रारम्भिक प्रेरणा व्याज की रही होगी। यह सहयोग का पहलू है। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु प्रवृत्ति का जव विकास होता है, तव प्रारम्भिक प्रेरणा वदल जाती है और नयी-नयी प्रेरणा जाग जाती है। सहयोग की प्रेरणा समाप्त हो गयी और स्वार्थ की प्रेरणा वलवान् वन गयी। वहुत शक्तिशाली वन गयी। व्याज देते-देते इतना शोपण शुरू हो गया कि उस वेचारे असमर्थ की असमर्थता का दुरुपयोग होने लग गया। विवशता का महान् दुरुपयोग हुआ। इस दृष्टि से व्याज वहुत निन्दनीय वन गया।

मोहम्मद साहव ने व्याज का निषेध किया, उस भूमिका मे उन्होने विल्कुल ठीक किया। क्योकि उस काल मे, मध्य युग मे, व्यापार सहयोग की प्रेरणा को भुला चुका था। व्याज का सारा धधा शोपण पर प्रतिष्ठित हो गया था। उस स्थिति को उन्होने देखा और उसका निषेध किया। आज भी जो वैंकिंग का धधा चलता है, वह पूरा व्यवसाय एक व्याज का ही धधा है। वह सामुदायिक है, इसलिए शोपण वाली वात नही है। परिष्कृत रूप है। इसलिए उस ओर किसी का ध्यान नही जाता। जो लोग व्याज का निषेध करने वाले हैं, वे भी उसका उपयोग करते हैं।

इन दोनो दृष्टियो से जव मैं सोचता हू तो मुझे लगता है कि व्याज सर्वथा परिहार्य ही है, ऐसा भी नही कहा जा सकता और सर्वथा वाछनीय है, ऐसा भी नही कहा जा सकता। यदि पद्धति का परिष्कार हो, सहयोग की प्रेरणा को पुन कोई जगा सके तो इसकी उपयोगिता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। इसके साथ मे,जो शोषण की वात जुड गयी है, वह चलती रहे तो व्याज की वर्जनीयता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता।

हमने देखा है। जहा इतनी विवशता और वर्जना हो जाती है कि वहुत ही गहरा शोपण होता है। वाध्य होकर उन्हे सारा चुकाना भी पडता है। यह स्थिति विल्कुल अवाछनीय है। हमे दोनो पहलुओ से विचार कर इस पर चिन्तन प्रस्तुत करना चाहिए। और वर्तमान समस्या के सन्दर्भ मे इस प्रश्न को उजागर करना चाहिए कि व्याज के साथ जो वैयक्तिक स्वार्थ और शोपण जुडा है, वह व्याज मे निकल जाए। अगर यह निकल जाता है, केवल सहयोग जैसा सूत्र-सवध रहता है, जैसा कि आज वैंकिंग का हो रहा है तो मुझे लगता है कि इसे सर्वथा त्याज्य मानने जैसी वात भी व्यवहार की भूमिका पर नही आती। और इसीलिए भगवान्

महावीर ने जहा अप्रामाणिकता के सारे स्रोतो का निषेध किया, वहा व्याज का कोई उल्लेख नही किया। ऐसा लगता है कि उस समय यह पहलू इतना स्पष्ट नही था और केवल सहयोग के आधार पर ही वह सारा काम चलता था। मध्यकाल की परिस्थिति ने इस प्रश्न को यह रूप दिया और उस दृष्टि से मोहम्मद के कार्य को वहुत औचित्यपूर्ण माना जा सकता है। उन्होंने एक शोषणपूर्ण कार्य के प्रति चेतना जगायी। जैन समाज के लिए पूर्वकालीन प्रश्न है, मध्यकालीन प्रश्न है और आज का प्रश्न है। आज के युग के सन्दर्भ मे जैन समाज के सामने प्रश्न यही है कि उसकी उपयोगिता को समाप्त करने की दिशा मे नही किन्तु उसके साथ जो शोषण जुड गया, शोषण को समाप्त करने की दिशा मे कोई कदम उठे।

प्रश्न : अहिंसा से अपरिग्रह फलित होता है या अपरिग्रह से अहिंसा फलित होती है ?

उत्तर . **अहिंसा परमो धर्म** का घोष जैन धर्म का महान् घोष माना जाता है। इसमे कोई सचाई नही है, यह मैं कैसे कहू, पर मैं इस सचाई को उलट कर देखता हू। **'अपरिग्रह' परमो धर्म '** यह पहली सचाई है और **अहिंसा परमो धर्मः** यह इसके बाद होने वाली सचाई है। यह सर्वथा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य हिंसा के लिए परिग्रह का सचय नही करता, किन्तु परिग्रह की सुरक्षा के लिए हिंसा करता है। जैसे-जैसे अपरिग्रह का विकास होता है, वैसे-वैसे अहिंसा का विकास होता है। परिग्रह का केन्द्र-विन्दु मनुष्य का अपना शरीर होता है। वही से परिग्रह की चेतना फैलती है। धार्मिक व्यक्ति धर्म की साधना को कायोत्सर्ग या देहाध्यास-मुक्ति मे प्रारम्भ करता है। शरीर का ममत्व जैसे-जैसे कम होता है, वैसे-वैसे परिग्रह की मूर्च्छा कम होती जाती है। शरीर की मूर्च्छा त्यागने वाला ही अल्प-वस्त्र या अवस्त्र हो सकता है।

मनुष्य चेतनावान् प्राणी है। चेतना यात्रिक नही होती, इसलिए सब मनुष्य समान नही होते। उनमे रुचि, विचार, चिन्तन और सस्कार की भिन्नता होती है, इसलिए अचेतन जगत् की भाति चेतन जगत् के लिए कोई सार्वभौम नियम नही वनाया जा सकता। अपरिग्रह-प्रधान-धर्म को मानने वाले सभी अपरिग्रही हो जाते है—इस सभावना मे सचाई नही लगती। अपरिग्रह सिद्धान्त को मानकर चलने वालो मे से कुछ लोग अपरिग्रही निकल सकते हैं, किन्तु सव के सव अपरिग्रही हो जाए—यह सभव नही है। हमारा चिन्तन इसलिए उलझता है कि हम धर्म के अनुयायी और धार्मिक को एक ही तुला पर तोलने लगते हैं। धर्म का अनुयायी वह होता है, जो धर्म को अच्छा मानकर चलता है, किन्तु उसका आचरण करने मे सक्षम नही होता। धार्मिक वह होता है, जो धर्म के सिद्धान्तो को अच्छा भी मानता है और उसका आचरण करने मे सक्षम भी होता है। जैन धर्म के अनुयायी सभी अपरिग्रही होंगे, ऐसी कल्पना अतिकल्पना होगी।

लोग धर्म की प्रभावना करने वाली प्रवृत्तियो मे रस ले सकते है, धर्म के आचरण मे उतना रम नही ले सकते। वे धर्म की व्यावहारिक भूमिका पर कार्य कर सकते हैं, किन्तु धर्म की आत्मा का स्पर्श नही कर सकते। यह दो ध्रुवो की दूरी मनुष्य की आतरिक क्षमता से उत्पन्न दूरी है। इनके वीच मे सिद्धान्त का सूत्र जुडा हुआ है, इसलिए अनुयायी वर्ग भी कुछ-कुछ सयम का अभ्यास करता है, पर वह व्रती जीवन नही जी पाता। वास्तविकता को हम अस्वीकार न करें। धर्म के अनुयायियो, धर्म के प्रति सम्यग् दृष्टि रखने वालो और धार्मिक या व्रती जीवन जीने वालो से एक प्रकार की अपेक्षा न रखें।

□ □